

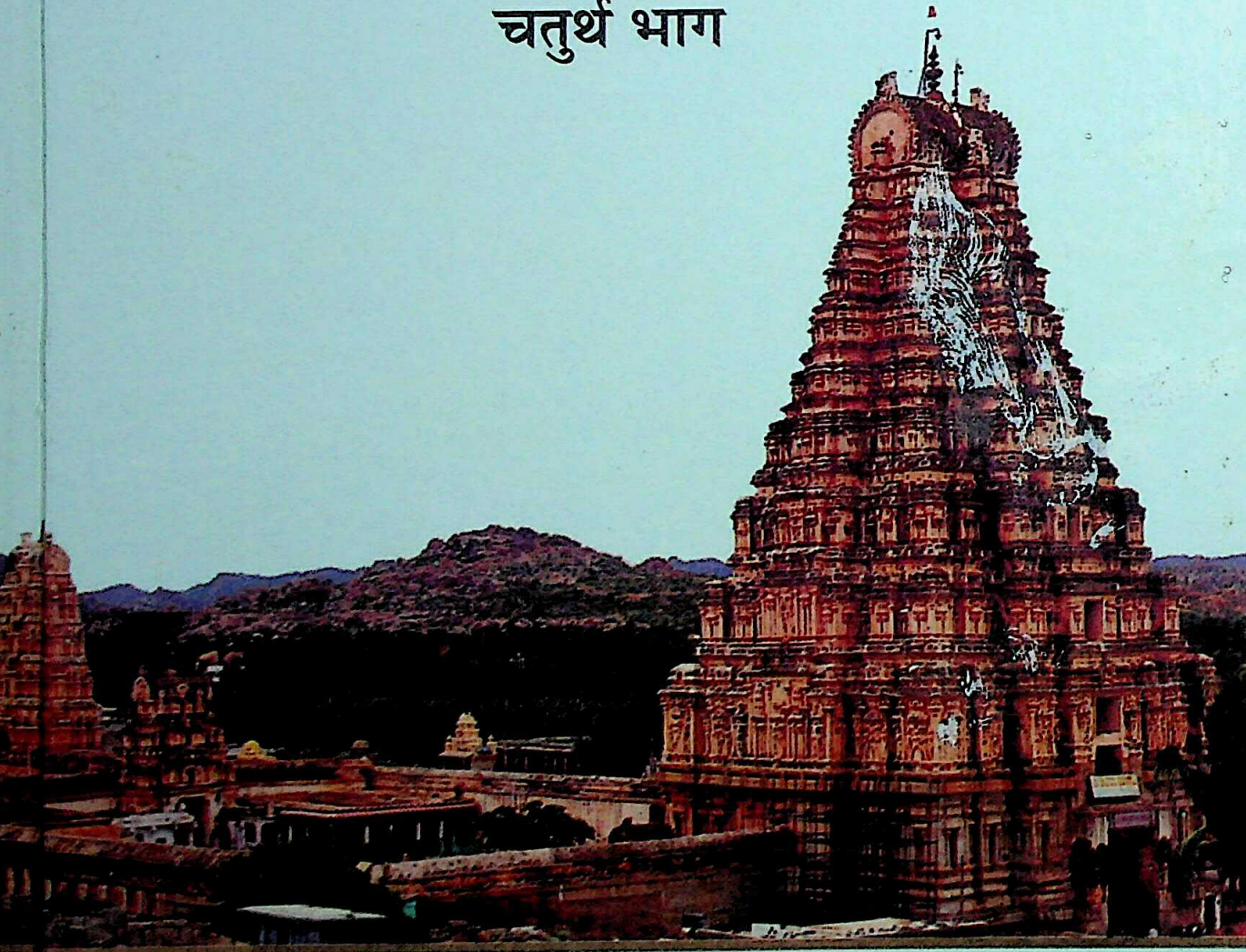
श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-८२



पञ्चदशी

हिन्दी व्याख्या

चतुर्थ भाग



प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-८२



श्रीमद्विद्यारण्यस्वामिविरचित

पञ्चदशी

चतुर्थ भाग

११-१५ प्रकरणात्मक

व्याख्याता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

वाराणसी

-: प्रकाशक :-

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

डी. ४६/६, मिश्रपोखरा

वाराणसी-२२१०१०

Web. : www.shankaramatha.org

Web. : www.dakshinamurtimathaprakashan.org



प्रथम संस्करण

शङ्कराब्द : १२२७

विक्रमाब्द : २०७२

ईस्वी : २०१५



© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन



विविध भक्तों

द्वारा

धन-साहाय्यित मूल्य : ६५० रुपये मात्र (चारों खण्डों का)

अक्षर टंकण

शुभम प्रिंटेर्स

आनन्द पर्वत, नई दिल्ली

ई-मेल : shubhamprinter74@gmail.com

M. : 9873696027

मुद्रक

महिम पत्रन प्राइवेट लिमिटेड,

5/161 सौंठ की मण्डी,

आगरा (उ.प्र.)

ॐ

विषय सूची

चतुर्थ भाग

ग्यारहवाँ	ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण	... ११७७-१२८८
बारहवाँ	ब्रह्मानन्द में आत्मानन्द प्रकरण	... १२८९-१३७०
तेरहवाँ	ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण	... १३७१-१४३६
चौदहवाँ	ब्रह्मानन्द में विद्यानन्द प्रकरण	... १४३७-१४७४
पन्द्रहवाँ	ब्रह्मानन्द में विषयानन्द प्रकरण	... १४७५-१४९६
श्लोकसूची		... १४९७-१५२०

विष्णु स्तोत्र

श्री. श्री. श्री. विष्णु स्तोत्र

विष्णु स्तोत्र

३३८९-८८९९	विष्णु स्तोत्र	विष्णु स्तोत्र
८८९९-९९९९	विष्णु स्तोत्र	विष्णु स्तोत्र
९९९९-१०९९	विष्णु स्तोत्र	विष्णु स्तोत्र
१०९९-२१९९	विष्णु स्तोत्र	विष्णु स्तोत्र
२१९९-३२९९	विष्णु स्तोत्र	विष्णु स्तोत्र
३२९९-४३९९	विष्णु स्तोत्र	विष्णु स्तोत्र
४३९९-५४९९	विष्णु स्तोत्र	विष्णु स्तोत्र
५४९९-६५९९	विष्णु स्तोत्र	विष्णु स्तोत्र
६५९९-७६९९	विष्णु स्तोत्र	विष्णु स्तोत्र

ग्यारहवाँ ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण

पंचदशी के पहले पाँच प्रकरण सत्-प्रधान हैं, मध्य के पाँच दीप-नामक प्रकरण चित्-प्रधान हैं और अन्तिम पाँच आनन्द-प्रधान हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्द का इसमें विस्तार से वर्णन है।

पहले दसों प्रकरणों के अपने-अपने ही नाम हैं। अन्तिम पाँचों प्रकरणों का 'ब्रह्मानन्द' एक सामान्य नाम है अर्थात् ब्रह्मानन्द नामक एक प्रकरण के फिर मानो पाँच भाग किये हैं। यह अन्तर करना इसलिये ज़रूरी पड़ा कि तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्दर जहाँ आनन्दमय का वर्णन किया, वहाँ अधिष्ठान ब्रह्म को अलग गिना, और आनन्द के चार विकारी रूप बतलाये। इसलिये, यदि केवल 'योगानन्द' प्रकरण कहते, तो शंका हो सकती थी, कि योग से होने वाले आनन्द को बतलाया है। वह इन्हें इष्ट नहीं है क्योंकि योगानन्द में भी ये ब्रह्मानन्द की बात करेंगे। विद्यानन्द में या विषयानन्द में भी ब्रह्मानन्द की बात करेंगे। इसलिये यह स्पष्ट करना ज़रूरी था कि हम योग का, विद्या का, विषयों का आनन्द नहीं कह रहे हैं वरन् इन आनन्दों में 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' अर्थात् अधिष्ठान का किस प्रकार से बोध किया जाये, यह बता रहे हैं। पहले फल बताते हुए प्रकरणारम्भ की प्रतिज्ञा करते हैं—

ब्रह्मानन्दं प्रवक्ष्यामि ज्ञाते तस्मिन् शेषतः।

ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते ॥ १॥

ब्रह्मानन्द का प्रवचन करूँगा। उसे जानने पर इस लोक और परलोक में होने वाले अनर्थों के समूह को पूरी तरह छोड़कर सुखरूप ब्रह्म ही हो जाता है।

पहले प्रतिज्ञा की 'ब्रह्मानन्द समझाऊँगा।' पाँचों प्रकरणों को 'ब्रह्मानन्द' नाम से कहा कि ब्रह्मानन्द अर्थात् अधिष्ठान आनन्द को बतलाना ही हमारा तात्पर्य है। बताने में प्रकर्ष है कि उपनिषदों में अलग-अलग जगह इन आनन्दों का वर्णन किया है। इकट्ठा करके इसे श्रुतियों ने नहीं कहा। यहाँ एक-साथ बता रहे हैं यह विशेषता है। प्रकर्ष से कहना इसलिये ज़रूरी है कि परमात्मा को सीधे ही समझना साधक को कठिन लगता है। इसलिये आचार्य अमलानन्द ने कहा है, 'निर्विशेष' परं ब्रह्म साक्षात् कर्तुमनीश्वराः। ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः।' परमब्रह्म निर्विशेष है। यदि ब्रह्म में किसी प्रकार के विशेष-सामान्य भाव का आपादन हो तो अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती। ऐसा होने पर भी हम लोगों को

आदत है कि किसी भी चीज़ को विशेषरूप से जानने पर ही लगता है कि हमने जाना। विशेषज्ञान से ही लगता है कि ज्ञान हुआ। अतः निर्विशेष का ज्ञान होने पर हम लोगों को संतोष नहीं होता। इसीलिये ईश्वर का साक्षात्कार कर नहीं पाते। अत्यन्त सरल चीज़ भी मंदबुद्धि के लिये समझना अत्यन्त कठिन हो जाती है। ऐसे आदमियों को संसारताप में झुलसने से बचाने के लिये वेद कृपापूर्वक सविशेष का निरूपण करता है। मंदबुद्धि वालों पर श्रुति अनुकम्पा कर विशेषों को बतलाती है। उसी आधार पर यहाँ पाँच प्रकार के विशेष बतलायेंगे। पहला है, योग से जो आनन्द होता है उसके अधिष्ठानरूप में ब्रह्म को देखो। इसी प्रकार जो भी आनन्द हो उसके अधिष्ठानरूप में ब्रह्म को देखो। यह सविशेष निरूपण है। विषयानन्द को संसार में साधारण व्यक्ति भी जानता है। उसमें भी किस प्रकार से अधिष्ठानरूप से ब्रह्म को समझा जाये यह बताने से ब्रह्म की आनन्दरूपता स्पष्ट होगी। आनन्द ब्रह्म का रूप है। ब्रह्म की सद्रूपता का अनुसन्धान विवेक प्रकरणों में बतलाया, वह पहला कदम है। 'है'-रूप से सब चीज़ों को जानते हैं अतः सब में अनुविद्ध, सबका अधिष्ठान होने से वह ब्रह्म है। केवल है-रूप से ब्रह्म जानोगे तो काम नहीं होगा! इसलिये स्वयं वेद कहता है कि अगर है-रूप से भी ब्रह्म को जान लेते हो, 'ब्रह्म है' ऐसा भी निश्चय हो जाता है, तो तुम्हारा निश्चय सत् होने से तुम सन्त हो गये! बात तो सरल लगती है परन्तु साधारणतः हम सचमुच में नहीं मानते कि ब्रह्म है। ब्रह्म का मतलब है, अपरिच्छिन्न, त्रिविध परिच्छेद से रहित। और तुम सोचते हो 'मेरा एक लड़का, पत्नी, एक मकान और एक ब्रह्म भी है'। यह ब्रह्म को जानना नहीं है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं—'ब्रह्मार्थो दुर्लभो यस्माद् द्वितीये सति वस्तुनि'। दूसरी चीज़ यदि अणुमात्र भी है, तो ब्रह्मशब्द का अर्थ ही सिद्ध नहीं होगा! इसलिये ब्रह्म को छोड़कर कहीं कुछ नहीं हो सकता। जैसे हम कहते हैं 'परमात्मा तो सर्वशक्तिमान् है, इसमें कोई सन्देह नहीं। फिर भी आजकल शनि की दशा चल रही है, क्या अनुष्ठान करें?' परमेश्वर को सर्वशक्तिमान् भी जानते हो, एक शनि को और जानते हो जो अलग शक्तिमान् है। इसलिये हमारी 'ब्रह्म है' ऐसी निष्ठा नहीं है। पहले तो वही कठिन, पर उससे ज़्यादा कठिन हो जाता है यह जानना कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। हमें साफ समझ में आता है कि कुछ प्राणी तो ज्ञान वाले हैं, चेतन हैं, बाकी पत्थर इत्यादि जड़ हैं, जहाँ चेतन का, ज्ञान का अनुभव नहीं है। तब ज्ञान व्यापक कैसे हो सकता है? इसलिये सत् अर्थात् है-रूप से ब्रह्म को व्यापक समझना सरल होता है, ज्ञानरूप से ब्रह्म को व्यापक समझना कठिन हो जाता है। मध्यम पाँच अध्यायों में बतला दिया कि कैसे सब चीज़ें ज्ञानस्वरूप हैं।

फिर भी, आनन्दरूप से व्यापक कैसे समझें? हमें अधिकतर तो दुःख होता रहता है। केवल कभी-कभी आनन्द होता है। इसलिये ज्ञान की अपेक्षा आनन्द हमें और परिच्छिन्न लगता है। श्रुति कहती है कि कण-कण के और क्षण-क्षण के अन्दर आनन्दरूप ब्रह्म है। प्रत्यक्ष में जो दुःख दीख रहा है उसे हम आनन्द या सुखरूप कैसे मान लें? इसलिये आनन्दरूप ब्रह्म को समझना और कठिन हो जाता है। किंतु उसको भली प्रकार समझना ज़रूरी है। जब उस व्यापक आनन्द को जान लिया जाता है तभी सुखरूपता मिलती है।

अनन्त और आनन्द वेदों में एक ही बात है। सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् कहती है—‘यो वै भूमा तत् सुखम्।’ जो चीज़ सर्वव्यापक, भूमा है वही आनन्द है। यह नहीं कहा कि जो भूमा है, उसमें सुख है। व्यापक में सुख है—यह नहीं कहा वरन् जो व्यापक है, वही सुखरूप है, आनन्दरूप है—यह कहा। आगे स्पष्ट किया ‘नाल्पे सुखमस्ति’ कि नाम-रूपात्मा जो अल्प है, उसमें सुख नहीं है। फिर भी अल्प में हमें सुख दीखता है! अल्प में सुख वैसे ही है जैसे सर्प में रस्सी। रस्सी में सर्प केवल अध्यस्त होता है, अतः ऐसा बाध होता है कि जिसको मैंने सर्प देखा था, वह रस्सी ही थी। इसी प्रकार यहाँ प्रतीति होती है कि अल्प में जो सुख हुआ वह असल में ब्रह्मानन्द ही है। परन्तु भ्रम से बजाय यह समझने के कि ब्रह्मानन्द में इस अल्पता की प्रतीति है, उल्टा समझ लेते हैं कि अल्प विषय में ही आनन्द है! इसलिये कहा—‘अशेषतः ज्ञाते’ अर्थात् जब उसे सभी परिच्छेदों से रहित जानते हैं, तब अनर्थ का झंझावात निवृत्त होता है।

‘अर्थ’ वह होता है जिसे हम चाहते हैं। जो हमारी इच्छा-प्रार्थना का विषय है वही अर्थ है। उसी को इष्ट कहते हैं। इसलिये अनर्थ हुआ अनिष्ट। जो कुछ अल्प है वह सारा अनर्थ है। अनर्थ को ही हम लोग अर्थ समझ लेते हैं। जिस प्रकार से बच्चा अंगारे को देख पकड़ना चाहता है। माता-पिता मना करते हैं तो रोता है। शास्त्र की दृष्टि से सब बच्चे ही हैं। जानते हुए भी हम सभी दिमाग में कैंसर देने वाले मोबाइल फोन को कान से लगाये हुए हैं! वेद कहता है कि जो अल्प है उसमें सुख नहीं है। है अनर्थ, हम समझते हैं कि अर्थ हो रहा है। अनर्थ दो प्रकार के हैं: एक, ऐहिक—धन, पुत्र, पति आदि। इनमें इष्ट-बुद्धि है। इनमें सुख-बुद्धि चार्वाक को भी है। जो शास्त्र को जानने वाले हैं उनकी इन चीज़ों से तो कुछ बुद्धि हट भी जाती है लेकिन आमुष्मिक अर्थात् परलोक, स्वर्ग से वैकुण्ठ, गोलोक तक होने वाले जो सुख हैं उन्हें चाहते हैं। ये भी परिच्छिन्न हैं, दुःख हैं फिर भी उनके प्रति इष्ट-बुद्धि है। उन्हें ज्यादा बड़ा सुख समझते हैं इसलिये उन्हें पाने के लिये यहाँ के छोटे सुख को छोड़ने को तैयार हो जाते हैं। एकादशी का व्रत रखने से वैकुण्ठ में भगवान् की सन्निधि में रहेंगे, बड़ा सुख होगा—आमुष्मिक सुख के लिये व्रत रखते हैं। परन्तु है वह भी अनर्थ ही। ऐसे वचन आते हैं कि परमेश्वर का भक्त मुक्ति को भी मना करता है! अर्थात् सालोक्यादि मुक्ति हैं, आमुष्मिक फल हैं, उन्हें छोड़ता है क्योंकि उसे केवल परमात्मा ही चाहिये। अनर्थों को अर्थ समझते हैं जबकि ये दोनों ही अनर्थ का कारण हैं। उनको ब्रह्मानन्द का जानकार ‘हित्वा’ छोड़ देता है। गीता में भगवान् कहते हैं कि जैसे सारी नदियाँ समुद्र में जाती हैं, वैसे ही सारे सुख उस ब्रह्म सुख में जाकर एक हो जाते हैं इसलिये इन सब अनर्थ-व्रातों को, अनर्थ-समूहों को छोड़ कर, ‘सुखायते’ सुखरूप हो जाता है। बाकी सारे सुख केवल उसके ही प्रतिबिम्ब हैं, उसका असली रूप नहीं है। ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार पाने वाला असली आनन्दरूप हो जाता है।

ब्रह्मज्ञान अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट-प्राप्ति का कारण है। यह बात जब तक समझ में नहीं आती तब तक ब्रह्म की जिज्ञासा तीव्र नहीं होती। अभी हमें लगता है कि बाकी सब चीज़ें भी चाहिये और ब्रह्म भी चाहिये। कल भोजन मिलेगा या नहीं—इतना तक

परमेश्वर पर हमें विश्वास नहीं होता! यह विश्वास नहीं होता कि परमेश्वर ने हमें जन्म दिया है तो कल भोजन भी देगा। इसलिये यह समझना ज़रूरी है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है। इसी प्रकार, ब्रह्मज्ञान सारे अनिष्टों की निवृत्ति और सारे इष्टों की प्राप्ति का कारण है, यह समझना ज़रूरी है। इस विषय में अनेक प्रमाण देंगे। अनेक प्रमाणों का प्रयोजन यह है कि जैसे ज्ञान के बारे में हमें संस्कार पड़ा है कि कोई ज्ञेय वस्तु होती है तब उसका ज्ञान होता है अतः ज्ञेय वस्तु के बिना का ज्ञान समझना कठिन होता है, इसी प्रकार हमें लगता है कि कोई वस्तु हो, तभी उसका सुख होता है। ज्ञेय वस्तु के बिना ज्ञान होना—यह मैं में घट जाता है। मैं का ज्ञान होता है, उसमें ज्ञेय कौन है? तुम अपने आप को ही जान रहे हो। आचार्य शंकर कहते हैं कि कैसा भी कुशल नट होवे, परन्तु खुद अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता! इसी प्रकार से वही ज्ञाता हो जाये और ज्ञेय भी हो जाये यह नहीं हो सकता। अतः मैं का ज्ञान बिना किसी ज्ञेय के है। इसी प्रकार आनन्द के विषय में लगता है कि कोई वस्तु न होवे तो आनन्द कैसे? इसके बारे में द्वैतियों ने प्रचार भी खूब किया है। कहते हैं हम परमात्मा से आनन्द लेना चाहते हैं। आनन्दरूप परमात्मा बन जायें तो हमें क्या लाभ? कहते हैं, चीनी होने से क्या लाभ? चींटी होकर चीनी खाने में मज़ा है। पर उनका यह दृष्टान्त सुननेमात्र से विरोधी है। चीनी तो जड़ है इसलिये अपने मिठास को नहीं जानती। क्या परमात्मा भी जड़ है जो अपने आनन्द को नहीं जानता? निर्विशेष परमात्मा का वर्णन है कि उसमें रूप, रस आदि नहीं। सारा सुख जो हमने आजतक जाना है, वह रूप, रस, या गन्ध, शब्द या स्पर्श का ही है। वे सारे के सारे सुख तो वहाँ नहीं हैं। इसलिये लोग सोच लेते हैं कि यह ब्रह्म भी अनानन्दरूप है! इसलिये श्रुतियों के प्रमाण से सिद्ध करेंगे कि ब्रह्म आनन्दरूप है॥ १॥

अनेक प्रमाण उद्धृत करते हैं—

ब्रह्मवित् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित् ।

रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति नान्यथा ॥ २ ॥

‘ब्रह्मानुभवी उत्कृष्ट आनन्दरूप ब्रह्म को पा जाता है’, ‘आत्मसाक्षात्कार पाया व्यक्ति शोक से तर जाता है’, ‘ब्रह्म रस है, उस रस को पाकर निरतिशय सुखवान् हो जाता है, इसके लिये अन्य उपाय नहीं’।

सबसे पहले कृष्ण यजुर्वेद का प्रमाण देते हैं। ‘ब्रह्मविदाप्नोति परम्’ (तै.२.१) जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, वह परभाव को प्राप्त कर जाता है। दूसरा वाक्य सामवेद की छांदोग्य उपनिषद् का है (छां.७.१)। नारद सनत्कुमार से कहते हैं ‘श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकम् आत्मवित्’ (छा. ७.१.३)। ‘जो ब्रह्मवेत्ता है वह शोक के परे चला जाता है और मैंने अनेक शास्त्र जान तो लिये परन्तु अभी तक मेरा शोक गया नहीं।’ यह नारद का वाक्य याद रखना चाहिये। आजकल एक भ्रान्त विचारधारा चली है कि ‘मैंने अपने ब्रह्मरूप को जान लिया, वह तो अविकारी है और ये शोक-मोह अन्तःकरण के धर्म हैं, बने

[प्र. ११ श्लो. ३]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण ११८१

रहें तो हर्ज नहीं'। शोक है अंतःकरण का धर्म तभी उसका तरण होता है, उसके पार जाते हो। नारद स्पष्ट कहते हैं 'मैं जानता हूँ कि ज्ञानी को शोक नहीं रहता और मुझे अभी शोक का अनुभव हो रहा है।' तात्पर्य है कि यदि ब्रह्मज्ञान हो गया होता तो 'मुझे' शोक न होता, मैं शोक से परे पहुँच चुकता। यदि तुम अन्तःकरण से अलग हो तो तुम्हें शोक हो नहीं सकता। शोक आन्तरिक अनुभव है। किसी ने लकड़ी मारी, उससे देहादि को दुःख होगा। लकड़ी का दर्द तो दो या चार दिन में चला जायेगा, पर पिटने के अपमान का शोक बना रहता है। वह जो तुम्हें सालता है, उसका नाम शोक है। इसलिये नारद प्रार्थना करते हैं 'भगवन्! मुझे शोक वाले अन्तःकरण से अतीत बना दीजिए, उसको मैं तर जाऊँ।' तैत्तिरीय के पहले वाक्य में कहा है 'ब्रह्मवित् परमाप्नोति,' 'पर' का मतलब तो हुआ उत्कृष्ट आनंदरूप परंतु मुखतः आनंद नहीं कहा। इसलिये आगे (तै. २.७) कहा है 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'। परमात्मा रसरूप है अर्थात् आनंदरूप ही है। रस किसे कहा है? प्रारंभ किया था 'सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म'। फिर उसी ब्रह्म के बारे में कहा 'तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः'। जिसको ब्रह्म शब्द से कहा उसी को 'आत्म'-शब्द से कहा। उसी को यहाँ 'रसो वै सः' में रस कहा। अतः ब्रह्म, आत्मा और आनन्द एक ही चीज़ है। जो ब्रह्म आत्मस्वरूप आनन्द है, इसी को प्राप्त करके 'आनन्दी भवति', आनन्दरूपता की प्राप्ति होती है। जब तक ब्रह्म और आत्मा की एकता का अनुभव नहीं होता तब तक आनन्द नहीं होता। आनन्द नित्य चीज़ है। जो अपरिच्छिन्न हो और निरतिशय हो, उसी को आनन्द कह सकते हैं। और कोई प्रकार नहीं है, 'नान्यथा' जिससे इस निरतिशय सुख की प्राप्ति होवे। ब्रह्मतत्त्वज्ञान को छोड़कर किसी साधनान्तर के अनुष्ठान से आनंद की प्राप्ति नहीं है। अन्य उपायों से दुःखरहित तो हो सकते हो, आनंदभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब मैं और तुम ये दोनों भेद हट जाते हैं तभी एकमात्र आनंद उस अवस्था में रह जाता है। जब तक मैं अलग और तुम अलग, तब तक आनंद प्रकट नहीं होता। आनंद तभी प्रकट होता है जब ब्रह्म और आत्मा का भेद हट जाता है। शोक से परे जाना—यों अनिष्ट-निवृत्ति और आनन्दरूप होना—यों इष्ट प्राप्ति, दोनों बताकर आत्मा की मोक्षरूपता व्यक्त हो गयी। रस की तरह अन्यत्र मधु शब्द के प्रयोग से भी वेद ने परमात्मा को आनन्द कहा ही है अतः यह वेद का आवश्यक तात्पर्य है और आनंदरूप परमेश्वर स्वीकारना वैदिकों की विशेषता है॥ २॥

तैत्तिरीय (२.७) में ही आगे समझाया है 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।' अर्थात् परमात्मा में स्थिति से अभय और उससे किंचिद् भी भेद करने से भय होता है। मोक्ष में आनन्द अभयरूप है। इस श्रुति को भी ब्रह्मानन्द-सिद्धि के लिये उद्धृत करते हैं—

प्रतिष्ठां विन्दते स्वस्मिन् यदा स्यादथ सोऽभयः।

कुरुतेऽस्मिन्नन्तरं चेदथ तस्य भयं भवेत्॥ ३॥

स्वयं में जब प्रतिष्ठा पाता है तभी साधक अभय होता है। इस प्रत्यक्स्वरूप में भेद देखता है तो उसे भय होता है।

जब अपने आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तभी निर्भय होता है। स्थित का मतलब होता है रहना, और प्रतिष्ठित का मतलब होता है, स्थित रूप से रहना। अतः मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं ताकि प्राण उसी में रहें। इसी प्रकार कहा कि 'जब अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है'। 'स्वरूप में' क्यों कहा? क्योंकि अभी वह शरीर मन आदि में प्रतिष्ठित है। अभी की प्रतीति है— मैं शरीर-मन हूँ, शरीर-मन में हूँ। मन में क्रोध है तो मैं विचलित रहता हूँ, शांत नहीं रह पाता क्योंकि स्वयं को मन से बाहर नहीं निकाल पाता। कमरे में गर्मी लगने लगे तो खुले में जाकर राहत ले सकते हैं ऐसे मन से बाहर निकलें तो मनोविकारों से राहत मिले। अतः वशिष्ठ महर्षि कहते हैं कि चाहे अपने हाथ से अपना ही हाथ मसल डालना पड़े, अपने दाँतों से अपने दाँत चूरा बनाने पड़ें पर सबसे पहले अपने मन को जीतो। क्योंकि हम मन में स्थित रहते हैं, इसलिये उसपर नियंत्रण नहीं कर पाते। जब मन से एक होने के कारण 'मुझे' क्रोध आ रहा है, तब भी 'मैं क्रोधी' इसे जानता हूँ अर्थात् साक्षी को ज्ञान ही है, मन से अलग होकर ही वह देख रहा है। आचार्य शंकर कहते हैं 'को देवो यो मनःसाक्षी' मन का जो साक्षी है वही परमात्म-देव है। साधना से प्रयास करना है कि अपने आत्मस्वरूप में ऐसा प्रतिष्ठित हो जाये कि शरीर-मन में कभी अहंकारात्मिका बुद्धि होवे ही नहीं।

यह प्रतिष्ठा-प्राप्ति क्यों कठिन है? श्रुति ने कहा 'अदृश्ये' आत्मा कभी भी दृष्टि का विषय नहीं है। जो दृष्टि का विषय है उसमें स्थित होने की हमारी आदत पड़ी है। क्योंकि यह दृष्टि है, दृष्टि का विषय नहीं है इसलिये इसमें स्थित हो नहीं पाते। श्रुति कहती है कि द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता। हम दृष्टिरूप हैं, दृश्यरूप नहीं। हम आत्मरूप हैं, आत्मीयरूप नहीं। हम 'मैं' हैं, 'मेरा' नहीं। जिस चीज़ के साथ 'मेरा' लगता है, वह मैं नहीं हो सकती। शरीर आदि के साथ मैं भी लगता है, मेरा भी लगता है। मेरा लगता है अतः वह मैं नहीं हो सकता। मैं का व्यवहार करते हैं किंतु मेरे का व्यवहार भी है, इसलिये वे सब सच्चा मैं नहीं हो सकते। विनिगमना यह है कि गहरी नींद में उनके बिना मैं हूँ अतः मैं के स्वरूप में शरीरादि का अनुवेध नहीं है। किंच अनिरुक्ते, इसके बारे में कुछ कह नहीं सकते क्योंकि कहा दूसरे के बारे में जाता है। आत्मा से भिन्न कहीं कुछ है नहीं, तो इसका निर्वचन कैसे किया जाये! ऐसा जो मेरा स्वरूप वह अभयरूप है। जब साधक उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है तब अभय पद की प्राप्ति कर लेता है। और यदि 'अस्मिन्नन्तरं कुरुते' यह जो अपना स्वरूप है इसके अन्दर थोड़ा भी भेद मंददृष्टि करता है तो 'तस्य भयं भवेत्' उसे भय होता है। श्रुति ने स्पष्ट कहा है 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' कोई दूसरा होगा तो भय ज़रूर होगा। केवल अपने आपे में कभी भय होता नहीं। यदि अद्वितीय आत्मतत्त्व से साथ एक है, तब तो अभय हो जाता है, यदि उससे कुछ भी भेद किया तो भय अवश्यम्भावी है। उपास्य-उपासक का भेद भी किया तो अभय नहीं होगा। एकता का अनुभव न करके कैसे भी भेद का अनुभव करेगा तो भय होगा ही। उपासना में उससे

[प्र. ११ श्लो. ४]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण ११८३

सम्बन्ध तो होता है कि 'परमात्मा मेरा उपास्य है, इष्ट है', परन्तु सम्बन्ध की अंतिम परिणति जिस एकता में होनी चाहिये वह नहीं हो पाती है इसलिये भय होता है।। ३।।

प्रश्न होगा कि यदि उपासना दृढ़ हो जाये तब तो भय नहीं होता होगा? इसके उत्तर में वेद कहता है कि देवता भी उससे डरते ही हैं! अतः केवल उपासना से अभयलाभ असंभव है। तैत्तिरीय २.८ में 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।।' कहा है। इसी तरह कठ ६.३ में कहा है 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।।' इन्हीं का संग्रह करते हैं—

वायुः सूर्यो वह्निरिन्द्रो मृत्युर्जन्मान्तरेऽन्तरम्।

कृत्वा धर्मं विजानन्तोऽप्यस्माद् भीत्या चरन्ति हि।। ४।।

वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र, यम जन्मान्तर में उपासना करते हुए धर्म करके भी भेददृष्टि रखते हैं अतः इसके डर से व्यवहार करते ही हैं।

श्रुति कहती है 'भीषास्माद्वातः पवते' (तै २.८) उस परमेश्वर के भय से वायु भी बहता रहता है। उसी के भय से समय पर सूर्य उदय होता है। इसी आधार पर आगे सौ साल तक का पंचांग छाप देते हैं। हम लोग भयहीन, निर्भय हैं, इसलिये उठने का निश्चित समय नहीं है। इन्द्र भी भय से, जब परमात्मा का आदेश कर्मफल देने का है तब वर्षा कर देता है। अग्नि भी जलती रहती है। मृत्यु देवता भी दौड़ते रहते हैं। वर्षा-रात्री-गर्मी में भी मृत्यु देवता पकड़ के ले जाते हैं क्योंकि उसको भी किसी का भय है। ये पाँच देवता संसार में सबसे बलवान् माने जाते हैं—वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु। ये देवता इतने बड़े कैसे बन गये? 'जन्मान्तरे धर्मम्' जन्मान्तर में, पूर्व जन्म में इन्होंने धर्म किया तभी आधिकारिक पुरुष होकर इतने बड़े पदों पर पहुँचे। धर्म भी 'विजानन्तः' उपासना-सहित किया, समझ-बूझकर किया! उपासना-सहित कर्म करने से ही देवलोक मिलता है, अकेला धर्म तो पितृलोक ही दे पाता है। जो कर्म उपासना सहित और कर्म के स्वरूप के ज्ञानपूर्वक किया जाता है, वही पूरा फल देता है। जिसको कर्म के उपनिषद् और विद्या का ज्ञान नहीं है, उसका कर्म फल तो देता है पर देवभावपर्यन्त नहीं। छान्दोग्य में श्रद्धा-उपनिषद् सहित कर्म का 'वीर्यवत्तर' फल कहा अर्थात् उनके बिना वीर्यवान् तो होगा ही। बिना समझे भी जो कर्म किया जाता है, वह अपना फल तो पैदा करता ही है किन्तु इन महत्त्वपूर्ण पदों पर तो वही पहुँचेगा जिसने विद्या और उपनिषद् के साथ कर्मों का अनुष्ठान किया। परन्तु 'अन्तरम् कृत्वा' उन्हें अनुभव रहा 'हम इस कर्म के द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न कर रहे हैं' अर्थात् परमेश्वर को स्वयं से भिन्न जानते रहे। भेद-बुद्धि इनकी नहीं हटी थी। यदि हट जाती, तब तो आत्मज्ञान के द्वारा मुक्त हो जाते। उनसे ज्यादा अच्छी कर्म उपासना तुम कर लोगे इसकी आशा नहीं कर सकते! जब वे ही डरते हैं तो अन्य उपासक डरेंगे इसमें क्या कहना—यह तात्पर्य है। जीव और ईश्वर का भेद मान करके किया इसलिये भयक्षेत्र से परे नहीं गये। कर्मफल-दाता ईश्वर को तो जानते थे, पर 'मैं शिव ही हूँ' इस बात को नहीं जानते थे।

इसलिये ऐसे कर्म करके भी भय से ये अपने-अपने कर्मों का आचरण करते हैं, क्योंकि द्वितीय रहेगा तो भय होगा ही। इसलिये भेदोपासना कभी भी अभय में परिणत नहीं होती। बहुत से लोग सोचते हैं कि भेदोपासना करते-करते अभेद हो जायेगा। किंतु यह संभव नहीं, अभेदज्ञान से ही, अभेद की स्थिति बन सकती है।। ४।।

परमात्मज्ञान से भय की सहेतु निवृत्ति बताने वाली तैत्तिरीय २.६ श्रुति है 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।' उसे भी उद्धृत करते हैं—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

एतमेव तपेन्नैषा चिन्ता कर्माग्निसम्भृता।। ५।।

ब्रह्म का स्वरूप आनन्द जानता हुआ किसी कारण से डरता नहीं। कर्मरूप अग्नि से सम्पादित सर्वानुभवसिद्ध चिन्ता उसे नहीं तपाती।

ब्रह्म का आनन्द जो विद्वान् जानता है वह निडर होता है। 'ब्रह्म का' अर्थात् ब्रह्मरूप। श्रुति कहती है 'विज्ञानम् आनन्दम् ब्रह्म' ब्रह्म स्वयं आनन्द है। अतः आनन्द 'उसका' नहीं कहा जा सकता। लेकिन कई बार अभिन्न वस्तु का भी सम्बन्धी रूप से उल्लेख हो जाता है। अमृतपान के समय राक्षस का सिर काट दिया था तो सिर का नाम राहु और धड़ का नाम केतु हो गया। फिर भी लोग कहते हैं 'राहु का सिर'। अथवा, 'सिल-बट्टा' के सन्दर्भ में 'सिल का पत्थर' कहते हैं जबकि सिल पत्थर ही है! इस प्रकार अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ सम्बन्ध का व्यवहार होता है, अभेद में तात्पर्य होता है। इसी को संस्कृत में गौण प्रयोग कहते हैं। अर्थात् जैसा कहा जा रहा है वैसा मुख्य अर्थ नहीं है। इसी प्रकार जब श्रुति कहती है 'ब्रह्मण आनन्दं' तब उसका मतलब ब्रह्म का आनन्द नहीं, वरन् मतलब है ब्रह्मरूप आनन्द। यह जब जान लिया जाता है, तब कोई दूसरा रह नहीं जाता अतः भयरहित अवस्था प्राप्त हो जाती है। तब ऐहिक से भी भय नहीं है, और पारलौकिक भय भी नहीं है। शीतला (चेचक देने वाली), मरिअम्मा (हैजा देने वाली) आदि सब का जो आत्मस्वरूप है, उसे इस सब से कभी भय नहीं होता।

शंका होती है कि तत्त्वज्ञानी ने पहले तो कर्म किये हैं, जब तक भोग न कर ले, कर्मों का नाश नहीं होता। इसीलिये संसार के जितने अज्ञानी लोग हैं, उन सबको अच्छे-बुरे कर्मरूप अग्नि चिन्ता कराती है कि 'मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया, अशुभ कर्म क्यों कर लिया।' इस चिन्ता से लोग तपते रहते हैं। परन्तु यह ताप तभी तक है जब तक अज्ञान है। अज्ञान के कारण भेद-दृष्टि है। इसी से रागद्वेषपूर्वक कर्म होने के कारण कर्म का फल उत्पन्न होता है, इसलिये चिन्ता होती है। परमेश्वर की प्रसन्नता को उत्पन्न करने वाला कर्म ही तो पुण्य है और अप्रसन्नता को उत्पन्न करने वाला कर्म ही पाप है। दोनों को करने या न करने का ताप होना स्वाभाविक है। परन्तु जब यह पता लग गया कि वह परमेश्वरस्वरूप मैं ही हूँ तब फिर चिन्ता नहीं होती। फिर कर्म ताप नहीं देता। इस प्रकार तत्त्वज्ञ को न भय होता है न चिन्ता होती है। अज्ञानी कामनावान् होने से चिन्ता करता है। सारे संसार का

अद्वितीय स्वतन्त्र कारण मैं ही हूँ, मुझमें ही सारे विश्व उत्पन्न-विलीन हो रहे हैं—यह जानने वाला काहे कि चिन्ता कर भी सकता है! ऐहिक-आमुष्मिक कुछ भी जिससे अतिरिक्त नहीं उसे उनकी न चिन्ता न भय संभव है ॥ ५ ॥

विद्वान् कर्मों से निश्चिन्त क्यों रहता है यह तैत्तिरीय में (२.६) ही कहा है 'स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते।' इसका संग्रह करते हैं—

एवं विद्वान् कर्मणी द्वे हित्वात्मानं स्मरेत् सदा।

कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैष पश्यति ॥ ६ ॥

महावाक्योक्त ढंग से अद्वैत समझने वाला पुण्य-पाप दोनों कर्म छोड़कर सदा आत्मा को याद रखता है। पूर्व में किये अच्छे-बुरे कर्मों को वह स्वात्मरूप ही देखता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति के सभी कर्मों को विद्वान् छोड़ देता है। भगवान् ने भी कहा 'बुद्धि-युक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते' (२.५०)। साधना का प्रारंभ कर्म से करते हो, परंतु समाप्ति नैष्कर्म्य में होती है। वर्तमान काल में तिलक आदि कुछ विचारक मानते हैं कि नैष्कर्म्य का भी कर्म से समापन होना चाहिये। किंतु सिद्धान्त यही है कि कर्म से नैष्कर्म्य में आना है, नैष्कर्म्य से कर्म में नहीं जाना है। आचार्य बार-बार कहते हैं कि संसार का रास्ता अविद्या-काम-कर्म ही है। अविद्या से कामना, कामना से कर्म होता है। जिसकी अविद्या निवृत्त हो गई है, उसके बारे में कहना कि वह कर्म करे, यह संगत ही नहीं है। विधि-निषेध वाले दोनों कर्म वह छोड़ देता है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि पारलौकिक कर्म तो छोड़ दे, ऐहिक कर्म करता रहे! अज्ञानी ऐसा धोखा खा जाता है। यह संसार हमें सच्चा ही दीखता है। अभी निश्चय तो हुआ नहीं है कि यह मिथ्या है। शास्त्र की बातें मानने में अनेक नियम पालन करने पड़ते हैं। इसलिये चाहते हैं कि शास्त्रीय कर्मों को विदा करें। कहते हैं कि आत्मा अभोक्ता है अतः कर्मों का कुछ फल नहीं है। या मिथ्यात्व का उल्लेख करते हैं कि स्वर्ग जाकर क्या लाभ होगा! किन्तु दुकान पर जो पैसा मिलता है उसका लोभ नहीं छोड़ पाते, व्यापार नहीं छोड़ पाते। यह नास्तिकता का रूप है। शास्त्र में अश्रद्धा ही यह रूप धारण करके आ जाती है अतः उससे हमें बचना चाहिये। मनु ने कहा है कि शास्त्र उस चीज़ को बताता है जिसका तुम को प्रत्यक्ष और अनुमान से पता नहीं लग सकता। पुण्य से फल मिलता है, यह न अनुमान से, न प्रत्यक्ष से सिद्ध होगा। लोग कहते हैं, 'भूखे को खिलायेंगे तो इसको सन्तोष होगा, इसमें भगवान् है। यह भगवान् की पूजा है, पुण्य है।' किंतु साथ में शराबी बैठा है। उसको शराब पिलाओगे तो उसे भी प्रसन्नता होगी। इसको भी तुम पुण्य मानोगे क्या? अतः प्रत्यक्ष से यह बात सिद्ध नहीं होती है कि दूसरे प्राणी को प्रसन्न करना पुण्य है। वेद कहते हैं ज्ञान को। जैसे आँख से ही पता चल सकता है कि रूप क्या है, इसी तरह वेद से पता चल सकता है कि धर्म और ब्रह्म क्या है। इसका ज्ञान यदि प्रत्यक्ष-अनुमान से लगता, तो वेद की कोई ज़रूरत नहीं रहती। वह केवल विज्ञान का ग्रन्थ-विशेष हो जाता। पुण्य-पाप शास्त्र से ही पता चलते हैं। तत्त्वज्ञान भी शास्त्र से ही

होगा। कर्म-भाग पर अश्रद्धा करोगे तो ब्रह्मभाग से ज्ञान भी नहीं पा सकोगे। अतः कर्तृत्वाभिमान रहते रागादि-पर्यन्त प्रवृत्ति धर्म और वैराग्य होने पर निवृत्ति धर्म का विधिवत् पालन अवश्य करना चाहिये। जब कर्तृत्व का अभिमान मिट जायेगा, परमेश्वर से अपना अभेद प्रत्यक्ष हो जायेगा तब ऐहिक-आमुष्मिक सभी कर्म अपने-आप छूट ही जायेंगे।

दोनों कर्मों को छोड़ कर क्या वह सोता रहता है? नहीं, वरन् 'सदा आत्मानं स्मरेत्' एक क्षण भी परमात्मा का बिना स्मरण किये नहीं रहता। श्रुति ने साधक के लिये सारे कर्मों के संन्यास का विधान किया 'मेरा सच्चा स्वरूप क्या है' इसका पता लगाने के लिये। इसलिये यदि आत्मा का स्मरण नहीं करते हुए तुम सब कर्मों का त्याग करते हो, तो पतित हो जाओगे। इसमें व्यावहारिक छूट समझनी ही चाहिये। 'सदा' में शरीर-निर्वाह के भोजन-शौच आदि कर्मों का काल छोड़कर बाकी का समय ग्रहण करते हैं। वह भी आचार करते हुए साधक यथाशक्ति आत्मस्मरण तो रखने का प्रयास करे। निष्ठावान् का वह व्यवहार भी बिना अभिमान का होता ही है अतः 'सदा' कहना उचित है क्योंकि यहाँ प्रसंग विद्वान् का है। जो इस बात का स्मरण करता है कि 'परमेश्वर से मैं भिन्न नहीं हूँ' उसके लिये पूर्वार्जित भी कर्म भिन्न होकर तो रह नहीं जाते जो उसे फल दें। ज्ञानी किये हुए सब कर्मों को अपने आत्मरूप से ही देखता है इसलिये चिन्ता की सम्भावना ही नहीं। हम खुद अपने लिये चिन्ता का कारण नहीं होते।। ६।।

कर्मकाण्डी कहते हैं कि पुण्य-पाप का फल अवश्य भोक्तव्य है अतः तत्त्वज्ञान से मोक्ष संभव नहीं। वेदान्ती कर्ममात्र से फल नहीं मानता, कर्म से परमेश्वर प्रसन्नादि होकर फल देता है यही मानता है। व्यास जी ने ब्रह्मसूत्रों में यही निर्णय दिया है। तत्त्वज्ञ परमेश्वर से अभिन्न है अतः उसके लिये कर्मबन्धन रहने की संभावना ही नहीं अतः तत्त्वसाक्षात्कार मोक्षहेतु है इसमें शंका नहीं। इस बात को मुण्डक उपनिषत् (२.२.८) में कहा है। वहीं का वाक्य यथावत् उद्धृत करते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। ७।।

उस परावर को देख लेने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है, सारे संशय समाप्त हो जाते हैं; परमेश्वर के इस द्रष्टा के कर्म क्षीण हो जाते हैं।

'तस्मिन् परावरे दृष्टे'; 'पर' अर्थात् परमात्मा, 'अवर' अर्थात् जीवात्मा। 'पर' कहते हैं उत्कृष्ट को; परमेश्वर उसी आत्मा का श्रेष्ठ रूप है। 'अवर' अर्थात् अल्प, जीव उसी आत्मा का छोटा रूप है। जीव की जो उपाधि अन्तःकरण है, वह उस माया का एकदेश है। जिस प्रकार सारे भारत का राजा भी राजा है और भारत के किसी छोटे क्षेत्र का भी राजा है। इसी प्रकार से सारी माया का अधिपति परमेश्वर, और माया का छोटा-सा हिस्सा अन्तःकरण, मन, उसका राजा जीव। परन्तु 'पर' और 'अवर' का भेद उपाधि से है। माया की उपाधि बड़ी है, अन्तःकरण उपाधि छोटी है। उपाधियों के कारण भेद है। यदि 'राजा' से 'राज्य'

हटा दिया जाये तो केवल मनुष्य रह जाता है। मनुष्यता उसका स्वरूप है, यावज्जीवन उसे कोई नहीं हटा सकता। इसी प्रकार माया की उत्कृष्ट उपाधि जब नहीं रही, अन्तःकरण की अल्प उपाधि जब नहीं रही, तब एक आत्मा वैसा का वैसा है। आत्मस्वरूप तो स्वाभाविक होने से रहेगा ही। वह किसी उपाधि के अधीन नहीं है। जब पर और अवर, इन दोनों की एकता को देख लेता है कि ये वस्तुतः एक ही हैं, तब हृदय की गाँठ खुल जाती है। दो डोरियों को गाँठ से एक कर देते हैं, इसी प्रकार मन, अन्तःकरण पंच महाभूतों से बना है, जड़ है। इसमें चेतनता, कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। आत्मा चेतन है पर वह अकर्ता-अभोक्ता है। अहंकारात्मिका वृत्ति से दोनों में गाँठ डाल दी जाती है। अहंकार के अंदर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसके द्वारा अध्यास की गाँठ लग जाती है। अतः अहंकार से मिला जो आत्मा है, वह कर्ता-भोक्ता हो सकता है। जैसे गाँठ जिस काम को करती है, उसे दोनों अलग डोरियाँ नहीं कर सकतीं इसी प्रकार न मन कुछ कर सकता है, न आत्मा कुछ कर सकता है, परन्तु जब दोनों का एकीकरण हो जाता है, गाँठ लग जाती है तब वह कर्ता-भोक्ता होकर सारे संसार को चलाता है। जैसे एक गाँठ के ऊपर एक और गाँठ लगाते हो तो पक्की हो जाती है इसी प्रकार यहाँ दो गाँठें लग गईं—आत्मा में अन्तःकरण का अध्यास हो गया, और अन्तःकरण में फिर आत्मा का अध्यास हो गया। इसलिये हम लोगों का अनुभव दोनों प्रकार का है: 'मैं चेतन हूँ', और 'मैं हूँ'। आत्मा में अन्तःकरण का अध्यास स्वरूप-अध्यास है और आत्मा का अन्तःकरण में अध्यास संसर्गाध्यास है। स्वरूप और संसर्ग अध्यास ये दो गाँठें लग गईं जिससे आत्मानात्मतादात्म्य पक्का हो गया। अनादि काल से गाँठ का काम चल रहा है, वह खुली नहीं। जब मेरा चेतन ही परमात्मचेतन है—इसका साक्षात् ज्ञान हो जाता है, जैसे हाथ में रखा आँवला स्पष्ट दीखता है उसी प्रकार से मैं चेतन ही माया-उपाधि से जगत् का कारण हूँ—ऐसा जब अनुभव हो जाता है, तब जो हृदय की गाँठ-रूप ये दोनों अध्यास हैं, यह गाँठ खुल जाती है। जैसे गाँठें एक-एक करके खुलती हैं, वैसे ही संसर्ग से अध्यस्त आत्मा तो साक्षात्कार के साथ ही नहीं रह जाता। फिर भी आत्मा में अनात्मा का अध्यास अध्यासरूप से तो नहीं रहता पर प्रतीति कुछ समय तक रह जाती है। इस प्रकार अभेदबोध से हृदय की गाँठ नष्ट, विदीर्ण हो जाती है।

इसके साथ ही, 'सर्वसंशयाः छिद्यन्ते', सारे संशय हट जाते हैं। अर्थात् आत्मा के विषय में अपने चेतन स्वरूप के विषय में कोई भी संशय नहीं रहता। जिस चीज़ का साक्षात्कार तुमने कर लिया, वहाँ संशय रहता ही नहीं। चाहे तुम अनुमान या शास्त्र से जानो, उससे वैसी स्पष्टता नहीं होती जैसी साक्षात्कार से होती है। धुआँ देखकर आग का अनुमान करते हैं। पर वहाँ जाकर आग देखने से जैसा निश्चय होता है, वैसा अनुमान से नहीं हो पाता। इसी प्रकार, शब्द से ज्ञान होता है; किसी से पूछते हो 'शेरशाह रोड किधर है?' वह कहता है 'अगले चौराहे से बाँये मुड़ जाना।' जब तुम वहाँ स्वयं पहुँचते हो तब तुमको संशय नहीं रहता। इसी प्रकार परमात्मा के विषय में अनेक बातों का पता लगता है श्रुति से, शब्द से उसको जाना। फिर भी कुछ संशय रह जाते हैं। परन्तु साक्षात्कार होने पर कोई संशय नहीं बचता।

‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणि’, जिसने उस परावर का दर्शन कर लिया उसके अनादि काल से आज तक के सारे के सारे कर्म जल जाते हैं। जो फलरूप में परिणत हो गये हैं, प्रारब्ध-भोग के लिये जो फलोन्मुख हो चुके हैं, वे तो रह जाते हैं। कर्म कारण है, फल उसका परिणाम है। शंका होती है कि यदि कर्म क्षीण हो जाते हैं तो प्रारब्ध कर्म भी क्षीण क्यों न हों? इसलिये कि प्रारब्ध अब ‘कर्म’ नहीं रह गये हैं, वे तो अब ‘फल’ हो गये हैं, परमेश्वर का संकल्प बन गया है। आगे तो परमेश्वर तुम्हारे कर्मों के विषय में संकल्प नहीं करेगा, पर जो हो गया वह रहेगा ही। प्रारब्ध को कर्म नहीं कह सकते क्योंकि अब वे परिणाम के रूप में आ गये हैं, फल बन गये हैं। कर्मों का ज्ञान से क्षय होता है, फलों का नहीं। यद्यपि फल को उपचार से कर्म कहते हैं जैसे घड़े को मिट्टी कहते हैं क्योंकि कार्य बताने के लिये कारणबोधक शब्द का प्रयोग प्रचलित है तथापि कार्य को हर तरह से कारण नहीं समझ सकते, घड़े की जरूरत मिट्टी से पूरी नहीं होती। शास्त्र ने ज्ञान से कर्मनिवृत्ति कही अतः उससे फलनिवृत्ति नहीं समझ सकते। प्रारब्ध फलरूप में अवस्थित है अतः वह बना रहे तो श्रुतिविरोध नहीं है बल्कि गुर्वभिगमन, उपदेश आदि के विधायक वचनों के लिये अनुकूल ही है। इसलिये कारणरूप में स्थित संचित कर्म सारे नष्ट हो जाते हैं परंतु जो फलरूप में परिणत हुए प्रारब्ध हैं वे भोगने पड़ते हैं। इस प्रकार कर्मकृत शोकादि की संभावना भी नहीं ॥ ७ ॥

मृत्युसंसाररूप बंधन की निवृत्ति का एकमात्र उपाय परमेश्वरसाक्षात्कार है जिससे पाशशब्दित बंध खुलते ही हैं एवं जन्म से ही छुटकारा मिल जाने के कारण मृत्यु से छुटकारा अर्थसिद्ध है क्योंकि जन्मवान् की ही मृत्यु संभव है, इसे वेद-वचनों से प्रमाणित करते हैं—

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं पन्था न चेतारः ।

ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैःक्लेशैर्न जन्मभाक् ॥ ८ ॥

‘उसी का जानकार मृत्यु से परे पहुँचता है। मृत्यु की पकड़ से दूर होने का और कोई मार्ग नहीं।’ ‘देव को जानकर पाश नष्ट होते हैं अतः क्लेशों का क्षय हो जाने से साधक जन्मधारी नहीं बनता।’

वेद के (वा.सं.३१.१८) अन्दर कहा ‘तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय’ । वेदों में अनेक स्थलों पर यह शब्दावलि उपलब्ध है। इसी श्रुति को यहाँ उद्धृत किया है। ‘तमेव विद्वान्’ जो जीव-ईश्वरभाव से रहित शुद्ध चेतन है उसे ही जानकर मृत्यु-अत्यय होता है। ‘एव’कार के द्वारा उपाधि की व्यावृत्ति कर दी। उपाधि के सहित वाला रूप नहीं, निरुपाधिक का जो अनुभव कर लेता है वही फल पाता है। जो उस स्वरूप के अन्दर स्थित हो जाता है, वह मृत्यु को पार कर जाता है। मृत्यु का मतलब होता है, नष्ट होना। इसलिये अर्थ हुआ कि वह आगे कभी नष्ट नहीं होता। उसका शरीर भले ही नष्ट होवे, परन्तु उसको ‘मैं नष्ट हो रहा हूँ’, ऐसी प्रतीति नहीं होती। शरीर से उसने स्वयं को पहले ही अलग जान लिया है। जैसे तुम्हारा मकान सरकार अधिगृहीत करे, उससे पहले ही यदि तुमने वह मकान

वेच दिया है तो 'तुम्हारा' मकान अधिगृहीत नहीं कर सकती है, विकने के बाद अब जिसका मकान है उसीका अधिग्रहण होगा, उसीका घर जायेगा। वैसे तुमने इस 'मकान' को (शरीरादि को) पहले ही मिथ्या जान कर छोड़ दिया है इसलिये शरीरादि से 'तुम्हारी' मृत्यु तो होगी नहीं। उपनिषद् स्पष्ट कहती है 'न तस्य प्राणा उक्तामन्ति' उसके प्राण निकलते नहीं हैं, यहीं लीन हो जाते हैं। बाकी लोगों के तो मृत्यु काल के अन्दर प्राण किसी न किसी द्वार से निकलते हैं, ज्ञानी के प्राण बाहर निकलते नहीं हैं, लीन हो जाते हैं। अगला जन्म देने वाली चीज़ें तुम्हारे कर्म हैं, वासनायें हैं, राग-द्वेष हैं। कर्म तो ज्ञानकाल में नष्ट हो गये। ज्ञान की दृढता होने पर कामना रहे यह भी नहीं हो सकता। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि जिस पेड़ की खोह में आग लगी हो, वह पेड़ हरा रह सकता है क्या? इसी प्रकार जिस अन्तःकरण में ज्ञान की अग्नि जल रही है वहाँ राग नहीं रहेगा। इसलिये वेद कहता है 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते'। (कठ. ६.१४) बुद्धि में रहने वाली जितनी कामनायें हैं, वे जिसकी निवृत्त हो गई हैं, वही अमरण-धर्मा बनता है। आधुनिक लोग चाहते हैं कि कोई ऐसा उपाय हो जिससे कामनाओं की पूर्ति भी होवे और मोक्ष भी होवे! यह सम्भव नहीं। कामना रहते मोक्ष नहीं हो सकता।

शंका होती है कि ज्ञान से मोक्ष होवे पर भक्ति, तप आदि कोई और उपाय भी होगा? वेद सर्वथा मना कर देता है कि उसके सिवाय कोई दूसरा रास्ता नहीं है क्योंकि बन्धन का कारण अज्ञान है और अज्ञान को ज्ञान ही नष्ट कर सकता है, अन्य कोई साधन अज्ञाननिवृत्ति का नहीं है।

मृत्यु से परे जाने का उपाय ज्ञान है यह बताकर श्वेताश्वतर उपनिषद् के मंत्र से समझाते हैं कि जन्म से परे जाने का भी वही उपाय है। मंत्र (१.११) है—

‘ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।

तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥’

देवाधिदेव भगवान् शिव का जब साक्षात्कार होता है तब आठों पाश जो मनुष्य को बाँधे रखते हैं, वे सारे निवृत्त हो जाते हैं। आठ पाश शास्त्रकारों ने बतलाये हैं, 'घृणा, शंका, भयं, लज्जा, जुगुप्सा चैव पंचमी। कुलं जातिश्च शीलं चेत्यष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः।' एक पाश है घृणा। घृणा का मतलब है किसी पापी को देख करके उसके प्रति जो 'यह बुरा है' ऐसी भावना होती है। दो तरह के लोग दुःखी हमें मिलते हैं—एक तो सत्कर्म करने वाले और दूसरे पाप कर्म करने वाले दुःखी मिलते हैं। जैसे आबू में सारा दिन काम करके रात में शराब पीकर नाली या सड़क पर गिरे मिलते हैं। वे दुःखी तो हैं पर पाप कर्म करके दुःखी हुए हैं। दूसरा भी सड़क पर बैठा है, चेष्टा करने पर भी खाना तक उसे नहीं मिलता, वह भी दुःखी है। दोनों के प्रति अलग-अलग भाव होता है। जो सत्कर्म करते हुए दुःखी दीखता है उसके प्रति करुणा होती है, कि 'इसका दुःख दूर करें'। जो पापी दुःखी होता है उसके प्रति घृणा होती है। करुणा उपादेय भावना है, 'मैत्रः करुण एव च', भगवान् ने गीता में

कहा है। सत्कर्मी दुःखी है तो उसके प्रति करुणा ठीक है। पापी के प्रति जो घृणा होती है, उसका क्या करें? पतंजलि ने कहा है, पापी की उपेक्षा करनी चाहिये। उसके प्रति घृणा का भाव न करो क्योंकि यह भी एक पाश है। इससे लाभ कुछ नहीं है। पापियों की उपेक्षा करनी चाहिये, घृणा नहीं। शंका भी एक पाश है। अनेक व्यक्ति हर आदमी पर शंका करते रहते हैं। एक महात्मा थे, कहते थे, 'विश्वास तो बाप का भी नहीं करना चाहिये।' ऐसे लोगों को सदैव शंका रहती है। यह भी बड़ा पाश है। भयरूप पाश प्रसिद्ध ही है। लज्जा अर्थात् हमारी बुराई को कोई न जान ले—यह भावना। एक व्यक्ति ने किसी बात पर गुस्सा किया। जब शांत हुआ तब इसका उसको दुःख नहीं था कि क्रोध क्यों आया, वरन् दूसरों के सामने गुस्सा करने की लज्जा उसे परेशान करती रही। साधक तो इससे दुःखी होगा कि क्रोध क्यों आया। किसी को पता लगने से क्या अंतर पड़ता है! तुमको बुखार आया, किसी को पता लगे या न लगे, तुम्हारे लिये तो वह रोग है ही। किंतु लज्जारूप पाश वाला इसी से घबराता रहता है कि लोग न जानें। जुगुप्सा अर्थात् गंदगी से, बुराई से स्वयं को दूर रखने का भाव। लोक में इसी अर्थ में घृणा-शब्द का प्रयोग होता है। स्वच्छतादि के लिये उपयोगी होने पर भी भेददृष्टि दृढ़ करने से यह भी पाश है। कुल भी एक बड़ा पाश है। 'मैं अमुक कुल का हूँ' इसका अभिमान बन्धनकारी होता है। जाति का अभिमान भी बन्धन-हेतु है। ब्राह्मण हूँ क्षत्रिय हूँ आदि आभिनिवेश से व्यक्ति स्वयं को परिच्छिन्न समझता है। उत्तंक महर्षि की कथा बता चुके हैं जिन्होंने जातिभ्रंश के भय से अमृत ठुकरा दिया था!

इसी प्रकार से बहुत से लोग अपने आत्मतत्त्व को इसलिये ही जानने में घबराते हैं कि हम ब्राह्मण क्षत्रिय नहीं रह जायेंगे! शील भी पाश है। हमारा शील, स्वभाव कहीं गड़बड़ा न जाये— इस घबराहट में लोग दुःखी हो जाते हैं। ये सारे पाश हैं जिनके कारण हम आत्मतत्त्व से दूर रहते हैं। ये सारे पाश परावर को जान लेने पर हट जाते हैं। फिर न किसी चीज़ की लज्जा रह जाती है, न भय, न शंका, न घृणा आदि रह जाती हैं। और सारे क्लेश क्षीण हो जाते हैं। क्लेश का मतलब दुःख होता है। खास दुःख क्या हैं? शास्त्रकारों ने बतलाये हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश; इन पाँच को क्लेश बतलाया है। सारे दुःखों का अज्ञान ही मूल है। अस्मिता—शरीर आदि में मैं-बुद्धि। मन और शरीर को जो अच्छा लगे उसमें राग होता है। और शरीर को जो बुरा लगे उससे द्वेष होता है। 'मैं हमेशा बना ही रहूँ'—यह आग्रह अभिनिवेश है। ये पाँचों मूलभूत क्लेश नष्ट हो जाते हैं जब अद्वैत-साक्षात्कार हो जाता है॥ ८॥

शोकनिवृत्ति और तापशांति दृढ़ साक्षात्कार का प्रभाव है; कठोपनिषत् (१.२.१२) में 'अधिगम' शब्द से यह कहा 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥' इसी प्रकार जिस धीर ने विज्ञान के बाद प्रज्ञा कर ली (बृ. ४.४.२१) उसकी आत्मरूप स्थिति के लिये बृहदारण्यक में कहा है 'उभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः' (४.४.२२)। आपात ज्ञान, परोक्ष ज्ञान या अदृढ़ अपरोक्ष से यह स्थिति प्रकट नहीं होती वरन् दृढ़ अपरोक्ष से ही होती है। इसे उक्त श्रुतियों के आधार पर सूचित करते हैं—

देवं मत्वा हर्षशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान् ।

नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित् ॥ ६ ॥

चिदानन्दरूप देव का अवगम कर इसी जन्म में साधक हर्ष और शोक छोड़ देता है क्योंकि धैर्यादिसे युक्त हुआ साधना कर चुका है। किये या न किये पुण्य या पाप इसे कभी ताप प्रदान नहीं करते।

‘देवं मत्वा’ उस परम ब्रह्म परमात्मा देव का भली प्रकार से साक्षात्कार करके चूँकि वही सारे संसार के रूप को धारण करता है इसका निश्चय है इसलिये न किसी चीज़ से हर्ष हो सकता है, न शोक हो सकता है। अपने से कोई भिन्न चीज़ होवे तो हर्ष और शोक हो क्योंकि भिन्न कुछ रहता नहीं इसलिये दोनों हट जाते हैं। इन्हें कौन छोड़ सकता है? कहा धैर्यवान्। जो धैर्यवाला, धीरता वाला है। धीरता दोनों ही ले लेना: बुद्धि में जो रत होता है, उसको भी धीर कहते हैं। और जो किसी भी परिस्थिति में घबराता नहीं उसको भी धैर्यवान् कहते हैं, धीर पुरुष कहते हैं। परमात्मा के साक्षात्कार के लिये जो साधन चाहिये, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, उनमें से प्रत्येक के लिये बड़े धैर्य की ज़रूरत है, नहीं तो थोड़े समय में ही आदमी घबरा जाता है। भगवान् गौडपादाचार्य ने तो कहा है, जो घास के तिनके से एक-एक बूँद लेकर समुद्र को सुखाने का धैर्य रख सके, वह अपने मन की अनन्त वासनाओं को सुखाने की हिम्मत करे! इसीलिये आज के लोगों के लिये यह मार्ग अत्यन्त कठिन है क्योंकि आजकल धैर्य तो किसी के पास है ही नहीं। जो टेलीफोन से तत्काल जवाब चाहते हैं, चिट्ठी से जवाब तक की इन्तजार नहीं कर सकते, ऐसे अधीर लोगों के लिये तो यह मार्ग नहीं है। शम, दम आदि साधन सब धैर्य से सही सम्पन्न होते हैं। श्रवण, मनन आदि साधन भी बुद्धि में रमण करने से ही प्राप्त होते हैं। ऐसे जो धैर्य से सम्पन्न हैं, वे ही इसी जन्म में परमात्मा का साक्षात्कार कर हर्ष-शोक छोड़ते हैं। जिसमें ऐसा धैर्य नहीं होता उससे यह काम हो नहीं सकता। इसलिये अन्यत्र उपनिषद् ने कहा है, जैसे सलमा-सितारे की सूई की आँख में बहुत पतला धागा डालना अत्यन्त कठिन वैसे ही परमात्मसाक्षात्कार है। ऐसे सूक्ष्म परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिये धैर्यपूर्वक साधन करने से अज्ञान-निवृत्ति देखने में आती है। इसी जन्म में तब हो पाता है जब इस प्रकार धैर्य पूर्वक लगे।

पुण्य-पाप उस लब्धबोध को सन्ताप नहीं देते। यह बात पहले श्लोक ५ में आई है। ‘मैंने पुण्य क्यों नहीं किया, मैंने पाप क्यों कर दिया’—इसका ताप उसे नहीं होता। किये पुण्य का भी फल अवश्य भोगना पड़ेगा—इससे ताप संभावित है, वह ज्ञाननिष्ठ को नहीं होता। पाप-दुःख से ताप भी नहीं होता। पुण्य और पाप ये दोनों ही अध्यास से होते हैं। अहंकार में चेतन का भ्रम होने पर ही पुण्य भी होगा और पाप भी होगा। इसलिये उसका फल भी भोगने वाला अध्यास वाला ही होगा। जिसका अध्यास हट गया उसने तो कुछ किया नहीं इसलिये करने-न करने से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है क्योंकि ‘अकृत’ आत्मा का बोध

होने के बाद, 'करने वाला' तो वह रह नहीं गया। अतः किये कर्म इस ज्ञानी को ताप नहीं देते, दुःख नहीं देते। 'क्वचित्' थोड़ा भी; ऐसा नहीं कि इतना बड़ा पाप किया तो ज्ञानप्रभाव से थोड़ा फल रह जायेगा! कुछ नहीं रहता, खत्म हो जाता है क्योंकि करने वाला रहा ही नहीं। अहंकार और चेतन दोनों की हृदयग्रन्थि ने ही सब किया था, हृदयग्रन्थि वाला कोई अब रहा ही नहीं, इसलिये सजा किसको हो, या पुरस्कार भी किसको मिले! इसलिये कहा कि ब्रह्मरूप का ज्ञान हो जाने पर उस तत्त्ववेत्ता को कुछ भी ताप नहीं होता।। ६।।

प्रमाणोपन्यास का उपसंहार करते हैं—

इत्यादिश्रुतयो बह्व्यः पुराणैः स्मृतिभिः सह।

ब्रह्मज्ञानेऽनर्थहानिम् आनन्दं चाप्यघोषयन्।।१०।।

पूर्वोक्त एवं ऐसी बहुतेरी श्रुतियाँ, पुराणों व स्मृतियों समेत घोषित कर चुकी हैं कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर अनर्थ समाप्त हो जाता है एवं आनन्द ही रह जाता है।

जितनी श्रुतियाँ हमने कही उतनी ही नहीं, और भी बहुत-सी श्रुतियाँ यही बताती हैं। ब्रह्मज्ञान से मोक्ष के लिये सभी लोग प्रवृत्त हो सकते हैं इसलिये फल के बारे में कहा, 'यो यो देवानां प्रत्यबुद्धयत' देवताओं में, मनुष्यों में, ऋषियों में जिसने भी इस तत्त्वज्ञान को प्राप्त किया, वही ब्रह्मरूप हो गया। अतः इसके अंदर देवतादि का भी अधिकार है। ब्रह्मसूत्रों में भी यही निर्णय किया कि देवताओं को यद्यपि कर्म और उपासना का अधिकार नहीं है, तथापि ज्ञान का अधिकार तो है ही, इसलिये इन्द्र और विरोचन देवराज और असुरराज दोनों ही ब्रह्माजी के पास आत्मज्ञान सीखने के लिये गये। 'मैं ही पर ब्रह्म हूँ,' ऐसा निश्चय होने पर मृत्यु के मुख से जीव छूट जाता है अर्थात् फिर उसको मरना नहीं पड़ता। उसके प्राण लीन हो जाते हैं। वह मर कर कहीं जाता नहीं, यहीं रह जाता है। स्मृतियों में भी यही कहा है। 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' सारे जड़-चेतन जगत् को जो एक आत्मा में ही अध्यस्त देखता है और सारे भूतों के अन्दर सत्-चिद्रूप से उसीको देखता है वह स्वतन्त्र हो जाता है। यह देखना ही एक यज्ञ है: 'सम्पन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति।।' जड़-चेतन उपाधियाँ स्वरूप से अध्यस्त हैं और सभी में जो सत् और चित् की प्रतीति है—जहाँ अन्तःकरण है वहाँ सत्-चित् की प्रतीति, जहाँ अन्तःकरण नहीं है, वहाँ केवल सत् की प्रतीति—यह केवल संसर्गमात्र से अध्यस्त है। आत्मा तो अधिष्ठान ही है। इस प्रकार सारे जड़-चेतन की आहुति अधिष्ठान आत्मा में और व्यवहार काल में अधिष्ठान आत्मा की सत्-चिद्रूप से विषयों के साथ प्रतीति—इसी को आत्मविद् आत्मयज्ञ कहते हैं। इस आत्मयज्ञ को करने वाला अपने आत्मराज्य को प्राप्त कर लेता है। पुराणों के अन्दर भी कहा 'क्षेत्रज्ञस्यात्मविज्ञानाद् विशुद्धिः परमा मता'। शरीर क्षेत्र है। और इस शरीर को जो मैं-रूप जानता है वह क्षेत्रज्ञ है। मैं-रूप से जानने वाला क्षेत्रज्ञ यदि इस उपाधि के बिना जो अपना वास्तविक स्वरूप है, उसे जान लेता है तो यही परम शुद्धि है। बाकी शुद्धियाँ कुछ पापों की निवृत्ति करेंगी, अतः गौण विशुद्धियाँ हैं, क्योंकि वापिस अशुद्धि आती है। जैसे बर्तन माँजकर

[प्र. ११ श्लो. ११]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण ११९३

चमचमाता बनाओ। उस समय लगता है, साफ हो गया। दो माह न धोओ तो फिर काला का काला। सोने के बर्तन को साफ करके रख देते हो, तो वह काला नहीं होता क्योंकि वह स्वरूप से विशुद्ध है। इसी प्रकार से तुम खुद सोने की तरह शुद्ध हो। ऊपर से अन्तःकरण के दोषों को अपने ऊपर डालकर तुम अशुद्ध—जैसे दीखते हो, अशुद्ध कभी होते नहीं। और, जो अन्तःकरण की वृत्ति मैं-आदि हैं, वे स्वरूप से अशुद्ध हैं। इसलिये कितनी भी उपासना कर लो, कर्म कर लो, थोड़े समय के लिये तो मन आदि बिलकुल साफ लगेंगे, पर क्योंकि वे स्वरूप से ही अशुद्ध हैं इसलिये थोड़ा-सा छोड़ दो तो फिर वैसे के वैसे हो जाते हैं। अतः उनकी विशुद्धियाँ अपरम हैं। किंतु क्योंकि आत्मा के ऊपर तो तुमने जबरदस्ती अशुद्धि अध्यस्त की है इसलिये जैसे ही अध्यास हटा वैसे ही यह शुद्ध है।

ब्रह्मज्ञान होने पर जो संसार से होने वाला दुःख है, यह अनर्थ हमेशा के लिये मिट जाता है। केवल अनर्थ ही नहीं मिटता, आनन्द-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। यह ऐसा चिह्न है जिससे अपने को साफ पता चलता है। जितनी-जितनी आनन्द में स्थिति बढ़ती जाये, जानो कि ठीक रास्ते जा रहे हो। कुन्ती का वचन है 'भगवन्! हमारे ऊपर चाहे विपत्ति आवे पर आप का दर्शन होता रहे।' अर्थात्, शरीर-मन में कितने भी दुःख होवें, परन्तु यदि तुम शिवभाव में हो, तो उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। इसलिये आचार्य शंकर कहते हैं, हमें चाहे जंगली जानवर बनना पड़े, चाहे कीट पतंग ही बनना पड़े पर 'सदा त्वत्पादाब्जस्मरण-परमानन्दलहरी-विहारसक्तम्' आपके चरण-कमलों के अन्दर हमेशा विहार करने में आसक्त यदि मेरा हृदय बना रहता है तो शरीर क्या है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। अनर्थ-हानि और आनन्द की प्राप्ति—इनकी श्रुतियों, स्मृतियों एवं पुराणों ने घोषणा की है।। १०।।

जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, उस आनन्द का ज़रा विचार करते हैं—

आनन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा ।

विषयानन्द इत्यादौ ब्रह्मानन्दो विविच्यते ।। ११ ।।

ब्रह्मानन्द, विद्यानन्द और विषयानन्द—यों आनन्द तीन तरह का है। आनन्द-पंचक के प्रारम्भ में ब्रह्मानन्द को समझाया जा रहा है।

आनन्द तीन प्रकार का है। एक है 'ब्रह्मानन्द'। ब्रह्मानन्द कहने से ही प्रतीति होती है कि दूसरा भी कोई आनन्द है। ब्रह्म अर्थात् हमारा और जगत् का जो मूल कारण है। ब्रह्म का यही लक्षण किया—जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा सबका पालन होता है और अन्त में जिसमें सब चले जाते हैं, वही ब्रह्म है। एक तो वह आनन्द है जिससे सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं। दूसरा आनन्द है जिसमें स्थिर रहते हैं। तीसरा, जिसमें लय हो जाते हैं। ये ब्रह्मानन्द के स्वरूप हुए। उसको यहाँ तीन प्रकरणों में बतलायेंगे। योगानन्द, आत्मानन्द और अद्वैतानन्द—ये तीनों ब्रह्मानन्द के प्रकार हुए। दूसरा है 'विद्यासुखं'। एक ब्रह्मरूप आनन्द है और एक ब्रह्म को जानने का आनन्द है जिसे विद्यानन्द कहा। जब तक

ब्रह्माकार वृत्ति अज्ञान को नष्ट नहीं करती, तब तक ब्रह्मरूप आनन्द में तो स्थिति नहीं है परन्तु ब्रह्मरूप आनन्द को वृत्ति विषय बनाने का प्रयत्न कर रही है, इसका भी एक आनन्द है। जिस प्रकार नींद आने पर जो आनन्द है वह बड़ा भारी आनन्द है। परन्तु नींद आने के पहले, मुलायम बिस्तर पर लेटे हो, ठंडी हवा है, नींद की तैयारी हो रही है, इसका भी एक आनन्द है। जिस समय नींद आ जाती है उस समय आनन्द में मग्न हो जाते हो, केवल आनन्द ही आनन्द रह जाता है और कुछ नहीं; परन्तु उस आनन्द का स्पष्ट स्फुरण नहीं होता। बिछौने पर लेटने का इत्यादि सुख तब नहीं भासता। आनन्द को प्रकट करने की जो तैयारी है, उसका स्फुट आनन्द है क्योंकि बुद्धि जाग्रत है। आनन्द आयेगा, उस समय तो आनन्द में मग्न हो जाओगे, कोई होश भी नहीं रहेगा। बाद में स्मृति ज़रूर रहेगी कि बड़ा आनन्द आया। परन्तु उस समय व्यक्तीभवन नहीं है, क्योंकि उसमें बुद्धि रह नहीं जाती। इसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप में स्थित होने का ब्रह्मानन्द है, और उसकी प्राप्ति के लिये जो ब्रह्माकार वृत्ति बनाने का प्रयत्न है, वह विद्यानन्द है।

तीसरा है विषयानन्द। इसपर पंचदशी का अन्तिम प्रकरण है। जिस समय हमें जगत् की प्रतीति हो रही है उस समय सब चीज़ों के अंदर विद्यमान जो सत्-चिद्रूप ब्रह्म है, उसकी तरफ दृष्टि जाने से सच्चिदानन्द की प्रतीति होती है तो व्यवहार काल में भी अनुसन्धान अक्षुण्ण रहता है, टूटता नहीं है। विद्यानन्द में तो साक्षात् ब्रह्म को विषय कर रहे हो, इसलिये वह श्रेष्ठ है। विषयानन्द में उपाधि के साथ सच्चिदानन्द को विषय कर रहे हो इसलिये उपाधि का अनुवर्तन होने से कम आनन्द है। जैसे नमक की डली का नमकीनपना, और साग में थोड़ा नमक डाल दिया, उसका नमकीनपना इनमें खारेपन की तीव्रता का अन्तर होता है वैसे संसार के नामरूपात्मक विषयों के रहते हुए जो आनन्द है, वह चुटकी-भर नमक डालने का आनन्द है और विद्यानन्द नमक की डली खाने का आनन्द है। एक हो गया ब्रह्मानन्द, जिसके तीन भेद बतलाये योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द। दूसरा हो गया विद्यानन्द। तीसरा हो गया विषयानन्द। त्रिविध आनन्द बतला दिये। अब इनमें सबसे पहले ब्रह्मानन्द का विवेक करेंगे। 'विविच्यते' अर्थात् विभक्त करके दिखलायेंगे कि ये हैं तो तीनों ब्रह्मानन्द के स्वरूप॥ ११॥

ब्रह्मानन्द समझाने के लिये कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय श्रुति का आधार लेते हैं—

भृगुः पुत्रः पितुःश्रुत्वा वरुणाद् ब्रह्मलक्षणम् ।

अन्नप्राणमनोबुद्धीस्त्यक्त्वाऽऽनन्दं विजज्ञिवान् ॥ १२ ॥

पुत्र भृगु ने पिता वरुण से ब्रह्म का लक्षण सुनकर अन्न, प्राण, मन, बुद्धि को परीक्षापूर्वक छोड़कर आनन्द ही ब्रह्म है, यह जाना था।

भृगुऋषि वरुण ऋषि के पुत्र थे। अपने पिता वरुण के पास गये, और कहा 'हमें ब्रह्म का उपदेश दीजिये।' ब्रह्म दीर्घकाल विचार करने से ही पता लगता है। जिस प्रकार यदि तुम को वैद्य बनना है तो लम्बे समय तक तुमको नाडी का परीक्षण करना पड़ेगा। हैं तो नाडी में तीन ही चीज़ें, वातप्रधान, पित्तप्रधान और कफप्रधान। परन्तु इन तीनों के भेदों का

[प्र. ११ श्लो. १२]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १११५

ज्ञान दीर्घ काल तक अभ्यास करने से ही होता है। इसी प्रकार परमात्मा के तीन ही लक्षणों का विचार करना है—उससे जगत् उत्पन्न, स्थित और उसमें ही लीन हो जाता है। शुरू में लगता है कि यह सीधी-सी बात है। पर दीर्घकाल तक विवेचन करने पर अनेक चीज़ें सामने आती हैं कि ब्रह्म का क्या रूप है। फिर परीक्षा करने से समझ आता है कि ब्रह्म का क्या रूप नहीं हो सकता। अतः दीर्घकाल तक अभ्यास करने की ज़रूरत है। पिता वरुण से भृगुने ब्रह्म का लक्षण सुन लिया। फिर उसने दीर्घकाल तक विचार किया। पहले समझ में आया कि प्राणी अन्न से पैदा होते, रहते, नष्ट होते हैं। माता-पिता ने जो अन्न खाया है वही शुक्र-शोणित बनकर शरीर को उत्पन्न करता है। हम तभी तक रहते भी हैं जब तक अन्न मिलता रहे। और अन्त में जब हम जल जाते हैं तब पुनः खादरूप से अन्न में चले जाते हैं। इसलिये अन्न ही वह ब्रह्म है जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसमें सब स्थित रहता है, जिसमें सब चला जाता है। यह समझकर भृगु पिता के पास गया, बताया कि इस लक्षण से यह जवाब मिला। पिता ने कहा 'यह ठीक नहीं है, जाकर और विचार करो।' विचार करने पर 'प्राण' समझ आया। प्राण से सृष्टि, स्थिति, लय की प्रतीति होती है। वरुण ने बतलाया कि वह भी नहीं है, और विचार करो। प्राण से जीवित तो रहता है, लेकिन यदि मन न होवे तो चेतना लुप्त हो जाती है। कोमा (बेहोशी) में आदमी होवे, तो प्राण चलने पर वह जी तो रहा है पर पता उसे कुछ नहीं। इसलिये प्राण नहीं, मन ही ब्रह्म है यह भृगु को समझ आया। तब वरुण ने पुनः कहा 'नहीं, और विचार करो।' विचार करके उसने निश्चय किया कि मन तो बार-बार बदलता रहता है। बुद्धि ही असली चीज़ है। उसको भी वरुण ने मना कर दिया। फिर विचार किया।

श्रुति इसके द्वारा बतला रही है कि परमात्मा का ज्ञान करने के लिये, दीर्घ-काल तक मनुष्य को चित्त को एकाग्र करके विचार में लगाना पड़ता है। आजकल तो लोग कहते हैं कि 'बताइये क्या है?' इसीलिये निष्ठा बनती नहीं है। भृगु ने अनेक वर्षों तक इन चीज़ों का पता लगाने के लिये पुनः पुनः विचार गुरु-आज्ञा से किया। जब इस प्रकार विचार से उत्पन्न होता है, तब वह अनुभव होता है। अन्यथा, 'उन्होंने यह कहा' यह तो प्रतीति होती है पर 'मैं ऐसा जानता हूँ' यह प्रतीति नहीं होती। वेद, उपनिषद्, गीता में भगवान् ने कहा, गुरु ने कहा, बात सच्ची है और स्वयं विचार करके वही ज्ञान हो तब निश्चय होता है। इसलिये उपनिषदों में कहा है 'ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्', ज्ञान का जब दीर्घकाल तक अभ्यास करता है, तब वह ज्ञान उत्पन्न होता है जो सारे पापों को नष्ट कर देता है। इस प्रकार अंत में भृगु ने जाना कि आनन्द ही ब्रह्म है।

क्या चीज़ है जो जीव हर क्षण चाहता है? आनंद ही चाहता है। संसार में कोई व्यक्ति दुःख नहीं चाहता। सब सुख चाहते हैं। भूल होती है कि जहाँ सुख नहीं है वहाँ से हमें सुख मिल जायेगा। रसगुल्ला खाने से हमारी ही आनन्दाकार वृत्ति बनती है, फिर भी वहम यह है कि रसगुल्ले में आनन्द है। इसी भ्रम के कारण जो आनंदसमुद्र हम, वह आनंद की एक बूँद के लिये संसार के सामने हाथ फैलाते फिरते हैं कि हमें सुख मिल जाये! सारे प्राणी आनन्द से ही उत्पन्न

होते हैं। माता-पिता के आनन्द के अन्दर ही प्राणी के उत्पन्न होने का बीज निहित है। आनन्द में ही स्थित रहते हैं, आनन्द की ही निरन्तर इच्छा सबको बनाये रखती है। जब आशा टूट जाती है कि कोई आनन्द हो सकता है, तब आत्महत्या करते देखे जाते हैं। जब तक शरीर से सुख की आशा है तब तक तो कर्जा लेकर भी दवाई से इसको सुरक्षित रखना चाहते हैं कि यह रहेगा तो आगे सुख होगा। जब यह निश्चित हो जाता है कि अब सुख की कोई आशा नहीं है, तब आदमी अपने को बचाने का प्रयत्न नहीं, अपने को खत्म करने का ही प्रयत्न करता है। जब तक सुख की आशा है तभी तक जीवन है। और अंत में उसी के अंदर सब लीन हो जाता है। इस प्रकार से अन्न, प्राण, मन, इन सब को छोड़कर आनन्द को ही ब्रह्मरूप से भृगु ने जाना। यद्यपि सत् और चित् भी ब्रह्म का लक्षण है तथापि ब्रह्म का जो लक्षण हमें निरन्तर अपनी तरफ आकृष्ट कर पाता है वह आनन्द ही है। चूंकि ब्रह्म आनन्दरूप है इसलिये, हमारी निरन्तर प्रवृत्ति उधर होती है॥ १२॥

आनन्द में ब्रह्मलक्षण घटाकर दिखाते हैं—

आनन्दादेव भूतानि जायन्ते तेन जीवनम्।

तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानन्दो न संशयः॥ १३॥

आनन्द से ही भूत (प्राणी) पैदा होते हैं, उन्हीं से जीवन है, भूतों का लय भी आनन्द में है अतः इसमें संशय नहीं कि आनन्द ही ब्रह्म है।

जितने प्राणी उत्पन्न होते हैं, सब आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं। आनन्द से ही जीवन है, जितनी चीजों की, विषयों की प्राप्ति होती है, वे सब आनन्द देते हैं, इसीलिये जीवन है। बीमार आदमी सुख के लिये शरीर छोड़ना चाहता है कि 'मैं मर जाऊँ, ये सब दुःख छूट जायें' वह ब्रह्मानन्द को तो समझता नहीं है, विषयानन्द को ही समझ रहा है, उसीसे जी रहा है। और जब गहरी नींद में जाता है, उस समय ये सारे विषयादि सुषुप्ति के आनन्द में ही लीन होते हैं। जाग्रत् में भी इस आनन्द का कभी-कभी कोई बोध हो जाता है, परन्तु वह सार्वकालिक और सार्वदिक नहीं है। जितनी देर सुषुप्ति है उतनी देर आनन्द रहता ही है। जाग्रत् में आनन्द का अनुभव करने के लिये बुद्धि स्थिर हो जाये पर लीन न हो यह स्थिति चाहिये। आनन्द के स्फुरण का जो बोध होता है, उसमें लीन तो सब होते ही हैं। साधना का प्रयत्न इस बात के लिये है कि उसका स्फुरण होवे। अतः उसीसे उत्पन्न होता है, उसीमें स्थित है, उसी में लय होता है, अतः आनन्द ब्रह्म ही है। ब्रह्म का लक्षण आनन्द में ही घटता है, इसमें कोई संशय नहीं यह सार्वकालिक सार्वजनिक अनुभव है, इसलिये 'न संशयः'॥ १३॥

जिसको तैत्तिरीय में आनन्द कहा है, उसीको सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् में भूमा कहा है—

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटी द्वैतवर्जनात्।

ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो॥ १४॥

भूतों की उत्पत्ति से पूर्व द्वैत न होने से भूमा ही रहा। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप वाले तीनों आकारों का समूह प्रलय में नहीं होता।

सनत् कुमार और नारद का छांदोग्य के सप्तम अध्याय में संवाद है। नारद सनत्कुमार के पास जाते हैं, कहते हैं, 'हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश करिये।' सनत् कुमार कहते हैं 'पहले बताओ अब तक तुमने क्या-क्या समझा है?' नारद लम्बी सूची पेश करते हैं 'मैंने वेद, वेदांग, इतिहास, ज्योतिष आदि सब पढ़ा है। परन्तु सब पढ़कर भी अभी तक शोक की निवृत्ति नहीं हुई।' तब सनत् कुमार ने कहा 'तुमने केवल अक्षर ही अक्षर, शब्द ही शब्द पढ़े हैं।' जब तक अर्थ के अनुभव में परिणति नहीं हो जाती, तब तक शब्द ही है। रसगुल्ले को जीभ पर रखने से ही उसके वास्तविक आनंद का पता लगता है। शब्द पढ़े हैं अर्थात् उनका अर्थ ग्रहण नहीं किया। अर्थ क्या है? पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश, ये जो पंचमहाभूत और इन से जो प्राणी आदि उत्पन्न हुए इनकी उत्पत्ति से पूर्व जो तत्त्व रहा वही 'अर्थ' है। जो पेट से पैदा होते हैं वे जरायुज, अण्डों से पैदा होने वाले अण्डज। कुछ प्राणी हैं जो पसीने से पैदा होते हैं उन्हें स्वदेज कहते हैं। कुछ प्राणी हैं जो भूमि को फोड़ कर निकलते हैं जो उद्भिज कहलाते हैं। पाँच महाभूत और चारों तरह के प्राणी उत्पन्न हुए। प्राणी हो गये ज्ञाता और आकाश आदि महाभूतों से उत्पन्न हुई चीज़ें हो गई ज्ञेय, जिन्हें जानते हैं। प्राणी जानने वाले तथा ये सब चीज़ें जिनको जानते हैं। जो ज्ञान के साधन हैं, इंद्रियाँ उनके द्वारा ज्ञान होता है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की क्रिया—इस प्रकार यह त्रिपुटी उत्पन्न हो गई। परन्तु इन महाभूतों के और प्राणियों के उत्पन्न होने के पहले ये प्राणी नहीं थे इसलिये कोई ज्ञाता नहीं था। जिन्हें जानें वे विषय भी नहीं थे। क्योंकि भौतिक हैं इसलिये भूतों के अभाव में इन्द्रियाँ भी नहीं थीं। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इस त्रिपुटी के उत्पन्न होने के पहले जो था वह अद्वैत रहा। ये होने के बाद तो त्रिपुटी भी हो गई।

यह त्रिपुटी ही द्वैत है। जैसे एक फूल में एक पंखुड़ी के पीछे दूसरी, उसके पीछे तीसरी यों पंखुड़ियाँ मिलकर फूल होती हैं इसी प्रकार ये तीन पुट हैं—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। पुट अर्थात् आकार। आगे चाहे इन सब के अनन्त भेद हो जायें पर रहेंगी ये तीन ही कोटियाँ, श्रेणियाँ। तीन पुटों का, आकारों का जो संग्रह है, वही त्रिपुटी है। यही सारा द्वैत है। इसको द्वैत ही क्यों कहते हैं, त्रैत क्यों नहीं कहते? आर्यसमाज के स्वामी दयानन्द के पहले तक अपने यहाँ द्वैतवाद तो था, पर उन्होंने त्रैतवाद का प्रतिष्ठापन किया! त्रिपुटी होने पर भी, इसमें विषय तो दो ही हुए, ज्ञाता और ज्ञेय। ज्ञान तो उनका सम्बन्धमात्र है। इसलिये दो ही के भेद में तीनों आ जाते हैं। दृक् और दृश्य, इसी में सारे आ जाते हैं। जब ये नहीं थे तब 'यत्र नान्यत्पश्यति' जिस अवस्था में किसी दूसरे को देखता नहीं है, सुनता नहीं है, किसी दूसरे को जानता ही नहीं वह भूमा है। द्रष्टा और दृश्य का भेद होने से ही भूमा 'नहीं रहता' है। यह भेद नहीं रहा तो भूमा 'हो गया'। भूमा ही आनंद है। जो परिच्छिन्न है उसमें केवल सुखाभास है, सुख है नहीं। इसलिये सनत्कुमार ने कहा कि ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटी प्रकट होने के पहले जब प्रलय था, तब ये सब कुछ नहीं था अतः वह भूमावस्था है, वही आनंदावस्था है। प्रलय का तो हम लोगों को साक्षात् अनुभव नहीं है। लेकिन यह

सारा संसार जब हम गहरी नींद में जाते हैं तब नहीं रह जाता। दृश्य और द्रष्टा दोनों नहीं रह जाते इसलिये दर्शन भी नहीं रह जाता। सुषुप्ति के अन्दर सब चीजें लीन हो जाती हैं। इसलिये लय-प्रक्रिया समझाते हुए कहते हैं कि जाग्रत् में विषय, इंद्रियाँ और मन; उसकी अपेक्षा जब इंद्रियाँ लीन हो जायें, केवल मन रह जाये तब स्वप्न; जब मन भी लीन हो जाये तब सुषुप्ति। सृष्टि-प्रक्रिया की दृष्टि से देखो तो प्रलयावस्था हो गई सुषुप्ति। जिस समय सुषुप्ति थी उस समय पूर्ण रूप से आनंद था। जब मन, इंद्रियाँ आईं तब दुःख शुरू हुआ। यह बात सनत् कुमार ने नारद को स्पष्टतः बतलाई। जब द्वैत समाप्त होता है तभी सुख होता है। वही सुख जगत् का कारण है॥ १४॥

ज्ञाता आदि का स्वरूप बताते हैं—

विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता ज्ञानं मनोमयः ।

ज्ञेयाः शब्दादयो नैतत् त्रयमुत्पत्तितः पुरा ॥ १५ ॥

परमात्मा से उत्पन्न विज्ञानमय कोश ज्ञाता है, मनोमय कोश ज्ञान है, शब्द आदि विषय ज्ञेय हैं। ये तीनों उत्पत्ति से पहले थे नहीं।

उत्पत्ति से पहले शब्दादि अर्थात् रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श जो जाने जाते हैं, वे नहीं थे। क्योंकि वेद कहता है कि उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, उससे वायु उत्पन्न हुआ इत्यादि इसलिये जब आकाश आदि नहीं थे तब आकाशादि में रहने वाले शब्दादि कहाँ से आयेंगे? यदि शब्दरूप ही आकाश को मानते हैं, तब भी वही बात है। गौतम व कणाद के अनुयायियों का कहना है, आकाश एक द्रव्य है, उसके अन्दर शब्द गुण रहता है। हम लोग मानते हैं, पहले शब्दात्मक आकाश अव्यक्त है, क्योंकि पंचीकृत नहीं हुआ। पंचीकृत होने पर वह व्यक्त हो गया। परन्तु है आकाश शब्दात्मक। उसमें पृथ्वी जल तेज वायु—ये दो-दो आना मिले हैं तो आठ आना मिलकर बाकी चार, और आठ आना आकाश मिलकर जो हम लोगों को उपलब्ध है वह स्थूल, पंचीकृत आकाश बना। उसमें ये पाँचों तत्त्व पंचीकरण से मौजूद हैं। जैसा आकाश में वैसा वायु, तेज, जल, पृथ्वी में भी हैं। शब्द हमें ग्राह्यरूप से व्यक्त तब होता है जब बाकी चार मिल जायें। शब्द से कोई अलग चीज़ आकाश नहीं है। अगर शब्द-आकाश अलग हैं यह पक्ष मान लो तो भी आकाश ज्ञेय तो तभी होता है जब उसमें शब्द होवे। इसी प्रकार रूप रस गंध स्पर्श सभी का हाल है।

‘ज्ञानं मनोमयः’। मन की जब वृत्ति ज्ञेय के आकार की बनती है तब ज्ञान होता है। परस्पर असम्बद्ध ज्ञाता व ज्ञेय बने रहें, तो ज्ञान नहीं होगा। वह तभी होगा जब इनका उचित मेल हो। इंद्रिय स्वतः ज्ञान नहीं कर सकती, मन के द्वारा सम्बन्धित होकर ज्ञानहेतु बनती है। अतः ज्ञान मनोमय है। मन व इंद्रियाँ अपंचीकृत भूतों का कार्य अतः सूक्ष्म हैं इसलिये इनके द्वारा घिरने पर भी विषय आवृत्त नहीं होते और न ही इनका कोई बोझ विषय पर पड़ता है! त्रिपुटी के अन्दर ज्ञेय तो हो गये पञ्चीकृत विषय। ज्ञान हो गया अपंचीकृत; इंद्रियों के द्वारा मन की वृत्ति बनती है तो प्रत्यक्ष हो जाता है। अन्य साधनों से मन की

ज्ञानाकार वृत्ति बने तो परोक्ष ज्ञान हो जाता है। केवल संस्कारों के द्वारा मन की वृत्ति बनती है तो स्मरण हो जाता है। हैं ये ज्ञान।

तीसरा 'विज्ञानमयो ज्ञाता'। बुद्धि में जो अहंकारात्मिका बुद्धिवृत्ति है, वही चेतन से सम्बन्धित होकर जानने वाली है। जानने वाले का अनुभव हमेशा होता है 'मैं जानने वाला'। दूसरा कोई जानने वाला है—यह केवल अनुमान से पता लगता है। वह भी पता मैं को लगेगा। जानने वाला विज्ञानमय अहंकारात्मिका वृत्ति है। विज्ञानमय, मनोमय और शब्दादि—ये तीनों ही उत्पन्न हैं। यहाँ 'उत्पन्नाः' नहीं कहा है क्योंकि प्रधान रूप से पहले ज्ञाता उत्पन्न होगा, तभी ज्ञान और ज्ञेय होंगे। जब विज्ञानमय उत्पन्न हो गया, तब आगे ज्ञेय और ज्ञान होंगे। ये तीनों ही उत्पत्ति के पहले नहीं हैं। क्योंकि ये तीनों कार्य हैं। जो उत्पन्न होता है वह कार्य किसी कारण से उत्पन्न होता है इसलिये उत्पत्ति से पहले ये कारणरूप में थे। कार्य कुछ नहीं था।। १५।।

कार्य न होने से प्रकृत में क्या लाभ यह दिखाते हैं—

त्रयाभावे तु निर्वैतः पूर्ण एवानुभूयते।

समाधिसुप्तिमूर्च्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा।। १६।।

ज्ञाता आदि तीनों न होने पर बिना द्वैत का पूर्ण ही अनुभव होता है। समाधि, सुषुप्ति, मूर्च्छा में जैसे पूर्ण रहता है वैसे सृष्टि से पहले पूर्ण रहा।

जब ये तीनों ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता नहीं हैं, तब सारे द्वैतों से रहित अद्वैत मौजूद ही है। द्वैत उत्पन्न होने वाला है, इसलिये जहाँ द्वैत नहीं है वह अनुत्पन्न अद्वैत है। चूंकि वह किसी भी द्वितीय से रहित है इसलिये उसमें न देश का, न काल का, न वस्तु का परिच्छेद है। किसी तरह की बाड़ का वहाँ अनुभव नहीं। हमें तीन तरह की बाड़ों का अनुभव होता है: एक, देश की बाड़, इस देश में यह चीज़ है उस देश में नहीं। बाड़ मतलब जिसे सीमा कहते हैं। जब तक त्रिपुटी उत्पन्न नहीं हुई तब तक देश कहाँ है? इसी प्रकार काल की बाड़ है। आज तक चीज़ है, आगे नहीं। देश की बाड़ यहाँ तक, काल की बाड़ तब तक। जब त्रिपुटी नहीं है तब काल भी बाड़ नहीं बन सकता। और वस्तु की बाड़—यह चीज़ है, वह चीज़ नहीं। टेबल घड़ी नहीं, घड़ी टेबल नहीं है। इसलिये वस्तु भी बाड़ हो जाती है। जब त्रिपुटी नहीं है तब पूर्ण ही है यह अनुभव धीरे-धीरे मन में बैठाने का है। अन्यथा हम सोचते रहते हैं कि जैसे घड़े का अनुभव होता है वैसे ही पूर्ण का अनुभव होता होगा। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी रहते यदि अनुभव होगा तो बाड़ रहेगी ही। किंतु ज्ञाता के अभाव में जैसे घड़े को जानते हैं वैसे पूर्ण को नहीं जान सकते। अद्वैत का अनुभव द्वैत की तरह नहीं है। जैसे बहुत-सी चीज़ों को जानते हैं वैसे अद्वैत को भी जान लिया, यह बात नहीं है। अद्वैत का अनुभव कैसा है? 'पूर्ण एवानुभूयते' ऐसा कौन-सा दृष्टांत है? यदि उसका अनुभव समझना चाहते हो, तो पहला उत्तम दृष्टांत है समाधि। निर्विकल्प समाधि में किसी भी द्वैत का भान नहीं है। वहाँ अद्वैत के भान का जो प्रकार है, उसमें न मन के द्वारा भान हो रहा है, न विज्ञान के द्वारा जानने वाला है, और न ज्ञेय है। केवल आत्मा का पूर्ण दर्शन है।

उसका कुछ अंदाज मिले ऐसा दृष्टान्त है सुषुप्ति। गहरी नींद के अन्दर न ज्ञाता है न ज्ञान है न ज्ञेय है। तुम कुछ भी वहाँ जान नहीं रहे हो। तुम को न यहाँ-वहाँ का, न अब-तब का, न यह-वह का पता है। सुषुप्ति में काल का कोई परिच्छेद नहीं है। वहाँ कोई दूसरी वस्तु भी नहीं है जिसका परिच्छेद होवे। सुषुप्ति में देश, काल, वस्तु का परिच्छेद न होने से पूर्ण अनुभव होता है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय नहीं होने से अद्वैत अनुभव होता है। परन्तु सुषुप्ति में अज्ञान रहता है। निर्विकल्प समाधि में 'मैंने कुछ नहीं जाना' यह अनुभव नहीं होता। सुषुप्ति में यह भी अनुभव होता है, 'मैं बड़े आनंद से सोया'। और यह भी अनुभव होता है, 'मैंने कुछ नहीं जाना'; यह अज्ञान का अनुभव है। और चूंकि अज्ञान है, इसलिये जैसे ही प्रारब्ध कर्म फल देने वाले होते हैं, इस अज्ञान से वापिस तुम्हारी इंद्रियाँ आ जाती हैं, अंतःकरण आ जाता है, सब प्रकट हो जाता है। आत्मज्ञान-पूर्वक जब निर्विकल्प समाधि होती है, तब अज्ञान नहीं रहता। इसलिये वापिस जगत् नहीं आ सकता। संसार तभी उत्पन्न होवे, जब अज्ञान होवे। एक अवस्था मूर्छा की भी होती है। जब सुषुप्ति से उठता है तब तो कहता है, 'मैं बड़े मजे से सोया।' मूर्छा से वापिस आकर कहता है 'बड़ा दुःख पाया'। शरीर में भी विकार, मुँह से झाग या शरीर का अकड़ना इत्यादि ये सब बतलाते हैं कि मूर्छित को दुःख हो रहा है। यद्यपि मूर्छा में भी देश, काल वस्तु का परिच्छेद नहीं है, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय का परिच्छेद नहीं है तथापि वहाँ अविद्या की दुःखाकार वृत्ति है। गहरी नींद में अविद्या की सुखाकार वृत्ति है। इसलिये सुषुप्ति और मूर्छा को अलग गिनाया। त्रिपुटीरहित पूर्ण में दृष्टांत दोनों ही हैं।

समाधि में जो अनुभव होता है, वह पूर्ण है क्योंकि सृष्टि से पहले जैसा पूर्ण था, वैसी ही पूर्णता समाधि में अनुभव होती है। अविद्या रहने से जैसे प्रलय से सृष्टि अवश्य हो जाती है वैसे समाधि आदि से व्युत्थानादि अवश्य हो जाता है। बिना तत्त्वज्ञान से अविद्या नष्ट हुए, न सृष्टि-प्रवाह समाप्त होता है, न व्युत्थान के जाग्रदादिका चक्र समाप्त होता है। परिच्छेद न होने से पूर्ण है— इतने के लिये ये दृष्टान्त हैं। जैसे सुषुप्ति आदि में वैसे प्रलयावस्थ आत्मा पूर्ण है। चिद्रूप होने से भान है ही अतः 'अनुभूयते' कहा। समाधि, सुषुप्ति, मूर्छा में जैसे पूर्ण का अनुभव होता है, वैसा ही सृष्टि के पहले भी पूर्ण था यह समझना चाहिये। सृष्टि के पहले पूर्ण था— यह शास्त्र कहता है और इसके दृष्टांत का अनुभव यहाँ हो जाता है अतः शब्द से पूर्ण का ज्ञान संभव है यह तात्पर्य है।। १६।।

पूर्ण और आनन्द एक ही चीज़ है। दुःख हमेशा सद्वितीयता से है। लोक में भी यदि कोई आदमी दुःखी दीखता है, तो उससे पूछते हो कि क्या हुआ, क्या दुःख है। और कोई प्रसन्न बैठा है तो उससे कारण नहीं पूछते। सुख स्वाभाविक होता है, दुःख किसी कारण से होता है। जैसे कोई आदमी स्वस्थ है तो कोई नहीं पूछता 'तुम बीमार क्यों नहीं हो?' जो बीमार है उससे जरूर पूछा जाता है। दुःख का, बीमारी का कारण कोई दूसरा हुआ करता है। दूसरा कुछ नहीं है तो आदमी स्वाभाविक रूप से स्वस्थ, सुखमय होता है। इस पर विचार करना चाहिये। बचपन से ऐसा दृढ़ संस्कार डाल दिया गया है कि सुख चीज़ों से

होता है। सत्य तो है कि सुख चीज़ों से कभी नहीं हो सकता। द्वैत से सुख नहीं हो सकता। अपने मन में यह दृढ़ संस्कार डालना चाहिये कि कोई भी चीज़ होगी वह दुःख ही देगी, सुख तो अपना स्वरूप है। इसलिये बताते हैं कि जिसे पूर्ण कहा है वही सुख है—

यो भूमा स सुखं नाल्पे सुखं त्रेधा विभेदिनि।

सनत्कुमारः प्राहैवं नारदायातिशोकिने ॥ १७ ॥

जो भूमा है वह सुख है, अल्प में, ज्ञाता आदि तीन तरह के भेद वाले में सुख नहीं है। यों अतिशोक वाले नारद से सनत्कुमार ने कहा।

उपनिषद् कहती है 'यो वै भूमा तत् सुखम्' जो पूर्ण होता है वही सुख है। किसी को दुःखी करने के लिये कोई दण्ड देने की ज़रूरत नहीं है—यदि नौकर काम नहीं करता तो उसे कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है, केवल दूसरे नौकर के २५० रुपया और इसके ५० रुपया वेतन बढ़ाओ। पैसे बढ़ने पर भी दूसरे की अपेक्षा कमी देखकर दुःखी हो जाता है। जो चीज़ पूर्ण होती है वही सदैव सुख देती है। जो 'भूमा' है वही सुख है। थोड़े में सुख नहीं है। जो पूर्ण होगा वह अद्वितीय होगा। दूसरा हमें या देश से या काल से या वस्तु से परिच्छिन्न करेगा। दूसरा नहीं होगा तभी देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्नता अतः पूर्णता होगी। इसलिये अल्प का मतलब हुआ, परिच्छिन्न और वह कभी भी सुख नहीं दे सकता। परिच्छिन्नता देश-काल-वस्तु तीन प्रकार से भेद करती है, हमें सीमित करती है। भगवान् सनत्कुमार के पास नारद गये, कहा 'मेरे आत्मा को शांति नहीं है' तो उन्होंने कई चीज़ें उपासना के लिये बतलाई। उसी क्रम में निष्ठा को कहा। जब तक व्यक्ति किसी एक निश्चय में स्थित नहीं हो जाता, तब तक शोक की निवृत्ति नहीं होती। हमारे शोक की निवृत्ति इसीलिये नहीं होती कि हमारा कोई निश्चय नहीं है। भली प्रकार से विचार-पूर्वक निश्चय करते हो तो निष्ठा होती है। निष्ठा इसलिये नहीं होती कि हम लोग विचार-पूर्वक निश्चय करते ही नहीं। निश्चय करने की प्रकृति मन में डालनी पड़ती है। निश्चय करने से पहले सब संकल्प-विकल्प कागज़ पर लिखो। 'यह काम करने से यह लाभ है, यह हानि है' फिर विचार करते रहो। संकल्प-विकल्प करना, विचार करना यह मन का कार्य है। सब विकल्पों में कौन-सा ठीक है। जब यह निश्चय बुद्धि से कर लिया उसके बाद, कितनी भी बातें आवें, अपने निश्चय को नहीं बदलना चाहिये। उसपर स्थिर रहो। हम लोग स्थिर रहते नहीं इसलिये बुद्धि का स्वभाव निश्चय करने का बन ही नहीं पाता। हमेशा मन के स्तर पर रहते हैं, स्थिरता नहीं करते, निश्चय पर नहीं पहुँचते। कृति से निष्ठा होती है। कृति का कारण क्या है? कोई भी आदमी करता है तो सुख के लिये, जहाँ सुख नहीं देखता वहाँ नहीं करेगा। निष्ठा के लिये कृति और कृति के लिये सुख चाहिये। तब नारद ने कहा 'महाराज, सुख को बतलाइये।' तब कहा—सुख वह है जहाँ कोई परिच्छेद नहीं। जहाँ कोई दूसरा देखा, सुना, चखा, नहीं जाता वह सुख है। जहाँ द्वैत होगा वहाँ कभी सुख नहीं होगा। यह भगवान् सनत्कुमार का नारद के प्रति वचन है। शिष्यभूत नारद था 'अतिशोकिने' अत्यन्त शोक में क्योंकि द्वैत-भावनाओं से ग्रस्त था। द्वैत-भावना रहते दुःख ही हो सकता है, सुख हो नहीं

सकता। जब तक तुम किसी चीज़ से सुख लेना चाहोगे तब तक सुख नहीं दुःख ही मिलेगा। सुख तुम्हारा स्वरूप है, और दुःखस्वरूप यह सारा संसार है। इस से जो भी मिलेगा वह दुःख ही होगा। जब सब कुछ मिलना बन्द हो जाये, तब सुख होवे॥ १७॥

उपनिषत् में तो यही कहा है 'सोहम् भगवः शोचामि', पंचदशीकार ने अतिशोक क्यों कहा? यह बताने के लिये कि पढ़ा-लिखा, अतः द्वैत ज़्यादा हो गया! मूर्ख आदमी को रोटी न मिलने पर दुःख और मिलने पर सुख हो जाता है। पढ़े-लिखों को केवल रोटी से सुख नहीं होता तथा दुःख के हेतु बहुतेरे हो जाते हैं। नारद के अतिशोक को ही उपपन्न करते हैं—

सपुराणान् पञ्च वेदान् शास्त्राणि विविधानि च।

ज्ञात्वाऽप्यनात्मवित्त्वेन नारदोऽतिशुशोच ह॥ १८॥

पुराणों सहित पाँच वेद और विविध शास्त्र समझकर भी आत्मवेत्ता न होने से नारद अत्यधिक शोक करता था यह शास्त्रों में प्रसिद्ध है।

चार वेदों के साथ पाँचवाँ महाभारत गिन लेने से 'पाँच वेद' कहते हैं। ऐसा नहीं कि महाभारत भी वेद है! जैसे 'ये पाँच हैं'—चार ब्राह्मण, एक ठाकुर' यह कहने पर 'पाँच' का मतलब यह नहीं कि ठाकुर साहब भी ब्राह्मण हैं! इतना ही भाव है कि मिलकर पाँच जन हैं। इसी प्रकार इतिहास-पुराण को पाँचवाँ वेद कहने का मतलब इतना ही कि वेदों सहित पाँच ग्रन्थ हैं। अतः स्पष्ट किया 'सपुराणान्' कि पुराणों के साथ गिनकर वेदों को पाँच कहते हैं। नारद ने वेद, पुराण और महाभारत भी पढ़ लिये थे। अनेक विद्याओं को वहाँ गिनाया है जिन्हें नारद ने पढ़ा था। फिर भी नारद को अत्यन्त शोक ही रहा क्योंकि जितना पढ़ा था सब अनात्मा था। अनात्मा के ज्ञान से शोक बढ़ता है, घटता नहीं। हम लोग निरन्तर प्रयत्न करते हैं कि अनात्मा का ज्ञान हो जाये तो सुखी हों। यह विपरीत प्रयास है! अनात्म विद्या बढ़ने से दुःख ही बढ़ता जायेगा। जब अनात्मा का ज्ञान नहीं रहता है तब केवल आत्मा आनन्दरूप रहता है। नारद को उन शास्त्रों से अनात्मा का ही ज्ञान बढ़ा था इसलिये अत्यन्त शोक कर रहे थे॥ १८॥

स्पष्ट करते हैं कि पढ़ने से शोक बढ़ा कैसे—

वेदाभ्यासात् पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता।

पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभङ्गवैश्व शोकिता॥ १९॥

वेदाभ्यास से पूर्व तीन तापों से ही शोक रहता है। वेदाभ्यास के बाद तो आवृत्ति, भूलना, तिरस्कार और गर्व से भी शोक हो जाता है।

जब तक हमने वेद का अध्ययन नहीं किया, तीन ताप हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक। ये दुःख का कारण हैं। इनसे दुःख तो साधारण व्यक्ति को भी है। पढ़े-लिखों को ये दुःख तो रहते ही हैं परन्तु ये और बढ़ जाते हैं— 'अभ्यास' बार-बार याद करते रहने का दुःख। जो नहीं पढ़ा है उसको तो कोई अभ्यास, पुनरावर्तन करना नहीं है! फिर भूलने

[प्र. ११ श्लो. २०]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२०३

की चिन्ता लगी रहती है 'विस्मर'। जो नहीं पढ़ा उसको कुछ भूलने की झंझट नहीं है। 'भंग'—हमसे बड़ा कोई विद्वान् आकर बात काट दे तो सिर नीचा होता है, इससे भी शोक होता है। और 'गर्व'—पढ़े-लिखे को घमंड भी हो जाता है। ये सब नये शोक जुड़ जाते हैं॥ १६॥

नारद ने स्वयं अपनी शोकिता कही तो सनत्कुमार ने सुख को ही शोकसागर का परला किनारा बताया—

सोहं विद्वन् प्रशोचामि शोकपारं नयात्र माम्।

इत्युक्तः सुखमेवास्य पारमित्यभ्यधाद् ऋषिः॥ २०॥

'हे विद्वन्! ऐसा पढ़ा हुआ मैं शोक कर रहा हूँ। मुझे इसी जन्म में शोक से पार ले जाइये।' नारद द्वारा यों प्रार्थित ऋषि सनत्कुमार ने कहा 'सुख ही इसका पार है।'

इस प्रकार नारद का भाव बताया कि अधिक पढ़ करके शोक और बढ़ गया। 'प्रशोचामि' पहले से ज्यादा दुःखी हो गया। 'हे विद्वन्! आप सब परिस्थिति में शान्त रहते हैं।' एक बार सनत्कुमार आत्मविचार कर रहे थे, ध्यान में थे। उधर से शंकर-पार्वती जी निकले। उनको नमस्कार न करने पर पार्वतीजी को गुस्सा आया, तो शाप दे दिया, 'जा ऊँट हो जा'। समाधि से उठ सनत्कुमार ने नमस्कार कर कहा 'आपने कृपा की।' वे ऊँट बन गये। एक बार पार्वतीजी पुनः उनको देखने आईं, सोचा दुःखी होगा। पर उन्होंने कहा 'आनन्द में हूँ। इस शरीर में संध्या-वन्दन, स्नान आदि का झंझट नहीं। काँटों के पेड़ भी खा सकता हूँ। शौच की चिन्ता नहीं। निरन्तर आत्मचिन्तन हो रहा है। उस ब्राह्मण शरीर में तो अनेक विघ्न होते रहते थे।' पार्वतीजी प्रसन्न हुईं, जान लिया कि वे आत्मवेत्ता हैं। पार्वतीजी ने वर माँगने को कहा। सनत्कुमार ने कहा 'इस शरीर में ही सुख है।' पार्वती ने कहा तो 'हमें ही वर दे दो। हमारे पुत्र होकर पैदा होना।' अतः सनत्कुमार ही कार्तिक स्वामी होकर पार्वती से पैदा हुए। यह है आत्मज्ञान की पूर्ण निष्ठा। अतः उनसे नारद ने निवेदन किया 'आप मुझे शोक के पार ले जायें। पढ़कर तो मैंने शोक बढ़ा लिया है।' जब इस प्रकार नारद ने कहा तब सनत्कुमार बोले—शोक का पार सुख है। सुख की प्राप्ति से शोक नहीं रह जाता। फिर क्रमशः व्यापक की प्राप्ति के लिये उपासनायें बताकर अंत में कहा 'सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्'। हम लोगों को शोक इसलिये होता है क्योंकि हम सुख का रूप ही नहीं जानते। हम समझते हैं कि चीजों से सुख होगा, इस चीज़ से नहीं तो दूसरी चीज़ से होगा। इसीलिये कभी सुख होता नहीं। एक बार यह पता लग जाये कि सुख तो हमारा आत्मरूप है, तो स्वतः दूसरी चीज़ों से हट जायेंगे॥ २०॥

विषयों से मिलता सुख वास्तव में सुख नहीं यह बताते हैं—

सुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणावृतत्वतः।

दुःखमेवेति मत्वाह नाल्पेऽस्ति सुखमित्यसौ॥ २१॥

वैषयिक सुख हज़ारों दुःखों से घिरा होने के कारण दुःख ही है यह विचार कर सनत्कुमार ने कहा 'अल्प में सुख नहीं है।'

वैषयिक सुख दुःख ही है। विषयों से होने वाला अनुकूल भी अनुभव सुख नहीं है। क्यों? 'शोकसहस्रेणावृतत्वतः' क्योंकि हज़ारों दुःखों से आवृत है। जितना सुख नहीं है उससे बहुत ज़्यादा दुःखों से आवृत है। चीज़ों को पाने में, रखने में, भोग से समाप्ति में दुःख, पुनः न मिलने का दुःख। इस प्रकार असंख्य दुःखों से वह आवृत है। भोगकाल में भी ये दुःख स्मरण रहते हैं। इसलिये सुखरूप लगता वैषयिक अनुभव दुःख ही है क्योंकि अनेक दुःखों से आवृत है। इस बात को मुनि ने समझ लिया था इसलिये उन्होंने यही नहीं कहा कि सुख भूमा है, यह भी जोड़ा कि अल्प में सुख नहीं है। जिसको हम लोग सुख समझते हैं वह सुख नहीं है। जिस प्रकार से किसी लड्डू में जहर भरा होवे, उसको खाने में थोड़ा तो स्वाद का सुख मिलेगा पर विष से परिणाम में इतना दुःख मिलेगा कि वह लड्डू दुःख ही कहा जायेगा। भगवान् ने भी यही कहा 'परिणामे विषमिव' (१८.३८)। विषयभोग-काल का क्षणिक सुख भी परिणाम में विष ही है, दुःख ही है। अल्प में, विषय में सुख नहीं है। सुख तो अपना आत्मस्वरूप ही है॥ २१॥

दार्शनिक एवं अन्य लोगों को भी द्वैत में सुख नहीं यह कथंचित् जँचे तो भी लगता है कि अद्वैत में भी सुख नहीं होगा! यही शंका व्यक्त करते हैं—

ननु द्वैते सुखं मा भूदद्वैतेऽप्यस्ति नो सुखम् ।

अस्ति चेदुपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत् ॥ २२ ॥

द्वैत में सुख भले ही न हो, अद्वैत में भी सुख नहीं है। यदि होता तो अनुभव में आता और तब त्रिपुटी उपस्थित हो जाती (तो पुनः भूमता न रहकर परिच्छिन्नता हो जाती)।—यह शंका है।

प्रष्टा शंका करता है: मान लिया कि जो विषय सुख प्रतीत होता है, वह हज़ारों दुःखों से आवृत होने के कारण कोई सुख है नहीं। द्वैत में सुख नहीं—यह तो मान लिया। पर भूमा में, अद्वैत में भी सुख नहीं है। यह बात बौद्धों की भी मान्यता के लगभग पास चली जाती है। बुद्ध ने जो चार सत्य आविष्कार किये, उनमें एक है 'सर्वम् दुःखं दुःखम्'। संसार के पदार्थ दुःखरूप हैं, यहाँ तक तो हमारी उनसे समानता है। नाम-रूप सब दुःखरूप है। पर हम लोग साथ में कहते हैं कि अद्वितीय चिन्मात्र जो तत्त्व, वह सुखरूप है। द्वैत में सुख नहीं है, इतना ही हम नहीं कहते, जैसा बौद्ध कहते हैं। वेदान्त और इससे सम्बन्धित विचारों को, लोग कह देते हैं, कि यह निराशावादी दर्शन है। किंतु वह इस लिये कि बौद्धों के 'सर्व दुःखम्' और हमारे 'जगत् दुःखम्' को एक समझ लेते हैं। हमारा निराशावाद नहीं है क्योंकि हम कहते हैं कि आगे उस अनन्त सुख की प्राप्ति है। परिच्छिन्न को इसलिये नहीं छोड़ते हैं कि यह दुःखरूप है, वरन् इसलिये छोड़ते हैं कि आगे अनन्त सुख है। अतः निराशावाद नहीं कहा जा सकता। शंकावादी कहता है कि अद्वैत में भी सुख नहीं है। सिद्धान्ती पूछे

कि 'तुम ऐसा क्यों कहते हो? श्रुति ने तो कह दिया 'यो वै भूमा तत् सुखम्।' तो शंकावादी कहता है, यदि अद्वैत में सुख होता तो सुख मिलता। सुख मिले तो सुख लेने वाला भी एक होगा, सुख भी एक होगा और सुख मिलने की कोई प्रक्रिया भी होगी। यों त्रिपुटी हो जायेगी! फिर वह भूमा नहीं रहेगा। वेदान्ती कहता है कि अद्वैत में किसी का सुख नहीं मिलता, अपना ही सुख प्रकट होता है। इसलिये सुख लेने वाला, सुख और सुख लेने का तरीका—ऐसा भेद वहाँ नहीं है। भूमा तो सुखरूप है। मध्यकालीन भक्त इसी शंका से ग्रस्त रहे। वे कहते हैं कि आनन्द तो द्वैत में ही है, अद्वैत में नहीं। उनकी कल्पना है कि अद्वैत मिले तो भी नहीं लेना चाहिये, द्वैत को ही चुनना चाहिये। इसलिये यदि अद्वितीय का बोध होने लगे, तो उससे बचना चाहिये। कुछ कहते हैं कि चित्तवृत्ति का निरोध होने से अद्वैत स्थिति हो तो जाती है और उसमें दुःख भी नहीं होगा परन्तु सुख भी नहीं होगा। इसलिये उसकी अपेक्षा जहाँ सुख होता है वह द्वैत ही ठीक है। सांसारिक विषयों का जो सुख है, वह तो क्षणिक है परन्तु दिव्य लोकों में जाकर जो सुख मिलेगा वह स्थायी रहने वाला है। ये सब भ्रम इसीलिये कि सुखस्वरूप ज्ञान की अवधारणा स्पष्ट नहीं होती।। २२।।

उक्त शंका यदि यह स्थापित करती है कि अद्वैत में सुख नहीं है अर्थात् अद्वैत और सुख का भेदघटित सम्बन्ध नहीं है तो सिद्धान्ती अंगीकार करता है—

मास्त्वद्वैते सुखं किन्तु सुखमद्वैतमेव हि।

किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकाङ्क्षा स्वयम्प्रभे।। २३।।

अद्वैत में सुख न हो किन्तु अद्वैत ही सुख है। यदि पूछो कि इसमें प्रमाण क्या; तो समझ लो कि स्वप्रकाश अद्वैत को प्रमाण की निर्भरता ही नहीं है।

शंका यह मानकर थी कि अद्वैत में सुख होवे तो मिले। अद्वैत में सुख नहीं है। किन्तु अद्वैत है ही सुखरूप। जैसे नमक में नमक नहीं क्योंकि वह स्वयं नमक है ऐसे अद्वैत स्वयं सुख होने से उसमें सुख नहीं। अद्वैत सुखरूप है इसमें प्रमाण क्या है? इस पर कहा कि अद्वैत स्वयंप्रकाश है। इसे प्रमाण की ज़रूरत नहीं। स्वप्रकाश में प्रमाण नहीं होता है। जो चीज़ें अंधकार होती हैं उन्हें देखने के लिये रोशनी चाहिये। सूर्य की रोशनी को किस रोशनी से देखते हो? उसके लिये रोशनी नहीं चाहिये क्योंकि वह रोशनीरूप है। प्रमाण से प्रमा उत्पन्न होती है, अर्थात् ज्ञान होता है। जैसे आँख प्रमाण है, तो आँख से रूप दीखता है। जो स्वयं ही प्रमा होवे, उसके लिये प्रमाण की ज़रूरत कहाँ पड़ती है! जिस समय अद्वितीय अवस्था होती है तब हम सब कुछ भूल जाते हैं। तभी अपने सुखरूप की प्राप्ति हो जाती है। सुख चूँकि स्वयंप्रकाश है, इसलिये उसके लिये किसी प्रमाण की ज़रूरत नहीं है। हमने उस सुख को किससे जाना—यह प्रश्न नहीं बनता है। सुख के कोई रूप-रस-गंध आदि तो हैं नहीं जो प्रत्यक्ष प्रमाण की ज़रूरत पड़े। इसीलिये अनुमान आदि की भी ज़रूरत नहीं है। इसको समझने के लिये वेद की ज़रूरत है। वेद तो कह ही रहा है 'यो वै भूमा तत् सुखम्'। जब वह सुख अभिव्यक्त होता है, तब उसे आदमी श्रुति के बल से पहचान सकता है पर उस समय श्रुति की स्मृति नहीं है। श्रुति से यह पता लगता है कि उस समय सुख है।। २३।।

आत्मा स्वयंप्रकाश है इसी में प्रमाण क्या? यह वादी का प्रश्न मानकर उत्तर देते हैं—

स्वप्रभत्वे भवद्वाक्यं मानं यस्माद् भवानिदम् ।

अद्वैतमभ्युपेत्यास्मिन् सुखं नास्तीति भाषते ॥ २४ ॥

आत्मा की स्वप्रकाशता में आपका (पूर्वपक्षी का) वचन ही प्रमाण है क्योंकि आप अद्वैत स्वीकार कर 'इसमें सुख नहीं है' ऐसा कह रहे हैं!

तर्कजाल फैलाकर यह तत्त्व तर्क से परे है यह स्पष्ट करना है। वादी आत्मरूप अद्वैत को स्वप्रकाश मानने के लिये प्रमाण पूछे तो कहते हैं 'भवद्वाक्यं मानम्' आप पूछ रहे हैं 'स्वप्रकाश में क्या प्रमाण?' तो स्वप्रकाश आप समझ ही रहे हैं! केवल प्रमाण की जिज्ञासा है। ठीक जिस प्रकार नास्तिक से कहते हैं कि तुम कहते हो 'ईश्वर नहीं है' तो तुम उसे जानते हो, तभी कहोगे कि नहीं है! जिसे न जानो उसे न 'है' कहना बनता है, न 'नहीं है' कहना बनता है। जब वादी कह रहा है कि 'स्वप्रकाश में क्या प्रमाण?' तो उसका वाक्य ही प्रमाण है क्योंकि स्वप्रकाश है, तभी पूछ रहा है। 'अद्वैत में सुख नहीं है' कहने से अर्थसिद्ध है कि अद्वैत के बारे में शंका नहीं है। अद्वैत में सुख नहीं है—यह कहा तो अद्वैत को तो आपने मान ही लिया। इस अद्वैत को आप कैसे जानते हो? वही आपके लिये अद्वैत में और अद्वैत की स्वप्रकाशता में प्रमाण हो जायेगा। यदि इसे जानते हो तो वह सुखरूप है, इसे भी जान ही जाओगे। मतलब यह है कि कई चीज़ों को हम बिना प्रमाण के मानते ही हैं। यह स्वप्रकाशता अर्थसिद्ध है, इसे बिना माने व्यवहार ही असंगत हो जाता है। अतः प्रमाण-निरपेक्ष अद्वैत को स्वीकार करके ही यह आक्षेप कर सकते हैं कि अद्वैत में सुख नहीं है ॥ २४ ॥

उक्त बात पर ही प्रश्न-उत्तर करते हैं—

नाभ्युपैम्यहमद्वैतं त्वद्वचोऽनूद्य दूषणम् ।

वच्मीति चेत् तदा ब्रूहि किमासीद् द्वैततः पुरा ॥ २५ ॥

यदि वादी कहता है 'मैं अद्वैत स्वीकार नहीं रहा वरन् तुम्हारे (सिद्धान्ती के) वचन का अनुवाद कर केवल दोष बता रहा हूँ।' तो (सिद्धान्ती कहता है) बताओ कि द्वैत से पहले क्या था?

जैसे नास्तिक कह सकता है कि मैं ईश्वर को मान कर 'ईश्वर नहीं है', यह नहीं कह रहा हूँ, तुम कहते हो 'ईश्वर है', तुम्हारी बात को लेकर कह रहा हूँ कि 'ईश्वर नहीं है'; इसी प्रकार यह कहता है 'मैं अद्वैत को स्वीकार करके यह शंका नहीं कर रहा हूँ कि अद्वैत में सुख नहीं है आदि, वरन् तुम्हारी बात को लेकर कह रहा हूँ। 'त्वद्वचः' तुमने (सिद्धान्ती ने) जो बात कही थी, उसका मैंने अनुवाद किया है। तुमने कहा 'अद्वैत में सुख है', इसका अनुवाद करके मैंने कहा 'अद्वैत में सुख नहीं है'। न हमको अद्वैत, न उसमें सुख स्वीकार है। यदि यह शंका करते हो, तो सिद्धान्ती पूछता है कि बताओ, द्वैत पैदा होने के पहले

[प्र. ११ श्लो. २६]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२०७

क्या था? क्योंकि संसार की चीज़ें पैदा होती मिलती हैं इसलिये यह तो कह नहीं सकते कि द्वैत पैदा नहीं होता है। अतः जब यह द्वैत पैदा नहीं हुआ था तब क्या था? ॥ २५ ॥
प्रश्न के संभावित उत्तरों की परीक्षा करते हैं—

किमद्वैतमुत द्वैतमन्यो वा कोटिरन्तिमः।

अप्रसिद्धो न द्वितीयोऽनुत्पत्तेः शिष्यतेऽग्रिमः ॥ २६ ॥

द्वैतोत्पत्ति से पूर्व अद्वैत था या द्वैत था और कुछ? द्वैत-अद्वैत से अतिरिक्त कुछ प्रामाणिक नहीं अतः 'और कुछ' वाला विकल्प असंभव है। 'द्वैत ही था' यह इसलिये नहीं बनता कि वह अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ था। अतः पहला विकल्प ही बचता है कि द्वैत की उत्पत्ति से पूर्व अद्वैत था।

द्वैत पैदा होने से पहले अद्वैत था या द्वैत था या कोई तीसरी चीज़ थी? द्वैत-अद्वैत के अलावा कोई तीसरी चीज़ तो प्रमाणसिद्ध है नहीं। इसलिये द्वैत पैदा होने के पहले कोई तीसरी चीज़ थी यह अप्रसिद्ध है। जो भी रहा होगा वह अद्वैत या द्वैत होगा। 'द्वैत-उत्पत्ति से पहले द्वैत था' यह तो कहना बनता ही नहीं है। इस तरह, तीनों विकल्पों में प्रथम वाला ही बच जाता है कि द्वैत पैदा होने के पहले अद्वैत था। इसको पारिशेष्य न्याय कहते हैं कि बाकी सम्भावनाओं के न होने पर जो अपने आप बच जाती है वह स्वीकार्य होती है। इसलिये द्वैतोत्पत्ति से पूर्व अद्वैत सिद्ध होता है। अद्वैत वैसे नहीं जाना जा सकता जैसे द्वैत। द्वैत में तो ज्ञाता अलग और ज्ञेय अलग होते हैं। अद्वैत में अलग चीज़ तो कुछ है नहीं! उसे जानने का तरीका है कि अज्ञान न रहते किसी द्वैत का ज्ञान न हो; वही पारिशेष्य न्याय से अद्वैत का ज्ञान है। इस न्याय का हम लोग बहुत व्यवहार करते हैं: इस कमरे में तीन आदमी थे। मेरा कड़ा अब यहाँ नहीं है। मैं तो उसे ले नहीं जाऊँगा। उन दो में से ही कोई होगा। एक अभी भी यहाँ पर है, उसका सामान मैंने देख लिया, कड़ा नहीं निकला। अतः सिद्ध हो जाता है कि जो चला गया वही लेकर गया है। इसी को पारिशेष्य न्याय कहते हैं। इसी तरह, अनुभव है, द्वैत का नहीं है तो स्वतः सिद्ध है कि अद्वैतानुभव है ॥ २६ ॥

वादी बलात् अद्वैत स्वीकारने को मजबूर होने पर इसे 'यौक्तिक सिद्धि' कहकर नहीं टाल सकता यह स्पष्ट करते हुए वादी से सिद्धान्ती पूछता है—

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैव नानुभूत्येति चेद्वद।

निर्दृष्टान्ता सदृष्टान्ता वा कोट्यन्तरमत्र नो ॥ २७ ॥

यदि कहो कि अद्वैत की सिद्धि पूर्वोक्त युक्ति से भले ही हो जाये, अनुभूति से नहीं होती; तो बताओ कि युक्ति का समर्थक कोई दृष्टान्त नहीं है या दृष्टान्त है? तीसरा विकल्प तो इस बारे में सम्भव नहीं।

प्रायः विचारों में प्रवृत्त होने पर अद्वैत से अतिरिक्त संभावना संगत नहीं लगती फिर भी द्वैताग्रहवश अद्वैत स्वीकार न कर व्यक्ति आक्षेप करता है कि तर्क-युक्ति से सिद्ध होने पर भी अद्वैत अनुभूति के द्वारा सिद्ध नहीं। अनुभूति तभी हो जब कोई अनुभव करने वाला विषयी और अनुभव होने वाला विषय होवे। ये दोनों हों तो अद्वैत नहीं रहेगा—यह भाव है। यह समस्या साधक को लम्बे समय तक झंझट पैदा करती है। क्योंकि हमने द्वैत का अनुभव किया है अतः हमें लगता है कि अद्वैत भी द्वैत का कोई प्रकार है, उसकी भी द्वैत के समान ही अनुभूति होगी। इसलिये विचार से संस्कार दृढ़ कर लेना चाहिये कि अद्वैत का अनुभव उस प्रकार से नहीं होता है जैसे और चीजों का होता है। उसका अनुभव स्वरूप से है, त्रिपुटीरूप से नहीं। ‘युक्ति से अद्वैतसिद्धि हो गयी’ यह वादी ने माना अतः सिद्धान्ती पूछता है कि अद्वैत की सिद्धि जिस युक्ति से है वह युक्ति बिना दृष्टान्त की है या दृष्टान्त वाली है? तर्क करोगे तो दृष्टान्त देना पड़ेगा। तुमने अद्वैत की सिद्धि युक्ति से मान ली, तो युक्ति में दृष्टान्त भी समझा होगा, वह बताओ। दृष्टान्त है या नहीं—ये दो ही विकल्प हो सकते हैं, कोई तीसरी कोटि तो हो नहीं सकती ॥ २७ ॥

पूर्वोक्त प्रश्न के प्रथम विकल्प की अस्वीकार्यता प्रकट करते हैं—

नानुभूतिर्न दृष्टान्त इति युक्तिस्तु शोभते ।

सदृष्टान्तत्वपक्षे तु दृष्टान्तं वद मे मतम् ॥ २८ ॥

अनुभूति अद्वैत के बारे में आप मना कर ही रहे हैं, युक्ति में भी यदि आप कहें कि दृष्टान्त नहीं है तब तो युक्ति शोभा वाली ही होगी (कार्यसाधक नहीं)। यदि युक्ति को दृष्टान्त का सहारा आप मानते हैं तो मुझे (वेदान्ती को) स्वीकृत वह दृष्टान्त सुनाइये।

सिद्धान्ती वादी का उपहास करते हुए कहता है कि अद्वैत का न तुम्हें अनुभव हुआ, न तुम्हें दृष्टान्त मिला। फिर ‘युक्ति से अद्वैत सिद्ध हो गया’ यह मानने वाले तुम्हारी युक्ति तो बड़ी सुन्दर है! बिना दृष्टान्त के यदि तुमने माना तो वह युक्ति कैसे हुई? जिस चीज़ का अनुभव होवे उसमें दृष्टान्त की ज़रूरत नहीं है। तुम्हें अनुभव नहीं हो रहा है, केवल युक्ति से सिद्ध मान रहे हो तब तो कोई दृष्टान्त चाहिये। यदि कहते हो कि ‘हमने दृष्टान्त से माना है,’ तो उस दृष्टान्त को बोलो। ‘मे मतम्’ जिसे समझाया जा रहा है वह जिसे स्वीकार करे वही दृष्टान्त हो सकता है। तात्पर्य है कि वादी का कहना (श्लोक २७) कि ‘बिना अनुभव, युक्ति से मनवा रहे हो’ ग़लत है, स्वानुभव के आधार पर ही सिद्धान्ती ने प्रतिपादन किया है ॥ २८ ॥

पूर्ववादी ‘दृष्टान्त से ही अद्वैत की सिद्धि मानी’ ऐसा भी नहीं कह सकता यह स्पष्ट करते हैं—

अद्वैतः प्रलयो द्वैतानुपलम्भेन सुप्तिवत् ।

इति चेत् सुप्तिरद्वैतेत्यत्र दृष्टान्तमीरय ॥ २९ ॥

‘प्रलय अद्वैत है क्योंकि तब द्वैत का अनुभव नहीं होता जैसे गहरी नींद में।’—यदि ऐसा कहो तो गहरी नींद अद्वैत है इसमें दृष्टांत बताओ!

वादी कहता है कि प्रलय में सब चीजें लीन हो जाती हैं, वहाँ अद्वैत है। सारा द्वैत जहाँ किंचित् भी अवशेष नहीं रहता वह प्रलय है। घड़ा फूटे तो उसका लय हो जाता है पर प्रलय नहीं क्योंकि उसका संस्कार और नाम भी रह गया है, प्रलय वहाँ है जहाँ न स्मृति है न नाम है। स्मृति उसको होती है जिसको अनुभव हुआ। इसलिये जिसने अनुभव किया था, वह भी नहीं रहेगा तब प्रलय है। वहाँ नाम भी नहीं रहता। अतः तब द्वैत की उपलब्धि नहीं होती। इसलिये वादी कहता है कि प्रलय में सारा द्वैत लय हो जाता है क्योंकि उपलब्धि नहीं होती। दृष्टांत है, जैसे गहरी नींद में किसी द्वैत की प्रतीति नहीं होती वैसे ही प्रलय में सब चीजें लीन हो जाती हैं अतः अद्वैत ही रह जाता है। इस तरह वादी ने युक्ति को सुषुप्तिरूप दृष्टांत का समर्थन दिखाया। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि सुषुप्ति में अद्वैत है यही कैसे मानें? अनुभव से तो वादी मना कर चुका है कि अद्वैत सिद्ध होता है अतः सुषुप्ति में कोई द्वैत नहीं रहता, इस विषय में भी दृष्टान्त ही देना पड़ेगा। सुषुप्ति में कुछ नहीं रहता, इसमें दृष्टांत क्या है? सिद्धान्ती का प्रयास वादी को समझाने का है कि अन्त में जाकर स्वप्नकाशता ही माननी पड़ेगी। सुषुप्ति में कुछ नहीं रहता—इसे तुम ऐसे तो नहीं जानते जैसे इस कमरे में देवदत्त नहीं है यह तुम आँख खोल कर देखते हो। अतः सुषुप्ति में कुछ नहीं है, यह जाना कैसे? अनुभव से जाना—यह वादी नहीं कहेगा क्योंकि श्लोक २७ में कह चुका है कि अद्वैत का अनुभव होता नहीं। अतः खुद अपनी सुषुप्ति को दृष्टान्त बना नहीं सकता। किसी और की सुषुप्ति को दृष्टान्त बनाकर अपनी सुषुप्ति को अद्वैत कहना पड़ेगा। इसकी असंगतता अगले श्लोक में कहेंगे। २६।।

वादी यही कहेगा कि जैसे दूसरे को सुषुप्ति में कुछ भान नहीं होता वैसे मुझे भी सुषुप्ति में कुछ भान नहीं होता अतः अद्वैत होता है। किन्तु इस कथनका उपहास से निरास करते हैं—

दृष्टान्तः परसुप्तिश्चेद् अहो ते कौशलं महत् ।

यःस्वसुप्तिं न वेत्यस्य परसुप्तौ तु का कथा ।। ३० ।।

परायी सुषुप्ति को दृष्टान्त कहो तो तुम्हारी महान् कुशलता आश्चर्यजनक है; जो तुम अपनी सुषुप्ति नहीं जानते वह दूसरे की सुषुप्ति नहीं जान सकोगे इसमें क्या कहना!

अपनी सुषुप्ति को वादी दृष्टांत नहीं कह पाया क्योंकि वहाँ अद्वैत का अनुभव नहीं कहना चाहता है, अद्वैत को केवल युक्तिसिद्ध कह रहा है। इसलिये सिद्धान्ती हँसी कर रहा है कि दूसरे की सुषुप्ति को तुम दृष्टांत बना रहे हो, यह बड़ी चतुराई दिखला रहे हो क्योंकि दूसरे की सुषुप्ति में अद्वैत है यह तुम्हें पता है जबकि स्वयं की सुषुप्ति में अद्वैत का अनुभव नहीं! अपनी सुषुप्ति न जान सकने वाला दूसरे की सुषुप्ति कैसे जान सकता है! यह भाव है।। ३० ।।

यदि वादी कहे कि दूसरे की सुषुप्ति को प्रमाण से जानते हैं इसलिये उसको दृष्टांत बनाया। दूसरे की सुषुप्ति हम अपनी जाग्रदवस्था में जान सकते हैं, अपनी को नहीं जान

सकते क्योंकि सुषुप्ति में इन्द्रियाँ, मन कुछ नहीं रहते हैं। इस संभावना को उठाकर सिद्धांती जवाब देता है—

निश्चेष्टत्वात् परः सुप्तौ यथाऽहमिति चेत्तदा ।

उदाहर्तुः सुषुप्तेस्ते स्वप्नभत्वं बलाद् भवेत् ॥ ३१ ॥

‘निश्चेष्ट होने से पर (बराबर सामने लेटा व्यक्ति) सुषुप्ति में है जैसे निश्चेष्ट में सुषुप्ति में होता हूँ’—यदि इस अनुमान से परायी सुषुप्ति जानते हो तो सुषुप्तिका उदाहरण देने वाले तुम्हारी सुषुप्ति बलात् स्वप्रकाश होगी!

दूसरा जब सोया हुआ है तब हम देखते हैं कि वह निश्चेष्ट है, कोई चेष्टा नहीं कर रहा है। यह हमें प्रत्यक्ष दीखता है। जब मैं सोता हूँ तब भी निश्चेष्ट होता हूँ। अतः अनुमान करता हूँ कि वह भी सो रहा है। दूसरे की निश्चेष्टता तो प्रत्यक्ष है लेकिन सुषुप्ति रूपादि वाली वस्तु न होने से प्रत्यक्ष हो नहीं सकती अतः अनुमेय होगी। पराई सुषुप्ति के लिये अनुमान में दृष्टान्त क्या होगा? तीसरे की सुषुप्ति देना असंगत हो जायेगा क्योंकि वह कैसे जानोगे? अतः वादी खुद की सुषुप्ति को ही दृष्टान्त बनायेगा। इसका मतलब है कि अपनी सुषुप्ति की जानकारी वह अंगीकार कर रहा है! इस प्रकार अपनी सुषुप्ति तो स्वप्रकाश तुम्हें माननी ही पड़ेगी। मैं सोता हूँ—यह कैसे पता लगे? इन्द्रियाँ व मन तब काम करते नहीं अतः सुषुप्ति को स्वप्रकाश ही मानना पड़ेगा। जब किसी को देखते हैं कि जिन्दा है, कोई चेष्टा नहीं कर रहा है तब अनुमान होता है कि जैसे मैं सोता हूँ तो कोई चेष्टा नहीं करता हूँ वैसे यह भी सो रहा है। स्वयं की सुषुप्ति को स्वयं जानें तभी ‘मेरी तरह यह सो रहा है’ ऐसा समझ सकते हैं। अतः उसकी स्वप्रकाशता मान ही रहे हो। इस प्रकार से अद्वैत को अनुभूयमान बताया ॥ ३१ ॥

स्वयंप्रकाश न मानने का कोई विकल्प ही नहीं रहता, इसी अभिप्राय से ‘बलात्’ कहा था (श्लो. ३१), वही व्यक्त करते हैं—

नेन्द्रियाणि न दृष्टान्तस्तथाऽप्यङ्गी करोषि ताम् ।

इदमेव स्वप्नभत्वं यद् भानं साधनैर्विना ॥ ३२ ॥

सुषुप्ति को ग्रहण करने वाली कोई इन्द्रियाँ नहीं, न उसमें कोई दृष्टान्त है। फिर भी सुषुप्ति स्वीकार ही रहे हो। यही तो स्वप्रकाशता है कि बिना साधनों के भान होना।

सुषुप्ति दीखती तो है नहीं, इन्द्रियाँ वहाँ हैं नहीं, अनुमान लगाओगे तो उसमें दृष्टान्त चाहिये। इन्द्रियाँ न होने से प्रत्यक्ष से पता नहीं, दृष्टान्त न होने से अनुमान से पता नहीं फिर भी व्यक्ति मानता है कि ‘मैं सोया था’। इसीका नाम स्वप्रकाशता है कि ज्ञान तो होवे और ज्ञान का साधन न होवे। ऐसा ज्ञान स्वप्रकाश ही हो सकता है। जैसे सूर्य के प्रकाश को कोई दूसरा प्रकाश प्रकाशित नहीं कर रहा है फिर भी प्रतीत हो रहा है इसलिये उसको स्वप्रकाश कहते हैं इसी प्रकार सुषुप्ति में सारे द्वैत का अभाव किसी प्रमाण से नहीं जान

[प्र. ११ श्लो. ३४]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२११

रहे हैं, फिर भी जान रहे हैं। यही स्वप्रकाशता है। ज्ञान के साधन के बिना भान होना यही 'स्वप्रभत्व' है। सुषुप्ति को स्वप्रकाश इसीलिये मानना पड़ता है कि ज्ञान का कोई साधन वहाँ है नहीं फिर भी ज्ञान हो रहा है। यद्यपि सुषुप्ति को स्वप्रकाश कहा है तथापि सुषुप्ति-साक्षी की स्वप्रकाशता में तात्पर्य है यह स्मरण रखना चाहिये ॥ ३२ ॥

सुषुप्ति में अद्वैत और स्वप्रकाशता सिद्ध कर चुके। अब वहाँ सुख भी सिद्ध करते हैं—

स्तामद्वैतस्वप्रभत्वे वद सुप्तौ सुखं कथम्।

शृणु दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते सुखम् ॥ ३३ ॥

(वादी पूछता है—) सुषुप्ति में अद्वैत और स्वप्रकाशता भले ही हों, वहाँ सुख कैसे स्वीकारें? (सिद्धान्ती कहता है—) सुनो : तब दुःख नहीं है इसलिये तुम्हारे पास सुख ही बचता है।

मूल बात तो यह थी कि अद्वैत में सुख कैसे मानते हो? अद्वैत और स्वप्रभता को तो सिद्ध कर दिया। परन्तु सुषुप्ति में सुख है यह पता नहीं लगा अतः सिद्धान्ती कहता है—सुनो : सुषुप्ति में दुःख नहीं है तो फिर सुख ही है! प्रायः तो सुख की स्मृति से ही सुख की सिद्धि हो जाती है कि उठकर हमें सुख का स्मरण होता है इसलिये उस समय सुख था। यहाँ कहा कि उस समय दुःख नहीं है अतः सुख ही बचा। द्वैत की दुःखरूपता को मानकर कहा कि दुःखरूप द्वैत नहीं है तो सुखरूप अद्वैत है। इस ढंग से सौषुप्त सुख में युक्ति कही ॥ ३३ ॥

सुषुप्ति में दुःख न होना श्रुति से समर्थित करते हैं—

अन्धः सन्नप्यनन्धः स्याद् विद्धोऽविद्धोऽथ रोग्यपि।

अरोगीति श्रुतिः प्राह तच्च सर्वे जना विदुः ॥ ३४ ॥

(जाग्रत् में) अंधा, चोटिल, रोगी भी व्यक्ति (सुषुप्ति में) अनन्धा, गैर-चोटिल और नीरोग रह जाता है— यह श्रुति ने कहा है और सब लोग जानते भी हैं।

सुषुप्ति में दुःख का अभाव श्रुति ने भी बतलाया है, और सबका अनुभव भी है। श्रुति (छां. ८.४.२) कहती है 'तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वा'। इस संसार-समुद्र को जब पार कर जाता है तब 'अन्धः सन्नप्यनन्धो भवति'। जो जाग्रत् में अन्धा होता है, वह सुषुप्ति में अन्धा नहीं रहता। गहरी नींद में अन्धेपने के अनुभव का प्रश्न ही नहीं है। 'विद्धः सन्नविद्धो भवति'। नींद में जाने पर शरीर में बाण लगा रहे तो भी प्रतीत नहीं होता। जो भी दुःख का कारण शरीर इन्द्रियाँ प्रसिद्ध हैं उनमें से कुछ भी वहाँ नहीं है। 'उपतापी सन्ननुपतापी भवति'। गहरी नींद में बुखार भी रहता नहीं। शरीर में अन्धापना रहे, जख्म रहे, बुखार रहे, सब चीजें शरीर में छोड़कर जीव सुषुप्ति में चला जाता है। श्रुति कह रही है कि जब तक देहाभिमान रहता है तब तक अन्धापना इत्यादि रहता है। संसार-समुद्र के पार जाने का मतलब सूक्ष्म और

स्थूल शरीरों के अन्दर अभिमान का न रह जाना है। दुःख इन्हीं को लेकर है। गहरी नींद में सूक्ष्म और स्थूल शरीर रह नहीं जाते इसलिये वहाँ दुःख का अभाव है तो सुख अवश्य है। श्रुति के अलावा सभी लोग यह जानते भी हैं। बुखार होवे और नींद आ गई हो तो कोई दुःख नहीं होता। गहरी नींद में दुःख नहीं हो रहा—इस बात को सभी जानते हैं। सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर होने पर ही दुःख होता है। श्रुति जिस बात को कह रही है, उसको सभी अनुभव करते हैं। इसीलिये वैद्य भी रोगी को गहरी नींद से उठाने की चेष्टा नहीं करता। रोगी भी उठने पर पहले से बेहतर ही अनुभव करता है। इस प्रकार सुषुप्ति में दुःखाभाव सिद्ध किया ॥ ३४ ॥

प्रश्न होता है कि दुःख नहीं है, इतनेमात्र से सुख कैसे कहते हो? सुषुप्ति में अद्वैत है और दुःख नहीं है यह तो सिद्ध है पर इतनेमात्र से तब सुख कैसे माना जाये? दुःख न रहने से सुख ही रहे इस नियम का भंग वादी दिखाता है—

न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोष्टशिलादिषु ।

द्वयाभावस्य दृष्टत्वादिति चेद् विषमं वचः ॥ ३५ ॥

दुःख नहीं है इतने-भर से सुख नहीं सिद्ध होता क्योंकि लोंदे, पत्थर आदि में सुख-दुःख दोनों न होना देखा जाता है।—यदि (वादी ऐसा कहे तो सिद्धान्ती का जवाब है कि) यह उदाहरण विचाराधीन विषय के अनुरूप नहीं है।

सुषुप्ति में दुःख नहीं है इससे वहाँ सुख सिद्ध नहीं होता। महर्षि गौतम के अनुयायी यही मानते हैं कि सुषुप्ति में दुःख का अभाव है, और सुख भी नहीं है। पत्थर और मिट्टी के ढेले में, सभी जड़ पदार्थों में सुख और दुःख दोनों का अभाव देखा जाता है। इसी तरह सुषुप्ति में दोनों ही नहीं हैं। यदि यह शंका करो तो सिद्धान्ती कहता है 'विषमं वचः'। पत्थर का दृष्टान्त तो जड़ के लिये उचित है। दार्ष्टान्त है चेतन, और तुमने दृष्टान्त दिया जड़ का अतः विषमता स्पष्ट है। जड़ में दुःख-सुख दोनों न हों परन्तु चेतन में यह कैसे बनेगा! चेतन तो या दुःखी होगा या सुखी ॥ ३५ ॥

कोई दुःखी है या सुखी है यह चेतन के बारे में पता लगता है जबकि जड़ के बारे में नहीं अतः दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में सन्तुलन नहीं यह प्रकट करते हैं—

मुखदैत्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम् ।

दैत्याद्यभावतो लोष्टे दुःखाद्यहो न संभवेत् ॥ ३६ ॥

मुख मुझाने या खिलने से पराये दुःख या सुख की समझ आ जाती है। लोंदे में मुझाना आदि न होने से दुःख आदि नहीं समझे जाते।

किसी का मुख अत्यन्त दीन होवे, उदास बैठा हो, तो ज्ञान होता है 'यह दुःखी है'। इसी प्रकार यदि मुख खिला है, प्रसन्न है तो पता लगता है 'यह सुखी है'। चेहरे से

[प्र. ११ श्लो. ३७]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२१३

दुःख-सुख की ऊहना की जाती है। पर मिट्टी के लोंदे में या पत्थर में न दीनता, न विकास नजर आयेगा। आदमी का मुख देख कर ही हम लोगों को उस के सुख-दुःख का पता लगता है, मिट्टी के लोंदे से बने मुख में भी प्रसन्नता या दीनता नहीं आयेगी। जब लोंदे आदि का सुखादि नहीं समझ आता तब उसको सुखादि नहीं है यह भी समझ नहीं आ सकता क्योंकि जिस प्रमाण से भाव का पता चलता है उसकी प्रवृत्ति रहते ही अभाव जाना जा सकता है। अतः लोंदे में दुःखाभाव भी न कहा जा सकने से वादी जो दुःखाभाव-सुख में व्यभिचार दिखाना चाहता है वह संभव नहीं यह तात्पर्य है ॥ ३६ ॥

पराये और अपने सुख-दुःख में अन्तर दिखाते हैं—

स्वकीये सुखदुःखे तु नोहनीये ततस्तयोः।

भावो वेद्योऽनुभूत्यैव तदभावोऽपि नान्यतः ॥ ३७ ॥

अपने सुख-दुःख चिह्नादि से नहीं समझने पड़ते। उनका होना-न होना अनुभव से ही जानने योग्य है, अन्य उपाय से नहीं।

दूसरे का सुख या दुःख ऊहा से, चिह्न की समझ से पता लगेगा। पर अपने सुख-दुःख का पता स्वानुभव से ही लगता है, वहाँ हमें ऊह, कल्पना नहीं करनी पड़ती। अपना मुख आदि देखकर अपने सुखादि को जानें ऐसा नहीं है। अपने सुख-दुःख के अनुभव से ही पता लगता है कि मैं सुखी या दुःखी हूँ। अपने सुख-दुःख तो अनुभव से जाने जाते हैं, दूसरे का सुख या दुःख ऊहा का विषय है। जैसे उनका पता अनुभव से लगता है वैसे ही उनके अभाव का पता अनुभव से ही लगता है। युक्ति से, ऊह से पता नहीं लगता। अपने सुख-दुःख अनुभव से तथा दूसरे के ऊहा से जाने जाते हैं ॥ ३७ ॥

उक्त स्थिति का प्रकृत में नतीजा बताते हैं—

तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावोऽनुभूतितः।

विरोधिदुःखराहित्यात् सुखं निर्विघ्नमिष्यताम् ॥ ३८ ॥

ऐसा रहते अपनी सुषुप्ति में दुःख का अभाव भी अनुभूति से ही सिद्ध है। (सुख के) विरोधी दुःख के न होने से बिना किसी विघ्न के सुख (उस अवस्था में) स्वीकारा जाये।

क्योंकि अपने सुख-दुःख अनुभव से ही सिद्ध होते हैं इसलिये अपनी सुषुप्ति में दुःख नहीं है, यह भी अपने अनुभव से ही पता लगता है। तथा जैसे दुःख के अभाव का पता लगता है, वैसे ही सुख का पता लगता है। सुख आत्मा का स्वभाव है। उसका विरोधी दुःख आता है तब सुख का भान नहीं होता है। इसलिये विरोधी दुःख के आने पर 'सुख नहीं है' ऐसा लगता है। सुषुप्ति में जब विरोधी दुःख नहीं है तब बिना किसी रुकावट के वहाँ सुख है यह सिद्ध हो जाता है। जैसे द्वैताभाव से ही अद्वैत की सिद्धि हो जाती है; सुषुप्ति में द्वैत का बोध नहीं होता, इसलिये अद्वैत स्वभावसिद्ध है; इसी प्रकार सुख भी अपना

स्वभाव है, दुःख होता है तो वह ढक जाता है, दुःख नहीं रहता तो सुख स्वाभाविक है। लोगों की प्रायः भावना है कि कोई चीज़ होती है तब सुख होता है किन्तु वास्तव में दुःख सुख में विघ्न करता है। अज्ञान से द्वैत-प्रतीति होती है, इसलिये अद्वैत स्वप्रकाश होने पर भी लगता है कि प्रतीति नहीं है। इसी प्रकार, अज्ञान से उत्पन्न होने वाले पदार्थ दुःख देते हैं, इसलिये स्वरूपसिद्ध सुख स्वप्रकाश होने पर भी पता नहीं लगता। अज्ञान की निवृत्ति होने पर अद्वैत की स्वप्रकाशता सुखरूपता को अपने आप व्यक्त कर देती है॥ ३८॥

मनुष्य की सुख के लिये ही प्रवृत्ति होती है। हम चेष्टा करते हैं तो सुख की प्राप्ति के लिये ही। गहरी नींद की चेष्टा करते हैं अतः वह सुखरूप है। यह सुषुप्ति की सुखरूपता में युक्ति बताते हैं—

महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादि साधनम्।

कुतः संपाद्यते सुप्तौ सुखं चेत् तत्र नो भवेत्॥ ३९॥

सुषुप्ति में सुख न होता तो सोने के लिये अत्यधिक कोशिश से कोमल शय्या आदि साधन क्यों बटोरे जाते?

नींद आये इसके लिये नरम बिस्तरा होवे इत्यादि बहुतेरे साधन एकत्र करने के लिये महत्तर प्रयास आवश्यक होता है। इसके लिये रुई को धुनवाना पड़ता है, गद्दा सही ढंग से भरवाना-सिलना आदि पड़ता है। इसी तरह कमरा वातानुकूलित करवाते हैं ताकि नींद आये। इन सभी के लिये अत्यधिक प्रयास करना पड़ता है। यदि सुषुप्ति में सुख नहीं होता तो क्यों आदमी ये सारी चेष्टायें करता? इसलिये सुषुप्ति की सुखरूपता अनुभव-सिद्ध है॥ ३९॥

प्रयास-पूर्वकता वहाँ सुख की निश्चायक है यह बताते हैं—

दुःखनाशार्थमेवैतदिति चेद् रोगिणस्तथा।

भवत्वरोगिणस्त्वेतत् सुखायैवेति निश्चिनु॥ ४०॥

दुःख मिटाने के लिये यह प्रयास है ऐसा कहो, तो रोगी का सोने के लिये प्रयास भले ही दुःखनिवारणार्थ हो, जो रोगी नहीं उसका प्रयास तो सुख के ही लिये है यह निश्चय करो।

यदि वादी कहे कि गहरी नींद के लिये इसलिये व्यक्ति चेष्टा करता है कि वहाँ दुःख का अभाव है। वहाँ सुख है यह मानने की ज़रूरत नहीं है। दुःख हो रहा है, इसलिये उसे हटाने के लिये नींद लाने का प्रयत्न है। जैसे सुखप्राप्ति के लिये प्रयत्न किया जाता है वैसे दुःख-निवृत्ति के लिये भी प्रयत्न होता ही है। इस पर सिद्धान्ती ने कहा कि जिसको रोग आदि कोई दुःख है वह उस की निवृत्ति के लिये प्रयत्न करे यह ठीक है। लेकिन जिसको कोई दुःख नहीं है वह भी नींद लेना चाहता है। दुःख वाला तो दुःख को हटाने के लिये करता है, पर जिसको रोगादि दुःख नहीं है वह क्यों नींद चाहता है? जैसे, केवल भूख को हटाने के लिये खाना नहीं चाहते। ऐसा हो तो दाल रोटी में ही संतुष्ट हो जायें। महत्तर

प्रयास से दाल का सीरा बनाते हैं। पेट भरने के दुःख को हटाने के लिये भी भोजन किया जाता है, परन्तु पेट भरा है, फिर भी बढ़िया ताजा दाल का सीरा खाते हैं, वह क्यों? वह तो खाने के सुख के लिये ही करते हैं। दुःख हटाने की प्रवृत्ति वहाँ होती है जहाँ दुःख है, पर जहाँ दुःख नहीं है फिर भी प्रवृत्ति है तो सुख के लिये ही है। अतः दुःखरहित का सोने के लिये प्रयास सुख के लिये ही है यह निश्चय करो ॥ ४० ॥

शय्यादि से यदि नींद में सुख माना तो वह स्वरूपसुख नहीं रहा! इस आक्षेप का समाधान करते हैं—

तर्हि साधनजन्यत्वात् सुखं वैषयिकं भवेत् ।

भवत्वेवात्र निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम् ॥ ४१ ॥

तो साधनों से उत्पाद्य होने के कारण सोने में सुख भी विषय-सम्बन्धी ही होगा! सोने की प्रक्रिया में नींद आने से पहले जो खाट-बिछौना आदि से उत्पन्न सुख है वह बेशक विषय-सम्बन्धी होवे।

वादी कहता है कि बढ़िया बिस्तरा, वातानुकूल आदि से नींद का सुख होता है तो वह विषय-सुख हुआ, स्वरूप का कैसे? सिद्धान्ती समझाता है कि पलंग, बिस्तर, ठण्डी हवा आदि का जो वैषयिक सुख है वह निद्रा आने के पहले का सुख है। निद्रा में इस वैषयिक सुख का भान नहीं रहता है। अतः नींद से पहले का जो सुख है वह वैषयिक सुख है पर नींद आने पर जो सुख हुआ वह वैषयिक नहीं है। यह दोनों सुखों में अंतर है। जब तक विषय का भान है तब तक विषय-सुख है। जब विषय का भान नहीं रहता है तब स्वरूप सुख है ॥ ४१ ॥

निद्रा के दौरान होता सुख वैषयिक हो यह सम्भव नहीं यह स्पष्ट करते हैं—

निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केन हेतुना ।

सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत् परे सुखे ॥ ४२ ॥

नींद में जो सुख है वह किस कारण से पैदा होता है! नींद आने से पूर्व व्यक्ति की बुद्धि शय्यादि के सुख को ग्रहण करती है, फिर नींद से स्वरूपसुख में विलीन हो जाती है।

जो गहरी नींद आने पर सुख होता है, वह किसी चीज़ से नहीं होता है। विषयजन्य सुख निद्रा से पहले है। निद्रा आने पर स्वरूप-सुख है। स्वरूपभूत आनंद के अनुभव के पहले तो विषयों की सत्ता है अतः उनसे सुख हो जाता है किंतु इसीलिये यह भ्रम हो जाता है कि नींद में सुख भी विषयों से हुआ। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि निद्रा आने पर किसी विषय का भान न होने पर भी सुख रहता है। सावधानी से देखें तो जब कभी व्यक्ति आनन्द में मग्न होता है, तब किसी विषय का भान नहीं होता! आनन्द में डूबने के पहले तो विषयों की अपेक्षा रहती है इसी से विषय सुख कहा जाता है। इसी तरह लेटने पर बिस्तर आदि विषयों के अनुभव से सुख प्रतीत होता है, उसे बुद्धि ग्रहण करने लगती है। बुद्धि सुख की

तरफ जाती है। सुख आत्मा का स्वरूप है अतः वह वास्तव में आत्मा की तरफ ही गई। विषय-सुख के द्वारा सुखाकार वृत्ति बनी। वह वृत्ति सुख है इसलिये विषय सुख है। इस विषय सुख का उपयोग यह है कि तुम्हारी बुद्धि बहिर्मुखता से हटकर अन्तर्मुख हो गई। विषय सुख लेने के लिये भी बुद्धि अन्तर्मुखी होती है। विषयानन्द प्रकरण में यह बात पुनः स्पष्ट होगी। जब कोई कामना होती है तब कामना के विषय की तरफ बुद्धि जाती है। जब रसगुल्ला खाने की कामना हुई तब बुद्धि उसकी तरफ जाती है। रसगुल्ले के लिये सारी चेष्टा करते हैं। जब रसगुल्ला मिलता है तब कामना निवृत्त हो जाती है। मन को बाहर धकेलने के लिये जो कामना थी, वह रसगुल्ला मिलने पर हट गई। बाहर धकेलना बंद हुआ, तब मन अपने आप अन्दर की तरफ आ जाता है। भ्रम यह होता है कि रसगुल्ला मिला, इसलिये सुख हुआ। पर रसगुल्ला मिलने से पहले जो स्थिति थी, वही लौटी है! पहले न रसगुल्ला था, न कामना थी। कामना आने के कारण वह स्थिति बदली। रसगुल्ला मिलने पर कामना समाप्त हो गई और खाकर रसगुल्ला भी समाप्त हो गया अतः जहाँ पहले थे वहीं पहुँच गये! जब बुद्धि अन्दर लौटी, अन्तर्मुखी हुई, तब सुखरूप आत्मा को विषय कर लिया। भ्रम होता है कि रसगुल्ले से सुख मिला किंतु रसगुल्ले से कामना निवृत्त हुई तो आत्मसुख ही प्रकट हुआ। इसलिये जहाँ उपनिषदों ने आनन्द की मीमांसा की है, आनन्द के परिमाण बतलाये हैं, वहाँ हर आनन्द के साथ कहा है 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य'। जिसे उस चीज़ की कामना नहीं है उसे वह आनन्द प्राप्त ही है। प्रश्न उठता है कि फिर तो जिसको चीज़ों की कामना नहीं है उसको जब वह आनन्द प्राप्त ही है, तो सुख का अनुभव होना चाहिये? इसलिये श्रुति ने कहा कि जो श्रोत्रिय है, जिसने उपनिषदों का अध्ययन करके, इस बात का पहले निश्चय कर लिया है कि 'मैं सच्चिदानन्दरूप हूँ' वही आनन्द पाता है। साथ ही व्यक्ति कुटिल नहीं हो तभी आनन्द मिलता है। कुटिलता मायने असली बात को छिपाना। अगर अन्दर कामना है तो छिपाने से भी सुख को प्रकट नहीं होने देगी। साधारण लोगों को क्यों पता नहीं है कि उनको आनन्दरूप प्राप्त है जबकि आनन्द स्वप्रकाश है? दो कारण हैं: पहला है, चूँकि यह बात उन्होंने उपनिषद् आदि से जानी नहीं है। दूसरा, कुटिलतापूर्वक कामनाओं के नाश के लिये प्रवृत्त नहीं हैं। कामना का आघात पड़ते आनन्द सम्भव नहीं! अतः चीज़ों की कामना से हत नहीं होना चाहिये और यह पता होना चाहिये कि 'मैं सुखरूप हूँ' तब आत्मानन्द प्रकट रहता है। जब मृदुशैया आदि पर लेटा तब सुख की तरफ वृत्ति चली गई। नींद के आनन्द से पहले जो विषय की आवश्यकता है, वह इसलिये कि वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाये। तदनन्तर किसी दूसरी कामना ने तुमको परेशान नहीं किया, तो फिर वह परमसुख में मग्न हो जाती है। वह परम सुख विषय-परामर्श से रहित ही है॥ ४२॥

पूर्वोक्त विषय ही स्पष्ट करते हैं—

जाग्रद्व्यावृत्तिभिः श्रान्तो विश्रम्याथ विरोधिनि।

अपनीते स्वस्थचित्तोऽनुभवेद् विषये सुखम्॥ ४३॥

जाग्रत् के व्यवहारों से थका व्यक्ति विश्राम करके फिर सुखविरोधी दुःख हटने पर अव्याकुलमना हुआ विषयमें सुख का अनुभव करता है। ('जाग्रद्व्यापृतिभिः'—कल्याणपीयूषटीकानुसारी पाठ है।)

इंद्रियों से विषयों का व्यवहार जाग्रद् अवस्था का लक्षण है। जागरण अवस्था में चाहे ज्ञान-रूप चाहे क्रियारूप जो भी व्यापार-विशेष हो, उस व्यापार से व्यक्ति थकता ही है। इंद्रियों से क्रिया जब करता है तब थकावट ज्यादा होती है। स्वप्न में इतनी थकावट नहीं होती क्योंकि वहाँ केवल मन से ही काम करते हैं। जब शरीर से काम करते हैं, तब शरीर और मन दोनों थकते हैं। मन से इंद्रियाँ भी समझ लेना। दोनों थकने पर नींद अच्छी आती है। थककर मृदुशय्या के ऊपर जब आराम करता है तब शरीर और मन दोनों को विश्राम मिलता है। ज्ञान और कर्म दोनों व्यवहारों से दुःख उत्पन्न हुआ तभी अशान्त हुऐ थे। जब मृदुशय्या पर लेटे, कोई चिन्ता भी नहीं है, तब सुख का जो विरोधी दुःख वह हट जाता है। तब चित्त आत्मा की तरफ स्थित होने से स्वस्थ हो जाता है, व्याकुलता हट जाती है। तब विषय का अर्थात् मृदुशय्या आदि का सुख अनुभव करता है। मृदुशय्या आदि विषयों की ज़रूरत क्यों है? जो दुःख देने वाले हेतु थे उनको हटाने के लिये। स्वस्थचित्त होकर शय्यादि विषय के सुख का अनुभव होता है। यह नींद आने से पूर्वकी दशा है ॥४३॥

उस विषयसुख को बताकर उसमें भी श्रम दिखाते हैं—

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिम्बति ।

अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रान्तिमाप्नुयात् ॥ ४४ ॥

आत्मा की ओर अभिमुख हुई बुद्धिवृत्ति में स्वरूपभूत आनन्द ही प्रतिबिम्बित होता है। इस का अनुभव कर इस अनुभूति में भी त्रिपुटी से थकान होती है।

जब चित्त स्वस्थ होता है तब स्वभाव से अपने स्वरूप की तरफ जाता है अतः आत्मा की तरफ वृत्ति जाती है। उसमें आत्मानन्द प्रतिबिम्बित होता है। परंतु यह भी विषय-सुख ही है अतः उसके अन्दर भी 'मैं शय्यादि से सुख का अनुभव कर रहा हूँ' यों त्रिपुटी भासती है। सुख आत्मरूप है लेकिन उसका अनुभव करने वाला चित्त अहंकारात्मिका वृत्ति वाला है और आत्मा को विषय कर रहा है, इसलिये त्रिपुटी बन रही है। उससे थकान होती है और वह त्रिपुटी भी अच्छी नहीं लगती ॥ ४४ ॥

उस थकान का नतीजा बताते हैं—

तच्छ्रमस्यापनुत्त्यर्थं जीवो धावेत् परात्मनि ।

तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत् ॥ ४५ ॥

उस श्रम को मिटाने के लिये जीव परमात्मा में भाग जाता है, उससे एकता पाकर स्वयं वहाँ का ब्रह्मानन्द हो जाता है।

जब त्रिपुटी रहती है, सुख को जानते हैं तब उस सुख लेने से भी श्रम होता है। उसको

भी हटाने के लिये, वही जीव परात्मा जो आनंदरूप है, उसकी तरफ दौड़ता है अर्थात् ब्रह्मानन्द की तरफ दौड़ता है। त्रिपुटी से होनेवाला विषय-सुख थकावट देता है तब वह स्वरूप-सुख की तरफ जाता है अर्थात् त्रिपुटी का लोप करता है। बिछौने पर लेटा हूँ, कोमलता का सुख भोग रहा हूँ आदि अनुभवों की उपेक्षा करता है तब नींद आती है। तब परमात्मा अर्थात् ब्रह्मानन्द की तरफ दौड़ता है। क्योंकि इस क्रम में अधिक समय नहीं लगता इसलिये कहा, 'धावेत्'। फिर उस ब्रह्मानन्द से एक हो जाता है अर्थात् ब्रह्मानन्द का अनुभव रहता है, न ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाला रहता है, न वही विषयरूप से रहता है। उस आनन्द के साथ एक हो जाता है। 'तत्रत्यः' वहाँ होने वाला ब्रह्मानन्द स्वयं ही हो जाता है। 'तत्रत्य' कह कर बतला रहे हैं कि जब तक सुषुप्ति में है तब तक तो ब्रह्मानन्द से एक रहेगा परन्तु फिर जैसे ही जगेगा, वैसे सब कुछ उपस्थित हो जायेगा। है तो वह ब्रह्मानन्द, परन्तु मोक्ष की तरह उसकी सनातन प्राप्ति नहीं, अवस्था की परिधि में ही प्राप्ति है। जैसे पतंजलि ने कहा कि समाधिकाल में स्वरूप में स्थिति है अर्थात् जाग्रत् स्वप्न में फिर नहीं है, इसी प्रकार सुषुप्ति में आनन्दानुभव काल में ब्रह्मानन्द है, आगे-पीछे फिर नहीं है। ब्रह्मानन्द स्वरूप होता है पर क्योंकि अज्ञान निवृत्त हुआ नहीं है इसलिये अवस्था की सीमा रहती ही है॥ ४५॥

सुषुप्ति के आनन्द के लिये श्रुति ने बहुतेरे दृष्टान्त दिये हैं—

दृष्टान्ताः शकुनिः श्येनः कुमारश्च महानृपः।

महाब्राह्मण इत्येते सुप्त्यानन्दे श्रुतीरिताः॥ ४६॥

चिड़िया, बाज, बच्चा, महाराजा और श्रेष्ठ ब्राह्मण—ये दृष्टान्त श्रुति में सुषुप्ति के आनन्द के लिये कहे हैं।

श्रुतिने इसको समझने के लिये अलग-अलग स्थलों पर पाँच दृष्टान्त दिये हैं। थकने के बाद अपने स्वरूप की तरफ जाने में एक दृष्टान्त है शकुनि, छोटी चिड़िया, जिसे लोग अपनी अँगुली पर बाँध कर रखते हैं। श्येन बड़ी चिड़िया है, बाज। वह दूर से ही अपने शिकार को देख लेता है। वेद में जीव को अनेक जगह पक्षी की तरह बतलाया है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' आदि में उसे अच्छे परोँ वाला पक्षी कहा। भाषा में हंस का भी दृष्टान्त प्रायः देते हैं। जीव को हंस शब्द से संस्कृत में भी कहा गया है। 'एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये' (श्वे. ६.१५)। हंस शब्द का मतलब होता है जो जाता है। जीव एक शरीर से दूसरे में या एक शरीर में भी बाल्यावस्था से युवावृद्धावस्था में जाता है इसलिये उसे हंस शब्द से कहा है। पक्षी दो पंखों से उड़ता है इस प्रकार गति करने के लिये जीव में भी ज्ञान और कर्म ये दो साधन हैं। दो परोँ के सामन ज्ञान और कर्म के द्वारा जीव गति करता है। दो पक्षियों के दृष्टान्तों की तरह तीन मनुष्यों के दृष्टान्त दिये हैं। एक तो छोटा बालक। जब तक मन में किसी प्रकार की कामना का उदय नहीं है तब तक उसे 'कुमार' कहते हैं। खाने के अतिरिक्त उसके अन्दर कोई कामना नहीं होती। कामनाओं का उदय में और मेरा स्पष्ट होने के बाद

ही होता है। छोटा बालक अपने हाथ से ही ऐसे खेलता है जैसे खिलौने से। उसे अभी यह भान उदय नहीं हुआ है कि यह हाथ मेरा ही है, मैं ही हूँ। अतः यदि आँख पर मक्खी बैठी है तो उसे अच्छा नहीं लगता है, किन्तु 'हाथ मेरा है इससे मैं मक्खी हटा सकता हूँ', यह ज्ञान अभी नहीं है। अतः वह रोता है। कुमार में लगभग किसी चीज़ की कामना का कोई संस्कार उदय नहीं हुआ है। 'महानृपः' अर्थात् जिसकी सारी कामनायें पूरी हो गई हैं, ऐसा राजा। और 'महाब्राह्मण' जिसने आत्मज्ञान की पूरी निष्ठा प्राप्त कर ली है। ज्ञान की प्राप्ति से ब्राह्मण, जब ज्ञाननिष्ठा हो गई तब महाब्राह्मण कहलता है। ये दृष्टान्त श्रुति में कहे गये हैं, सुषुप्ति के आनन्द को बतलाने के लिये। सुषुप्ति में तो आनन्द का पता चलता नहीं है। परंतु जाग्रत् में उससे मिलता-जुलता आनन्द होता है। इसलिये इन दृष्टान्तों से उसको बतलाते हैं ॥ ४६ ॥

दो श्लोकों से शकुनि दृष्टान्त समझाते हैं—

शकुनिः सूत्रबद्धः सन् दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम् ।

अलब्ध्वा बन्धनस्थानं हस्तस्तम्भाद्युपाश्रयेत् ॥ ४७ ॥

धागे से बँधा हुआ शकुनि विभिन्न दिशाओं में उड़कर आराम की जगह न पाकर हाथ, खम्भा आदि वहीं लौट आता है जहाँ बँधा है।

श्रुति (छा. ६.८.२) है 'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनम् अलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते'। शकुनि, जो छोटा पक्षी होता है, उसको समुद्रयात्रादि के प्रसंग में धागे से अंगुली में बाँध लेते हैं। वह विभिन्न दिशाओं में उड़ता है पर चारों तरफ पानी होने से कोई स्थान ऐसा नहीं मिलता जहाँ विश्राम को प्राप्त करे। जब कहीं भी विश्राम नहीं मिलता तब जो उसके बँधने का स्थान है वहीं आकर बैठता है आराम करने के लिये। उसके अलावा अन्यत्र उसको सहारा नहीं मिलता ॥ ४७ ॥

इसी प्रकार से श्रुति ने दार्ष्टान्त बताया है 'एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपाश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इसका भाव व्यक्त करते हैं—

जीवोपाधिमनस्तद्वद् धर्माधर्मफलाप्तये ।

स्वप्ने जाग्रति च भ्रान्त्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ॥ ४८ ॥

दृष्टान्त की तरह, जीव की उपाधि मन पुण्य-पाप के फल भोगने के लिये स्वप्न और जाग्रत् में भटक कर, कर्म क्षीण होने पर (अपने उपादान अज्ञान में) लीन हो जाता है।

जीव से बँधा हुआ है मन, 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः'। मन जीवभाव को छोड़कर कहीं जा नहीं सकता। यह जीव की उपाधि है। जब तक मन रहता है, तब तक जीव-भाव रहता है। जैसे शकुनि पक्षी इधर-उधर जाता है कि कहीं विश्राम मिल जाये पर मिलता नहीं, इसी प्रकार धर्म-अधर्म का फल भोगने के लिये मन विषयों में जाता है। धर्म फलोन्मुख होता है

१२२० पञ्चदशी

तो सुख का विषय मिलता है, अधर्म फलोन्मुख होता है तो दुःख का विषय मिलता है। स्वप्न में बिना इंद्रियों के भी मन विषयों में ही जाता है। जाग्रत् में इंद्रियों के द्वारा जाता है। स्वप्न और जाग्रत् में यही अन्तर है कि इंद्रियों के द्वारा जब विषयों का ज्ञान होता है तब जाग्रत् अवस्था है, बिना इंद्रियों के विषयों का ज्ञान होवे तो स्वप्न है। दोनों ही जगह अपने पुण्य-पाप का फल भोगने के लिये दौड़ लगाता है। जाता तो हमेशा सुख के लिये है, यदि पुण्य फल मिलना है तब तो पदार्थ मिल कर सुख हो जाता है, यदि अधर्म अर्थात् पाप का फल मिलना हो तो सुख नहीं होता बल्कि दुःख हो जाता है। जो चीज़ चाहते हैं वह मिले ही नहीं, या हमने जैसी चाही वैसी चीज़ न निकली, दोनों स्थितियों में दुःख होता है जो पाप का फल है।

दोनों ही अवस्थाओं में धर्माधर्म का फल प्राप्त होता है। स्वप्न में और जाग्रत् में 'भ्रान्त्वा' मन घूमता रहता है, ठहर कहीं नहीं पाता जैसे शकुनि उड़ता रहता है, बैठने की जगह उसे नहीं मिलती। पुण्य-पाप के कर्मों को जब कुछ समय के लिये फल नहीं देना है तब सुषुप्ति आती है। जब तक कर्मफल भोगना होगा तब तक तो नींद आयेगी नहीं, कर्म जाग्रत् और स्वप्न में घुमाता रहेगा; जब फल देने वाले धर्माधर्म नहीं रहेंगे, तब मन अपने बंधन के स्थान प्राण में लीन हो जाता है। जीव से बँधा मन विषयों की तरफ दौड़ता है और थक कर अपने जीवभाव में ही लीन हो जाता है। जीव की उपाधि अविद्या, अज्ञान है। वह प्रकट तब होती है जब अज्ञान मन-रूप में परिणत होता है। जब तक कारणरूप में अज्ञान है तब तक कुछ सुख-दुःख नहीं होते हैं। अपने आत्मानन्द का ज्ञान नहीं रहता है। जब अज्ञान मन-रूप परिणाम को पैदा करता है, तभी सुख-दुःख शुरू होते हैं। जब तक वे भोगने हैं तब तक मन बना रहता है, इसलिये जाग्रत् या स्वप्न में जाते हो। इसीलिये कहा जाता है (गीता १५.२) कि यह संसार 'कर्मानुबन्ध' है। मन लीन होगा तो जीव में, जीव हुआ अज्ञान उपाधि वाला। वह जीव वस्तु परमात्मा ही है। जीवभाव तभी प्रकट होता है जब अज्ञान मन-रूप में परिणत हो जाये। इसलिये कह देते हैं कि मन सुषुप्ति में अज्ञान उपाधि वाले परमात्मा में ही लीन होता है। ॥ ४८ ॥

दूसरा 'श्येन' का दृष्टान्त है। बृहदारण्यक ४.३.१६ में कहा है 'तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते, एवमेवाऽयं पुरुषः एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति।' इसे व्यक्त करते हैं—

श्येनो वेगेन नीडैकलम्पटः शयितुं ब्रजेत् ।

जीवः सुप्त्यै तथा धावेद् ब्रह्मानन्दैकलम्पटः ॥ ४९ ॥

सोने के लिये घोंसले में ही पहुँचना चाहने वाला बाज जैसे तेजी से उधर जाये वैसे केवल ब्रह्मानन्द पाना चाहने वाला जीव सोने के लिये दौड़कर जाता है।

श्येन, बाज खूब उड़ लेता है, और थक जाता है तो एकमात्र घोंसले को ही प्राप्त करना, जाना चाहता है क्योंकि वहीं जाकर सो सकता है। शकुनि दृष्टान्त में पक्षी बँधा था, विश्राम

का अन्य स्थान नहीं था। यह श्येन बँधा नहीं है और घोंसले में ही जाना चाहता है, अन्यत्र कहीं बैठ कर सोना नहीं चाहता इसलिये घोंसले की तरफ वेग से जाता है।

इसी प्रकार जीव भी सुषुप्ति की तरफ दौड़ता है, तेज़ी से जाता है। बहुत समय तक साधना करो तब पता लगता है कि गहरी नींद में कैसे जाते हैं। अन्यथा अपने को दो ही अवस्थाओं का पता लगता है— या हम जगे हैं या नींद आ गई। जगने से नींद की तरफ कैसे गये—यह पता नहीं लगता। इसीलिये नहीं लगता कि इतनी जल्दी हो जाता है मानो दौड़कर सुषुप्ति में घुस जाता हो। जैसे श्येन घोंसले में जाने के लिये आतुर था, वैसे ही जीव गहरी नींद में जो ब्रह्मानन्द आता है, एकमात्र उसको ही प्राप्त करना चाहता है। 'एकलम्पट' के द्वारा यह कहना है कि यदि किसी भी अन्य चीज़ की प्रकट कामना रह गई है तो गहरी नींद नहीं आती। जब एकमात्र ब्रह्मानन्द-स्वरूप होना चाहता है, तभी उसकी प्राप्ति होती है, थोड़ी भी और कामना है तो प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य के कामना या चिन्ता के जितने अधिक स्थल होते हैं, उतना ही उसकी सुषुप्ति सबसे पहले गड़बड़ाती है। उन्हें प्रायः गहरी नींद नहीं आती, इस बात का अनुभव ही नहीं हो पाता कि रात्री नौ बजे सोये, सुबह चार बजे तक कुछ पता नहीं लगा कि क्या हुआ। मन उपाधि वाला जो चिदाभास है, जब उस को एकमात्र ब्रह्मानन्द की अभिलाषा होती है तब नींद आती है। वह उसे ब्रह्मानन्द जानता तो नहीं पर है वह स्वरूपतः ब्रह्मानन्द अतः विषयानन्द नहीं चाहता और आनन्द चाहता है—इस अभिप्राय से ब्रह्मानन्द-शब्द का प्रयोग किया है। सोने के लिये जीव शीघ्रतासे हृदयाकाश में जाता है। जीव अर्थात् मन उपाधि वाला चिदाभास। उपाधि का अज्ञान में लय होता है तो जीव सत् परमात्मा से एक हुआ रहता है। इस प्रकार सुषुप्ति का सुख परमात्मरूप ही है, अन्य नहीं यह स्पष्ट है॥ ४६॥

दो दृष्टान्तों से बताया कि चिदाभास अपनी उपाधि से रहित होना चाहे तथा मन अपने आश्रय स्थान अज्ञान से ढँके हुए ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति करना चाहे तब सुषुप्ति होती है। बालाकि ब्राह्मण (वृ २.१.१६) में सुषुप्ति के लिये तीन और दृष्टान्त दिये हैं 'स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते'। तीन श्लोकों में इसे समझाते हैं—

अतिबालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतो हसन् ।

रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेरानन्दैकस्वभावभाक् ॥ ५० ॥

अत्यंत छोटा बच्चा दूध पीकर कोमल शय्यापर लेटा हँसते हुए केवल आनन्द-स्वभाव वाला होता है क्योंकि राग-द्वेष आदि उसमें उत्पन्न हुए नहीं हैं।

श्रुति में कुमार शब्द का प्रयोग है। पाँच वर्ष तक बच्चे को कुमार कहते हैं। इतने बड़े की प्राप्ति न होवे इसलिये कह दिया, 'अतिबालः' अर्थात् जो अभी स्तनपान ही करता है। प्रायः तीन माह तक बच्चा बस भूख लगने पर दूध पीना ही जानता है। ऐसे स्तनन्धयने

१२२२ पञ्चदशी

भरपेट दूध पी लिया, मुलायम बिछौने पर उसको लेटाया हुआ है। बिस्तरा कठोर, कर्कश, ऊँचा-नीचा होगा तो वह रोयेगा। पेट भरा है, मुलायम बिस्तरा है तो किसी दुःख का अनुभव नहीं है, अतः हँसता है। हम पेट भरा होने पर, मुलायम बिस्तर पर लेटे होने पर भी वैसा आनन्द नहीं ले पाते क्योंकि हमें अन्य पदार्थों का राग-द्वेष बना रहता है। इसीलिये श्रुतिने स्तनन्धय को दृष्टान्त बनाया। उम्रदराज व्यक्ति साधन-सम्पन्न हो फिर भी वह आनन्द में मग्न नहीं रहता है क्योंकि याद करता रहता है, 'मेरा उसने अपमान कर दिया' आदि। पेट भी भरा है, बिछौना भी मुलायम है, पर रोग हो तो कहाँ आनन्द आता है! दूध पीते बच्चे में रागद्वेष उत्पन्न नहीं हुए। इसलिये प्रकट दुःख न हो तो एकमात्र आनन्द को ही भोगना उसका स्वभाव है। स्वाभाविकरूप से वह आनन्द में रहता है।। ५०।।

बालक अत्यन्त मुग्ध है अर्थात् उसे किसी प्रकार का विवेक नहीं है। अब विवेकी राजा का दृष्टान्त लेते हैं—

महाराजः सार्वभौमः सन्तुप्तः सर्वभोगतः।

मानुषानन्दसीमानं प्राप्यानन्दैकमूर्तिभाक्।। ५१।।

सारी भूमि का शासक महाराजा सभी भोगों से भली भाँति तृप्त हो मनुष्योचित आनन्द की सीमा (=पूर्णता) पाकर केवल आनन्द का मानो मूर्तिमान् रूप हो जाता है।

राजा सम्राट् के अन्तर्गत होता है। जिस का कोई सम्राट् न होवे वह महाराजा है। महाराजा अर्थात् जिसका महान् राज्य होवे। 'सार्वभौमः' अर्थात् जो सारी पृथ्वी का एक ही राजा है। जहाँ उपनिषदों ने आनन्द का परिमाण गिनाया है वहाँ एक इकाई गिना है मानुषानन्द को। उस एक इकाई के अन्दर सार्वभौम के आनन्द को ही ग्रहण किया है। यदि पृथ्वी पर दूसरा राजा है तो ज़रूर भय आदि का अवसर रहेगा। सार्वभौम की स्थिति में ऐसा नहीं होगा। जहाँ मानुषानन्द गिनाया वहाँ कहा है कि उस सार्वभौमका मजबूत शरीर होवे। स्वस्थ दृढ शरीर के बिना व्यक्ति आनन्द नहीं भोग सकता। निर्बलता स्वयं में ही दुःख का कारण होती है। फिर उपनिषद् कहती है कि वह अच्छे चरित्र वाला, साधु पुरुष होना चाहिये। सच्चरित्रता के बिना कभी भी पूर्ण आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। पढ़ा-लिखा भी होना चाहिये क्योंकि संसार के सारे सूक्ष्म आनन्द विद्या के द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। जैसे संगीत, काव्य आदि का आनन्द उन विषयों के जानकार को ही आता है। खाली खा-पी कर कितना आनन्द ले सकते हो! सूक्ष्म-स्थूल सारे भोगों को भोग कर के जो 'संतुप्तः', भली प्रकार से तृप्त हो गया है उसने मनुष्य योनिमें प्राप्तव्य पूरा आनन्द पा लिया। यही मानुष आनन्दकी सीमा है। ऐसा संतुप्त महाराजा बैठा हो तो ऐसा लगता है कि आनन्द की एक मूर्ति है। वह आनन्दमग्न रहता है। पहला दृष्टान्त था सर्वथा अविवेकी बच्चा जिसे राग-द्वेष न होने से सुख रहता है। महाराजा विवेकी तो है पर जितना राग का विषय है, वह सब इसे प्राप्त हो गया है। और कोई उसका विरोधी नहीं है, इसलिये इसे द्वेष भी नहीं है। इस तरह इसमें भी राग-द्वेष

[प्र. ११ श्लो. ५३]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२२३

का अभाव होने से वह आनन्दैकमूर्ति है। दोनों ही जगह कारण तो जैसा श्रुति ने कहा है 'अकामहतता' ही है। सारे दुःखों की जड़ कामना ही है ॥ ५१ ॥

तीसरा दृष्टान्त समझाते हैं—

महाविप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम्।

विद्यानन्दस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते ॥ ५२ ॥

ब्रह्मवेत्ता महान् वेदपाठी, कृतकृत्यता जिसका स्वरूप है उस विद्यानन्द के चरम उत्कर्ष को पाकर (उसी में) रहता है।

तीसरा उदाहरण महाब्राह्मण है। ब्राह्मण को महान् इसलिये कहा कि उसने अपने प्रत्यगात्मा से ब्रह्म अभिन्न है इस बात को जान लिया है। ब्रह्म प्रत्यगात्मा से अलग नहीं है और प्रत्यगात्मा ब्रह्म से अलग नहीं है ऐसी जिसने एकता जान ली है उसे ब्रह्मवेदी कहा। आत्मज्ञान हो जाता है, फिर भी चित्त के संस्कारों के कारण, बार-बार 'मैं ब्रह्म से अलग हूँ' यह अलगाव की वृत्ति बनती रहती है। मच्छर काट रहा है अर्थात् मैं मच्छर से अलग हूँ इस प्रकार शरीरादि में मैं-बुद्धि पुराने संस्कारों से उदय होती है। उसे हटाने के लिये बार-बार विचार करना पड़ता है 'मैं शरीर नहीं हूँ, यह मच्छर मेरे आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं है'। इस प्रकार विचार कर, दृढ़ हो जाता है कि ब्रह्म ही हूँ। फिर शरीर आदि में मैं-बुद्धि पैदा नहीं होती। मेरा मकान है, उसमें कोई नुकसान होता है तो मुझे दुःखी कर देता है। मैंने तो वह मकान बेच दिया। दीख रहा है पर अब मेरा नहीं है। अब यदि वह नष्ट भी हो जाये तो मुझे दुःख नहीं होता है। इसी प्रकार ज्ञानदृढ़ता के बाद शरीर दीखे, मन दीखे, परन्तु निश्चय है कि वे मेरे तो हैं नहीं इसलिये चाहे मच्छर या शेर काटे, मुझे क्या फर्क पड़ता है! जब यह भावना हो जाती है तब कृतकृत्यता स्फुट होती है। यह निष्ठा-प्राप्ति ही कर्तव्य बाकी रह जाती है ज्ञान के बाद। जब यह निष्ठा हो गई तब फिर कुछ करना शेष नहीं है। यही विद्यानन्द की पराकाष्ठा है। विद्यानन्द की पूर्णता यही है। ऐसा जो आत्मज्ञानी है वह अपने स्वरूप के अन्दर धन्यता अनुभव करते हुए रहता है। निष्ठा प्राप्त करके हमेशा आनन्द में मग्न रहता है। बच्चा आनन्द में मग्न तो है, लेकिन आगे नहीं रहेगा। महाराजा आनन्दमग्न है, परन्तु मानुषानन्द की सीमा है, मरने के बाद फिर उसकी पूर्णता नहीं रहेगी। पर यह जो विद्यानन्द से तृप्त है, तत्त्वज्ञ है, इसको फिर कभी भी इस आनन्द स्फूर्ति का त्याग करना ही नहीं है। हमेशा ही आनन्द में रहेगा। इस प्रकार पाँच दृष्टान्तों में दो पक्षियों को, तीन पुरुषों को ग्रहण किया। ये जैसे आनन्द की मूर्ति लोगों को प्रतीत होते हैं, ऐसे ही सुषुप्ति के अंदर आत्मानन्दस्वरूप से स्थिति रहती है ॥ ५२ ॥

मनुष्य-दृष्टान्तों की विशेषता बताते हैं—

मुग्धबुद्धाऽतिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता।

उदाहतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ॥ ५३ ॥

जिन्हें उदाहरण बनाया उनमें विवेकशून्य (बालक), समझदार (सम्राट्) और आत्यंतिक बोध पाया (ब्रह्मवेत्ता)—ये सुखमय होते हैं, इनसे अन्य तो दुःखी ही रहते हैं, उनमें सुखशीलता नहीं होती।

जो तीन दृष्टान्त आनंद के लिये दिये उनमें एक तो बिलकुल छोटा बालक है, वह मुग्ध है अर्थात् कोई विवेक उसके अंदर नहीं है। उसे तो भूख आदि शरीर के कुछ अनुभवों को छोड़कर और कोई दुःख नहीं है। बुद्ध अर्थात् जिसमें विवेक है; ऐसों में सम्राट् ग्रहण किया क्योंकि उसको जो भी सम्भव इष्ट पदार्थ हैं सब मिल गये हैं और कोई उसका विरोध करने में सामर्थ्य वाला भी नहीं है; अतः उसे न कुछ पाने की, न कुछ इस लोक में हटाने की इच्छा है। और 'अतिबुद्ध' अर्थात् अतिविवेकी है, जिसने ब्रह्मानुभव कर लिया है वह वास्तविक आनंद में है, इहलोक और परलोक, कहीं भी कोई चीज ऐसी नहीं है जो उसके लिये प्राप्त करने के योग्य होवे। सम्राट् को इहलोक की चीजें तो प्राप्त हैं किन्तु परलोक की अभिलाषा हो सकती है। अतः अश्वमेध आदि में प्रवृत्त हो सकता है। पर जो अतिबुद्ध है उसके लिये वह भी सम्भव नहीं क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु से लेकर घास के तिनके तक सब केवल मिथ्या प्रतीतिमात्र है, इस बात का वह साक्षात्कार कर चुका है। उसी को ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार है। दूसरे दोनों उस समय दुःख से ग्रस्त नहीं हैं—बस इतनी ही बात है जबकि इसके लिये तो ब्रह्मानन्द हाथ में रखे आँवले की तरह है, ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा वह उसको प्रत्यग्रूप जानता है। राग-द्वेष ही आनंद नहीं होने देते। आनंद की स्थिति जब बनती भी है, तभी कोई न कोई अन्य चीज के प्रति राग या द्वेष उत्पन्न हो जाता है। इसलिये क्षणभर के लिये आनन्द की प्रतीति होकर तुरन्त आनंद बंद हो जाता है। हर हालत में, तीनों के अंदर राग-द्वेष के अभाव के कारण इनकी सुखरूपता लोकप्रसिद्ध है। इन तीन के अलावा अन्यो को तो कुछ भी सुख नहीं होता! वे लोग तो राग आदि के कारण हमेशा दुःखी ही हैं। पहले भी आया था (श्लोक ३८ में) कि दूसरों को सुखके विरोधी दुःख की हमेशा उपस्थिति है इसलिये वे एकमात्र आनंद में मग्न नहीं हो पाते। सुखी तो होते हैं लेकिन सुखरूप नहीं हो पाते, तुरन्त दूसरी वृत्ति बन जाती है॥ ५३॥

सुषुप्ति में सुख को दृष्टान्तों से निर्णीत करते हुए वहाँ अज्ञान है इसमें वेदोक्त दृष्टान्त सुनाते हैं—

कुमारादिवदेवाऽयं ब्रह्मानन्दैकतत्परः ।

स्त्रीपरिष्वक्तवद्वेद न बाह्यं नाऽपि चान्तरम् ॥ ५४ ॥

कुमार आदि की तरह ही यह जीव (सुषुप्ति में) केवल ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। स्त्री से आलिङ्गित की तरह बाहर-भीतर की कोई बात नहीं समझता।

जैसे कुमार, महाराज और महाविप्र, आनन्दस्वरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार से जो सुषुप्ति की तरफ जाता है, वह ब्रह्मानन्द के लिये ही तत्पर है अर्थात् तब ब्रह्मानन्द में ही लीन होने को जाता है। इस प्रकार सुषुप्ति में अद्वितीय, स्वप्रकाश आनन्द सिद्ध किया। वहाँ अज्ञान

[प्र. ११ श्लो. ५५]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२२५

है इसे भी श्रुति ने दृष्टान्त से समझाया है। जनक को सम्बोधित कर याज्ञवल्क्य बृहदारण्यक (४.३.२१) में कहते हैं 'तद्वा अस्यैतद् अतिच्छन्दा अपहृतपाप्माभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्, एवमेवाऽयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् तद्वा अस्यैतद् आप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपं शोकान्तरम्।' श्रुति ने कहा है कि जो कामुक व्यक्ति स्त्री के साथ एकता का अनुभव करता है तब उसे न बाहर की किसी चीज़ का ज्ञान रहता है न अन्दर की; ज्ञानरहित हो जाता है। पहले के दृष्टान्तों से ज्ञानरहितता स्पष्ट नहीं थी। वहाँ केवल बतलाना था कि सुखात्मकता कैसे होती है। अब बतला रहे हैं कि यह जो सुषुप्ति का आनन्द है, वहाँ न बाहर, न अन्दर का कुछ ज्ञान है। स्त्री की तरह तब साक्षात् परमात्मा से आलिंगित अर्थात् एकमेक हो जाता है, तब आनन्द रहने पर भी अज्ञान बना रहता है। यही स्थिति सुषुप्ति में है॥ ५४॥

दृष्टान्त ही व्यक्त करते हैं—

बाह्यं रथ्यादिजं वृत्तं गृहकार्यं यथान्तरम्।

तथा जागरणं बाह्यं नाडीस्थः स्वप्न आन्तरः ॥ ५५॥

दृष्टान्त में 'बाह्य' अर्थात् रास्ता आदि एवं और भी वृत्तान्त; 'भीतरी' जैसे घर के काम। इसी तरह दार्ष्टान्त में बाहरी अर्थात् जाग्रत् और भीतरी अर्थात् नाडी में होने वाला स्वप्न।

ऐसे प्रसंगों में दार्ष्टान्तमें शरीर से बाहर को बाहर कहा जाता है, और शरीर के अन्दर को अन्दर कहा जाता है। दृष्टान्त में सड़क आदि पर जो कुछ वृत्तान्त है वह है बाहर। जो घर के अन्दर होने वाले कार्य हैं वे भीतरी हैं। इसी प्रकार दृष्टान्त में इंद्रियों के द्वारा मन बाहर जाता है, वहाँ जो कुछ देखता है वह बाह्य है। जाग्रत् अवस्था वह है जब तुम शरीर से बाहर की चीज़ों को जानते हो। जाग्रत् अवस्था का लक्षण है कि जो मन में ही नहीं है, मन के बाहर है, उन अर्थों की इंद्रियों से प्राप्ति होना। और जाग्रत् की वासनाओं से नाडी के अन्दर ही चीज़ों की प्रतीति हो जाना स्वप्न है। इंद्रियों से कहीं बाहर नहीं जाता है। अतः स्वप्न आन्तर है। जब जाग्रत् और स्वप्न दोनों नहीं होते हैं, तब सुषुप्ति होती है। इसलिये वहाँ बाहरी-भीतरी कुछ पता नहीं रहता। जो प्राज्ञ पुरुष है, सुषुप्ति का अभिमानी, वह तब अपने वास्तविक आत्मस्वरूप के द्वारा आलिंगित हुआ न जाग्रत् की, न स्वप्न की चीज़ों को जानता है। 'प्राज्ञेनात्मना' का अर्थ भाष्यकार ने किया है 'परमार्थे स्वाभाविकेन स्वेनात्मना परेण ज्योतिषा'। यद्यपि तब वास्तविक सत्यस्वरूप से मानो घिरा रहता है तथापि इससे अनजान ही बना रहने से मोक्ष नहीं पा जाता है॥ ५५॥

सुषुप्ति में बाह्य और आन्तर का कुछ भान नहीं रहता है यह भी वहीं (४.३.२२) कहा 'अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता' इत्यादि। इससे वेदने वहाँ ब्रह्मरूपता को युक्ति से समर्थित किया क्योंकि ब्रह्म ही ऐसी वस्तु है जहाँ ये सब कोई भेद नहीं हैं—

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात्।

सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात्॥ ५६॥

१२२६ पञ्चदशी

सुषुप्ति में पिता भी पिता नहीं रहता—इत्यादि प्रसंग में वहाँ जीवरूपता के निषेध से स्पष्ट है कि क्योंकि तब संसारिरूपता का स्पष्ट अनुभव नहीं होता इसलिये जीव नहीं बरन् ब्रह्म ही है।

सुषुप्ति में जाने पर पिता, पिता नहीं रहता, माता भी माता नहीं रहती। माता-पिता आदि सब जाग्रत्-स्वप्न में ही रहते हैं। पितृत्वादि सारे सम्बन्ध हैं। सम्बन्ध दो चीजों में रहता है। सुषुप्ति में एक तो रह जाता है, पर दूसरा कोई वहाँ नहीं रहता इसलिये जितने भी ये जीवकल्पित सम्बन्ध हैं ये कोई वहाँ नहीं रह जाते। इससे पता चलता है कि सुषुप्ति में जीवभाव नहीं रहता। उपाधियों से स्वयं को तादात्म्य वाला जानकर सब सम्बन्धों से घिरा समझना जीवभाव है। 'मैं इसका लड़का हूँ। मैं ब्राह्मण हूँ' आदि अभिमान जीवभाव हैं। सुषुप्ति में इन भावों से रहित प्रत्यगात्मस्वरूप ही रह जायेगा। ये सारे भाव या शरीर-प्रसूत हैं, या मनःप्रसूत हैं। शरीर या मन को लेकर सारे सम्बन्ध हैं। वहाँ इन सब से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। अध्यास सारे छिप जाते हैं इसलिये सुषुप्ति के अन्दर केवल एक ब्रह्म है, जीव नहीं है। यद्यपि जीव का बाध नहीं हुआ, अज्ञान तो है, तथापि स्फुट जीवभाव तभी होता है जब अज्ञान अंतःकरणरूप में परिणत होता है। सुषुप्ति में यह परिणति नहीं होने से, संसारित्व की 'समीक्षा' सम्यक् ईक्षण नहीं है। अभी अध्यास का मूल अज्ञान नहीं हटा है परन्तु अध्यास तो सारे छिप गये हैं। अध्यासों को लेकर ही जीवभाव है। जैसे सर्प न दीखे तो अज्ञात रस्सी ही रहती है वैसे अध्यास छिप गया तो अधिष्ठानरूप के अन्दर किसी प्रकार का जीवभाव रहेगा नहीं। अध्यास का मूल अज्ञान नहीं हटा है, यह बात दूसरी है। हर हालत में जीवभावकी तब प्रतीति नहीं होती।। ५६।।

अभिमान न रहने पर पुण्यादि के अभाव में शोक से परे हो जाता है यह वहीं (वृ४.३. २२) कहा- 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति'। इसका संग्रह करते हैं—

पितृत्वाद्यभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि।

तस्मिन्नपगते तीर्णः सर्वाञ्छोकान् भवत्ययम्।। ५७।।

पिता-पने आदिका जो अभिमान वही सुख-दुःख का खजाना है! वह हट जाने पर वह आत्मा सारे शोक तर जाता है।

मैं पिता, माता, पति इत्यादि जो अभिमान हैं ये ही सुख-दुःख का घर हैं। इन सम्बन्धों के आने पर ही सुख-दुःख शुरू होते हैं। इस अभिमान के साथ शरीर-मन के अभिमान भी समझ लेने चाहिये क्योंकि तभी सुख-दुःख संभव होते हैं। सुख-दुःख ही संसार है। सुख-दुःखरूप संसार का आकर है अभिमान। अभिमान का मतलब होता है जो मैं नहीं हूँ वह अपने को मान लेना। ब्राह्मण पिता मनुष्य इत्यादि स्वयं को मानता हूँ पर मैं ये सब हूँ तो नहीं! विचार से यह समझने पर भी दृढता-पूर्वक स्वयं को ऐसा मानता हूँ। विवेकी को भी यह अनुभव होता है कि 'यह बात युक्तिसिद्ध तो है कि मैं देहादि नहीं, परन्तु मैं हूँ तो आदमी ही!' जब तक अभिमान रहेगा, तब तक सुख-दुःखरूप संसार भी रहेगा। जब जीव सुषुप्ति में जाता है तब यह अभिमान निवृत्त हो जाता है। इसलिये सारे शोकों से उत्तीर्ण हो

[प्र. ११ श्लो. ५८]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२२७

जाता है। यह तात्कालिक उत्तीर्णता है क्योंकि केवल अभिमान की निवृत्ति हुई है, कारण अज्ञान की निवृत्ति नहीं हुई है।

उस काल में कोई शोक नहीं रहता है क्योंकि अभिमान नहीं है। जैसे पतंजलि ने 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेवस्थानम्' कहा वैसे यहाँ श्रुतिने 'तीर्णो हि तदा शोकान्' कहा अर्थात् अवस्था की परिधि में कहा जा रहा है ॥ ५७ ॥

उक्त श्रुतियों में आत्मभाव की प्राप्ति और आध्यासिक चीजों की अप्रतीति बतलाई। सुषुप्तिकाल में साक्षात् आनन्द की प्रतीति अथर्व वेद की कैवल्योपनिषत् (१.१३) में कही है, उसे सूचित करते हैं—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसावृतः ।

सुखरूपमुपैतीति ब्रूते ह्याथर्वणी श्रुतिः ॥ ५८ ॥

अथर्ववेद की श्रुति कहती है कि सुषुप्ति के समय सारा प्रपंच विलीन होने पर तमःशब्दित अज्ञान से आच्छादित जीव सुखरूप ब्रह्म को पा जाता है।

कैवल्योपनिषद् की श्रुति यह कहती है कि जितनी देर सुषुप्ति रहती है, इंद्रियाँ, मन, शरीर आदि सब विलीन हो जाते हैं। प्राण ही वहाँ जगता हुआ रहता है अतः उस समय सब कुछ प्राण में लीन रहता है। प्राण में चूँकि ज्ञान का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है, इसलिये किसी चीज़ का भान नहीं होता है। सब विलीन हो जाने पर 'तमोऽभिभूत' अर्थात् 'तमसावृतः', अन्धकार, अज्ञान ही रह जाता है। जीव तब सुखरूप को प्राप्त कर लेता है। श्रुति इस प्रकार सुख की प्राप्ति बतला रही है। ब्रह्म स्वरूप ही है। इसलिये 'सुख को प्राप्त होता है' अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

उक्त बात शास्त्र के अलावा सार्वजनीन अनुभव से भी समर्थित है—

सुखमस्वाप्समत्राऽहं न वै किञ्चिदवेदिषम् ।

इति सुप्ते सुखाज्ञाने परामृशति चोत्थितः ॥ ५९ ॥

'इतनी देर सुखसे सोया, कुछ पता नहीं चला' यों सुषुप्ति के समय सुख और अज्ञान को जगा व्यक्ति याद करता है।

यह तथ्य श्रुति से ही नहीं, सबके अनुभव से भी सिद्ध है। उठकर सभी को याद आता है 'सुषुप्ति के अन्दर मैं सुख से सोया। मैंने तब न बाहर का, न अन्दर का कुछ जाना।' इस प्रकार, सोने पर सुख और कुछ नहीं जानना—इन दोनों को जब उठता है तब स्मरण करता है। इसलिये सुषुप्ति में सुख और अज्ञान—ये दोनों सब के अनुभव से भी सिद्ध हैं ॥ ५९ ॥

स्मरण से सुख-अज्ञान प्रमाणित कैसे हो जाते हैं यह क्रम समझाते हैं—

परामर्शोऽनुभूतेऽस्तीत्यासीदनुभवस्तदा ।

चिदात्मत्वात् स्वतो भाति सुखमज्ञानधीस्ततः ॥ ६० ॥

क्योंकि अनुभव किये के बारे में स्मरण होता है इसलिये (स्मरण की अन्यथा अनुपपत्ति से) सुषुप्ति में अनुभव था (यह निश्चित है)। सुख चेतन आत्मा का स्वरूप है अतः खुद अनुभूयमान है एवं उस सुखरूप आत्मा से ही अज्ञान का भी अनुभव हो जाता है।

अनुभूति थी, तभी स्मरण हुआ है। जिसका अनुभव हुआ हो उसी चीज़ का स्मरण होता है। इसलिये सुख एवं अज्ञान के परामर्श अर्थात् स्मरण से पता लगता है कि उस समय, अर्थात् सुषुप्ति के दौरान सुख व अज्ञान का अनुभव था। सुषुप्ति में न मन था, न ज्ञान की इंद्रियाँ थीं, वे सब लीन थे तो कैसे ज्ञान हुआ? कुछ लोग मानते हैं कि अनुभव वही है जो प्रमाणों से उत्पन्न हो। हम लोगों का कहना है कि प्रमाण से उत्पन्न होना सच्चे ज्ञान का लक्षण नहीं है। जिस चीज़ के बारे में 'यह नहीं हुआ था' ऐसा निश्चय नहीं होवे; वह सच्चा ज्ञान है। ब्रह्मस्वरूप में स्थिति भी किसी प्रमाण से तो है नहीं! अज्ञान कुछ हो जो नष्ट हो तब उसके नाशक को प्रमाण कहा जाये। जब अज्ञान ही मिथ्या है, है ही नहीं तब उसका नाशक कौन बनेगा जिसे प्रमाण कहें? फिर भी, चूँकि कभी ब्रह्मस्थिति का बाध होता नहीं, इसलिये उसे सच्ची कहते हैं। किन्तु यह न समझने वालों को जिज्ञासा रहती है कि अनुभव कैसे हुआ प्रमाण के अभाव में? इसके समाधानार्थ कहा 'चिदात्मत्वात् स्वतो भाति'। बिना किसी प्रमाण के ही अनुभव हुआ। क्योंकि वह सुख चिद्रूप है, ज्ञानस्वरूप है इसलिये उसका स्वयम् भान होता है। घड़े को तो तुमने आँखों से जाना। परन्तु घटज्ञान को काहे से जाना? 'घड़े का ज्ञान हुआ', यह भी तो हम जानते हैं। इस ज्ञान को तो इंद्रियों से नहीं जानते। यह ज्ञान किसी प्रमाण से नहीं होता। ज्ञानरूप होने से वह प्रकाशमान रहता है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से सब चीज़ों को देखते हो, सूर्य के प्रकाश को किसी प्रकाश से नहीं देखते इसी प्रकार जड़ पदार्थों को जानने के लिये तो प्रमाणों की ज़रूरत है क्योंकि वे ज्ञानरूप नहीं हैं। परन्तु जो ज्ञानरूप पदार्थ है उसे जानने के लिये किसी प्रमाण की ज़रूरत नहीं है। क्योंकि सुख ज्ञानरूप है इसलिये स्वयं ही भान होता है। इसी प्रकार, जो चिदात्मा है वही 'कुछ नहीं जाना' इसको भी जान लेता है। अतः सुख और अज्ञान का सुषुप्ति में अनुभव युक्तिसंगत है तथा स्मरणबल से निश्चित है॥ ६०॥

श्लोक ४५ में सुख को ब्रह्मरूप कहा था उसे श्रुति से प्रमाणित करते हैं जिससे सौषुप्त सुख की ब्रह्मरूपता निश्चित हो ताकि ब्रह्म की आनंदरूपता को अनुभवका समर्थन मिले—

ब्रह्म विज्ञानमानन्दमिति वाजसनेयिनः ।

पठन्त्यतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्मैव नेतरत् ॥ ६१॥

वाजसनेयी शाखा की बृहदारण्यक उपनिषत् में (३.६.२८) पढ़ते हैं कि ब्रह्म विज्ञानरूप और आनन्दरूप है। इसलिये स्वयंप्रकाश सुख ब्रह्म ही है, और कुछ नहीं।

सुषुप्ति को अद्वैत, स्वप्रकाश और सुख सिद्ध कर चुके। अब समझा रहे हैं कि वह सुख ही ब्रह्मरूप है। यह वेद ने कहाँ कहा? शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा वाले कहते हैं 'विज्ञानम् आनन्दम् ब्रह्म' ज्ञानस्वरूप, आनंदस्वरूप ही ब्रह्म है। चाहे हमें विषयादि से सम्बद्ध

[प्र. ११ श्लो. ६२]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२२९

जन्यादि प्रतीत हो पर ज्ञान व सुख है ब्रह्मका ही स्वरूप। यह वाजसनेयी शाखा वाले स्पष्ट कहते हैं। अतः सिद्ध होता है कि सुख विज्ञानरूप है अतः स्वप्रकाश है इसलिये ब्रह्म ही है। सुखरूप से भिन्न ब्रह्म नहीं है। कुछ लोगों की शंका होती है कि जब सब कुछ ब्रह्मरूप है तो दुःख भी ब्रह्मरूप होगा! पर स्थिति यह है कि सुख तो है ब्रह्म रूप, दुःख ब्रह्म का स्वरूप नहीं है क्योंकि दुःख हमेशा अज्ञान से होता है। जिस प्रकार से 'है' की प्रतीति हमें इंद्रियों से हो जाती है लेकिन 'नहीं है' की प्रतीति किसी इन्द्रिय से नहीं होती है, अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा होती है। जैसे 'घड़ा नहीं है' के लिये सोचना पड़ता है कि घड़ा होता तो दीखता, दीख नहीं रहा इसलिये घड़ा नहीं है। घड़ा इंद्रियों से दीखता है, ऐसे घटाभाव नहीं दीखता। सत् तो ब्रह्म का रूप है, लेकिन 'नहीं है', यह जो असत् है, वह ब्रह्म का रूप नहीं है वरन् माया का रूप है। सत् चित् आनन्द ब्रह्म का रूप है। और असत्, जड, दुःख माया के रूप हैं। ब्रह्म सुखरूप ही है, दुःखरूप माया है।। ६१।।

स्मरण से अनुभव समर्थित किया। प्रश्न उठता है कि अनुभवावस्था में जो था नहीं वह स्मरण करता कैसे है? इसका उत्तर समझाते हैं—

यदज्ञानं तत्र लीनौ तौ विज्ञानमनोमयौ।

तयोर्हि विलयावस्था निद्राऽज्ञानं च सैव हि।। ६२।।

जगने पर याद आता जो अज्ञान उसमें प्रमातारूप विज्ञानमय और प्रमाणरूप मनोमय लीन थे। उनकी लीन स्थिति ही निद्रा है, वही अज्ञान है।

सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द की स्थिति बतायी। सुषुप्तिवाला आत्मा ब्रह्मानन्दरूप होने से उसका अनुभव भले ही करें किन्तु जगकर 'मैं सुख से सो रहा था, मैंने कुछ नहीं जाना' यह तो मन-बुद्धि वाला कह रहा है! सुषुप्ति में मन-बुद्धि वाला तो था ही नहीं। यदि चैत्र अनुभव करता है तो चैत्र ही उसका स्मरण करेगा, मैत्र स्मरण करेगा नहीं। इसी प्रकार, बुद्धिरहित का जो अनुभव है, उसको बुद्धिवाला कैसे याद करेगा? यह शंका है। इसके समाधान में कहा कि विज्ञानमय, मनोमय और आनन्दमय चैत्र और मैत्र की तरह सर्वथा अलग-अलग नहीं हैं। 'मैंने कुछ नहीं जाना' इस स्मरण से पता लगता है कि सुषुप्ति में 'कुछ नहीं जानना' अर्थात् अज्ञान था। 'कुछ नहीं जाना' इस स्मरण से जो अज्ञान सिद्ध हो रहा है, उसमें लीन थे विज्ञानमय और मनोमय। विज्ञानमय है जानने वाला प्रमाता और मनोमय है जानने का साधन प्रमाण। ये दोनों उसी अज्ञान में लीन थे। चैत्र और मैत्र जैसे सर्वथा अलग हैं वैसे यहाँ अनुभविता और स्मर्ता सर्वथा अलग नहीं। मनोमय और विज्ञानमय अज्ञान में ही लीन थे। जब प्रमाता और प्रमाण नहीं रह जाते हैं, लीन हो जाते हैं, उसी का नाम है निद्रा। नींद आ गई अर्थात् न जानने वाला रहा, न जानने के साधन रहे। यह निद्रा ही अज्ञान है। विज्ञानमय और मनोमय का न होना ही निद्रा है। कहीं कोष में कहा है 'विज्ञानविरतिः सुप्तिः' कोई ज्ञान न रह जाये—यह सोने का लक्षण है। 'विज्ञान' इसलिये कहा कि तब विशेष ज्ञान कोई नहीं रहता है, आनंदरूप ज्ञान तो रहता ही है। उस निद्रा में ही सब लीन हुए हैं।

वही निद्रा ज्ञान नाम से भी कही जाती है। अतः 'नींद में लीन' और 'अज्ञान में लीन' एक ही बात है। प्रमाता-प्रमाण तब लीन थे अतः प्रकट होकर तब का स्मरण करें यह संगत है। सर्वथा तब न रहे होते तभी स्मरण असंभव होता ॥६२॥

एक चीज़ की दो अवस्थाओं का दृष्टान्त देते हैं—

विलीनघृतवत् पश्चात् स्याद् विज्ञानमयो घनः ।

विलीनावस्थ आनन्दमयशब्देन कथ्यते ॥ ६३ ॥

जैसे पिघला घी बाद में ठोस हो जाता है वैसे विज्ञानमय (ठोस की तरह है, वही) जब पिघली अवस्था में होता है तब आनन्दमय-शब्द से कहा जाता है।

घी धूप में गल जाता है। जब फिर अंदर रख दो तो ठोस हो जाता है। इसमें कोई नियम नहीं कर सकते हो कि पचास या सौ बार ही ऐसा होगा। घी तो एक ही है, पिघला हो या गाढ़ा हो, उसी की ये दो अवस्थायें हैं। इसी प्रकार, जिस समय सुख-दुःख देने वाले कर्मों का उद्भव हो उस समय विज्ञानमय नामक घनीभूत रूप बन जाता है। जब कर्म फल देने वाले नहीं होते हैं तब वापिस पिघलकर आनन्दमय रह जाता है। विज्ञानमय ही जब विलीन हो गया तब उसे आनन्दमय कह देते हैं। जब तक कर्म फल देने वाले हैं तब तक सुख-दुःख से तीर्ण नहीं होगा। जब वे फल देने वाले नहीं होंगे, तभी उस अवस्था में जायेगा जहाँ सुख-दुःख से परे आनन्दरूप से रहेगा अर्थात् सुषुप्ति में रहेगा। जैसे एक ही घी की दो अवस्थायें हैं, वैसे ही एक ही अज्ञान की दो अवस्थायें हैं, एक जिसमें विज्ञानमय-मनोमय हैं, दूसरी जिसमें आनन्दमय है। क्योंकि अवस्थाओं का ही भेद है इसलिये स्मरण बन जाता है। ठोस घी में रंग या गन्ध डाल दो तो पिघलने पर भी उस चीज़ की अनुवृत्ति रहेगी। जब लोगों को खाने का शौक था तब घी में नागबेल का पत्ता डालकर उबाल लेते थे। घी में सुगंधि आ जाती थी। पिघले में डालते थे तो ठोस में भी सुगंध रहती थी। इसी प्रकार से आनन्द का अनुभव पिघली अवस्था में था, जाग्रत् स्वप्न की जब ठोस अवस्था आती है, तब उसके अंदर भी उस आनन्द की स्मृति बन जाती है।

जिस प्रकार से घी की दो अवस्थायें, पिघला और जमा, उसी प्रकार जीव की दो अवस्थायें, गला हुआ अंतःकरण आनन्दमय और जमा हुआ अंतःकरण विज्ञानमय। जैसे जमा-गला दोनों घी एक ही है इसी प्रकार सुषुप्ति में गले एवं जाग्रत् में जमे अंतःकरण वाला जीव एक ही है इसलिये स्मृति सम्भव है। विलीनावस्था में आनन्दमय है और जमी अवस्था में विज्ञानमय-मनोमय हैं ॥ ६३ ॥

श्लोक ५२ से ५५ तक कहे अनुसार यहाँ भी स्पष्ट करते हैं कि अन्तःकरण की ही अवस्था-विशेष आनन्दमय है। आनन्दमय की ही अवस्थाविशेष विज्ञानमय है—इस तरह भी समझे रखना चाहिये—

सुप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिवृत्तिर्या सुखबिम्बिता ।

सैव तद्विम्बसहिता लीनानन्दमयस्ततः ॥ ६४ ॥

सुषुप्ति से पूर्व के क्षण में सुख के प्रतिबिम्ब से युक्त जो बुद्धि की वृत्ति, उस प्रतिबिम्ब समेत वही बाद में लीन हुई आनन्दमय कहलाती है।

गलने पर इसको आनन्दमय क्यों कहते हैं? सोने के अव्यवहित पूर्वक्षण में, अर्थात् सुषुप्ति जब आती है उसके ठीक पहले क्षण में, बुद्धि की वृत्ति में सुखरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ब्रह्मानन्दरूप सुख जिसमें प्रतिबिम्बित है वह वृत्ति सुख के प्रतिबिम्ब के कारण सुखरूप भासती है। उस समय प्रतिबिम्बरूप सुख वाली हुई बुद्धि सुख के उस प्रतिबिम्ब के साथ ही लीन होती है। बुद्धि लीन हुई तो उसमें पड़ा प्रतिबिम्ब भी अज्ञानरूप आनन्दमय के अन्दर लीन हुआ। इस तरह जो जगकर याद करता है वही सुषुप्ति में सोता है, उपाधि वही है, केवल घन और विलीन अवस्थाओं का अन्तर है।

इसलिये आनन्दमय कोश के बारे में दो प्रकार के विचार हैं। एक मानना है कि 'आनन्दमय' शब्द में 'मयट्'-प्रत्यय विकारार्थक है अतः आनन्दका विकार आनन्दमय है। इसलिये आनन्दमय ब्रह्म नहीं है, जो आनन्दमय का अधिष्ठान कहा गया है, 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा', वह अधिष्ठान तत्त्व ही ब्रह्म है। प्रधान अर्थ यही है। दूसरा अर्थ है कि आनन्दमय उपास्य ब्रह्म है। इस पक्ष में मयट् को विकारार्थक न लेकर प्राचुर्यार्थक लेते हैं अर्थात् आनन्द से भरा हुआ। प्रारम्भ में कहा था कि आनन्द से ही जगत् की उत्पत्ति होती है, आनन्द में ही स्थित और लीन होता है। उपाधि के सहारे सृष्टि आदि करने वाले के स्वरूपभूत निर्विशेष आनन्द को बतलाने के लिये, 'यो वै भूमा तत् सुखम्' बतलाया। आनन्द से सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई है इसलिये माया उपाधि वाला ब्रह्म समझा जाता है। अंतःकरण की लीनावस्था हुई अज्ञान, अतः उस अज्ञान से विशिष्ट ब्रह्म की बात यहाँ संगत है।।। ६४।।

सुषुप्ति में सुख का अनुभव उपपन्न करते हैं—

अन्तर्मुखो य आनन्दमयो ब्रह्मसुखं तदा ।

भुङ्क्ते चिद्विम्बयुक्ताभिरज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः ।। ६५ ।।

अन्तर्मुख वृत्ति के संस्कार वाला आनन्दमय सुषुप्ति में चेतन के आभास वाली अज्ञान से उत्पन्न वृत्तियों द्वारा ब्रह्म के स्वरूपभूत सुख का भोग करता है।

सोने से ठीक पूर्व बुद्धिवृत्ति सारे बाह्य व्यवहार छोड़कर अन्तर्मुख होती है और उसमें आनन्दरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है अतः वह वृत्ति सुखाकार होती है। वह अज्ञान में लीन होती है तो सुख का ही संस्कार लिये हुए लीन होती है। आनन्दमय उसी सुख-संस्कार वाले अज्ञान से उपहित होता है। वहाँ आनन्द तो स्वरूप है जिसे अविद्यावृत्ति से ग्रहण करता हुआ आनन्दमयरूप विलीन विज्ञानमय है। इसलिये जीव तब ब्रह्मसुख का भोग करता समझा जाता है। यद्यपि विज्ञानमय की उपाधि घनीभूतरूप में नहीं इसलिये जीव की सत्सम्पत्ति है तथापि विज्ञानमय विलीन ही सही परन्तु उपस्थित तो है ही इसलिये सुषुप्ति है अवस्था जीव की है।

किससे भोग करता है जो बुद्धि अज्ञानावस्था में है उस अज्ञान से उत्पन्न वृत्तियों से आनंदभोग होता है। वृत्तियाँ या तो प्रतिक्षण नई बनती हैं यह मानकर बहुवचन है। अथवा, आनंद एकरूप ही है तो बार-बार वृत्तियाँ बनाने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिये यह मानें तो बहुवचन इसलिये है कि अज्ञान की तीन वृत्तियाँ मानी गई हैं—एक साक्षी के आकार की वृत्ति, एक सुख के आकार की वृत्ति और एक अज्ञान के आकार की वृत्ति। इन तीन को विवरणकार आदि आचार्यों ने स्वीकार किया है। इसलिये अज्ञान से उत्पन्न वृत्तियाँ—यह बहुवचन है। ये वृत्तियाँ कैसी हैं? 'चिद्विम्बयुक्ताभिः' उनमें चेतनरूप परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ ही रहा है, इसीलिये अज्ञान की वृत्तियों से सुख का भोग हो रहा है। अज्ञान की वृत्ति में सुख का प्रतिबिम्ब होने से उसका भोग हो रहा है ॥ ६५ ॥

शंका होती है कि यदि अज्ञान की वृत्तियों के अंदर चिदाभास का प्रतिबिम्ब पड़कर आनंद होता है तो ज्ञान स्पष्ट ही होना चाहिये। जबकि वहाँ 'मैं सुख भोग रहा हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता। यह क्यों? इसका समाधान करते हैं—

अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः ।

इति वेदान्तसिद्धान्तपारगा प्रवदन्ति हि ॥ ६६ ॥

अज्ञान की वृत्तियाँ सूक्ष्म होती हैं जब कि बुद्धि की वृत्तियाँ खास स्पष्ट होती हैं। ऐसा वेदान्तसिद्धान्त के पारंगत आचार्य साफ़-साफ़ कहते हैं। इसलिये (सौषुप्तानुभूति में स्पष्टता नहीं है)।

अज्ञान की वृत्तियाँ सूक्ष्म होती हैं इसलिये उनसे स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। जिस साधन से हम ब्रह्म के आनंद को ले रहे हैं, वे साधन सुषुप्ति में सूक्ष्म हैं। जिससे स्पष्टता होती है उस बुद्धि की तब विलीनावस्था है इसलिये वहाँ स्पष्टता नहीं है। जाग्रत् के अन्दर बुद्धि आ जाने पर बुद्धिवृत्तियाँ स्पष्ट हो जाती हैं अर्थात् उनसे अनुभव स्पष्ट होता है। ठीक जिस प्रकार से सूक्ष्म महाभूत इंद्रियों का विषय होकर स्पष्ट नहीं होते, स्थूल महाभूत इंद्रियों के द्वारा स्पष्ट गृहीत होते हैं, इसी प्रकार से अज्ञान कारण होने से सूक्ष्म है, बुद्धि उसकी अपेक्षा स्थूल है, इसलिये अज्ञान की वृत्तियों से भान स्पष्ट नहीं होता। शंका हो सकती है कि रस्सी में सर्प तो स्पष्ट भान होता है, वह भी अविद्यावृत्ति से है? इस प्रसंग में यह समझना चाहिये कि सर्प और उसका अनुभव तो अविद्यावृत्ति से है, पर उस समय बुद्धि जग रही है। यदि बुद्धि जगती न हो तो 'यह' का ज्ञान न होवे। बुद्धि जग रही है इसलिये अज्ञानवृत्ति से भी स्पष्ट-जैसी अनुभूति हो जाती है। सुषुप्ति में बुद्धि जग नहीं रही है, इसलिये अज्ञानवृत्ति से आनंदानुभूति अस्पष्ट ही रहती है। 'विस्पष्टा' से यह कहना चाहते हैं कि जाग्रत् के भ्रमों में भी जैसे बाधदशा में रस्सी हमें विशेषकर स्पष्ट होती है, ऐसे भ्रमदशा में सर्प विशेषकर स्पष्ट नहीं होता। इसका अशय यह है कि अगर अन्य साधनों से भी उसका ग्रहण करते हैं तब ज्ञान में सफाई आती है। जैसे आम, सेब को देखते हैं तो आम का ग्रहण तो हुआ लेकिन स्पष्ट नहीं होता कि पका आम है या नहीं। हाथ में लेने से, सूँघने से साफ़ होता है।

[प्र. ११ श्लो. ६७]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२३३

‘विस्पष्ट’ का मतलब है कि जैसे आम के बारे में कई पहलुओं का ज्ञान किया जा सकता है ऐसे रस्सी में दीखते साँप को कई तरह से नहीं परख सकते। पास में जाकर छूओगे तो सचाई का पता चल जायेगा! इसलिये, आवाज करके चेष्टा करते हैं कि वह हिले, नहीं हिलने पर उसके साँप होने में सन्देह होता है। इसलिये विशेष स्पष्टता बुद्धिवृत्तियों में रहती है। अज्ञान की वृत्तियों में वैसी विस्पष्टता नहीं हो पाती। जाग्रत् में थोड़ी स्पष्टता का आभास होता है किन्तु वह भी इसलिये कि वहाँ बुद्धि जग रही है। वेदान्त का सिद्धान्त जिन्होंने भली प्रकार से जान लिया, ऐसे प्रकाशात्मश्रीचरण आदि आचार्यों ने इसको स्पष्ट कर प्रतिपादित किया है कि सुषुप्ति में आनन्दानुभूति ऐसे ही होती है जैसे यहाँ सरलकर समझायी। ब्रह्मसूत्र के चतुःसूत्रीभाष्य की टीका के विवरण के बहाने सारे वेदान्त सिद्धान्त का प्रतिपादक होने से प्रकाशात्ममुनि को इस सिद्धान्त में पारंगत कहना उचित है। उन्हीं के विवरण के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने समूचे भाष्य की विविध व्याख्यायें की एवं अनेक प्रकरण रचे ॥ ६६ ॥

आचार्यवचन ही नहीं, शास्त्र से भी यही समर्थित है यह सूचित करते हैं—

माण्डूक्यतापनीयादिश्रुतिष्वेतदतिस्फुटम् ।

आनन्दमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानन्दे च भोग्यता ॥ ६७ ॥

माण्डूक्य, नृसिंहोत्तरतापनीय आदि श्रुतिप्रसङ्गों में यह अत्यन्त स्पष्ट है कि सुषुप्तिमें आनन्दमय भोक्ता है एवं ब्रह्मानन्द भोग्य है।

इस बात को अथर्ववेद की माण्डूक्य उपनिषद्, नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषद् आदि विस्तार से कहती हैं। बृहदारण्यक में भी इसकी बात आती है। आनन्दमय में भोक्तापना है, ब्रह्मानन्द वह है जिसका आनन्दमय भोग करता है। आनन्दमय हो गया बुद्धि की विलीनावस्था वाला, उस उपाधि से वह जानता है और ब्रह्मस्वरूप आनन्द को जानता है। सुषुप्ति में जो ज्ञान होता है उसमें परिच्छिन्नता का बोध नहीं है। परिच्छिन्नता नहीं है—यह नहीं कह रहे हैं किन्तु भोक्ता में परिच्छिन्नता का बोध होने के लिये अहंकारात्मिका बुद्धिवृत्ति अपेक्षित होती है। बिना इसके किसी परिच्छिन्नता का ज्ञान नहीं होता। ‘मैं’ होने पर ही जानने वाले में परिच्छिन्नता का बोध आता है। ऐसी बुद्धिवृत्ति सुषुप्ति में है नहीं इसलिये अपरिच्छिन्न आनन्द ही वहाँ भोग्य है फिर भी वह परमपुरुषार्थ नहीं है ॥ ६७ ॥

पूर्वोक्त माण्डूक्यवचन (५; नृ.४.१) का अभिप्राय व्यक्त करते हैं—

एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनतां गतः ।

आनन्दमय आनन्दभुक् चेतोमयवृत्तिभिः ॥ ६८ ॥

प्रज्ञानघनरूपता को प्राप्त आनन्दमय सुषुप्तिमें स्थित एकीभूत हुआ चेतनाभासयुक्त वृत्तियों से आनन्द भोगने वाला बनता है।

श्रुति ने कहा है ‘सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः’ यह माण्डूक्योपनिषद् (एवं तापनीय) में कहा है। ‘सुषुप्तस्थान’ में स्थान अर्थात् अवस्था।

सामान्य भाषा में कह सकते हैं 'सुषुप्ति काल में।' वस्तुतः जाग्रत् का तो काल कह सकते हैं, क्योंकि तब काल के परिच्छेद का भान है। स्वप्न काल में भी परिच्छेद का भान है। ऐसे सुषुप्ति का काल नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ न देश के, न काल के परिच्छेद का भान है।

इसलिये श्रुति ने सुषुप्तस्थान कहा, यहाँ उसी को कह दिया 'सुषुप्तस्थः'। सुषुप्ति के अन्दर जो रहता है वह सुषुप्तस्थ हुआ। वही आनन्दमय है, आनन्दप्रचुर है आनन्द से भरा है। वहाँ दुःख का अनुभव नहीं है। 'आनन्दभुक्' अर्थात् स्वरूपभूत आनन्द का भोग भी कर रहा है। उसे आनन्द का भान है। जैसे रसगुल्ले के भोग का मतलब है रसगुल्ले के स्वाद आदि का भान होना उसी प्रकार सुषुप्ति में आनन्द का भान हो रहा है। किससे भान होता है? अज्ञान की वृत्तियाँ हैं जो प्रतिबिम्बित चेतन से भरी हैं, उनके द्वारा ही वहाँ भोग हो रहा है। जैसे बुद्धिवृत्ति में जब चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है तभी उस विषय का भोग होता है उसी प्रकार अज्ञान की वृत्ति में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है इसलिये सुख का, ब्रह्मानन्द का भान हो रहा है। किससे हो रहा है? जो सुषुप्तस्थ है, सुषुप्ति में स्थित है वही एकीभूत है। अज्ञान की वृत्तियाँ बनाते हुए भी वह आनन्दस्वरूप से एक हुआ है। एकीभूत-शब्द को स्वयं अगले श्लोक में समझाएंगे। जो स्थूलरूपता, बुद्धिवृत्ति और मनोवृत्ति बनने से जाग्रदादि में हुई थी वह सुषुप्ति में नहीं है, एकमात्र आनन्दमय ही है। प्रज्ञानघनता को प्राप्त हो चुका है। इस शब्द का श्लोक ७० में अर्थ बतायेंगे ही। प्रज्ञान हो गयी बुद्धि की वृत्तियाँ, वे वृत्तियाँ सुषुप्ति में अलग-अलग नहीं हैं, मानो सम्पिण्डित हो गई हैं। यह श्रुति ने कहा है ॥ ६८ ॥

'एकीभूत' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हैं—

विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराऽधुना।

स लयेनैकतां प्राप्तो बहुतण्डुलपिष्टवत् ॥ ६९ ॥

जो पहले विज्ञानमय आदि रूपों वाला था वह अब विज्ञानादि उपाधियाँ लीन होने से एक रूप वाला रह गया है जैसे बहुतेरे चावलों का पिसा लोंदा।

इडली बनाने के लिये चावलों को भिगो कर पीसते हैं। भात में तो चावल अलग-अलग दिखाई देते हैं परंतु इडली में ऐसे दिखाई नहीं देते, सब चावल एक हो जाते हैं। जैसे बहुत चावलों को पीस दो, उसी तरह जो जीवात्मा सुषुप्ति में जाने के पहले विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, इन्द्रिय-शरीर-आदिमय अर्थात् इन सब उपाधियों से युक्त था, उसके ये सब रूप अलग-अलग मौजूद थे, वही अब सुषुप्ति में केवल एकरूप रह जाता है मानो सारे रूपों को पीसकर एक पिंड बना दिया हो! बृहदारण्यक श्रुति ने कहा है 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमय-श्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयः' जो आत्मा ब्रह्मस्वरूप है वही बुद्धि की उपाधि से विज्ञानमय, मन की उपाधि से मनोमय, प्राण की उपाधि से प्राणमय, इंद्रियों की उपाधि से आँख-कान-मय शरीर की उपाधि-से पृथ्वी-जल-वायु-आकाश-तेजोमय

जब अन्धकार देखता है तब अतेजोमय आदि है। अतेज—शब्द से अज्ञान भी समझ सकते हैं। हर चीज़ में कुछ कोटियों तक कार्य-कारणभाव समझ आने के बाद फिर हर जीव अज्ञानमय ही रह जाता है। हर चीज़ में एक हृद के बाद कहना पड़ता है, 'मैं कुछ नहीं जानता।' जब अतेजोमय है तब काममय है। यह नियम है कि जब अज्ञान होता है तभी कामना होती है। जब कामना में रुकावट आती है तब क्रोधमय हो जाता है।

क्रोध से इच्छा की अपूर्ति का पता लगता है। भगवान् ने गीता में कहा है 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' साधकों में पदार्थों के प्रति वैराग्य प्रतीत होता है। पर जहाँ उनके मन का काम नहीं हुआ, वहीं उन्हें सामान्य संसारी से भी ज़्यादा क्रोध आता है! इस बात को पुराणों में इससे बतलाया गया है कि प्रायः परम तपस्वी क्रोधी हुए। भगवान् के बताये नियम से पता लगता है कि वे तपस्या किसी न किसी कामना की पूर्ति के लिए कर रहे थे। अतः साधक क्रोध की उपेक्षा न करे, उससे निश्चित जाने कि मन कामनाग्रस्त है। जब कामना नहीं है तब जीव अकाममय भी है, जब क्रोध नहीं है तब अक्रोधमय भी है। इस प्रकार जाग्रत् व स्वप्न में अनेक रूपों से युक्त था। उपाधियाँ और उनके विकारों में अभिमानी होने से ऐसे असंख्य उसके रूप थे।

इन सब रूपोंवाला होने में एक चीज़ ज़रूर रहती है, 'मैं' अर्थात् अहंकार, अभिमान। बाकी सब बदलते हैं पर 'मैं' हमेशा रहता ही है। इसीलिये कहा कि विज्ञानमय 'मुख्य' है अर्थात् वह इन सबका मुखरूप है। वह होगा तभी उसके साथ दूसरे रूप होंगे। जब सुषुप्ति आ गई, तब विज्ञानमय की जितनी उपाधियाँ थीं सब लय हो गयीं, एक-भाव को, एकाकार को प्राप्त हो गयीं। कैसे? दृष्टान्त दिया कि बहुत से चावलों को पीसने पर जैसे एक आटा रह जाता है।।। ६६।।

एकीभूत बता चुके। अब प्रज्ञानघन-शब्दार्थ व्यक्त करते हैं—

प्रज्ञानानि पुरा बुद्धिवृत्तयोऽथ घनोऽभवन् ।

घनत्वं हिमबिन्दूनाम् उदग्देशे यथा तथा ।।७०।।

पहले अर्थात् जाग्रदादि में प्रज्ञान अर्थात् जो बुद्धिवृत्तियाँ थीं वे अब, सुषुप्ति में एक 'घन', चेतनरूप मूर्ति ही रह जाती हैं जैसे उत्तर देश में हिम की बूँदें धरती पर पड़कर घनीभूत हो जाती हैं।

दृष्टान्त दिया 'उदग्देशे'; इसके दो अर्थ हो सकते हैं। उत्तर को भी उदक् कहते हैं और पानी को भी उदग् कहते हैं। अगर बर्फ गिरती है पानी में तो पानी में मिलकर एक हो जाती है। यह बर्फ का पानी, वह दूसरा पानी—ऐसा अन्तर तो रह नहीं जाता। अथवा, उत्तर में हिमालयादि में हिमपात होता है, तो लगते हैं अलग टुकड़े हैं या बूँदें पंड़ी हों परन्तु गिरते ही वे जम कर एक बड़ा पिण्ड हो जाता है, हिमबिन्दु ही घन बन जाते हैं। इसी प्रकार से 'पुरा' अर्थात् जाग्रत् के अंदर जो बुद्धिवृत्तियाँ अलग-अलग थीं वे 'अथ' अब एक हो जाती हैं। हमेशा बुद्धिवृत्ति में चेतन का प्रतिबिम्ब रहेगा ही। सुषुप्ति काल में चूँकि घटादि पदार्थ

रह नहीं गये, इसलिये बुद्धिवृत्तियाँ 'घन' मानों सम्पिण्डित हो जाती हैं। कोई चीज़ विषय होने वाली वहाँ रहती नहीं। इसलिये एकमात्र आनंद के प्रतिबिम्ब वाला आनन्दमय हो जाता है। वहाँ केवल ब्रह्मानंद ही है जिसे विषय किया जा सकता है। विषयभेद न होने से वहाँ वृत्तियाँ अलग-अलग प्रतीत हो नहीं सकतीं। जितना भी सुषुप्ति का अवस्थान था, उस सब में केवल सुख का ही भान रहता है, और कोई भान नहीं रहता। वहाँ अगर अज्ञान की वृत्तियाँ थीं भी तो उनका अलग-अलग भान नहीं था इसलिये कहा प्रज्ञानघनता को वृत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।। ७०।।

प्रज्ञानघन वस्तु के बारे में और समझाते हैं—

तद्धनत्वं साक्षिभावं दुःखाभावं प्रचक्षते।

लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्तिविलोपनात् ।। ७१।।

प्रज्ञान की घनरूपता जो साक्षिता है उसे सामान्य लोग और तर्कशास्त्री दुःख का अभाव कहते हैं क्योंकि सारे दुःख विलुप्त हो चुकते हैं।

यह जो प्रज्ञानघनता की प्राप्ति हो जाना है, एक ही बन जाना है, यही साक्षिभाव है। प्रज्ञानघनता ही साक्षिभाव है। अलग-अलग विषयों की प्रतीति नहीं, सारे ही विषयों की एकमात्र ज्ञानरूप से प्रतीति ही साक्षिभाव है। घटपटादिविषयक सारे ज्ञान साक्षी के लिये एक जैसे ही विषय हैं। इस बात को न समझने के कारण साधारण आदमी समझता है कि साक्षी सर्वज्ञ है तो उसे चीज़ों का अलग-अलग पता होना चाहिये किन्तु चीज़ों का अलग नहीं, ज्ञानरूप से सबका पता रहता है। जो चीज़ ज्ञातरूप से सामने नहीं आयी उसका अज्ञानरूप से पता रहता है। यही साक्षिभाव है, प्रज्ञानघनता है। क्योंकि सुषुप्ति के समय दुःख नहीं है इसलिये लोगों को भ्रम होता है कि साक्षी भी कुछ है नहीं। कहते तो हैं कि दुःख का भान नहीं है। उसका ही स्मरण भी मानते हैं। फिर भी जिसे दुःख का भान नहीं अर्थात् अज्ञातरूप से दुःख जिसे भास रहा है उसे नकारते हैं। यही सामान्य लोगों की नासमझी है। लौकिक पुरुष कहते हैं कि सुषुप्ति में दुःख नहीं है, बस। 'साक्षी है' ऐसा नहीं कह पाते। तार्किक लोग वहाँ दुःखाभाव ही है, सुख नहीं है, इस प्रकार सुख का भी अभाव प्रतिपादित करते हैं। वेदान्ती कहता है कि जहाँ द्वैत होता है, वहीं दुःख होता है। अद्वैत हमेशा सुखरूप ही है। तार्किक दुःख और सुख दोनों को द्वैत से ही समझता है क्योंकि वह आत्मा की आनंदरूपता और ज्ञानरूपता को नहीं जानता। वह कहता है आत्मनःसंयोग से ज्ञान, सुख आदि होते हैं। इसलिये तार्किक द्वैत से ही सुख-दुःख मानता है। क्योंकि वेदान्ती के अनुसार द्वैत से दुःख ही होगा इसलिये वेदान्ती कहेगा कि दुःख के कुछ रूपों को तार्किक सुख की संज्ञा दे देते हैं!

रसगुल्ला मिलने के पहले भी सुख नहीं है और रसगुल्ला छिन जाये तो भी सुख नहीं है। यह सब स्वीकारते हैं। वेदान्ती इससे समझ लेता है कि बीच में वह दुःखरूप ही है क्योंकि आदि और अन्त में जो दुःखरूप है वह मध्य में भी दुःखरूप ही है। बच्चा पैदा नहीं हुआ तो दुःख रहा। दो साल बाद पैदा हुआ तो सुख हुआ। फिर दो साल बाद मर गया

तो दुःख हुआ। अतः मध्य काल भी दुःख का ही है यह वेदान्ती की सोच है। द्वैत से होने वाला सुख भी दुःख की ही जाति का विशेष है। इसलिये भगवान् ने गीता में इस बात को स्पष्ट कहा कि सारा संसार 'दुःखालय', 'असुख' है। इस संसार में रह कर किसी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। वैकुण्ठ तक चले जाओ तो भी सुख है नहीं। जहाँ तक द्वैत की प्रतीति है, लोक है, वहाँ तक सब दुःखरूप ही है। द्वैत की निवृत्ति में ही आनन्दरूपता है। परन्तु तार्किक सिद्ध करता है कि अद्वैत में सुख नहीं है क्योंकि जब द्वैतरूप आत्ममनःसंयोग आवे तभी सुख हो सकता है। 'प्रचक्षते' बड़े ऊहापोह से सिद्ध ऐसा करता है कि वहाँ केवल दुःखाभाव है। सारी दुःख-वृत्तियों का वहाँ विलोप हो जाता है इसलिये दुःखाभाव ही है, कोई सुख नहीं है। यदि प्रश्न करो कि जैसे दुःख वहाँ विलुप्त है इसलिये 'सुख था' यह भ्रम होता है वैसे सुख भी तो विलुप्त है तो 'वहाँ बड़ा दुःख था' ऐसा भ्रम क्यों नहीं होता? तो कोई सन्तोष-जनक उत्तर उनके पास नहीं। तार्किक वहाँ दुःखाभाव ही मानते हैं, आनन्द का भोग होता है—इस बात को नहीं मानते। प्रज्ञानघन का प्रसंग था अतः समझाया कि वही साक्षी की स्थिति है। सुषुप्ति साक्षी से ही भास्य है, प्रमाता वहाँ लीन हो चुकता है अतः उसे सुषुप्ति का प्रत्यक्ष नहीं। क्योंकि अनुभूयमान अवस्था है इसलिये साक्षी अपलापयोग्य नहीं यह बताने के लिये तार्किकों की मान्यता का भी निरास कर दिया। घनीभूत अवस्थामें जो साक्षी वही बिखरी अवस्था में प्रमाता भी प्रतीत हो जाता है। क्योंकि प्रमातृत्व औपाधिक है इसलिये साक्षी बना रहते ही प्रमाता भी बन जाता है। इस प्रकार सुषुप्ति-श्रुति के एकीभूत और प्रज्ञानघन शब्दों का अर्थ बताया।। ७१।।

श्रुति में एक शब्द 'चेतोमुखः' भी है। श्लोक ६८ में 'चेतोमयवृत्तिभिः' से इसी का अनुवाद किया था। अज्ञान की वृत्तियों से आनन्द का वहाँ भोग होता है। चेतन को हमेशा भोग के लिये कोई-न-कोई साधन चाहिये। चाहे क्रिया हो या भोग हो अर्थात् कर्तृत्व-भोक्तृत्व रहेंगे किसी-न-किसी उपाधि में। पर उपाधि को कर्ता-भोक्ता बनाने के लिये चेतन का प्रतिबिम्ब अपेक्षित है। जाग्रत् में तो इंद्रियों की वृत्ति से क्रिया और भोग होते हैं। स्वप्न में मन की वृत्तियों से भोग आदि होता है। सुषुप्ति में अज्ञान की वृत्ति से भोग होता है। होता है चेतन से सम्बद्ध होकर ही। क्योंकि जड और चेतन का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं हो सकता इसलिये यह आविधिक सम्बन्ध होता है। अब 'चेतोमुख' शब्द का स्वयं व्याख्यान करते हैं—

अज्ञानबिम्बिता चित् स्यान्मुखमानन्दभोजने ।

भुक्तं ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा बहिर्यात्यथ कर्मणा ।। ७२ ।।

सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का स्वाद लेने के लिये अज्ञानवृत्ति में प्रतिबिम्बित चेतन ही मुख अर्थात् साधन बनता है। फिर कर्म से प्रेरित जीव चखे ब्रह्मानन्द को भी छोड़कर उस अवस्था से बाहर निकल आता है।

जैसे अंधकार में प्रतिबिम्बित चेतन जाग्रत्-स्वप्न का भोग करता है वैसे ही सुषुप्ति में अज्ञान के अंदर जो प्रतिबिम्ब पड़ा है, वही मुख है, द्वार है जिसके द्वारा आनन्दमय भोग

१२३८ पञ्चदशी

करता है, आनंद का भोजन करने में, भोग करने में समर्थ होता है। जाग्रत् व स्वप्न के अंदर सुख और दुःख का भोग है। सुषुप्ति के अंदर ब्रह्मानंद का ही भोग है। ब्रह्मानंद का भोग अज्ञान की सूक्ष्म अवस्था के कारण स्फुट नहीं होता इसलिये सुषुप्ति की कीमत सबको पता नहीं लगती भले ही है वहाँ ब्रह्मानन्द। इसमें एक कारण तो है अज्ञान की सूक्ष्मता (श्लोक ६६), दूसरा कारण है अभ्यास; हमको बुद्धिवृत्ति से भोग करने का इतना अभ्यास है कि जहाँ बुद्धिवृत्ति नहीं होती वहाँ का भोग, भोग ही नहीं लगता। जैसे जिन लोगों को मसाले खाने की आदत होती है वे हर सब्जी का जो अपना स्वाद है उसे पहचान ही नहीं पाते। यदि टींडा उबाल कर दे दो तो कहेंगे कि बेस्वाद है, उसका निजी स्वाद उनकी जीभ पकड़ नहीं पाती क्योंकि उनको हल्के स्वाद को ग्रहण करने का अभ्यास ही नहीं है। पर जिनको बिना मसाले की सब्जी का स्वाद भा जाता है वे उसके स्वाद से प्रसन्न होते हैं। साग का स्वाद मसालों से दबा रहता है, नमक भी जब नहीं खाने का अभ्यास हो जाता है तब साग का स्वाद स्पष्ट होता है। जाग्रत् के भोगों में जिस चीज़ का अभ्यास है वह भोग के लायक लगती है अन्य नहीं। चूँकि जाग्रत्-स्वप्न में हमें बुद्धिवृत्ति के भोग का अभ्यास है, इसलिये अज्ञानवृत्ति का भोग स्वादरहित लगता है।

पहले तो अज्ञानवृत्ति सूक्ष्म और फिर उसका अभ्यास नहीं। योगानन्द प्रकरण में यह बतायेंगे कि कैसे धीरे-धीरे अभ्यास से ब्रह्मानन्द के रस का आस्वाद संभव होता है। ब्रह्मानन्द भोग किया सुषुप्ति में लेकिन छोड़कर बाहर की तरफ अर्थात् अज्ञान से बाहर स्वप्न या जाग्रत् में आता है। किससे? अपने पहले के किये कर्म जीव को उस ब्रह्मानन्द सुख से हटाते हैं। अपनी तरफ से नहीं हटाता है परन्तु कर्मों का वेग उसको हटाता है॥ ७२॥

कर्म से सुषुप्तिभंग को कैवल्योपनिषत् (१.१४) से समर्थित करते हैं—

कर्म जन्मान्तरेऽभूद् यत् तद्योगाद् बुध्यते पुनः।

इति कैवल्यशाखायां कर्मजो बोध ईरितः॥ ७३॥

अन्य जन्मों में जो कर्म सम्पन्न हुए थे उनके सम्बन्धवश फिर जगता है—यों कैवल्यनामक शाखा में जगना कर्मजन्य कहा गया है।

कैवल्यशाखा में यह कहा है 'पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः'। जन्मान्तर के फलोन्मुख कर्म के संयोग अर्थात् संबंध से प्राणी जगता है। अर्थात् केवल इसी जन्म के हेतु होवें तभी जगे ऐसा नहीं है, जन्मान्तर के कर्म भी फल देने के लिये उठाते हैं। उपाधियों के बदलने से भी जीव वही रहता है। अज्ञान उपाधि वाला हो चाहे विज्ञानमय-मनोमय उपाधि वाला हो, उपाधियों के बदलने से भी जीव वही रहता है। जो सोता है वही जगता है। जन्मान्तर में या यहाँ भी जो कर्म किया गया उस कर्म का सम्बन्ध हमेशा ही संस्काररूप से अज्ञान में बैठा रहता है अतः योग से या तो गीताभाष्योक्त (७.२६) रीति से 'युक्तिः, घटनम्' अर्थ समझ सकते हैं कि कर्म यह घटित कर देते हैं कि जीव जग जाता है अथवा कर्म से कर्म का फलकाल समझकर उसका सम्बन्ध योग-शब्द से कहा समझ सकते हैं। हर

[प्र. ११ श्लो. ७४]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२३९

हालत में कर्म का फल भोगने के लिये ही जीव उठता है। कैवल्य शाखा की उपनिषद् के अंदर कहा है कि कर्म के कारण फिर जाग्रत् अवस्था होती है, जीव जाग्रत् में आता है ॥ ७३ ॥

सुषुप्ति में आनन्द के भोग में जाग्रत् का अनुभव भी संवादी दिखाते हैं—

कञ्चित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानन्दस्य वासना।

अनुगच्छेद् यतस्तूष्णीम् आस्ते निर्विषयः सुखी ॥ ७४ ॥

जगे हुए में कुछ समय तक ब्रह्मानन्द का संस्कार अनुवृत्त रहता है क्योंकि (जगत् कुछ काल तक) बिना किसी विषय के व्यक्ति चुपचाप सुखी पड़ा रहता है।

जगने पर झट से उठ बैठे ऐसा प्रायः व्यक्ति नहीं करता, थोड़ी देर तक वैसे ही पड़ा रहता है। वहाँ कोई विषय-सुख तो है नहीं पर सुख की खुमारी है। अल्प काल तक ही यह स्थिति रहती है। जो ब्रह्मानन्द सुषुप्ति में अनुभव किया था उसके सुख का संस्कार ही तब सुख देता है। जिस प्रकार रसगुल्ला गले से नीचे उतर गया, फिर भी थोड़ी देर तक मुँह में उसका संस्कार बना रहता है, मज़ा आता रहता है वैसे नींद के सुख का भी रहता है। जब भोग्य सामग्री न रह जाये, परन्तु उस से हुआ सुख रहे तब उसे संस्कार या वासना कहते हैं। उठने पर अज्ञान की वृत्तियाँ तो नहीं हैं, इसलिये ब्रह्मानन्द नहीं है, पर उसी अज्ञान से बना जो विज्ञानमय और मनोमय, उसके अंदर उस आनंद की वासना है, संस्कार है। इसलिये थोड़े समय तक सुख बना रहता है। इसमें प्रमाण यही है कि तब 'निर्विषयः सुखी' बिना किसी विषय के सुखी रहता है। जाग्रत् काल में प्रायः बिना विषय के सुख का अनुभव नहीं होता। कोई विषय हो तभी सुख होता है। स्वप्न में बाह्य विषय नहीं है परन्तु मिथ्या विषय हैं। सुषुप्ति से उठने के बाद विषय का सुख तो कुछ नहीं है पर व्यक्ति अपने को दुःखी नहीं पाता है इसलिये मज़ा लेने के लिये चुपचाप पड़ा रहना चाहता है। इससे सिद्ध होता है कि तब ब्रह्मानन्द की वासना है। यही वासनानन्द कहलाता है। विषय से सुख होने पर विषयानन्द है। ब्रह्मानन्द ग्रहण हो तो ब्रह्मानन्द है; जहाँ विषय भी नहीं हैं और ब्रह्मानन्द भी ग्रहण नहीं हो रहा है वहाँ उसकी वासनामात्र है इसलिए इसे वासनानन्द कहते हैं ॥ ७४ ॥

इतना महान् आनन्द आता है तो थोड़ी ही देर क्यों उसे लेता है, लगातार क्यों नहीं आस्वादन करता? इसका उत्तर देते हैं—

कर्मभिः प्रेरितः पश्चाद् नानादुःखानि भावयन्।

शनैर्विस्मरति ब्रह्मानन्दमेषोऽखिलो जनः ॥ ७५ ॥

कुछ क्षण बाद फलदानोत्सुक कर्मों से प्रेरित हुए, विविध दुःखों को सोचते हुए, धीरे से ब्रह्मानन्द को ये सभी प्राणी भूल जाते हैं।

जिन कर्मों ने सुषुप्ति से उठाया था वे कर्म फिर बहिर्मुख होने को प्रेरित करते हैं तब उठ बैठता है। विविध दुःख उपस्थित होते हैं—समय का ख्याल आता है, अनेक कार्य याद आते हैं। शारीरिक आवश्यकताओं के दुःख प्रकट होते हैं। दिन-भर की बातों का अनुसंधान होता है। उसके कारण दुःख होता है तो ब्रह्मानन्द की वासना क्षीण होती है। जैसे रसगुल्ले का स्वाद मुँह में बचा है, उसी समय अचार मुँह में लगा लो तो मिठास तुरन्त खत्म हो जाती है, वैसे कर्मों के द्वारा दुःख का अनुभव करने से वासनानन्द खत्म हो जाता है। इस तरह सभी लोग ब्रह्मानन्द को धीरे-धीरे भूल जाते हैं। अतः लंबे समय रसास्वाद संभव नहीं, यह भी कर्मों का ही प्रभाव है।। ७५।।

सुषुप्ति में निर्विषय सुख निर्विवाद है यह निर्णय देते हैं—

प्रागूर्ध्वमपि निद्रायाः पक्षपातो दिने दिने।

ब्रह्मानन्दे नृणां तेन प्राज्ञोऽस्मिन् विवदेत कः।। ७६।।

प्रतिदिन सोने से पूर्व तथा जगने के बाद सभी को नींद के प्रति स्नेह अनुभूयमान है अतः प्राज्ञ सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द में रहता है इसमें कौन विवाद कर सकता है!

निद्रा से पहले, जिन चीज़ों को हम निद्रा लाने में सक्षम समझते हैं जैसे कोमल बिछौना, पंखा चलाना, मच्छरदानी लगाना आदि जिन चीज़ों से निद्रा आयेगी ऐसा मानते हैं, उनका इन्तजाम करते हैं। निद्रा के प्रति पक्षपात है तभी इतनी मेहनत करके यह तैयारी करते हैं। हम जाग्रत् में हैं पर निद्रा के लिये चेष्टा कर रहे हैं! इसी प्रकार 'ऊर्ध्वमपि' जगने पर भी थोड़ी देर उस आनंद में रहते हैं, उसे एकाएक छोड़ने का उत्साह नहीं होता। निद्रा के पहले और बाद में भी रोज़ ही इस निद्रा के प्रति पक्षपात है इसको देख कर, ब्रह्मानन्द का अनुभव सुषुप्ति में होता है, इसमें विवाद कौन करेगा? अर्थात् इस विषय में विवाद करना अनुभवविरुद्ध है।। ७६।।

यदि सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है, तो जो जितना आलसी है क्या वही अधिक ठीक है? इस प्रश्न को उठाते हैं—

ननु तूष्णीं स्थितौ ब्रह्मानन्दश्चेद् भाति लौकिकाः।

अलसाश्चरितार्थाः स्युः शास्त्रेण गुरुणाऽत्र किम् ।। ७७।।

यदि (जगते ही) चुपचाप पड़े रहने में ब्रह्मानन्द भासता हो तो सांसारिक आलसी लोग पुरुषार्थ पा जायें, पुरुषार्थ-प्राप्ति में गुरु व शास्त्र का क्या उपयोग रहेगा!

नींद से उठने पर जब व्यक्ति चुपचाप स्थित है तब ब्रह्मानन्द का भान है तो क्या सोना या जगकर पड़े रहना पुरुषार्थ माना जाये? लौकिक कार्यों को करने के लिये लौकिक लोग प्रवृत्त होते हैं तो उन्हें उठना पड़ता है किन्तु विलम्ब से उठते हैं। शास्त्रीय लोग बढ़िया नींद आने पर भी मानते हैं कि सुबह चार बजे बिछौना छोड़ देना चाहिये। यदि वहाँ ब्रह्मानन्द ले रहे हैं, तो क्यों छोड़ें? लौकिक लोग सांसारिक कार्यों के लिये छोड़ें भी पर शास्त्रीय लोग

[प्र. ११ श्लो. ७८]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२४१

ब्रह्मानन्द और वासनानन्द छोड़कर पूजा, अर्चना, अग्निहोत्र आदि क्यों करें? ब्रह्मानन्द या वासनानन्द में ही क्यों न रहें? शास्त्रीयों से तो लौकिक लोग ठीक हैं क्योंकि देर तक सोते हैं! लौकिकों में भी आलसी ज़्यादा सोयेंगे तो और बेहतर हैं क्योंकि ऐसे लोगों को ब्रह्मानन्द का वासनानन्द हो ही रहा है। जब इतने से ही काम हो जायेगा तो गुरु के पास जाओ, सेवा करो इत्यादि सब क्यों विधान किया गया है? शास्त्र-श्रवण आदि की भी क्या ज़रूरत है जब ब्रह्मानन्द की प्राप्ति सुषुप्ति में हो ही रही है। न शास्त्र से प्रयोजन रहेगा, न गुरु से प्रयोजन रहेगा, श्रवण आदि सब व्यर्थ ही सिद्ध होंगे यदि ब्रह्मानन्द के अनुभव को तूष्णीं स्थितिमात्र से ही प्राप्त मान लेंगे। जब कभी सुषुप्ति की महत्ता बताई जाती है तब लोग प्रायः ऐसी शंका करते हैं ॥ ७७ ॥

आचार्य उक्त शंका का समाधान करते हैं—

बाढं ब्रह्मेति विद्युश्चेत् कृतार्थास्तावतैव ते ।

गुरुशास्त्रे विनात्यन्तं गम्भीरं ब्रह्म वेत्ति कः ॥ ७८ ॥

ठीक है, यदि 'ब्रह्म' ऐसा जानें तो इतने से ही वे कृतकृत्य ही हैं; किन्तु गुरु व शास्त्र के बगैर अत्यन्त गंभीर ब्रह्म को कौन जानता है!

ब्रह्मानन्द बंधन की निवृत्ति का कारण नहीं है, ब्रह्मानन्द का ज्ञान संसार की निवृत्ति का कारण है। यह बात हमेशा याद रखनी चाहिये। ब्रह्म संसार को पुष्ट करने वाला है, संसार की निवृत्ति का कारण नहीं है। भगवान् संसार को उत्पन्न करते हैं, स्थित रखते हैं। इसलिये भगवान् संसार को चलाने वाले हैं, संसार को सर्वथा निरस्त करने वाले नहीं हैं। संसार को खत्म करने वाली चीज़ परमात्मा का ज्ञान है, परमात्मा नहीं। जैसे रस्सी में तुम को साँप आदि दिखाई देते हैं। रस्सी सर्प इत्यादि को तो नहीं हटाती! रस्सी का ज्ञान ही उन सब को हटाता है। अधिष्ठान के ज्ञान से अध्यस्त की निवृत्ति होती है, अधिष्ठान तो अध्यस्त को समर्थित करता है, पुष्ट करता है। 'बाढं' अर्थात् बात जो कहते हो यह ग़लत नहीं है परंतु 'वह ब्रह्म है'—इस बात का यदि ज्ञान होता, तब यह लाभ होता। उतने से ही कृतार्थ हो जाओगे। संसार की निवृत्ति के लिये ज्ञान के अलावा और कुछ नहीं चाहिये; कर्म, उपासना किसी का समावेश मोक्ष के लिये नहीं है। वे साधन ज्ञान की उत्पत्ति के लिये तो सहायक होते हैं पर मोक्ष केवल ज्ञान से ही होता है। इसलिये कहा कि अगर ब्रह्मज्ञान हो तो पर्याप्त है। जो ब्रह्मानन्द सुषुप्ति का है उसको यदि तुम जान लो कि वह ब्रह्म-स्वरूप है तो कृतार्थता है ही। गुरु की सेवापूर्वक शास्त्र का श्रवण करके, संशय हटाकर मनन करके जब तक उसमें स्थिर नहीं हो जाते तब तक ब्रह्म जाना जाता नहीं है। ब्रह्म अत्यंत गम्भीर है। उसे प्राप्त करना, समझना कठिन है क्योंकि वह मन-वाणी से नहीं समझा जा सकता। जो अत्यंत गम्भीर सर्वात्मा, सर्वज्ञ, सर्वान्तर ब्रह्म है उसे स्वयमेव तो कौन जानता है! इसलिये गुरु व शास्त्र के बिना इसका ज्ञान सम्भव ही नहीं है। ॥ ७८ ॥

यहाँ 'ज्ञान' से आपात बोध नहीं दृढ साक्षात्कार अभिप्रेत है यह बताते हैं—

जानाम्यहं त्वदुक्त्याऽद्य कुतो मे न कृतार्थता ।

शृण्वत्र त्वादृशो वृत्तं प्राज्ञमन्यस्य कस्यचित् ॥७६॥

(वादी कहता है) आपके बता देने से मैं अब (सौषुप्त सुख को ब्रह्म) जानता ही हूँ तो मैं कृतार्थ क्यों नहीं हूँ? (सिद्धान्ती कहता है) तुम्हारे इस कथन पर तुम जैसे किसी पण्डितमन्य का वृत्तान्त सुनो ।

वादी कहता है, 'आपने कहा कि सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द है, बस हमने जान लिया । फिर भी मैं कृतार्थ क्यों नहीं हो गया?' सिद्धान्ती ने कहा: सुनो, तुम्हारी तरह की जानकारी कैसी होती है इस में दृष्टान्त देते हैं । तुम्हारी ही तरह कोई था जो कुछ न जानते हुए भी स्वयं को महान् पण्डित समझता था । उसकी उस 'जानकारी' से केवल जगहँसायी मिली, लाभ कोई नहीं हुआ । अगले श्लोक में दृष्टान्त बता रहे हैं ॥७६॥

पूर्वसूचित वृत्तान्त सुनाते हैं—

चतुर्वेदविदे देयमिति शृण्वन्नवोचत ।

वेदाश्चत्वार इत्येवं वेद्मि मे दीयतां धनम् ॥ ८० ॥

'चारों वेदों के जानकार को बहुतेरा धन दिया जायेगा' सुनकर प्राज्ञमन्य बोला, 'वेद चार हैं यह जानता हूँ, मुझे धन दिया जाये' !

किसी ने कहा कि 'चारों वेदों को जो जानता है उसे मैं दस करोड़ रुपए दूँगा ।' यह सुनकर कोई बोला 'मैंने जान लिया कि वेद चार होते हैं इसलिये मुझे ही वह धन दे दीजिये' ! जैसे यह कहने वाला मूर्ख ही है वैसे बात-चीत से सौषुप्त सुख को ब्रह्म जानने वाला भी मूर्ख ही है ॥८०॥

दोनों में समानता समझाते हैं—

संख्यामेवैष जानाति न तु वेदानशेषतः ।

यदि तर्हि त्वमप्येवं नाशेषं ब्रह्म वेत्सि हि ॥८१॥

यदि कही कि दृष्टान्त में आया व्यक्ति वेदों की संख्या ही जानता है, सारे वेद नहीं, तो ऐसे ही तुम (वादी) भी समग्र ब्रह्म नहीं ही जानते हो ।

उक्त प्राज्ञमन्य ने तो केवल वेदों की संख्या जानी कि वेद चार हैं । पूरी तरह से वेदों का जो विषय है वह तो समझा नहीं इसलिये उसको धन नहीं देना ठीक है, तो वादी भी वैसा ही है क्योंकि निश्चित रूप से ब्रह्म को पूरी तरह से नहीं जानता । ब्रह्म जैसा है वैसा नहीं जानता है ॥८१॥

वादी सूक्ष्मेक्षिका करता है—

अखण्डैकरसानन्दे मायातत्कार्यवर्जिते ।

अशेषत्वसशेषत्ववार्ताऽवसर एव कः ॥ ८२ ॥

(वादी पूछता है—) माया एवं उसके प्रभावों से रहित अखंड एकरस आनन्दरूप ब्रह्म के बारे में जानकारी सम्पूर्ण है या अधूरी—इस बात का मौका ही क्या है?

तार्किक कहता है कि ब्रह्म के अन्दर कोई खण्ड तो हैं ही नहीं तो 'सारे' ब्रह्म की बात कहाँ होगी? ब्रह्म एक ही है तथा अखण्ड और एकरस के अंदर स्वगतादि भेद नहीं हैं तो उसकी जानकारी अधूरी कैसे होगी? आनंदरूप जो ब्रह्म वह टुकड़ों वाला होता तो आधा-अधूरा जाना जा सकता था। भेदादि सब माया की रचना है। ब्रह्म माया और माया के कार्यों से रहित है। उसके बारे में यह कैसे कहा कि 'सारा नहीं जाना'? सारा और बाकी उसी के बारे में कह सकते हो जिसमें खण्ड हों। अखण्ड के बारे में यह चर्चा नहीं बनती—यह वादी अपनी सूक्ष्मबुद्धि प्रदर्शित कर रहा है ॥ ८२ ॥

ब्रह्मज्ञान में भी पूर्णता, अधूरापन आदि होते हैं यह समझाते हैं—

शब्दानेव पठस्याहो तेषामर्थं च पश्यसि ।

शब्दपाठेऽर्थबोधस्ते सम्पाद्यत्वेन शिष्यते ॥ ८३ ॥

(सिद्धान्ती कहता है—) शब्द ही पढ़ते हो या उनका अर्थ भी साफ़-साफ़ समझते हो? यदि शब्द ही पढ़ते हो तो उनका अर्थ जानना तुम्हारे लिये बाकी है।

ब्रह्म में शेष-अशेषता की बात नहीं है। तुमने अखण्ड, एकरस, आनन्द—आदि सब शब्दों को बाँच लिया है। क्या अखण्ड, एकरस शब्दों का कुछ अर्थ भी समझते हो? जैसे उसने केवल संख्या जानी थी, ऐसे ही तुमने ब्रह्म के बारे में कुछ शब्दों को सीख लिया है। बहुत-सी चीज़ों के लिये शब्द तो हम लोग जान लेते हैं पर जब तक उन्हें देखें नहीं तब तक अर्थबोध होता नहीं है। अनेक दवाइयों के नाम किताबों में लिखे हैं परन्तु वे क्या चीज़ें हैं—यह किसी को पता नहीं है! ऐसे ही वादी शब्द को तो जानता है लेकिन उसका अर्थ नहीं जानता। एकरस, अखण्ड, ब्रह्म—इन शब्दों को सीख लिया पर इनका अर्थज्ञान कुछ हो नहीं रहा। इसलिये उनके अर्थ का ज्ञान सम्पन्न करना तुम्हारे लिये अवशिष्ट है ॥ ८३ ॥

ज्ञानमात्र के बाद भी कार्य अवशिष्ट रहता है यह स्पष्ट करते हैं—

अर्थं व्याकरणाद् बुद्धे साक्षात्कारोऽवशिष्यते ।

स्यात् कृतार्थत्वधीर्यावत् तावद् गुरुमुपास्व भोः ॥ ८४ ॥

व्याकरण से अर्थ समझ लेने पर भी उसका साक्षात्कार (अपरोक्ष) बाकी रहता है। जब तक 'और कुछ कार्य नहीं रहा' ऐसा निश्चय न हो तब तक गुरु-उपासना करते रहो।

वादी कह सकता है कि खण्ड मायने टुकड़ा, जिसमें किसी भी टुकड़े का अभाव है वह

अखण्ड हो गया। यह तो सामान्य व्याकरणनियम से ही स्पष्ट है, इसमें जानना क्या? इसी प्रकार जो एक हो और रसरूप होवे वह एकरस है। व्याकरण आदि से ही जान लिया जाता है कि शब्द का अर्थ क्या। इस पर सिद्धान्ती ने कहा कि कुछ नहीं जाना! 'उसमें खण्ड नहीं' यह तो व्याकरण ने बताया लेकिन 'उसमें' अर्थात् किसमें? जिसमें खण्ड नहीं वह क्या है? व्याकरण से अर्थ को जान लेने पर भी उस चीज का साक्षात्कार अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान होना बाकी ही रह गया! जब साक्षात्कार होता है तभी कृतार्थता होती है। जैसे नारद ने कहा था 'तरति शोकम् आत्मवित्'। जब तुमको ब्रह्म का साक्षात्कार होगा तब कृतार्थता निश्चित हो जायेगी। यह कृतार्थता तब होगी जब साक्षात्कार होगा। 'मुझे कुछ नहीं चाहिये, नित्य-आनन्द का अनुभव है' जब तक ऐसा स्थायी अनुभव न हो जाये तब तक तुम गुरु-शुश्रूषा करो, गुरु का उपदेश सुनो। जब बार-बार श्रवण करोगे तभी सब संशय हटेंगे, निरन्तर चिन्तन तुम से सम्भव होगा। तभी अपरोक्ष दृढ होगा। जब तक कृतार्थता-बुद्धि नहीं होती है, तब तक ज्ञान नहीं हुआ क्योंकि यही ज्ञान की पहचान है। स्थिर निदिध्यासन पर्यन्त श्रवण-मनन की आवृत्ति कर्तव्य है ॥८४॥

सम्बन्ध, जाति, गुण, क्रिया से रहित वस्तु का शब्द से तभी सम्बन्ध समझा जा सकता है जब वह प्रत्यक्ष हो जैसे देवदत्त आदि नाम और व्यक्ति का सम्बन्ध पता चलता है। ब्रह्म भी जब साक्षात् अपरोक्ष हो तभी अखण्ड आदि शब्दों का वह अर्थ है यह समझ आयेगा और वैसा अपरोक्ष कृतार्थता प्रदान करेगा ही। प्राप्तव्य, भोक्तव्य और कर्तव्य कुछ शेष न रहे क्योंकि आत्मेतर सभी मिथ्या प्रतीत हो, एकमात्र सत्य जो आत्मा वह प्राप्त के ही रूप में भासे, तब कृतार्थता कही जाती है। रति, तृप्ति, सन्तोष—सब आत्मा में ही होते हैं। सर्वथा निष्कामता से सब कर्मों से निवृत्ति हो जाती है। इस लाभपर्यन्त गुरुसेवा करते हुए श्रवणादि का आवर्तन ही साधन है। यह बात प्रसंगवश श्लोक ७७-८४ तक बतायी। वासनानन्द से सुषुप्तिगत ब्रह्मानन्द का समर्थन समझाया जा रहा था। उसी चर्चा का उपसंहार करते हैं—

आस्तामेतद् यत्र यत्र सुखं स्याद् विषयैर्विना।

तत्र सर्वत्र विद्धयेतां ब्रह्मानन्दस्य वासनाम् ॥ ८५ ॥

इस बारे में और चर्चा रोकी जाती है। जहाँ-जहाँ बिना विषयों के सुख हो वहाँ सभी जगह ब्रह्मानन्द की इस वासना को समझो।

बीच में विषय-परिवर्तन हो गया था। वासनानन्द ही पर्याप्त है या सुषुप्ति का आनन्द ही पर्याप्त है, उसके अलावा किसी आनन्द के लिये साधना व्यर्थ है ऐसी शंका उठी तो समाधान करने लगे थे।

बात तो यह कह रहे थे कि ब्रह्म आनंदरूप है इसे सुषुप्ति के अनुभव से समर्थन मिलता है। वहाँ बिना किसी विषय के असीम सुख है जो आत्मा का ही होना संभव है। 'विषय' का यहाँ मतलब है पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि पदार्थों से जो चीजें निर्मित होती हैं। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श इनमें से तो कोई विषय वहाँ है नहीं जो सुख दे रहा हो। 'यत्र' अर्थात् जब, 'यत्र' अर्थात् जहाँ, तात्पर्य है कि सभी देशों-कालों में विषय है नहीं और

[प्र. ११ श्लो. ८६]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२४५

सुख का अनुभव हो रहा हो तो पूर्वोक्त न्याय ही लागू होता है। खाली सोकर उठते हैं तभी नहीं, ऐसी सभी परिस्थितियों के अन्दर जो सुख हो रहा है, उसको ब्रह्मानन्द की वासना जानो। प्रायः ऐसे समय जब सुख होता है तब उसकी तरफ ध्यान नहीं देते, उल्टा सोचते हैं कि कुछ करें। उस सुख की महत्ता को नहीं समझते। तूष्णींभाव में सुख से स्थित होने पर, हमेशा उसको समझो कि यहाँ विषयजन्यता है नहीं फिर भी 'मैं सुखी' यह भावना है। तब आत्मा 'मैं' इस वृत्तिभाव से आच्छादित है। जो ब्रह्मानन्द की वासना होगी उसके अंदर 'मैं' ज़रूर उपस्थित होगा। मैं के सिवाय और किसी चीज़ का भान नहीं, 'मैं सुखी' यही भान रहता है। इसे ब्रह्मानन्द की वासना जानो। जब ब्रह्मानन्द का संस्कार पुष्ट होगा तब वृत्ति ब्रह्मानन्द की तरफ जायेगी। जिस चीज़ का अनुभव हुआ है, उसी की वासना होती है। गहरी नींद में ब्रह्मानन्द का अनुभव हुआ है, वहाँ अहंकार था नहीं, साक्षी अज्ञान की वृत्तियों के द्वारा ब्रह्मानन्द का भोग कर रहा था। उठने पर अहंकार से अवच्छिन्न है। जिस अज्ञान की वृत्तियों से भोग किया था, उसी से बना यह अंतःकरण होने से उसमें उस आनन्द के संस्कार हैं अतः उसकी स्मृति 'मैं'वाले को आती है ॥ ८५ ॥

आगे के विषय के स्पष्टीकरण के लिये श्लोक ५५ की बात याद दिलाते हैं—

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति ।

अन्तर्मुखमनोवृत्तावानन्दः प्रतिबिम्बति ॥ ८६ ॥

विषय मिलने पर भी उनके प्रति इच्छा का उपराम हो तब मनकी अन्तर्मुख वृत्ति में आनन्द की परछाई पड़ती है।

विषय की, रसगुल्ले की इच्छा हुई। वह मिल गया। तब उस के प्रति इच्छा उपरत, पूरी हो गई। मन कामना के कारण बाहर जा रहा था, अब वापिस लौटता है तो अन्दर जो आनंद है वह उसमें प्रतिबिम्बित हो जाता है। वही विषयानन्द कहलाता है ॥ ८६ ॥

आनन्द के भेदों का संग्रह करते हैं—

ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इति त्रयम् ।

अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चन ॥ ८७ ॥

ब्रह्मानन्द, वासनानन्द और प्रतिबिम्बानन्द—इन तीन से अतिरिक्त इस जगत् में कोई आनन्द नहीं है।

ब्रह्मानन्द—जिसका सुषुप्ति में अनुभव होता है। वासनानन्द—जो तूष्णीं स्थिति में अनुभव होता है। प्रतिबिम्बानन्द—जो इष्ट पदार्थ की प्राप्ति से, बुद्धि अंतर्मुखी होने पर होता है। ये तीन ही सुख हैं। इनको छोड़कर सारे जगत् में और कोई आनन्द नहीं है। शंका होती है कि श्लोक ११ में भी तीन आनंद कहे थे, श्लोक ६८ में 'निजानन्द' भी कहेंगे, श्लोक १२१ में एक 'मुख्यानन्द' बतायेंगे, प्रकरण १२ श्लोक ४ में 'आत्मानन्द', प्रकरण १३ में 'योगानन्द' और वहीं श्लोक १०५ में 'अद्वैतानन्द' का वर्णन आयेगा। इस से लगता है कि कुल नौ आनन्द

मान्य हैं। फिर 'तीन से अतिरिक्त नहीं है' कैसे कहा? समाधान है कि अन्यो का प्रतिबिम्बानन्द या ब्रह्मानन्द में अन्तर्भाव हो जाता है अतः तीन ही भेद हैं। विषय न होना ब्रह्मानन्द-वासनानन्द में समान है, प्रमाता न रहने और रहने का अन्तर है। प्रतिबिम्बानन्द अर्थात् आनन्दका प्रतिबिम्ब। वृत्ति में पड़ा प्रतिबिम्ब तीसरा आनन्द है। वृत्ति के निमित्तों के भेद से इसके अन्यान्य भेद हो जाते हैं। इस प्रकार अलग-अलग दृष्टियों से नामों में फर्क होने पर भी यहाँ जो तीन कहे, इनमें सब को इकट्ठा किया जाना संगत है। ८७॥

तीन आनन्दों में भी वस्तुतः आनन्द कहलाने वाला एक ही है यह समझाते हैं—

तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्यमू।

आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः ॥ ८८ ॥

स्वयम्प्रकाश ब्रह्मानन्द ही विषयानन्द और वासनानन्द इन दोनों को पैदा करता रहता है।

प्रधानरूप से ये तीन ही आनन्द हुए—ब्रह्मानन्द, वासनानन्द और विषयानन्द। ब्रह्मानन्द तो स्वप्रकाश है, वह किसी चीज़ पर निर्भर नहीं करता। बाकी आनन्दों को वही उत्पन्न करता है। जिस प्रकार गुड़, शहद, चीनी आदि सभी से चीज़ मीठी होती है परन्तु इन सबका जो मिठास है, वह शर्करा का है। रासायनिक दृष्टि से कोयला, प्राण वायु और जल तत्त्व के निश्चित परमाणुओं का संगठित रूप शर्करा है। मिठास होता उसी का है। बाकी चीज़ों के मिले होने से स्वाद में अंतर हो जाता है। सभी नमकीन चीज़ों में असल स्वाद नमक का ही है। इसी प्रकार सारे आनन्द ब्रह्मानन्द के कारण ही हैं। शर्करा से चीज़ें मीठी होंगी पर शर्करा स्वतः मीठी है, उसके मिठास का कोई दूसरा कारण नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मानन्द का कोई कारण नहीं है। शर्करा का स्वाद 'स्वयंप्रभ' नहीं कहा जा सकता क्योंकि जीभ जब तक उसको न जाने तब तक मिठास का ज्ञान नहीं है! परन्तु ब्रह्मानन्द तब आनन्दस्वरूप होगा जब बुद्धिवृत्ति बने—ऐसा नहीं है। अतः वह स्वप्रकाश है। इसी के प्रकाश से दूसरे आनन्द भी प्रकट होते हैं। जब दूसरा कोई नहीं रहता तब भी यह आनन्द रहता ही है। बाकी दोनों आनन्दों को उत्पन्न करते हुए स्वयं स्थिर रहता है। ऐसा नहीं है कि विषयानन्द या वासनानन्द आया तो ब्रह्मानन्द में कमी हो जाये। वह तो स्थिरभाव से वैसा ही रहता है। जैसे कमरे में १०० वाट का या ५०० वाट का लट्ठू जल रहा है, कमरे में १००० व्यक्ति प्रकाशित होवें तो भी लट्ठू के प्रकाश में कोई बढ़ोतरी या घटोतरी नहीं आती। व्यक्तियों की संख्या में घटोतरी-बढ़ोतरी होने पर भी जैसे दीपक, प्रकाश जैसा है वैसा ही रहता है इसी प्रकार विषय एवं वृत्ति के होने-न होने, कम-ज्यादा होने पर भी ब्रह्मानन्द वैसा ही रहता है। अंतःकरण की वृत्ति उसकी तरफ जाये तो वह प्रकाशित हो जाती है, वृत्ति यदि तूष्णींभाव में चली गई तो वासनानन्द प्रकट होता है। परन्तु ब्रह्मानन्द वैसा ही रहता है। जब ये सब नहीं हैं तब भी ब्रह्मानन्द वैसा ही रहता है। प्रतीयमान सर्वविध आनन्दों को उत्पन्न करते हुए वह एकरस रहता है। तार्किकों की शंका रहती है कि यदि उत्पन्न करता है तो उसमें ज़रूर कुछ परिणति होनी चाहिये क्योंकि जो पैदा करेगा उसमें भी कुछ न कुछ परिवर्तन आयेगा। वेदान्ती का समाधान है कि जो उत्पन्न हो रहे हैं वे मिथ्या हैं, नाम-रूप के द्वारा भासते हैं, मिथ्या

[प्र. ११ श्लो. ८९]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२४७

अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा प्रकाशित होते हैं। जैसे रस्सी में साँप या मरुभूमि में बड़ा तालाब उत्पन्न करने पर भी रस्सी या मरुभूमि में कोई परिवर्तन नहीं है वैसे आनन्द को उत्पन्न करने पर भी ब्रह्मानन्द में परिवर्तन नहीं है। अगर कोई सत्य चीज़ पैदा करे, तब कारण पर प्रभाव आवेगा परन्तु सत्य तो कुछ उत्पन्न करता नहीं! और मिथ्या उत्पत्ति से सत्य के अंदर कोई फर्क नहीं आता। इसलिये मिथ्यारूप से उत्पन्न करने वाला दीखने पर भी यह तो अपने स्वरूप में वैसा का वैसा स्थित रहता है। उत्पाद्य दोनों आनन्द कौन से? विषयानन्द और वासनानन्द। इस प्रकार से ब्रह्मानन्द की सिद्धि प्रत्येक प्राणी के अन्दर उसके अनुभव से करके दिखला दी ॥८८॥

अगले प्रसंग का उपक्रम करते हैं—

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके।

ब्रह्मानन्दे सुप्तिकाले सिद्धे सत्यन्यदा शृणु ॥ ८९ ॥

वेद, युक्ति और अनुभूति से सुषुप्तिकाल में स्वयम्प्रकाश चेतनरूप ब्रह्मानन्द सिद्ध हो जाने पर अन्य समय में (ब्रह्मानन्द के अस्तित्वके बारे में) सुनो।

पहले श्रुति से ब्रह्मानन्द को सिद्ध किया। 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति' यह कैवल्योपनिषत् का वचन है। इसी बात को युक्ति से भी सिद्ध किया कि 'मैं सुख से सोया था' यह स्मृति बन ही नहीं सकती यदि सुख से सो न रहा होऊँ। स्मृति की अन्यथानुपपत्ति-रूप युक्ति के द्वारा भी सुषुप्ति में नित्य ज्ञानरूप आनन्द सिद्ध किया। सुषुप्ति में होते सुखानुभव के द्वारा भी यही निर्धारित हुआ। श्रुति, युक्ति और अनुभव के द्वारा सिद्ध हुआ कि स्वप्रकाश चिन्मात्र ब्रह्मानन्द है। केवल 'स्वप्रकाश' कहते तो जड़ प्रकाश की सम्भावना रहती, इसलिये चिदात्मक भी कहा। अब बताना है कि उस ब्रह्मानन्द का जाग्रत् में कैसे अनुभव किया जाये। इस पर विचार करते हैं। सुषुप्ति में है यह समझने पर अन्यकाल में भी उसके अनुभव की बात उठती है। अन्य काल अर्थात् जागरण अवस्था में भी कैसे अनुभव होवे यह पहले समझना है। जाग्रत् में संस्कार होगा तो स्वप्न में भी अनुभव होने लगेगा, स्वप्न में जानने के लिये हम कोई अन्य प्रयत्न नहीं कर सकते, जाग्रत् के संस्कारों से ही स्वप्न में वैशिष्ट्य आता है। सुषुप्ति में स्वभाव से आनन्द है, जाग्रत् में प्रयास से है और जाग्रत् में संस्कार दृढ़ हो जाने से स्वप्न में भी वैसा ही अनुभव होने लगता है। फिर सब समय इसका अनुभव बना रहता है ॥ ८९ ॥

सुषुप्ति वाले की ही बाकी भी दोनों अवस्थायें हैं यह बतला रहे हैं—

य आनन्दमयः सुप्तौ स विज्ञानमयात्मताम्।

गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ॥ ९० ॥

गहरी नींद में जो आनन्दमय है वह विज्ञानमयरूपता पाकर (उपाधि के रहने के) स्थानों के भेद से स्वप्न या जाग्रत् अवस्थाएँ प्राप्त करता है।

जो सुषुप्ति काल में आनन्दमय है, वह जब प्रबोध में आता है, जाग्रत् में आता है, तब विज्ञानमय और मनोमय हो जाता है। जैसे घी के घनीभाव और तरलभाव होते हैं वैसे अज्ञान और अंतःकरण होते हैं। यदि मनोमय प्रधान है तो स्वप्न होता है और विज्ञानमय प्रधान है तो जाग्रत् में जाता है। आनन्दमय ही जाग्रत् और स्वप्न में मनोमय-विज्ञानमय बन जाता है। कैसे बन जाता है? कहा, 'स्थानभेदतः' आनन्दमय जहाँ जाता है, उस स्थान के भेद से या मनोमय हो जाता है, या विज्ञानमय हो जाता है ॥ ६० ॥

वे स्थान कौन-से हैं—

नेत्रे जागरणं कण्ठे स्वप्नः सुप्तिर्हृदम्बुजे ।

आपादमस्तकं देहं व्याप्य जागर्ति चेतनः ॥ ६१ ॥

नेत्र में रहने पर जागरण, कण्ठ में रहने पर स्वप्न और हृदयकमल में रहने पर सुषुप्ति होती है। (सामान्यतः तो) पैर से सिर तक शरीर में फैलकर चेतन उपस्थित होता है।

सुषुप्तिकाल में जीव हृदयकमल में रहता है। नाभि से एक बित्ते ऊपर मध्य में जहाँ तीव्र सुख या दुःख का अनुभव होता है उसी स्थान को हृदयकमल कहते हैं। वहीं जाने से सुषुप्ति होती है। जब कण्ठ में आ जाता है तब स्वप्न का अनुभव होता है एवं नेत्र में आता है तो जाग्रत् अवस्था हो जाती है। स्थानभेद हो गये—हृदय, कण्ठ और नेत्र। कण्ठ और नेत्र में मनोमय-विज्ञानमय रहेंगे और हृदय में आनन्दमय रहेगा। जाग्रत् अवस्था में तो पैर के तले से लेकर सिर के ऊपर के भाग तक सारे शरीर के अन्दर व्याप्त होकर चेतन जगता ही है। 'नेत्र में' कहने से कोई यह न समझ लेवे कि नेत्र में ही जगता है इसलिये कहा कि सारे शरीर में रहेगा। टीकाकार ने कहा है कि नेत्र की उपलक्षणा ही सारे शरीर में कर लेनी चाहिये। अथवा, एक 'चेतना' नामक वृत्ति है जो सारे शरीर में चेतन को प्रकट रखती है। जाग्रत् में यह प्राकट्य विशद होता है, स्वप्न में घटकर और सुषुप्ति में काफी कम होता है। बेहोशी आदि में प्रायः नहीं-सा रह जाता है। इससे अतिरिक्त विशेषतः आँख को व्याप्तकर प्रकट होने से जाग्रत् और कण्ठ को व्याप्तकर प्रकट होने से स्वप्न होता है, ऐसा भी समझ सकते हैं ॥ ६१ ॥

सारे शरीर में व्याप्त रहता है, इसका आशय क्या? यह समझाते हैं—

देहतादात्म्यमापन्नस्तप्तायः पिण्डवत् ततः ।

अहं मनुष्य इत्येवं निश्चित्यैवावतिष्ठते ॥ ६२ ॥

लोहे के तपे पिण्ड की तरह शरीर से चेतन तादात्म्य पाता है जिससे 'मैं मनुष्य' यों निश्चय किये ही रहता है।

शरीर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है, अर्थात् प्रतीति होती है कि 'यह शरीर मैं हूँ' जिस प्रकार से भ्रम में 'सर्प ही यह है' यों सर्प का और 'यह' का अभेदनिश्चय हो जाता है वैसे देह और अपना होता है। वस्तुतः 'यह' तो रस्सी है, भ्रम से निश्चय यह होता है कि यह सर्प ही है। शरीर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध का मतलब है 'मैं शरीर ही हूँ' ऐसा निश्चय

होना। आग से गर्म किये लोहे के बारे में ऐसी प्रतीति नहीं होती कि 'लोहा तो ठंडा है, उसके बीच में आग के कण गर्म हैं'। वरन् ऐसी प्रतीति होती है कि 'लोहा गर्म ही है।' इसी प्रकार शरीर के अंदर ऐसा नहीं होता कि शरीर-रूप उपाधि के कारण हमको चेतनता की प्रतीति हो रही है, वरन् निश्चय रहता है कि शरीर ही मैं हूँ। कोई मुक्का मारता है तो यही प्रतीति होता है कि मुझे मारा। तादात्म्य के कारण ही 'मैं मनुष्य हूँ' यह निश्चय होता है। इस विषय में किसी प्रकार के संशय विपर्यय नहीं हैं। जितना भी शास्त्र कहें कि चेतन शरीर से भिन्न है, परंतु निश्चय यही रहता है कि मैं शरीर हूँ, मनुष्य हूँ ॥६२॥

देहतादात्म्य के अभिमान से त्रिविध स्थितियाँ बनती हैं यह बताते हैं—

उदासीनः सुखी दुःखीत्यवस्थात्रयमेत्यसौ ।

सुखदुःखे कर्मकार्ये त्वौदासीन्यं स्वभावतः ॥ ६३ ॥

(जिसे उक्त तादात्म्याध्यास है) वह ये तीन अवस्थाएँ पाता है—उदासीन, सुखी और दुःखी। सुख व दुःख कर्म के कार्य हैं, उदासीनता तो स्वभाव से है।

जब शरीर के साथ एक है, तब जीव की तीन अवस्थायें होती हैं। एक, उदासीन जब सुख-दुःख कुछ नहीं है, शांति है। इष्ट पदार्थ की प्राप्ति हो तो सुखी तथा अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति होने पर दुःखी होता है। इन दोनों के अभाव में उदासीन है। 'असौ' शरीर के साथ एक हुआ जो जीव है, शरीर में रहते हुए वह तीन तरह का अनुभव करता है—सुख का, दुःख का, और उदासीनता का। पहले किये हुए जो कर्म हैं, उनसे उत्पन्न होते हैं, सुख और दुःख। पुण्यकर्म सुख, पापकर्म दुःख देता है। सुख-दुःख कर्म से होते हैं। जब कोई कर्म फल नहीं दे रहा, उस समय उदासीनता रहती है जब न सुख है न दुःख है। कर्मफल न होने से उदासीनता स्वभाव से है अर्थात् सुख-दुःख तो कर्मों से होते हैं, उदासीनता के लिये कोई कारण नहीं है ॥ ६३ ॥

सुख-दुःख के और भेद बताते हैं—

बाह्यभोगाद् मनोराज्यात् सुखदुःखे द्विधा मते ।

सुखदुःखान्तरालेषु भवेत् तूष्णीमवस्थितिः ॥ ६४ ॥

सुख एवं दुःख दो तरह के माने गये हैं—बाहरी भोग से तथा मनोराज्य से। सुख-दुःख के बीच में चुप्पी की (उदासीनता की) स्थिति होती है।

सुख-दुःख दो तरह के हैं—एक बाहरी भोग से। बढ़िया दाल का सीरा मिला तो बाह्य भोग से सुख हुआ। सिर फट गया तो दुःख हो गया। ये बाह्य भोग हैं। दूसरा प्रकार है मनोराज्य से सुख दुःख होना। 'ऐसा करूँगा वैसा हो जायेगा'—कल्पनाओं से भी भोग होते हैं। उन्हें मनोराज्य के सुखादि कहते हैं। बाह्य निमित्त से होने वाले को 'भोग' कहा, उसमें हम संसार के पदार्थों के अधीन हैं। पदार्थ मिलेंगे तो प्रारब्ध के अनुसार, उसमें हमारा स्वातंत्र्य नहीं है। हमें सुखादिका भोग करना पड़ता है पर मनोराज्य में मन स्वतंत्र है इसीलिये उसको मनोराज्य कहा 'मनोभोग' नहीं कहा। वहाँ किसी चीज़ का भोग होता नहीं है। स्वतन्त्र

होकर मन जैसा चाहे वैसी कल्पना करता है। फिर भी सुख-दुःख का अनुभव एक-जैसा है। सुख-दुःख के बीच में, अंतराल में तूष्णीं भाव होता है। उदासीन स्थिति को तूष्णीम् अवस्था कहते हैं। विशेषकर जब तीव्र आनंद या दुःख का अनुभव नहीं होता है, कुछ करने की इच्छा भी नहीं रहती है, इसी को तूष्णीमवस्थिति कहते हैं ॥६४॥

उस समय के अनुभव को बतलाते हैं—

न कापि चिन्ता मेऽस्त्यद्य सुखमास इति ब्रुवन् ।

औदासीन्ये निजानन्दभानं वक्त्यखिलो जनः ॥ ६५ ॥

‘आज मुझे कोई चिन्ता नहीं, आराम से हूँ’ ऐसा बोलते हुए उदासीनता में निजानन्द के भान का सभी लोग अनुभव करते हैं।

‘इस समय मुझे कोई चिन्ता नहीं है, सब काम समाप्त है। सुख से बैठा हूँ।’ यह कहते हुए सभी लोग उदासीन अवस्था के अन्दर निजानन्द के भाव को बताते हैं क्योंकि तब किसी चीज़ का सुख तो है नहीं। अतः विक्षेप न रहने पर आत्मा का निज ही आनन्द स्पष्ट होता है, इसमें विवाद संभव नहीं ॥६५॥

यहाँ जिसे निजानन्द कहा वह पूर्वोक्त वासनानन्द का ही रूप है यह स्पष्ट करते हैं—

अहमस्मीत्यहङ्कार-सामान्याच्छादितत्वतः ।

निजानन्दो न मुख्योऽयं किन्त्वसौ तस्य वासना ॥ ६६ ॥

‘मैं हूँ’ यों साधारण अहंकार से आवृत होने के कारण निजानन्द मुख्य अर्थात् ब्रह्मानन्द नहीं वरन् उसकी वासना है।

समझा रहे हैं कि इस निजानन्द को स्वरूपभूत आनन्द का अनावृत रूप क्यों नहीं कह सकते। वहाँ कोई विषय तो नहीं है, इसलिये ब्रह्मानन्द का ही भान है पर ‘मैं’ के द्वारा तो आच्छन्न है। वहाँ ‘मैं कौन! क्या हूँ’ आदि तो प्रकट नहीं है, लेकिन मैं-पने का भान रहता है। इसे ही अहंकार-सामान्य कहा। उदासीन-भाव तभी कहा जायेगा जब केवल मैं का भान है। देहतादात्म्यापन्नता के कारण भी अहंकार से परिच्छिन्नता है। मैं सुखी हूँ—यह तो है लेकिन ‘मैं’ से मतलब शरीर-मन वाले से है। शरीर की विशेषताओं के प्रति उदासीनता है किन्तु शरीर-मनवाला हूँ—यह भान है इसलिये इसको निजानन्द कह रहे हैं, सीधे ही ब्रह्मानन्द नहीं कह रहे। फिर निजानन्द क्या है? यह ब्रह्मानन्द की वासना है। जैसे सुषुप्ति से उठने पर सुषुप्ति के आनन्द का भान नहीं है, जाग्रत के किसी पदार्थ के आनन्द का भी भान नहीं है, फिर भी आनन्द है अतः वह आनन्द की वासना है, वैसे उदासीनता में भी ब्रह्मानन्द की वासना ही है जिसे निजानन्द कहा ॥६६॥

दृष्टान्त से वासनानन्द बताते हैं—

नीरपूरितभाण्डस्य बाह्ये शैत्यं न तज्जलम् ।

किन्तु नीरगुणस्तेन नीरसत्तानुमीयते ॥ ६७ ॥

जल-भरे बर्तन की बाहरी सतह का ठण्डापन जल नहीं वरन् जल का गुण है जिससे जल के अस्तित्व का अनुमान होता है।

घड़े में ठंडा पानी भरा हो, उस घड़े को बाहर से छूते हैं तो ठंडा लगता है। बाहर जल तो नहीं है पर कलश के अंदर पानी ठंडा है इसलिये बाहर भी ठंडा लग रहा है। है तो ठण्डक पानी का गुण, अतः गुण है तो उसके द्वारा 'अन्दर ठंडा पानी है' ऐसा अनुमान होता है। कलश में जो शीतता मिलती है, वह पानी के कारण ही हो सकती है क्योंकि चीज़ वहाँ वही है। इसी प्रकार से निजानन्द ब्रह्मानन्द तो नहीं है लेकिन इस वासना से ब्रह्मानन्द का अनुमान होता है॥ ६७॥

उसी को स्पष्ट करते हैं—

यावद्यावद् अहङ्कारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः।

तावत्तावत् सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते॥ ६८॥

अभ्यास के प्रभाव से जितना-जितना अहंकार भूला जाता है, उतनी-उतनी चित्तनामक दृष्टि सूक्ष्म होने से अनुमान होता है कि निजानन्द अभिव्यक्त हो रहा है।

जितना-जितना अहंकार हम भूल जाते हैं उतना ही निजानन्द व्यक्त होता है क्योंकि अहंकार से ही आच्छादित है। इसीलिये यह निजानन्द घटता-बढ़ता है। अत एव यह मुख्य भी नहीं। जितना-जितना अहंकार का भान कम होता जाता है, उतना-उतना यह आनन्द बढ़ता जाता है। अहंकार चूँकि ज्ञानरूप ही है इसलिये इसकी विस्मृति ही हो सकती है। यह कोई 'चीज़' तो है नहीं जिसे हटाया जा सके! जब तक अहंकार का भान है, तभी तक अहंकार है। अहंकार का भान कम कैसे होगा? 'अभ्यासयोगतः'। इसका उपायभूत अभ्यास इस अध्याय में प्रधान प्रतिपाद्य है। यह जो अहंकार की विस्मृति है, इसका अभ्यास करना ही अभ्यास योग है। जितना अहंकार कम होता है उतना ही चित्त सूक्ष्म होता जाता है, इससे वासनारूप जो निजानन्द है उसका अनुमान होता है। निजानन्द की अभिव्यक्ति बढ़ती है तभी स्पष्ट होती है, बाकी समय क्षण-दो क्षण अनुभव होने पर भी उसका अस्तित्व समझ नहीं आता है।

अहंकार जब संकुचित हो जाता है, नहीं-सा रह जाता है, उस क्षण के अन्दर जितना आनन्द होता है, पुनः अहंकार के आने पर उतना आनन्द नहीं रह जाता। यह जो अहंकार के कारण घटा-बढ़ी हो रही है इसी से वह वासनानन्द है, ब्रह्मानन्द नहीं। टीकाकार ने समझाया है कि जिस क्षण अहंकार का संकोच किया उस क्षण तो उस कारण से सुख संभव है लेकिन उसके बाद जब तक अहंकार संकुचित रहता है तब तक जो सुख है वह वासनानन्द का वह प्रकार है जिसे योगानन्द कह रहे हैं। सुषुप्ति के बाद बिना आभास के होने वाला वासनानन्द है, योगविशेष के अभ्यास से होने वाला योगानन्द है॥ ६८॥

चित्तरूप दृष्टि की सूक्ष्मता की चरम सीमा परमात्मानुभव है यह व्यक्त करते हैं—

सर्वात्मना विस्मृतः सन् सूक्ष्मतां परमां ब्रजेत्।

अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोऽपि नो पतेत्॥ ६९॥

सब तरह से भूला गया अहंकार परम सूक्ष्म हो जाता है। लीन न होने से यह नींद नहीं है इसलिये शरीर गिरता भी नहीं है।

अभ्यास योग है कि अहंकार का निरोध करना। यह होते-होते अहंकार को सर्वथा भूल जाओ तो चित्त परम सूक्ष्म हो जाता है। साधारणतः सूक्ष्मता तो कार्य की कारणरूपता होती है। घड़ा मिट्टी हो जाये, यही उसकी सूक्ष्मता कहलाती है। गहरी नींद में ऐसा होता है। किन्तु निरोध समाधि निद्रा नहीं है क्योंकि चित्त लीन नहीं हो जाता है, अपने कारण अज्ञान में नहीं जाता। 'परम सूक्ष्म हो गया' मायने अज्ञान रह गया—ऐसा नहीं; अगर निद्रा आ गई होती, तो शरीर बैठा नहीं रहता। चूँकि अज्ञान में लीन नहीं हुआ, इसलिये शरीर गिर नहीं पड़ता। नहीं गिरता, इसीलिये इस स्थिति को निद्रा नहीं कह सकते। अहम् का भान नहीं, सुख-दुःख का भान नहीं, इसलिये इसको जाग्रत् भी नहीं कह सकते। और शरीर ऐसा का ऐसा बैठा रहता है, इसलिये इसको सुषुप्ति भी नहीं कह सकते। यही निरोध समाधि की अवस्था है। शरीर को उत्तम्भित रखने का कारण है शरीर के साथ अहंकार का तादात्म्य अनुभव होना, वही शरीर को उत्तम्भित रखता है, खड़ा रखता है। समाधि में वह अध्यास नहीं रहने पर भी शरीर गिरता नहीं है, क्योंकि लयरूप सूक्ष्मता के बजाये निरोधरूप सूक्ष्मता है ॥६६॥

इस स्थिति के बारे में भगवान् की संमति दिखाते हैं—

न द्वैतं भासते नाऽपि निद्रा तत्रास्ति यत् सुखम् ।

स ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति ॥ १०० ॥

द्वैत न भासे, नींद भी न हो, वहाँ जो सुख है वह ब्रह्मानन्द है। यह अर्जुन से भगवान् ने कहा है।

निरोध समाधि के अन्दर किसी भी नाम-रूप का भान नहीं है। हम लोगों का अनुभव है कि जब नाम-रूप का भान नहीं रहता तब निद्रा हो जाती है। समाधि में शरीर गिरता नहीं इसलिये वह निद्रा नहीं है। वहाँ द्वैत का भान नहीं है। बिना अहंकार का भान हुए द्वैत का भान हो नहीं सकता। उस समाधि के अन्दर जो सुख है वह ब्रह्मानन्द ही सम्भव है। तब चित्त, अंतःकरण है परंतु सर्वथा वृत्तिरहित है। अहंकारात्मिका वृत्ति भी नहीं बचती है। उस समय जो अनुभव होगा वह अन्तःकरण का अनुभव होगा। सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है, लेकिन अज्ञानवृत्ति से होता है। समाधि में अंतःकरण के रहने से सुषुप्ति वाली अज्ञान-अवस्था नहीं है। इस प्रकार निरोध समाधि में होने वाला सुख ब्रह्मानन्द है। अहंकार के रहते हुए जो ब्रह्मानन्द होता है वह निजानन्द कहलाता है। भगवान् कृष्ण ने गीता के छठे अध्याय में अर्जुन को बतलाया है कि समाधि सुख ब्रह्मानन्दरूप है। योग के अभ्यास से होने वाला है इसलिये इसे योगानन्द कहते हैं ॥१००॥

गीता के आठ श्लोक उस क्रम से उद्धृत करते हैं जिससे अभ्यास का ढंग स्पष्ट हो—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ १०१ ॥

धैर्ययुक्त बुद्धिसे धीरे-धीरे उपरति करे, मन आत्मा में भलीभाँति स्थापित कर कुछ भी न सोचे ।

यह गीता के छठे अध्याय का पच्चीसवाँ श्लोक है । निरोध समाधि का अभ्यास करने के लिये अत्यन्त धैर्य चाहिये । कैसा धैर्य? एक-एक बूँद पानी वहाँ से हटाकर समुद्र सुखाने का जिसमें धैर्य हो वह इस समाधि में प्रवृत्त होवे! पहला कदम है उपरति अर्थात् उपरामता को प्राप्त होवे । यह होगा अत्यन्त धीरे-धीरे । साधक प्रायः चाहता है कि जल्दी काम हो जाये! जल्दी के चक्कर में अधिक कर्तृत्वभावना आकर और ज़्यादा रुकावट हो जाती है । जिसने श्रवण-मनन से यह निश्चय कर लिया कि यही एकमात्र प्राप्त करने योग्य चीज़ है, और यही इसका मार्ग है, उसे बार-बार देखने की ज़रूरत नहीं है कि फल कितनी दूर है । धैर्य जब तक नहीं होता तब तक मनुष्य उपरामता को प्राप्त हो नहीं पाता । प्राप्त करने की जल्दी ही उसको उपराम नहीं होने देती । उपरामता में छोड़ना होता है, और जल्दी में कुछ करना पड़ता है । परम आनन्द को प्राप्त करने के लिये तुमको सब कुछ छोड़ना पड़ता है, अहंकार का भी विस्मरण हो जाना पड़ता है । बार-बार सोचोगे कि 'अभी नहीं हुआ' तो इसी कारण से नहीं होगा । जैसे अनेक लोगों को रात में 'नींद नहीं आई' इसी चिन्ता से नींद नहीं आती । चिकित्सक उल्टी गिनती करने को कह देता है । उससे तुम्हारा ध्यान उधर जाता है क्योंकि उल्टी गिनती का अभ्यास तो है नहीं अतः 'नींद नहीं आयी' यह चिन्ता छूटने पर वह आ भी जाती है । पहले भली प्रकार श्रवण-मनन करके आत्मतत्त्व की सच्चिदानन्दरूपता का निश्चय कर उसी में मन को स्थित करना है । आत्मा में स्थित तभी हो सकता है जब इस बात को जान लिया है कि एकमात्र आत्मा को छोड़ कर कुछ भी नहीं है । अंतःकरण किसी भी चीज़ की वृत्ति बनाये तो तुरन्त उसके मिथ्यात्व का निश्चय होना चाहिये कि 'यह नहीं है, आत्मा ही है' । अहंकार की वृत्ति बने तब भी समझ आना चाहिये कि अहंकार नहीं है, आत्मस्वरूप ही है । यह अवस्था पाकर फिर चित्त से कुछ भी न सोचे । अर्थात् आत्माकार वृत्ति भी फिर बनाने की ज़रूरत नहीं है । मन में केवल आत्मा ही रहता है ॥ १०१ ॥

उक्त साधना में प्रवृत्त के लिये पहला कदम गीता ६.२६ से बताते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशं नयेत् ॥ १०२ ॥

स्वभाव से चंचल और अस्थिर मन जिस-जिस विषयरूप निमित्त से निकलता है, उस-उस से इसे निरुद्ध कर आत्मामें ही वशीकृत करना चाहिये ।

मन आत्मा के प्रतिबिम्ब से युक्त हो, इसमें कोई दूसरी वृत्ति नहीं हो, तो शुद्ध ब्रह्मानन्द का प्रतिबिम्ब होता है इसलिये वह शुद्ध बिम्ब का ज्ञान करा देता है । जैसे साफ काँच में

मुँह देख कर मुँह का ज्ञान हो जाता है, ऐसे ही जो चित्त सारी वृत्तियों से रहित हो गया है, उसमें जो ब्रह्मानन्द का प्रतिबिम्ब है, उससे आत्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाता है। यहाँ तक पहुँचना है। मन स्वरूप से चंचल है, यह इसका स्वभाव है। मन किसी आगन्तुक दोष से चंचल नहीं होता है। यह उसका स्वभावगत दोष है। एक चंचलता तो राग-द्वेष से आती है। उस को अभ्यास से पहले शान्त कर लिया जाता है। पर बिना राग-द्वेष के भी मन एक से दूसरी चीज़ पर फुदकता रहता है। यही इसका स्वभाव है। इसलिये इसको स्थिर करना अत्यंत कठिन है। वशिष्ठ जी कहते हैं, गिरती बिजली को रोक सकते हैं, आकाश के तलवार से टुकड़े कर सकते हैं, पर मन को स्थिर करना उससे भी ज़्यादा कठिन है! इसीलिये यह अस्थिर है। चाहे आत्मा हो या अनात्मा, एक विषय में मन स्थिर नहीं रहता। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श किसी न किसी चीज़ की तरफ जाता रहता है। विषय चाहे मानसिक हो, चाहे बाह्य हो पर मन विषयों में भटके बिना रहता नहीं। मन कल्पना भी करता रहता है। ऐसी सब प्रवृत्तियों से मन को हटावे।

इसका बड़ा साधन है मिथ्यात्व-निश्चय। आचार्य मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि अद्वैत की सिद्धि द्वैतमिथ्यात्व सिद्धि-पूर्वक होती है। केवल युक्ति से ही नहीं, अद्वैतभाव की सिद्धि प्राप्त होवे इसके लिये द्वैत-मिथ्यात्व का निश्चय ज़रूरी है। थोड़ी भी द्वैत में सत्यत्व बुद्धि रहती है तो अद्वैत में स्थिति सिद्ध नहीं होती। यही कारण है कि आचार्य शंकर बार-बार इस आत्मनिष्ठा के लिये सर्वकर्म-संन्यास पर ज़ोर देते हैं। कर्म कुछ-न-कुछ सत्यभाव की अपेक्षा करता है। थोड़े से काम के लिये भी कार्य-कारणभाव मानना ही पड़ता है। रोटी से भूख मिटेगी—यह कार्यकारणभाव सत्य प्रतीत होता है, तभी खाते हैं। खाये बिना तो शरीर रहेगा नहीं इसलिये शास्त्र ने सर्वकर्म-संन्यास के प्रसंग में भी कहा कि शारीरकर्म, शरीर की स्थिति के लिये उचित कर्म, करता रहे तो दोष नहीं। जब शरीर ही नहीं रहेगा तो अभ्यास कैसे होगा? उससे अतिरिक्त जब कोई कर्म नहीं रहेगा तब न्यूनतम सत्यभावना रह जायेगी। भोजन आदि की भी निवृत्ति तो अंतिम अवस्था में जाकर होगी। परन्तु बाकी सब कर्मों की निवृत्ति पहले हो जानी चाहिये। कर्म करोगे तो तुम्हें बार-बार सत्यत्व-बुद्धि लानी पड़ेगी अतः मिथ्यात्व-निश्चय नहीं हो पायेगा। इसलिये विषयों से मन को खींचकर भीतर ले आना चाहिये। इसके लिये याद रखना है कि सभी विषयों में मिथ्यात्वरूप दोष है। ऐसे ही विषय और मन का जो भी संयोग है, वह अवश्य दुःख ही देता है, चाहे प्राप्त होने के पहले दुःख देवे या हट जाने के बाद अथवा भोगकाल में दुःख देवे। बेटे के पैदा न होने पर भी दुःख है, बाद में लालन, शिक्षा, बड़ा करने में दुःख है। उसके मरने से भी दुःख, पोते-बहू को देख कर भी दुःख है। इसलिये भगवान् ने कह दिया कि जो भी 'संस्पर्शज' अर्थात् विषय-इन्द्रिय के स्पर्श से पैदा होने वाले भोग हैं वे अवश्यमेव दुःख ही देंगे। जैसे पदार्थों का मिथ्यात्व-दर्शन उनसे हटने में कारण होता है, वैसे ही दुःखदर्शन भी, क्योंकि मन दुःख की चीज़ की तरफ नहीं जाना चाहता। मिथ्यात्व-दर्शन के द्वारा तो विषय केवल प्रतीतिमात्र रह जाता है, कार्यकारी नहीं रहता। और, वैराग्य की भावना से वहाँ से मन हटता है। इसलिये कहा है (वराहोपनिषत् २.६६) 'शास्त्रेण न स्यात् परमार्थदृष्टिः कार्यक्षमं पश्यति चापरोक्षम्।' शास्त्र

[प्र. ११ श्लो. १०३]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२५५

से यह तो निश्चय हो जाता है कि यह संसार अन्तिम सत्य नहीं है, परमार्थ नहीं है। जब अपरोक्ष होता है, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी प्रतीति होती है तब संसार कार्यक्षम है यह बुद्धि भी हट जाती है। व्यवहार इसलिये किया जाता है ताकि सुख हो और संसार सुख को पैदा कर ही नहीं सकता।

प्रतीति के साथ संसार का, विषयों का वास्तविक सम्बन्ध हो नहीं सकता। जिस भी विषय की तरफ मन जाये उसके बारे में विचार करके मिथ्यात्व, दुःखदत्व आदिका निर्णय करते रहने से मन का नियमन होगा। जहाँ एक बार भी गलती कर दी कि 'यह सुख की चीज़ है' बस, फँस जाओगे। रामकृष्ण परमहंस के गुरु ने जब उन्हें निरोध समाधि में बैठाया तब बार-बार देवी के प्रति उनकी भावना प्रकट हो जाती थी, हटती नहीं थी। बाकी चीज़ों में तो उनका मन नहीं जाता था पर सगुण परमात्मा के बारे में बुद्धि थी कि 'भगवान् का रूप तो अच्छा है'। तब गुरु ने कहा कि विवेक की तलवार से उसे काट दो। जो दृश्य दीखता है वह मिथ्या है। दृगूप ही सत्य है। जब नामरूप को काट दोगे, तब जो बचेगा वही शुद्ध है। किसी भी चीज़ के प्रति तुम्हारी सत्य या शोभन बुद्धि रह जायेगी तो वह तुम्हें स्थिर नहीं होने देगी। मन का इस प्रकार से निरोध करके उसे आत्मा में ही स्थिर करे। आत्मरूप अधिष्ठान में ही वश्यता को प्राप्त करावे। उसके कारण ही मन ज्ञानरूप से प्रतीत हो रहा है। मन में जो ज्ञात हो रहा है वह उस अधिष्ठान के प्रतिबिम्ब के कारण है। अतः उस में ही इसे स्थिर करने का अभ्यास कर्तव्य है। ११०२।।

जब चित्त वृत्तिरहित हो जाये, कोई द्वैतदर्शन न रहे, चित्त अज्ञान में लीन न होवे इसलिये निद्रा भी न आवे, उस समय जो सुख होता है, वह ब्रह्मानन्द है। होश तो रहे पर द्वैत का भान न रहे तब यह स्थिति सुलभ है यह गीता के ६.२७ श्लोक से कहते हैं—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ १०३॥

जिसका रजोगुण (और तमोगुण) प्रक्षीण हो चुका है, जिसका मन अत्यधिक शांत हो चुका है, 'यह सब ब्रह्म ही है' ऐसा जिसे निश्चय है, अधर्मादि दोषों से जो रहित है उस योगी को उत्तम सुख मिलता है।

मन सब विक्षेपों से रहित हो जाना चाहिये। विक्षेप का मतलब द्वैत-दर्शन है। लोक में विक्षेप-शब्द से दुःख को कहते हैं। यहाँ वह तात्पर्य नहीं है वरन् द्वैतशून्य होवे यह अर्थ है। द्वैत-प्रतीति से रहित जो मन है वह 'शान्त-रजस्' है अर्थात् उसके अन्दर संस्कारों से बनने वाली किसी प्रकार की आन्तरिक वृत्ति नहीं है। एक बाह्य द्वैत है, दूसरा अन्दर का मानसिक द्वैत है। 'शान्तरजस्' स्थिति में मानसिक द्वैत भी नहीं है, कोई संस्कार भी उद्भूत नहीं हो रहा है, और कोई बाह्य विक्षेप भी नहीं है। शान्ति तभी होती है जब राग, द्वेष, मोह आदि सब निवृत्त हो जाते हैं। राग आदि अच्छा-बुरा लगाना, ये भाव पदार्थों के अन्दर सत्यबुद्धि से होते हैं। 'ब्रह्मभूत' अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसे निश्चय वाला। ब्रह्म मैं ही हूँ और ब्रह्म से अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है इसके बारे में जिसे संदेह नहीं है। 'अकल्मषम्' उस समय

पुण्यापुण्य का फल जिसे नहीं हो रहा है। योगी के लिये पुण्य और पाप दोनों विक्षेप के प्रति कारण हैं। पुण्य सुख देगा। जब किसी चीज़ में इष्ट-बुद्धि होगी तब पुण्य उसके द्वारा सुख देगा। इष्ट बुद्धि का मतलब है, राग का उद्भव। इसलिये उत्तम सुख के लिये ज़रूरी है कि उस समय न पुण्य का न पाप का फल हो रहा हो, उदासीन स्थिति रहे ऐसा जो योगी है अर्थात् समाहितचेता है। कोई दूसरा नहीं है जिसके साथ संबन्ध हो रहा हो वरन् केवल अपने आत्मस्वरूप में समाहितता है। वह योगी उत्तम सुख को प्राप्त करता है। इष्ट बुद्धि के द्वारा प्राप्त विषय से या मानसिक संकल्प से जो सुख होता है वह श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि कुछ समय रहता है, फिर नहीं रहता और उससे ज़्यादा सुख किसी दूसरी चीज़ से हो सकता है। ऐसे कम-ज़्यादा या नाश होने वाले सुख को नहीं, उत्तम सुख को योगी प्राप्त करता है। इस प्रकार इस सुख के प्रति साधन बतलाये—मन की प्रशान्ति, रज की शान्ति, ब्रह्मभूतता और निष्कल्मषता। मन और रज की शांति से दोनों प्रकार के द्वैतों का निषेध कर दिया, और निष्कल्मषता से पुण्य-पाप का निषेध कर दिया। ऐसा जो ब्रह्मभूत योगी है, उसे ही उत्तम सुख मिलता है॥ १०३॥

इसके लिये क्रम गीता के ६.२०-२३ श्लोकों से बतलाते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ १०४॥

योगानुष्ठान से जब विषयों से निवृत्त हुआ चित्त स्वयं आत्मा को उपलब्ध करते हुए उस आत्मा में ही संतुष्ट होता है (तब उसे वास्तविक योग समझना चाहिये)।

‘यत्र’ अर्थात् जिस देश-काल में योग की सेवा अर्थात् योग का अनुष्ठान, अभ्यास। इससे चित्त बाह्य और आभ्यन्तर दोनों तरह के विषयों से निवृत्त हो जाता है। ‘रुद्ध’ का मतलब होता है रुका होना। रोकने का मतलब है ‘रोक रहा हूँ’ इस कर्तृत्व-भावना-पूर्वक रोक रहे हैं। इसलिये यहाँ ‘निरुद्ध’ का मतलब है अभ्यास करते-करते जब वह स्वभावतः रुक गया है। कब तक योग का सेवन करें? जब तक चित्त निरुद्ध न हो जाये। निरुद्ध हो जाने से ‘उपरमते’ उपरति को प्राप्त कर जाता है अर्थात् कुछ भी द्वैत की प्राप्ति या निवृत्ति उसकी रति का विषय नहीं रहता। ‘आत्मना’ अर्थात् अंतःकरण से। जिस अंतःकरण को समाधि से शुद्ध कर दिया गया है उसके अंदर शुद्ध ब्रह्म का सही प्रतिबिम्ब पड़ जाता है। जिससे उसका साक्षात्कार होता है। प्रतिबिम्ब को देखने से बिम्ब का ज्ञान होता है।

जो परमात्मा ज्योतिःस्वरूप है, उसकी उपलब्धि हो जाती है, साक्षात्कार हो जाता है तो अपने आप में ही तुष्टि की प्राप्ति होती है जो किसी दूसरी चीज़ से तुष्टि नहीं है। जैसे, बुखार औषधि से निवृत्त हो जाये, उस समय व्यक्ति को जिस सुख का अनुभव होता है, वह किसी चीज़ से नहीं है। दुःख की निवृत्ति का ही सुखरूप से वह अनुभव है। इसी प्रकार ‘मैं ब्रह्म नहीं हूँ, द्वैत है’, इससे होने वाले दुःखों की निवृत्ति हो जाती है जब ‘एकमात्र मैं ब्रह्मरूप ही हूँ’ यह समझ आती है। चूँकि आत्मा से तुष्टि होती है, इसलिये अन्य किसी तुष्टि की कामना नहीं रह जाती॥ १०४॥

सन्तुष्टिकी स्थिरता भी गीता-श्लोक (६.२१) से बताते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥१०५॥

और जहाँ इंद्रियातीत, केवल बुद्धि से उपलब्ध होने वाले अतिशय सुख का अनुभव करता है एवं उस आत्मस्वरूप से डिगता नहीं (उसे योग समझना चाहिये)।

यह अभ्यास करने वाला आत्यन्तिक अर्थात् जिससे अधिक और कोई भी न हो ऐसे ब्रह्मसुख का अनुभव करता है। वह सुख बुद्धिमात्र से ग्राह्य है। जो बुद्धि सभी वृत्तियों से रहित हो गई है, अहंकार की वृत्ति से भी रहित हो गई है उस बुद्धि में शुद्ध आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, इसलिये मानो उसने उसे ग्रहण कर लिया, जैसे कहते हैं 'दर्पण ने हमारे मुख को ग्रहण कर लिया'। वह इंद्रियों का तो कभी विषय नहीं है। इंद्रियों के साथ मन को भी समझा जाता है अतः मनोमय वृत्ति से भी ग्राह्य नहीं। मनोमय वृत्ति में कभी स्थिरता नहीं रहेगी। यह केवल बुद्धि का निश्चय है। परमात्मा के विषय में निश्चय की परम आवश्यकता है। किंचित् भी संशय रहता है तो यह सुख बुद्धि के अन्दर शुद्धरूप में प्रतिबिम्बित नहीं हो पाता। सर्वथा निःसंदिग्ध होने की ज़रूरत है, इसीलिये बार-बार श्रवण-मनन के लिये कहते हैं। दो प्रकार के संशय होते हैं। एक है प्रमाणविषयक संशय। वेद ही प्रमाण है। यह निश्चय पहले हो जाना चाहिये। वेद को छोड़कर और कोई आत्मतत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सकता। दूसरा संशय है कि क्या वेद ने अद्वैत ही कहा है या और कुछ भी कहा है? इसकी निवृत्ति के लिये वेदप्रतिपाद्य अद्वैतेतर विचारों में अप्रामाणिकता समझनी आवश्यक है। ये दोनों ही श्रवण के द्वारा निवृत्त होते हैं। और, अद्वैत क्यों नहीं हो सकता?—इसके बारे में जितने वाद हैं, सब के अन्दर वास्तविकता सिद्ध नहीं होती यह निश्चय मनन से हो जाना पड़ता है। ऐसा निःसंशय प्रमाण-प्रमेय-विषयक जिसका ज्ञान होता है, वह आत्यन्तिक सुख में तत्त्व से स्थित हो जाता है, 'आत्मस्वरूप यही है', इसमें निश्चल हो जाता है। बुद्धिग्राह्य, अतीन्द्रिय जो आत्यन्तिक सुख, उसे वह स्पष्ट जानता है, चूँकि निःसंशय है, इसलिये उसमें स्थिर हो जाता है, फिर कभी भी उस स्वरूप से अलग नहीं होता। गौडपादाचार्य ने भी कहा है, 'तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वाद् अप्रच्युतो भवेत्' (वैत. ३८) कि तत्त्वस्वरूप होकर उसमें रमण करे, वहाँ से हटे नहीं। शास्त्रादि पर श्रद्धा रख कर यह स्थिति कायम रखनी चाहिये। 'केवल इतने से नहीं होता' इस भ्रम में तत्त्व से चलायमान नहीं हो जाना चाहिये ॥१०५॥

आत्मलाभ सर्वोपरि है यह गीताश्लोक (६.२२) से निर्धारित करते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥१०६॥

जिसे प्राप्त कर किसी और लाभ को इससे अधिक नहीं समझता तथा जिसमें स्थित हुआ महान् दुःख से भी विचलित नहीं किया जा पाता (उसे योग समझना चाहिये)।

सविशेष की प्राप्ति का सुख निर्विशेष प्रत्यक्तत्त्व के साक्षात्कार से अधिक आनन्द है इत्यादि भ्रम अविचारशीलों को हो जाता है। 'उससे और अच्छा कोई सुख है' यह जँचने से साधक उस स्थिति से प्रच्युत हो जाता है। अथवा, उसकी प्राप्ति होने पर भी कोई दुःख बचा रह जाये, दुःख न हटे तो भी साधक व्युत्थित होता है। ये दोनों ही बातें नहीं हैं। श्रुति-स्मृति में स्पष्ट है कि ब्रह्मात्मदर्शन को छोड़कर उस निर्विशेष स्थिति से अधिक सविशेष में सुख नहीं है। अतः कोई दूसरा लाभ विवेकी नहीं मानता है। सविशेष में द्वैत रहेगा और द्वैत में सुख की पूर्णता हो नहीं सकती। अगर किसी कारण से पहले यह निर्णय नहीं किया है तो बाद में भी करना पड़ेगा। आत्मरूप की प्राप्ति हो जाने पर कितना भी बड़ा दुःख आ जाये, उससे वह विचलित नहीं होता। इसलिये कोई दुःखनिवृत्ति अपेक्षित नहीं रहती है, क्योंकि वहाँ पहुँचकर दुःख उसे दुःखी कर नहीं सकते। इस प्रकार न सुखान्तर के भ्रम से और न दुःख से वह उस अद्वैतावस्था से विचलित होता है। 'तत्त्वतः न चलति' अर्थात् मन शरीर आदि के अन्दर भ्रान्तिसिद्ध प्रतीति होने पर भी, उनको अपना स्वरूप नहीं समझता ॥१०६॥

पूर्वदर्शित अवस्था अवश्य प्राप्तव्य बताते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥१०७॥

(जिसका तीन श्लोकों में वर्णन किया) उस दुःख-सम्बन्ध से छूटने को 'योग' नामक आत्मावस्था जानना चाहिये। निश्चयपूर्वक बिना किसी खेद के इस योग का अनुष्ठान करना चाहिये।

भगवान् यहाँ (६.२३) 'योग' शब्द का बड़ा विचित्र निरुक्त करते हैं। सामान्य दृष्टि से 'योग' का अर्थ है किसी चीज़ से मिलना। भगवान् कहते हैं कि जिसे 'योग' संज्ञा में दे रहा हूँ, यह वियोग है! दुःख के संयोग के वियोग को यहाँ भगवान् ने योग कहा है। जीवात्मा और परमात्मा का समुद्र में बूँद की तरह मिल जाना, एक हो जाना—यही सामान्य लोग 'योग' समझते हैं। भगवान् कहते हैं कि ये एक हो जायें यदि दो हों तो। सत्य तो है कि है ही एक। इसलिये, जो भ्रम है कि 'मैं ब्रह्म से अलग हूँ' यही निवृत्त होगा, प्राप्ति कुछ नहीं होगी। जीवभाव से वियुक्त हो जाना—यही योग है। जीवभाव है 'दुःखसंयोग'। अहम्-वृत्ति को अपना स्वरूप समझना, इसके द्वारा ही सारे दुःखों से संयोग होता है। अहम् ही शरीर-मन-प्राण आदि सबसे एकता किये हुए है। इस अहम् को जब हम अपना स्वरूप समझते हैं, तभी शरीर-प्राण-मन-बुद्धि के दुःखी होने से दुःखी होते हैं। दुःखसंयोग का मतलब 'मिलना' नहीं समझना, यह है आध्यासिक संयोग। हम कभी भी अहम् बनते नहीं हैं, पर अहम् के साथ हम अपने को एक समझ लेते हैं। कर्ण और अश्वत्थामा का विवाद

हुआ। कर्ण ने कहा 'तुम ब्राह्मण हो इसलिये तुमसे लड़ूँगा नहीं'। गुस्से में अश्वत्थामा ने जनेऊ तोड़ दी! कहा, 'मैं ब्राह्मण नहीं रहा, अब युद्ध कर।' तब दुर्योधन बीच-बचाव में आया। जैसे यज्ञोपवीत रहते कोई ब्राह्मण होता है इस प्रकार जब तक अहम् है तभी तक जीवभाव है। दुःखसंयोग अहम् को लेकर ही है, संयोग यहाँ आध्यासिक है। दुःख-संयोग अर्थात् जीवभाव का वियोग ही यहाँ योग कहा है।

'स योगोऽनिर्विण्णचेतसा निश्चयेन योक्तव्यः' यहाँ 'निर्विण्ण' या 'अनिर्विण्ण' दोनों शब्द होना संभव है। 'निर्विण्णचेतसा' अर्थात् वैराग्य वाले चित्त से। जब तक वैराग्य नहीं होता तब तक वैषयिक सुख चाहिये, जो शरीर के बिना हो नहीं सकते। वैषयिक सुखों के लिये शरीर की आवश्यकता है अतः वैराग्य के बगैर उससे सम्बन्ध बनाने वाले अहम् को कैसे छोड़ें! जब-जब अहम् पर चोट पड़ती है तब-तब जीव बौखलाता है। जब विषयों से पूर्ण वैराग्य हो जाता है, तब शरीर-मन की ज़रूरत रहती नहीं। भगवान् भाष्यकार ने यहाँ 'अनिर्विण्णचेतसा' ऐसा पदच्छेद किया है। मतलब है कि योग का अभ्यास करते हुए मन में यह नहीं आना चाहिये कि 'अभी तक कुछ नहीं हुआ' अर्थात् खेद नहीं करना चाहिये। दोनों ही अर्थ मानने योग्य हैं।

'निश्चयेन योक्तव्यः' निश्चय से यह योग किया जाता है। संशय-निवारण में जल्दबाजी के कारण ही निश्चय पर पहुँच नहीं पाते। प्रायः वेदान्ती की यह कठिनाई है, बात तो सीधी लगती है, समझ में आ जाती है, इसलिये व्यक्ति सोचता है, 'अब समझ तो लिया'; पर मन में अनेक प्रकार के संशय बने रहते हैं जिससे ज्ञान दृढ़ नहीं होता। बार-बार विचार करने से वे संशय प्रकट होते हैं, उनके समाप्त होने पर स्थिरता बनती है। इस प्रकार अध्यवसाय से अनिर्विण्ण चित्त वाले को योग का अभ्यास करना उचित है। ॥१०७॥

गीताप्रसंग के उपसंहार के रूप में वहीं (६.१५) का श्लोक पढ़ते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखमश्नुते ॥१०८॥

निष्पाप योगी दर्शित रीति से निरन्तर आत्मा का अनुसन्धान करते हुए अनायास ब्रह्मस्वरूप निरतिशय आनन्द प्राप्त करता है।

जो योगी सर्वथा कल्मष अर्थात् पाप से रहित है उसे ही यह सुख मिलेगा। ऐसा नहीं कि अनन्तकाल में जो पाप किये हैं उन सबसे रहित हो जायेंगे! पाप का उदित संस्कार मन के अन्दर नहीं रहना चाहिये। कल्मष वही होता है जो प्रकट, विद्यमान होवे। कल्मषनिवृत्ति क्यों ज़रूरी है? योग को सिद्ध न होने देने के लिये पाप तरह-तरह की वृत्तियों को पैदा करता है। स्त्यान (अकर्मण्यता), प्रमाद आदि योग के कई अन्तराय, विघ्न बताये गये हैं शास्त्रों में। जब तक इससे रहित नहीं होता है तब तक साधक की स्थिति बन नहीं पाती। उपनिषदों ने कहा है कि आत्मज्ञान के पहले तक सभी देवताओं को मनाते रहना चाहिये अन्यथा देवता पापों के सहारे से अन्तराय करते रहते हैं। देवताओं को यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य आत्मज्ञान को प्राप्त करे। आचार्य शंकर कहते हैं कि कोई नहीं चाहता कि नौकर

मेरा मालिक बने! जब तक हम जीव है तब तक हम देवताओं के नौकर हैं। आत्मज्ञान को प्राप्त करने से उल्टा हो जाता है। आत्मज्ञानी पूज्य और देवता पूजक हो जाते हैं! यह देवताओं को प्रिय नहीं है। अन्यत्र कहा गया है कि माया जीव की माँ है। माँ कहती है 'तुझे जो भी लेना हो ले ले परन्तु मेरे अंचल से निकलकर मत जा। ब्रह्मरूप में स्थित न हो।' सास-बहू के झगड़े का एक प्रधान कारण यही है कि माँ को लगता है कि बेटा अपनी पत्नी का हो गया। अतः चाहे देवता हो या माया हो, कोई नहीं चाहता कि जीव सत्य समझे। ज्ञान में विघ्न डालने के लिये उन्हें सहारा पाप का ही लेना पड़ता है। इसलिये विगतकल्मष होना ज़रूरी।

ऐसा योगी सदा आत्मा का ही योग करे, उसी का अनुभव प्राप्त करे। अन्य किसी चीज़ को नहीं सोचना है, आत्मविचार ही करना है, अनात्मविचार नहीं। क्योंकि अन्तराय हट गये हैं इसलिये वह आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति करता है। वह सुख है 'ब्रह्मसंस्पर्शम्' ब्रह्मस्वरूप। यद्यपि 'संस्पर्श' शब्द से ऐसी प्रतीति होती है, मानों दो चीज़ों का सम्बन्ध होवे किन्तु सुख ब्रह्म का स्वरूप ही है। योगी चूँकि योगाभ्यास कर रहा है, इसलिये उसके अन्तःकरण में सुख प्रतिबिम्बित है। है यह भी 'अत्यन्तम्' अर्थात् निरतिशय। बहुत ज़्यादा पास होने पर 'छूना' कहा जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म का स्पर्श तो सम्मत नहीं परन्तु ब्रह्म के जैसा ही यह सुख है इसलिये इसका मानो ब्रह्म से भली भाँति स्पर्श सम्पन्न हुआ हो! विगतकल्मष होने के बाद जब इस अभ्यास में लगता है तब अन्तराय नहीं होने के कारण 'सुखेन' अर्थात् सरलता से ही उस सुख को प्राप्त कर लेता है। ११०८।।

पूर्व में (श्लोक १०७) कहा था 'योगोऽनिर्विण्णचेतसा'। कैसा अनिर्वेद होना चाहिये? माण्डूक्यकारिका (३.४१) के प्रमाण से इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

उत्सेक उदधैर्यद्वत् कुशाग्रेणैकबिन्दुना।

मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः। ११०९।।

कुशा की नोक से एक-एक बूँद कर समुद्र सुखाने की तरह बिना खिन्न हुए (साधना में लगने से) मन का निग्रह होता है।

कुशा के अग्रभाग अर्थात् नोक से एक-एक बूँद निकाल कर जिस तरह से समुद्र को सुखा देना असंभव-सा कार्य है पर अत्यन्त धैर्य होने से ही यह काम भी किया जाता है ऐसे ही मन का निग्रह है। फिर भी होता ज़रूर है। 'यह असंभव-सा काम कब होगा?' ऐसे खेद का बिलकुल जिसे स्पर्श न होवे, उसी से मनोनिग्रह होता है। इसमें प्राचीनों ने एक टिट्ठिभ चिड़िया का दृष्टान्त दिया है। समुद्र ने उसके अण्डों को बहा लिया तो उसने समुद्र को सुखा कर अण्डों को निकालने का निश्चय किया! चोंच में पानी भरकर निकालने का प्रयत्न करने लगा। नारदजी ने देखा, जाकर गरुड से कहा। गरुड भी समुद्र को सुखाने के लिये आ गया। समुद्र ने क्षमा माँगी और अण्डे वापिस दे दिये। जब वह छोटा-सा पक्षी अपरिखेद से लगा, तभी गरुड भी सहायता को आया। इसी प्रकार अनिर्विण्ण तत्पर साधक

[प्र. ११ श्लो. ११०]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२६१

को ही गुरु और ईश्वर की सहायता मिलती है, तभी यह काम हो पाता है। होता यह परमेश्वर की कृपा से है। 'तथाप्यनुग्रहादेव तरुणेन्दुशिखामणेः'; भगवान् शंकर, जिनके मस्तक पर चंद्रमा है, उनके अनुग्रह से ही अद्वैतनिष्ठा होती है। जब तुम धैर्यपूर्वक इसको नियंत्रित करने लगते हो तब उनका अनुग्रह हो जाता है, मन की सारी वासनायें नष्ट हो जाती हैं ॥१०६॥

अभ्यास के द्वारा जितना-जितना अहम् का परिच्छेद हटता जाता है, उतना-उतना अन्दर का ब्रह्मानन्द प्रकट होता जाता है। थोड़ा-बहुत अहम् रहने के कारण ही प्रकट होते हुए वह निजानन्द रहता है, ब्रह्मानन्द अर्थात् व्यापक आनन्द नहीं हो पाता। अहं-समाप्ति से पूर्व ब्रह्मानन्द की वासना तो है, परन्तु ब्रह्मानन्द नहीं है। यह बात जैसे गीता में कही है, वैसे मैत्रायणी उपनिषद् (६) में भी कही है यह दिखाते हैं—

बृहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम् ।

प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम् ॥११०॥

'मैत्र'—नाम की शाखा में शाकायन्य मुनि ने राजर्षि बृहद्रथ को समाधिकथन-पूर्वक ब्रह्मसुख समझाया है।

यजुर्वेद की एक शाखा 'मैत्रायणी' है। उसकी संहिता भी ग्रंथ के आकार में मिलती है और उपनिषद् भी मिलती है। यहाँ सूचित उपदेश उपनिषद्-भाग में है। शाकायन्य नाम के मुनि थे। उनका शिष्य था राजर्षि बृहद्रथ। उसके प्रति समाधि को बतला कर, उस ब्रह्मानन्द के स्वरूप को ऋषि ने बतलाया। पहले समाधि का फिर ब्रह्मानन्दरूप सुख का स्वरूप बतलाया। इससे कहा कि यह बात केवल गीतादि स्मृति में ही आई हो ऐसा नहीं है श्रुति में भी इसका प्रतिपादन किया है ॥११०॥

श्लोक ११६ तक मैत्रायणी उपनिषद् (६) के वचन उद्धृत करते हैं—

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।

तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥१११॥

जैसे ईंधन न रह जाने पर आग अपने कारण में, व्यापक तेज में, विलीन हो जाती है वैसे वृत्तियाँ क्षीण होने पर चित्त अपने कारण में, भूतों के सत्त्वांश में लीन हो जाता है।

आधुनिक वैज्ञानिक ऊर्जा ही एक तत्त्व स्वीकारते हैं, वही घनीभूत हो तो द्रव्य कहलाती है। यदि ऊर्जा को वह्नि, अग्नितत्त्व मानें तो बाह्य सारा जगत् वह्नि का ही विविध औपाधिक विस्तार है अतः सर्वत्र वह्नि प्रविष्ट है। प्राचीन दृष्टि से सृष्टि पांचभौतिक है। वह्निरूप भूत अपनी सब उपाधियों में प्रविष्ट है। मूर्त सारे प्रपंच में व्याप्त होने से श्रुति ने उसे 'भुवनप्रविष्ट' (कठ. २.२.६) तक कह दिया है। परमात्मा के समान व्यापक न सही पर काफी हद तक व्यापक होने से वेद ने परमात्मा के लिये वह्नि और वायु की व्यापकता को दृष्टांत बनाया है। जीवनी शक्ति, प्राण के अभिप्राय से वायु तथा बाकी शक्ति के लिये अग्नि का

उल्लेख किया। जीवित प्राणियों में होने वाली ऊर्जा एवं जड़ वस्तुओं में होने वाली ऊर्जा में कुछ अंतर प्रत्यक्ष है। प्राणि-ऊर्जा अत्यल्प व्यय होने पर भी अत्यधिक कार्य हो जाते हैं जबकि बाह्य जड़ ऊर्जा उतने कार्य में अधिक खर्च होती है। इसलिये अग्नि-वायु दो दृष्टान्त वेद में आये। व्यापक अग्नि ही कारण है, लकड़ी आदि जलने से प्रकट अग्नि उसका कार्य है। व्यापक तेज ही ईंधन में प्रकट होता है, ईंधन जलकर समाप्त हो जाने पर वह अग्नि अन्यत्र कहीं नहीं वरन् अपने कारण में, व्यापक तेजस्तत्त्व में विलीन हो जाती है। 'योनि' मायने कारण। प्रकट आग का कारण व्यापक आग ही है, उसी रूप से रह जाना 'उपशान्ति' या विलय है। राख आदि अवशेषों में भी व्यापक अग्नि प्रविष्ट ही है, केवल उसका प्रकट रूप समाप्त हुआ है। इस प्रकार दृष्टान्त हुआ कि ज्वालारूप अग्नि ईंधन-समाप्ति पर व्यापक अग्नि रह जाती है।

इसी प्रकार चित्त क्या है? शास्त्रकारों ने बतलया है कि चित्त शब्द के अन्दर दो त-कार हैं। चित् के आगे एक और 'त्' जोड़ें तो 'चित्त' बनता है। 'चित्' तो है परमात्मा, चेतन। तकार है विषय का अध्यास। घटज्ञान में ज्ञान तो परमात्मा का स्वरूप है लेकिन घटरूप उपाधि में प्रकट हो रहा है, इसलिये घटज्ञान प्रतीत हो रहा है। विषय और चिन्मात्र का परस्पर अध्यास 'तकार' का अर्थ है। चित् जब अन्तःकरण की वृत्ति में प्रतिबिम्बित होता है, तब चित्त बनता है। 'वृत्तिक्षयात्' जब चित्त की वृत्ति की समाप्ति होती है तब चिन्मात्र ही रहता है। जब चित्त की कोई वृत्ति नहीं रहती तब तकार रहा नहीं अतः चिन्मात्र ही बच गया। चित्त कहाँ से आया? सारे जगत् का कारण परब्रह्म परमात्मा है, वही पंच महाभूतों को उत्पन्न करता है, उनका रूप धारण करता है; सूक्ष्म महाभूतों से चित्त बनता है, इसलिये चित्त का अंतिम कारण तो सच्चिदानन्द परमात्मा ही है। अतः क्षीण होने पर चित्त उस परमात्मा के अन्दर ही उपशान्त हो जाता है। जैसे बिना ईंधन के ज्वाला खत्म हो जाती है, वैसे ही बिना वृत्ति के चित्त खत्म होकर चिन्मात्र ही बच जाता है। वृत्तिक्षय और अन्तःकरण का बना रहना—यह सन्तुलन रखना आवश्यक है। ११११।

वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं और अन्तःकरण स्वरूप से रह जाता है तो क्या लाभ—यह बताते हैं—

स्वयोनानुपशान्तस्य मनसः सत्यकामिनः ।

इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः । ११२ ।।

सत्य आत्मा को ही चाहने वाला होने से जो मन अपने कारणभूत सत्त्व में लीन है, इन्द्रियों के गोचर विषयों से विमुख है, कर्मवश उसके सम्मुख आने वाले साधनों समेत सुखादि मिथ्या ही जाने जाते हैं।

वृत्तियाँ क्षीण हो चुकने पर मन अपने कारण में उपशान्त अर्थात् लीन होता है। उस सत्त्व में ब्रह्म का स्वरूपभूत आनन्द प्रकट होता है अतः मानो मन उसी में, ब्रह्मानन्द में निमग्न हो जाता है। चित्त मुमुक्षासंस्कार से सत्य की ही कामना वाला हो ही चुका होगा तभी यह

शांति सुलभ है। सत्य की ही कामना न हो, अन्य कुछ चाहिये हो तो मन या चंचल होगा या अज्ञान में, तम में लीन होगा, सुषुप्ति आ जायेगी। सत्य परमात्मा चाहने से विवेकी का मन विषयाकारों से चंचल नहीं होता है और शांतावस्था के आनन्द से तृप्त होने के कारण तम में लीन नहीं होता। विषयों से उसे आकर्षण नहीं, उन पर मुग्ध नहीं, उनसे मोह नहीं। 'इन्द्रियार्थविमूढस्य' अर्थात् इन्द्रियाँ जिन्हें ग्रहण करती हैं उन विषयों के प्रति मूढता जिसमें से विगत है, निकल चुकी है। इन्द्रियों में यहाँ मन भी समझ लेना चाहिये। 'विमूढ' का यहाँ 'विमुख' अर्थ है अर्थात् जो मन विषयों के ज्ञान से रहित है। ऐसे साधक के भी प्रारब्ध के अनुसार विषय सामने आकर सुख-दुःख देते ही हैं। यद्यपि इसका मन विषयों को ढूँढता नहीं, जैसे बाकी संसारियों के मन ढूँढते रहते हैं, तथापि पूर्वकृत कर्म फलीभूत होने के लिये सुखादि देते हैं, तदर्थ विषयादिसम्बन्ध स्थापित कराते हैं। जो कर्म किये हैं वे सुख या दुःख देंगे, अतः उस फल को उत्पन्न करने वाले साधन भी सामने आयेंगे। उसकी खुद कोई प्रवृत्ति नहीं है किंतु कर्मवश फलभोग के साधन रूप से जो अर्थ सामने आते हैं, उन्हें वह जानता है कि अनृत हैं, मिथ्या हैं। मन के द्वारा ही यह जाना जाता है कि जो दीखता है वह वस्तुतः है ही नहीं। चूँकि विषयों के अनृतत्व का उसको निश्चय है, इसलिये उनकी ओर से सर्वथा विमुख रहता है। इन्द्रियार्थ-विमूढ हो जाने पर भी, सुषुप्ति में इसलिये नहीं जाता कि सत्य आत्मा की कामना करता है। चित्त की उपशांति विषयमिथ्यात्व के ज्ञान से हो जाती है ॥११२॥

स्वयोनि में उपशांत जो मन, उसके लिये यह सारा विषय जगत् अनृत है। किन्तु शंका होती है कि चित्त की उपशांति से जगत् मिथ्या होता है यह बनता नहीं, क्योंकि चित्त से यह संसार पैदा हुआ नहीं। इसके समाधान में कहते हैं—

चित्तमेव हि संसारस्तत् प्रयत्नेन शोधयेत् ।

यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत् सनातनम् ॥११३॥

क्योंकि चित्त ही संसार है इसलिये कोशिश कर चित्त शुद्ध बनाना चाहिये। मरणधर्मा प्राणी जिसे विषय करते चित्त वाला होता है, तद्रूप ही होता है। यह अनादिसिद्ध रहस्य है।

विषयों को भले ही चित्त ने नहीं बनाया पर उन्हें 'भोग्य' तो चित्त ही बनाता है। यदि मैं अन्धा हूँ तो मेरे लिये रूप भोग्य नहीं होता क्योंकि मेरा चित्त उसमें भोग्यता का अनुभव नहीं करता। भोग्यता के बिना प्रपंच को संसार कहना बनता नहीं क्योंकि उसमें प्राणी संसरण, गति नहीं करता। इसलिये कहा कि चित्त ही संसार है। मूलतः 'संसार' का मतलब है, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में सरकना। भोगों के लिये ही, सुख-दुःख के लिये ही सरकना पड़ता है, परिवर्तन वाला बनना पड़ता है। वेदांत इसीलिये 'दृष्टि ही सृष्टि है' मानता है अर्थात् वृत्ति बने तभी विषय की सिद्धि स्वीकारता है। ऐसा क्यों? सुषुप्ति में चित्त का विलय हो जाता है तो किसी भी प्रकार का भोग गहरी नींद में नहीं होता है। अतः सिद्ध होता है कि चित्त से ही संसार है। इसलिये चित्त को ही प्रयत्न के द्वारा शुद्ध करना चाहिये।

रज की प्रधानता होने पर विक्षेप, तम की प्रधानता होने पर मल, इन दोनों दोषों को हटाना शोधन है। मल पाप से होता है। पाप में अज्ञान के कारण प्रवृत्ति होती है। समझदार व्यक्ति आँख रहते कभी गड्ढे में नहीं गिरता। अन्धा हो, घोर अन्धकार हो, आँख काम न करे तभी गिरना पड़ता है। ऐसे ही जिसके पास शास्त्र के नेत्र नहीं हैं, या श्रद्धा का प्रकाश नहीं है वही पाप करता है। अज्ञान के कारण ही अधर्म होता है। मल दोष को इसीलिये तमोरूप कह देते हैं। विक्षेप दोष मन की चंचलता से होता है। विक्षेप और मल इन दोनों से जब चित्त को रहित कर दिया जाता है, तब वह शुद्ध होता है। यह प्रयत्न से ही सम्भव होगा। विक्षेप को हटाने के लिये वैराग्य का प्रयोग करना पड़ेगा। जितना वैराग्य होगा उतना विक्षेप हटेगा। चित्त को परमात्मा में एकाग्र होने का अभ्यास भी करना पड़ेगा। इसलिये पतंजलि ने कहा 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। अभ्यास और वैराग्य से चित्त को निरुद्ध किया जाये। राग से मन दूसरी चीजों में जाता है। अभ्यास के बिना मन परमात्मा में स्थिर नहीं रहता। भगवान् ने भी कहा कि मनोनियंत्रण के ये ही दो साधन हैं। श्रवण-मनन के द्वारा आत्मतत्त्व का चिंतन करो और जब अनात्मा में मन जाये तो वैराग्य के द्वारा उसे वहाँ से हटाओ। यह प्रयत्न करने पर मल और विक्षेप से चित्त रहित अतः शुद्ध हो जाता है।

शंका होती है कि मैं सत्यकाम हूँ, मोक्ष मैं चाहता हूँ, मेरी शुद्धि भले ही होनी चाहिये, चित्त की शुद्धि से क्या? वेदान्तियों के लिये यह शंका अत्यंत स्थूल है, पर सामान्यतः ठीक लगती है। मुझे ब्रह्मरूपता की प्राप्ति होनी है; वैराग्य, अभ्यास आदि चित्त में होने हैं; चित्त कैसा भी हो इससे मुझमें क्या फर्क है? कुछ लोग कहते हैं कि शरीर कैसा भी अशुद्ध होवे, मन शुद्ध होना चाहिये। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'। सिद्धान्ती का समाधान है कि आत्मा तो नित्यशुद्ध है, उसका शोधन तुम क्या करोगे? आत्मा में तो अज्ञान के कारण चित्त की प्रतीति है। चित्त के अन्दर ही बंधन का अनुभव है अतः उसमें ही मोक्ष का अनुभव होना है। जैसे शरीर के बिना चित्त नहीं रहता इसलिये शरीर की शुद्धि, चित्त की शुद्धि के लिये ज़रूरी, उसी प्रकार चित्त के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता, इसलिये चित्त की शुद्धि ज्ञान के लिये ज़रूरी। ब्रह्मज्ञान से, अज्ञान नष्ट होने के बाद जो शुद्ध चेतन बच जाता है उसे किसी शुद्धि की ज़रूरत नहीं है क्योंकि उसमें अशुद्धि कभी नहीं है। इसलिये कहा, 'यच्चित्तस्तन्मयो मूर्त्यः' जो मरणधर्मा मनुष्य है वह वैसा है जैसा उसका चित्त है। तन्मय अर्थात् तद्रूप ही हो जाता है। चित्त जब शरीर वाला है, तब शरीर की बीमारी से चित्त बीमार हो जाता है क्योंकि शरीर के साथ तादात्म्य है। मनुष्य का एक शरीर ही उसका चित्त भी है अतः वह 'तन्मय' अर्थात् चित्त से एकमेक हुआ चित्त द्वारा धारण किये आकार वाला हो जाता है। जैसे शरीर वैसे शरीर के बाहर की चीजों से भी हम स्वयं को परिवर्तित अनुभव करते हैं। बाहर एक हजार करोड़ रुपया हो जाये तो, तुम्हारा रूप 'मैं धनी' हो जाता है! जैसे बुद्धि के वैशिष्ट्य से 'मैं विद्वान्' समझते हैं वैसे बाह्य धन से भी 'मैं धनी' समझते हैं। उपाधि 'यन्मय' अर्थात् जैसी होती है, जीव भी तन्मय ही हो जाता है, तद्रूप ही हो जाता है।

इसे सनातन गुह्य, गोपनीय रहस्य बताया। आत्मा स्वभाव से ही शुद्ध है, भ्रममात्र से अशुद्धि का अभिमान होता है यह बात हमसे छिपी रखी गयी है, अज्ञानवश हम यह रहस्य जानते नहीं। लाभ इसका यह है कि हम शरीर-मन आदि को शुद्ध करने का प्रयास कर पाते हैं जिससे उस अज्ञान का निरास हो। शुद्ध आत्मा तो अज्ञानविरोधी है नहीं; उसका साक्षात्कार ही अज्ञान का समापक है। 'शुद्ध हूँ' इस सदासिद्ध स्थिति से संतुष्ट न बैठ जायें इसीलिये अज्ञान से इस रहस्य को छिपाया गया है ताकि साधनपूर्वक कल्याणोपाय सम्पादित कर अज्ञान दूर कर सकें। ॥११३॥

संसरण कराने वाला ही चित्त मोक्षहेतु भी बनाया जा सकता है यह बताते हैं—

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।

प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥११४॥

चित्त की शुद्धि से (जीव) शुभ-अशुभ कर्म समाप्त कर शान्तमना हुआ चिन्मात्र रहते हुए अविनाशी सुख आत्मसात् करता है।

इस अनादि संसार में, अनन्त कर्मों को इकट्ठा किया हुआ है, अतः अनन्त प्रकार के सुख-दुःख वे देंगे। चित्त को शुद्ध कर भी लो परन्तु किये कर्म कैसे निवृत्त हों? ऐसे वचन मिलते हैं जो कहते हैं कि अनेक कल्प बीतने पर भी किये कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं। इनसे लगता है कि चित्त शुद्ध भी कर लो, आत्मा का दर्शन भी कर लो, पर अनादिकाल के जो कर्म हैं उनको तो भोगना पड़ेगा, उसके बाद ही तो मुक्ति होगी। इसलिये कहा 'चित्तस्य हि प्रसादेन'। चित्त के शान्त हो जाने से कर्म समाप्त होते हैं। चित्त की एक प्रसन्नता है जो विषय-भोग से सुखी होने पर पता चलती है। पर वह भोग की प्राप्ति रहते ही है एवं दूसरे भोग की इच्छा पैदा कर देती है। इसलिये उसको वास्तव में प्रसाद नहीं कह सकते। जब कार्तिक माह में तालाब बिलकुल निर्मल हो जाता है तब संस्कृत में उसे कहते हैं कि प्रसन्न है। इसी प्रकार जब चित्त में परमात्मा यथावत् प्रतिबिम्बित होता है, तब कहते हैं कि चित्त का प्रसाद हुआ, प्रसन्नता हुई। जितना-जितना ब्रह्म का अनुसन्धान करते हैं उतने-उतने किये सारे कर्म क्षीण होते चले जाते हैं। इसलिये वेद ने कहा है 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा ५.२४.३)। जैसे सरकण्डे से जो पतली डोरी-जैसा तूल निकलता है उसे अग्नि में डालते ही वह जल कर भस्म हो जाता है, इसी प्रकार अन्तःकरण में ब्रह्म की जितनी वृत्ति बनाते हो, श्रवण, मनन या निदिध्यासन से, उतने ही पाप जलते चले जायेंगे, अतः अनादि कर्म सब समाप्त होते जाते हैं। ऐसा ही स्मृति ने भी कहा है—

‘उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च ।

प्रविष्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानम् समाचरेत् ॥’

चाहे ब्रह्महत्यादि महापाप हुए हों या गोवधादि उपपातक हुए हों, रात्रि के एक चरण के बाद ब्रह्मध्यान करना चाहिये, इससे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार श्रुति और स्मृति के अनुसार निर्धारित हो जाता है कि पूर्वार्जित कर्म भोगने ही पड़ें यह ज़रूरी नहीं, तत्त्वज्ञान से उनकी निवृत्ति की जा सकती है। चित्त का 'प्रसाद' अर्थात् बार-बार ब्रह्मानुसन्धान। उससे साधक शुभ और अशुभ कर्म, सभी समाप्त कर देता है। ऐसा करके प्रसन्नात्मा हो जाता है। उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है। जिसके चित्त में ब्रह्म ही प्रतिबिम्बित हो रहा है, जो सर्वथा शान्त हो गया है, वह अपने वास्तविक अद्वितीय आनन्दलक्षण स्वरूप में है, ब्रह्मरूप में स्थित हो जाता है, वहाँ से कभी भी हटता नहीं। अविनाशी सुख उसका स्वरूप हो जाता है। वह सुख उससे दूसरा अर्थात् अन्य नहीं है, चिन्मात्ररूप से स्थित होना ही अक्षय सुख है। वह पहले भी कभी क्षय नहीं हुआ, आगे भी क्षय होगा नहीं। जब लग रहा है कि 'दुःख है' तब भी वह पूर्ण सुख ही है। अतः अक्षय्य अर्थात् क्षय के अयोग्य कहा। आत्मस्थता से ही पूर्ण आनन्द प्रकट होता है। विशेषताओं के चिन्तनादि से जो सुख होता है उसकी अपेक्षा निर्विशेष-स्थिति का सुख अतुलनीय अधिक है। निर्विशेष होने से ही वहाँ से विचलन संभव नहीं, सविशेष स्थिति में अस्थिरता स्वाभाविक है। अतः निरोध द्वारा ब्रह्मानन्द की अभिव्यक्ति का महत्त्व है। अहंकार का आवरण रहते जो ब्रह्मानन्द उसे वासनानन्द बताया था। वह भी आवरण हटाने पर वास्तविक आनन्द प्रकट हो जाता है। इसके लिये प्रयास-रूप से किया दीर्घकालीन ब्रह्मध्यान पूर्वार्जित पापों का समापक है। तोता पुरीजी के बारे में प्रसिद्ध है कि वे दिन में सोते थे, रात में समाधिस्थ रहते थे। न्यूनतम बहिर्मुखता एवं कम से कम विक्षेप के लिये यह कारगर उपाय है। रात का एक चरण छोड़कर ध्यान प्रारम्भ करने पर न्यूनतम नौ घण्टे का ध्यान चलेगा। इससे पापात्मक मलदोष और विक्षेपदोष दोनों निवृत्त होते हैं। श्रवणादि से आवरण दोष हटता है। तीनों दोष दूर होने पर अक्षय ब्रह्मानन्द प्रकट होता है। 'अश्नुते' से यहाँ प्राकट्य, अप्रतिबद्ध अनावरण ही विवक्षित है। १११४।।

उदाहरण-प्रदर्शन से उक्त प्रसाद का उपाय सूचित करते हैं—

समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।

यद्येवं ब्रह्मणि स्यात् तत् को न मुच्येत बन्धनात् ॥११५॥

जन्तुओं का चित्त बन्धनकारी विषयों में जैसे भलीभाँति समग्रता से चिपका है, ऐसे अगर ब्रह्म में हो जाये तो बन्धन से कौन न छूट जाये!

जन्तु मायने जन्म लेना ही जिनका स्वभाव है। प्रमाता का स्वभाव ही है जन्म लेना। रोज़ जन्म लेता है। गहरी नींद में चला जाता है तो इसे शरीर का कुछ पता नहीं रहता। जब फिर जन्म लिया अर्थात् जाग्रत् में आया, तब पुनः प्रमाता हो गया। इसी प्रकार स्वप्न में भी स्थूल शरीर का कोई भान नहीं रहता है। स्वप्न में मन कार्यकारी रहता है। स्वप्न में जाना एक तरह से दूसरा जन्म है क्योंकि सूक्ष्म शरीर, मन तो यही बना रहा परंतु यह स्थूल

शरीर वहाँ प्रतीत नहीं होता। अतः जाग्रत् में जो जवान होता है, वह स्वप्न में अपने को बुढ़ा देखता है। इससे भी स्पष्ट है कि स्वप्न में जाना जन्मान्तर की तरह है। जब गहरी नींद में जाते हैं तब सूक्ष्म शरीर भी नहीं रहता। यह महाप्रलय की तरह हो गया क्योंकि प्रलय में सूक्ष्म शरीर नहीं रहता है। इस प्रकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के चक्कर में घूमते रहना और भिन्न-भिन्न योनियों में जाकर जन्म लेना यही जिसका स्वभाव है उसका नाम है 'जन्तु'। प्रमाता हमेशा अपने को जन्म वाला ही समझता है। जाग्रत् काल में शरीर के साथ सम्बन्ध रहता ही है। जन्तु का जो मन है, वह विषयरूप गोचर में समासक्त है। गोचर उसको कहते हैं जहाँ गायें चरने जाती हैं। शास्त्रों में इंद्रियों को भी गो कहा है। इसलिये इंद्रियों की जो चरने की जगह है, वह विषय हैं। गोचर अर्थात् इंद्रियों के चरने की भूमि। उसमें मन ऐसा आसक्त है कि वही स्वाभाविक लगता है।

विषयों में मन का जाना स्वाभाविक बिलकुल नहीं है। स्वाभाविक तो है कि मन परमात्मा में जाये। जैसे हम लोग यहाँ पैदा हुए हैं, यहीं की भाषा, वेशभूषा, भोजन हमारे लिये स्वाभाविक हैं। परंतु भ्रम से हमारा 'स्वाभाविक' हो गया है विदेशी कपड़े पहनना, विदेशी भाषा बोलना। अपनी मातृभाषा बोलने में भी कठिनता लगती है। इसी प्रकार हमारा स्वरूप तो है सच्चिदानन्द ब्रह्म। स्वभाव से हम परमात्मस्वरूप हैं। परंतु मन के साथ हमने ऐसा प्रेम कर रखा है कि मन जिसको चाहता है, उसी को हम सोचते हैं कि हम चाहते हैं। मन जिससे दुःखी होता है, हम सोचते हैं कि हम उससे दुःखी हैं। मन की भाषा हमारी भाषा नहीं है। असत्-जड-दुःखरूप है मन। यह प्रकृति से पैदा हुआ है। हम हैं इससे विपरीत, सच्चिदानन्दरूप। परंतु रात-दिन मन की भाषा बोलने से, जब मन प्रसन्न होता है तब सोचते हैं, 'मैं प्रसन्न हूँ'। इसलिये कहा 'समासक्तम्'। शास्त्र जब कहते हैं कि तुम साक्षी द्रष्टा हो, तब जन्तु कहते हैं 'ठीक है, पर मन नहीं मानता, क्या करें!' जैसे अस्वभाव को स्वभाव बना लिया है, वैसे ही जब मन स्वभाव से परमात्मा में ही लगे, तब बन्धन से मुक्त कौन नहीं होगा! क्योंकि बन्धन आध्यासिक है इसलिये तत्त्वसाक्षात्कार से निवृत्त होता है, उसकी उपलब्धि आत्मा पर शुद्ध मन एकाग्र होने से सम्भव है। ११५॥

मैत्रायणी में ही पूर्वोक्त तथ्य दृढ़ करने के लिये मन का द्वैविध्य कहा है—

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाऽशुद्धमेव च।

अशुद्धं कामसम्पर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम्॥११६॥

मन दो तरह का बताया गया है—शुद्ध और अशुद्ध। कामना आदि के सम्पर्क से मन अशुद्ध तथा उनसे रहित मन शुद्ध है।

यदि चित्त, मन ही संसार है तो सुषुप्ति में मोक्ष होना चाहिये क्योंकि तब मन नहीं रहता। किंतु मोक्ष इसलिये नहीं होता कि तब मन छिपा रहता है! आत्मस्वरूप मोक्षहेतु होता तो मन छिपना मोक्ष हो भी सकता था। किंतु बंधनहेतु की तरह मोक्षहेतु भी मन है। एक

ही मन बंधन और मुक्ति दोनों का कारण है। अतः शास्त्र में यह भी कहा है कि मन से परमात्मा जाना नहीं जाता और यह भी कि मन के द्वारा ही जाना जाता है! ये विरुद्ध बातें नहीं हैं। जैसे, दही नुकसान करता है परंतु दही को चीनी, ख़ाँड के साथ खाया जाये तो फ़ायदा करता है। एक ही चीज़ किसी अवस्था में फ़ायदा, किसी में नुकसान करती है। अनेक ऐसी चीज़ें हैं। गौडपादाचार्य कहते हैं कि अधिकतर योगी यही मानते हैं 'मनसो निग्रहायत्तम् अभयं सर्वयोगिनाम्'। जब तक मन का निग्रह करोगे, रोकोगे, तभी तक तुमको अभय पद की प्राप्ति है। जहाँ उसे नहीं रोका, वहीं फिर भय हो जायेगा। परंतु वेद कहता है कि ऐसा नहीं है। मन बहुत दुःखदायी अवश्य है परंतु जब मन का शोधन हो जाता है, मन शुद्ध हो जाता है तब वही सुखदायी भी है। अशुद्ध मन के कारण नाम-रूप तो दीखते हैं, उनका अधिष्ठान जो सच्चिद्रूप वह नहीं दीखता है। अशुद्ध मन नाम-रूप में आसक्त रहता है। जब तक यह ऐसा रहेगा तब तक बन्धन है। अशुद्धि क्या है? मल, आवरण और विक्षेप—ये अशुद्धि हैं। जब अशुद्धि हट जाती है तब मन शुद्ध हो जाता है। जब मल, आवरण, विक्षेप हट जायेंगे तब मन ब्रह्म को विषय करने वाला रह जायेगा। उस मन में ब्रह्म ही भरा रहेगा। जहाँ कहा है, 'मन से ही जाना जाता है', वहाँ तात्पर्य है कि शुद्ध मन से जाना जाता है। भगवान् भाष्यकार (गीता २.२१) कहते हैं 'शास्त्राचार्योपदेशशमदमादि-संस्कृतं मन आत्मदर्शने करणम्'। शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जिस बुद्धि का संस्कार हो गया है वही तत्त्वज्ञान कर लेती है। जो लौकिक बुद्धि है, उससे सत्य का कभी दर्शन नहीं होता। जो लौकिक दृष्टि से सोचने वाले हैं, उन्हें कभी भी ब्रह्मदृष्टि बनती नहीं।

आचार्य शंकर ने इसीलिये ब्रह्मनिष्ठा के लिये सर्वकर्मसंन्यास अनिवार्य बताया। अविद्या से भेददृष्टि और तभी कामना से कर्म सम्पन्न होता है। दिन में बीस घण्टे भेददृष्टि बनाने वाली कर्मिबुद्धि केवल चार घण्टों के अभेदचिंतन से अभेदनिष्ठ नहीं हो सकती। संन्यासी इससे विपरीत, बीस घण्टे अभेददृष्टि बनाता है, प्रारब्धवेग से व्यवहार आवश्यक होने पर चार घण्टे भेददृष्टि रखता है अतः उसकी बुद्धि अभेद में प्रतिष्ठित हो पाये यह संभव है। जब सर्वकर्म संन्यास करता है तब निरंतर अभेद दृष्टि रखना सम्भव होता है। इसलिये शुद्ध और अशुद्ध ये मन के भेद हैं।

मल, विक्षेप, आवरण को हटा चुका जो मन होगा, वह ब्रह्माकार ग्रहण करेगा। स्वरूप से नष्ट नहीं हुआ है लेकिन समासक्त ब्रह्म में है, ऐसा मन शुद्ध समझा जाता है। 'कामसम्पर्क' अर्थात् कामनासम्बन्ध से मन अशुद्ध है। काम से उपलक्षित हैं अविद्या और कर्म भी। अज्ञान से जब नाम-रूप को देखा तब उस में 'यह अच्छा है, यह बुरा है' ऐसी बुद्धि हुई। लड़का-लड़की हाथ पकड़ कर चले जा रहे हैं। अगर भाई-बहन हैं तो तुम्हें दोष नहीं दीखेगा पति-पत्नी हैं तो दोष दीखेगा। जैसे तुम्हारे संस्कार हैं वैसे दोष दीखेगा। इसी प्रकार ब्रह्मसंस्कारों वाले को वही दीखता है, जगत् के संस्कारों वाले को जगत् ही दीखता है। जगत् दीखेगा तो बन्धन शुरू हो जायेगा। अविद्या से होने वाली कामना से मन में

अशुद्धि आती है। कामना से अर्थात् उसके प्रति हेतुभूत भेदबुद्धि से रहित मन शुद्ध है। बिना किसी विषयचिन्तन के, जब तुम शांति से बैठे हो, कोई इच्छा नहीं है, विषय का सम्पर्क भी नहीं है तब भी अपने अहम् का आनन्द लेते हो। मन है, अहम् है, परंतु कोई कामना नहीं होने से आनंद है। लेकिन जब तक अविद्या हटती नहीं है, तब तक कामना का बीज पड़ा रहता है। जिसने श्रवण-मनन किया हुआ है उसके अन्दर ब्रह्मानन्द की वासना पल्लवित-फलित हो रही है, इसलिये वह कामविवर्जित है।

अहंकार की वृत्ति रहते हुए अन्य सारी वृत्तियों का परित्याग हो जाने पर भी वासनानंद आता है। कामना के सम्पर्क से मन अशुद्ध हो जाता है जैसे सोना स्वभावतः शुद्ध होने पर भी खोट मिला देने से खोटा हो जाता है। चीनी और नमक को मिलाकर रख लो, हमें एक ही सफेद चीज़ नजर आयेगी परंतु चींटी को वहाँ चीनी और नमक के कण अलग-अलग नज़र आते हैं अतः वह चीनी खा लेती है, नमक छोड़ देती है। हमारी आँखें यह भेद ग्रहण नहीं कर सकतीं, चींटी की आँखें कर लेती हैं। दो चीज़ें एक-सी दिखने पर भी विविक्त ग्रहण करने की सामर्थ्य होने पर व्यक्ति उन्हें अलग-अलग ग्रहण कर लेता है। पानी हमें साफ दिखता है पर उसे खुर्दबीन के सामने रखते हैं तो हमारी ही आँख उस यंत्र की सहायता से अनेक कीटाणुओं को देख लेती है। इसी प्रकार जब हमारा शम-दमयुक्त मन शास्त्र और आचार्य के उपदेश से संस्कृत होकर देखता है तब उसे सच्चिदानंद ब्रह्म दिखता है। नाम-रूप दिखने पर भी उसको वे मिथ्या दिखते हैं। खुर्दबीन के बिना न दिखने वाली चीज़ें उसकी सहायता से दिखती हैं और उनके रोगादि प्रभाव के कारण उन्हें युक्ति से उपपन्न भी किया जा सकता है। इसी तरह शास्त्रादि के अनुसार सत्तत्त्व का दर्शन है तथा उसका प्रभाव कैवल्य उसे उपपन्न भी करता है। निर्विशेष-साक्षात्कार के बिना वैकुण्ठ तक जाकर भी जय-विजय की तरह जन्म लेना पड़ता है जबकि साक्षात्कार से दृश्यमात्र का बाध हो चुकने पर बंधन की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है, दुःख नाम की चीज़ नहीं रहती।

यह नहीं कहा कि 'ब्रह्मज्ञान से संसार से तर जाओगे' वरन् 'तर जाता है' कहा अर्थात् आत्मज्ञान होते ही शोकनिवृत्ति है क्योंकि वास्तव में शोक है ही नहीं। शुद्ध अंतःकरण वह है जिसके द्वारा ब्रह्मदर्शन होता है, और अशुद्ध मन वह जो नाम-रूप से युक्त ही सच्चिदानन्द को ग्रहण करता है। अशुद्ध और शुद्ध दोनों मनो के प्रभाव सर्वथा अलग हैं। दुःख का मूल कारण क्या है? कामना। हमें जो अच्छा लगता है, वह न मिलने पर दुःख होता है। यद्यपि सुख का भी कारण कामना प्रतीत होती है तथापि उस निमित्त से कामना को कोई छोड़ना नहीं चाहता है! वास्तव में दुःख का ही कारण कामना है यह समझने पर ही कोई उसे छोड़ना चाहता है। इसलिये 'कामसम्पर्क' से कामना के संसर्ग से होने वाले दुःख की तरफ इशारा है। अशुद्धि कामना में यही है कि वह शोक कराती है। जब दुःख का कारण कामना रही नहीं, तब शुद्ध मन में दुःख रहेगा नहीं। ११६।।

शुद्ध-अशुद्ध मन का प्रभाव दिखाते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।।११७।।

मनुष्यों का मन ही उनके बंधन और मोक्ष के प्रति कारण बनता है। विषयों में आसक्त मन बन्धन के लिये उपयोगी है जबकि विषय से अनासक्त मन मोक्ष के लिये उपयोगी है।

विषय भूमि में चरने वाला चित्त बताते हुए जीव को 'जन्तु' कहा था (११५) जिससे सभी प्राणियों का संग्रह हो गया। यहाँ कहा 'मनुष्याणां' मनुष्यों का मन ही। मनन करना, विवेक करना—यह मनुष्य में ही है, दूसरे प्राणियों में नहीं है। पशु और मनुष्य का यही अन्तर है। जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सुख दीखता है, उसकी तरफ जाना, और जो दुःख दीखता है उससे दूर जाना—यह तो जन्तुओं का धर्म है। परन्तु मनुष्य में विशेषता यह है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जो नहीं जाना जाता है, उस सुख के लिये प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से होने वाले दुःख को भी सहन करता है। जैसे, भोजन उपलब्ध होते हुए भी, भूखे होने पर भी, क्योंकि शास्त्र कहता है कि आज एकादशी है अतः नहीं खाओगे तो पुण्य होगा इसलिये भूखे रहते हो। पुण्य अदृश्य है। मनन करके मनुष्य ने निश्चय किया है कि वेद-शास्त्र के वाक्य ठीक हैं। तभी वह प्रत्यक्ष का दुःख सह रहा है ताकि अदृश्य पुण्य हो जिससे भविष्य में कभी सुख मिले। मनन मनुष्य को पशुओं से अलग कर देता है। अनेक मनुष्य, मनुष्य योनि में पैदा होकर भी चाहते हैं कि पशु हो जायें। खाना-कपड़ा-रोजगार—यही मिलना चाहिये ऐसा प्रचार करने वाले लोग खुद तो पशु हैं ही, बाकी को भी पशु बनाना चाहते हैं।

मनन करने वाले का मन बन्धन और मोक्ष का कारण है। मोक्ष का कारण मनन करने वाला मन तथा बन्धन का कारण अशुद्ध मन है। बन्धन का कारण मनुष्य का मन ही है। 'हम बद्ध हैं' यह तथ्य गैरमनुष्यों के सामने प्रकट नहीं है। जो मनुष्य नहीं वे बँधे होने पर भी 'मैं बद्ध हूँ' ऐसा जानते नहीं हैं। जो शास्त्र-आचार्य के उपदेशों से संस्कृत अन्तःकरण वाले नहीं उनकी 'हम बन्धन में हैं' यह भान ही नहीं है। 'हम गरीब-अमीर हैं' यह तो पता लग जाता है, लेकिन 'हमें परमात्मा का ज्ञान नहीं है' यह प्रतीति ही नहीं है, जन्म-मरण कोई बन्धन है यह प्रतीति नहीं है। जो विवेकी है, उसी को यह भान होता है कि 'मैं बद्ध हूँ'। इसी प्रकार, स्वरूप से आत्मा नित्यमुक्त है परंतु फिर भी उस मुक्ति से मोक्ष की प्रतीति नहीं है। जब मल-विक्षेप-आवरण से रहित अंतःकरण हो जाता है तब ब्रह्माकार वृत्ति बनती है जिससे 'मैं नित्य, शुद्ध, मुक्त, बुद्ध हूँ' ऐसी प्रतीति होती है।

बन्धन और मोक्ष दोनों का ज्ञान मनुष्य के मन को होता है, पशु-पक्षियों को या पशुसमान मनुष्यों को यह ज्ञान नहीं होता है। कारण क्या है? विषयों में आसक्त होने पर मन अशुद्ध हो जाता है। उस मन से बन्धन की प्रतीति होने पर भी वह बंधन है यह पता नहीं लगता। जो मनन करना चाहता है और कर नहीं पाता, उसे वह बन्धन स्फुट होता है।

जिसका विवेकी मन नहीं है उसके मन में विषयों की आसक्ति न होवे, तो वह मनोवैज्ञानिकों के पास जाता है! निष्कामता को विषयी लोग रोग मानते हैं। जो विवेकी है, जब विषयों की तरफ उसका मन जाता है तब उसे 'मैं बद्ध हूँ' यह स्फुट होता है। जब मन विषयों की तरफ नहीं जाता तब बन्धन का अनुभव नहीं होता। विवेकी ही शान्ति में सुखानुभव करता है। जो विवेकी नहीं है, वह थोड़ी देर भी शान्ति से नहीं बैठ सकता वासनानन्द भी वहीं स्थिर रह सकता है जिसका मन शुद्ध हो गया है। मुक्ति के लिये वही मन साधन बनता है जो विषय-बंधन से सर्वथा छूट चुका है। वासनानन्द को धीरे-धीरे छोड़कर शुद्ध चेतन में स्थिर हो जाना विवेकी तत्त्वज्ञ के लिये सम्भव है ऐसा शास्त्रकारों ने कहा है। ११७॥

निर्मल मन में आत्मानन्द की अभिव्यक्ति स्पष्ट करते हैं—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तद् अन्तःकरणेन गृह्यते ॥ ११८ ॥

समाधि से निर्मल बनाये मन को प्रत्यक्षस्वरूप में प्रविष्ट करने पर जो सुख होता है वह शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा पाता, स्वयं ही उस स्थिति में अन्तःकरण से समझा जाता है।

जितना-जितना जीव परमात्मचिन्तन, ब्रह्मध्यान करता है, उतना-उतना ही मल और विक्षेप दूर होते हैं। जैसे कपड़े को जितना क्षार से रगड़ो, उतना ही कपड़ा साफ होगा उसी प्रकार मन को जितना समाधि का अभ्यास कराओगे उतना ही मन पर लगे मल और विक्षेप के संस्कार धुलेंगे। जैसे तुमने दीवाल पर और कोई पक्का रंग पोत लिया, अब रंग बदलना है, सफेद करना है तो तुम्हें अधिक मेहनत करके पुराने रंग को हटाना पड़ेगा। ऐसे ही मन पर विषयों का गहरा रंग चढ़ा हुआ है, इसे लम्बे समय तक जब साफ करोगे तभी वह हटेगा। शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जो संस्कृत मन है, वह परमात्मवस्तु पर स्थिर होता है। 'समाधिनिर्धूतमलस्य' में मल से विक्षेप को भी समझ लेना। समाधि से जब मल-विक्षेप हट चुकते हैं तब मन परमानन्द पर स्थिर होता है। भगवान् भाष्यकार कर्मत्याग पर इसलिये ही जोर देते हैं। कर्म लगातार विषयों के ही संस्कारों को चढ़ाते हैं। जिसने दीर्घकाल तक समाधि का अभ्यास कर लिया, ऐसे चित्त को आत्मा में घुसाया जा सकता है। पहले शास्त्र और आचार्य के द्वारा उपदेश दिया जाने पर जो ज्ञान प्राप्त होता है, समाधि में उसी में गहरा एवं स्थिर प्रवेश हो जाता है। ऐसा नहीं कि समाधि में ज्ञान नवीन मिले। ज्ञान तो जब पहली बार तत्त्वमसि सुना था, तभी हुआ। परंतु जो सुनाया था उसके अन्दर निवेश, प्रवेश नहीं हो पाया क्योंकि चित्त में संसार का रंग पहले लगा था। जब वह हटा, तब उसी ज्ञान के अन्दर मन प्रविष्ट हो जाता है। आत्मस्वरूप में निविष्ट होने पर अपार, असीम सुख होता है। ऐसे सुख का अनुभव होता है जो न किसी देश की सीमा से आक्रांत है, न काल की, न वस्तु की सीमा से आक्रांत है। इसलिये उसे वाणी के द्वारा बतला नहीं सकते।

वाणी अर्थ बताने में चार प्रकार से ही प्रवृत्त होती है—जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध। तुमने दस ब्राह्मणों को देखा है। हमने कहा 'देवदत्त आया था वह ब्राह्मण है।' तुम्हें कुछ ज्ञान होता है क्योंकि ब्राह्मण जाति से परिचित हो। 'रसोइया था' सुनकर क्रिया द्वारा पता चलता है। हमने कहा 'गोरा था' तो गौर गुण से उसे समझते हैं। अथवा कहा 'यज्ञदत्त पंडितजी का लड़का है' तो सम्बन्ध से उसे समझा। इस प्रकार, कुछ भी ज्ञान उसके बारे में शब्द द्वारा इन चार से ही प्राप्त कर सकते हो। इन चारों का ज्ञान यदि तुममें है तभी शब्द से समझ आयेगी। मनुष्य देख रखा है और 'देवदत्त मनुष्य है' सुनते हो तो समझोगे अन्यथा। 'देवदत्त' सुननेमात्र से यह पता नहीं लगेगा कि वह मनुष्य है। शब्द से तभी पता लगता है यदि उक्त चारों चीजों को तुमने पहले ग्रहण किया हो। अथवा तुम पहले देवदत्त से मिले हो, हम कहते हैं 'देवदत्त आया था', तो भी ज्ञान हो जायेगा। 'असीम' शब्द के अर्थ का ज्ञान अभी तक हुआ ही नहीं है तो 'ब्रह्म' आदि शब्दों से कैसे असीमता का ज्ञान होगा? 'गिरा' अर्थात् शब्द के द्वारा पूर्वज्ञात या ज्ञातसम्बन्ध का वर्णन किया जा सकता है, जबकि ब्रह्म ऐसा नहीं अतः वहाँ जो ब्रह्मरूप परमानन्द का सुख होता है, उसके लिये कोई वाचक शब्द न होने से वाणी से उसको प्रकट नहीं कर सकते। जिसे वह सुख हो रहा है, वही शुद्ध अंतःकरण से उसको ग्रहण करता है। यह गूँगे को आते स्वाद की तरह है जिसे वही जानता है, सही-सही कह नहीं सकता। शुद्ध अंतःकरण के द्वारा पता तो लगता है, स्वयं उसका ग्रहण करने पर भी अन्य को बता नहीं सकते। पहले श्लोक ११४ में कहा था 'सुखमक्षय्यमश्नुते', वह अक्षय सुख कैसा है—उसे यहाँ कहा कि अलौकिक है, इसका अनुभव किया जा सकता है, बताया नहीं जा सकता।

संस्कारहीन को 'मैं बद्ध हूँ' यह भान जैसे नहीं है वैसे मोक्षरूप आनन्द का भान नहीं है। जन्म-मरण के चक्र का ज्ञान शास्त्र से ही हो सकता है। कई बार लोग कहते हैं कि जन्म-मरण तो सब मानते हैं किंतु भारत के बाहर चले जाओ तो कोई विदेशी जन्म-मरण के चक्र को नहीं मानता। जन्म-मरण का चक्र है भारत में जन्मे का। इसलिये है कि यहाँ शास्त्रों के संस्कारों का आधान है। आजकल संस्कार-आधान की प्रक्रिया अवरुद्ध हो गयी अतः अब पढ़े-लिखे भी कहते हैं 'आगे किसने देखा है!' यह वह कहता है जिसको शास्त्र के संस्कारों की प्राप्ति नहीं हुई। 'मैं बद्ध हूँ' यह भी विवेकी मनुष्य का ही ज्ञान है। जब शास्त्र और आचार्य के द्वारा वास्तविकता के संस्कार दृढ़ हो जाते हैं, तब पता लगता है कि जन्म-मरण का चक्र किसी का नहीं है! यह तो केवल रज्जु में सर्प की तरह भ्रान्ति है। आत्मा सदैव नित्य बुद्ध मुक्त है। अज्ञान के कारण हमको जन्म-मरण की प्रतीति है। जन्म-मरण का चक्र जानना बन्धन हुआ, और 'एक बार भी, एक क्षण को भी जन्म नहीं हुआ'—यह जानना मुक्ति है। यह भी शास्त्र और आचार्यों के उपदेश के संस्कारों से ही होती है। इसलिये मन को ही बंधन और मोक्ष का कारण बतलाया। इस प्रकार की समाधि, आत्मा में मन का स्थिर हो जाना, अत्यंत कठिन है, दुर्लभ है। किन्तु इसकी प्राप्ति के बिना ब्रह्मानंद का निश्चय नहीं हो सकता। ११८॥

ब्रह्मानन्द का निश्चय समाधि से कैसे जबकि समाधि ही दुर्लभ है? इसके उत्तर में कहते हैं—

यद्यप्यसौ चिरं कालं समाधिर्दुर्लभो नृणाम् ।

तथापि क्षणिको ब्रह्मानन्दं निश्चाययत्यसौ ॥११९॥

यद्यपि दीर्घकालिक यह समाधि मनुष्यों को दुर्लभ है तथापि क्षणभर को भी हुई ऐसी समाधि ब्रह्मानन्द का निश्चय करा देती है।

तीन घण्टे लगातार चित्तवृत्ति निरुद्ध रहे, उसी को समाधि कहते हैं जो सामान्यतः लोगों के लिये दुर्लभ है। इसलिये उपनिषदों में कहा है कि ब्रह्मलोक में जो ब्रह्मज्ञान होता है वह जैसे छाया और धूप विलकुल स्पष्ट पता चलते हैं ऐसे एकदम साफ हुआ करता है। अन्यत्र स्पष्टता में कमी रहती है। इसी प्रकार तीन घण्टे की समाधि के अभ्यास से जो होगा, वह भी अतिस्पष्ट होगा। ब्रह्मलोक के नीचे के लोकों में वैसा स्पष्ट ज्ञान होता नहीं है। कारण है कि तीन घण्टे तक कोई तीव्र प्रारब्ध का उदय न होवे तभी विक्षेप नहीं हो। तीव्र प्रारब्ध के आने पर चाहे जैसा योगी होवे, उसको विक्षेप होगा ही। जो मनुष्य-लोक में आया है उसके पुण्य और पाप करीब-करीब एक जैसे होते हैं। इसलिये हमारा कभी एक घण्टा भी ऐसा नहीं होता जिसमें सुख ही सुख होवे, दुःख न होवे। इसी तरह हम लोगों का कोई दुःख प्रायः ऐसा नहीं होता जिसके बीच में सुख न होवे। कोई एक घण्टा भी ऐसा नहीं होगा कि कोई-न-कोई प्रारब्ध सुख या दुःख देने वाला उदय न होवे। तीव्र प्रारब्ध होगा तो ज़रूर सुख-दुःख देगा। इसलिये कहा 'नृणाम्'। जिनके अच्छे कर्म-उपासना हैं वे ब्रह्मलोक को जाते हैं वहाँ उन्हें दीर्घकाल की समाधि संभव है। आत्मा में एकाग्रता दीर्घकाल तक प्राप्त होना अत्यंत कठिन है।

आत्मा में चित्त की स्थिरतारूप समाधि ही अधिक कठिन है, अन्य समाधियाँ ऐसी दुर्लभ नहीं हैं, वे तो लग भी जाती हैं। इसका मूल कारण है कि मन माया से पैदा हुआ है और माँ को बच्चे से बहुत प्रेम होता है इसलिये माया मन से कहती है, 'तू यहाँ तो द्वैतक्षेत्र में जैसी समाधि लगानी चाहे लगा ले, लेकिन यदि अद्वैत में समाधि लगा ली तो मेरे हाथ से ऐसा निकल जायेगा कि कभी हाथ नहीं आयेगा'! इसलिये माया मन को सारी चीजें देने को तैयार है, यह समाधि नहीं देना चाहती। कर्मफल उदय होना ही मानो माया का इसमें विघ्न का प्रयास है। तथापि जीव के कल्याण की आशा है क्योंकि आत्मनिश्चय के लिये ऐसी दीर्घकाल की समाधि की अनिवार्यता नहीं है। क्षणभर को भी जो ब्रह्मानन्द मिल जाता है उसी से शास्त्रीय बोध को बल उपलब्ध हो जाता है। चित्त सारी चिन्ताओं से छूटे, विषय ग्रहण न करे और अहंकार भी लुप्त हो—ऐसा क्षणभर के लिये भी हो जाये तो ब्रह्मानन्द का पता लग ही जाता है। शास्त्र से निर्धारित तथ्य की इतनी झलक भी निश्चय के लिये पर्याप्त हो जाती है। उस क्षणिक अनुभूति के बल पर शास्त्रोक्त सत्य को अनुमान का सहारा भी उपलब्ध हो जाता है।

जब वासनानंद का अनुभव होता है, जब केवल अहंकार-वृत्ति है, उस वृत्ति को भी जब आत्मा में एकाग्र करते हो, अहंकार लुप्त-सा हो जाता है, उस समय केवल आनंद का ही भान रहता है। उस क्षणिक ब्रह्मानंद के तुरन्त बाद प्रारब्ध फिर जग जायेगा, लेकिन उतना भी साक्षात्कार ब्रह्मानन्द का निश्चय करा देता है। अहंकार, विषयज्ञान और वासना न होने पर भी जो क्षणभर को हुआ, वह निश्चय करा देता है कि आत्मा असीम आनन्द है।

इतना भी अनुभव हुए बिना ब्रह्मानंद का निश्चय नहीं होता है। लोगों को लगता है कि कुछ मिलने से सुख होता है। 'मैं सुखस्वरूप हूँ' यह निश्चय नहीं होता है। ब्रह्म की आनंदरूपता को सुनकर लोग दीर्घकाल में भी ऐसा निश्चय नहीं कर पाते। अब आनंदस्वरूप ब्रह्म है—यह निश्चय उसी को होगा जिसे शास्त्र पर पूर्ण श्रद्धा है। 'वही अनुभव सच्चा है' यह तो शास्त्र से ही निर्णय होगा। जैसे रस्सी में साँप को भी तुमने देखा। रोशनी आने पर रस्सी को भी देखा। अगर तुमको यह निश्चय है कि रोशनी वाला ज्ञान सच्चा होता है तभी उसे प्रमाण मानकर सर्प का भ्रम मानोगे। कोई शंका करे कि 'रोशनी वाले रस्सी के ज्ञान को ही हम सच्चा क्यों मानें?' तो निश्चय नहीं होगा। जिसको यह श्रद्धा है कि रोशनी में जो दीखता है वही सच्चा होता है, उसको रस्सी है यह निश्चय हो जायेगा। इसी प्रकार अहंकार का लोप होने पर जो आनंद है, उसका अनुभव तो योगियों को भी हो जायेगा, परंतु वह सच्चा है इसका निश्चय उसी को संभव है जो शास्त्र पर श्रद्धा रखता है। ११६॥

श्रद्धा और तत्प्रेरित अभ्यास से निश्चय की उपलब्धि समझाते हैं—

श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्र निश्चिनोत्येव सर्वथा।

निश्चिते तु सकृत् तस्मिन् विश्वसित्यन्यदाऽप्ययम् ॥१२०॥

'किसी भी तरह से यह स्थिति सम्पन्न करूँगा' इस आग्रह वाला श्रद्धावान् समाधि में तो निश्चय करता ही है किन्तु एक बार निश्चय हो जाने पर अन्य दशाओं में भी उस तथ्य पर विश्वास स्थिर रखता है। ('सर्वथा' की जगह 'सर्वदा' कल्याणपीयूषटीका के अनुसार पाठ है।)

आत्मदर्शन के लिये, श्रवण-मनन-निदिध्यासन भी कर लिये, पर 'आत्मा ब्रह्मानन्दस्वरूप है' यह निश्चय नहीं कर पाते। हमें संस्कार है कि कुछ मिले तो आनंद होवे। अतः 'ब्रह्म का आनन्द' तो समझ में आता है लेकिन ब्रह्म ही आनंद है—यह निश्चय नहीं हो पाता। जब तक ब्रह्म की आनंदरूपता का निश्चय नहीं रहेगा, तब तक व्यक्ति बहिर्मुख होगा। जब यह निश्चय होगा कि 'आनन्द-स्वरूप तो मैं खुद ही हूँ' तब किसी चीज़ के लिये मन कामना नहीं करेगा। बहिर्मुखता से पता लगता है कि अभी बाहर की चीज़ों से सुख लेने की प्रवृत्ति है। ब्रह्म की आनन्दरूपता में कारण है श्रद्धा। निर्विषय आनन्द का क्षणिक अनुभव होकर भी निश्चय तब होता है जब साधक श्रद्धालु होवे अर्थात् स्वीकारे कि शास्त्र जो कहता है वह सच्चा है, इंद्रियों और मन से जो जाना जाता है, वह मिथ्या है।

यह निश्चय केवल श्रद्धा से ही होता है।

श्रद्धा के साथ दूसरी चीज़ बतलाई व्यसन। व्यसन का मतलब होता है जिस कार्य को किसी विपरीत हालत में भी छोड़ नहीं सकें। ब्रह्मानन्द पाये बिना जिससे रहा नहीं जाता वही वासनानन्द के द्वारा ब्रह्मानन्द का निश्चय करने का अभ्यास करेगा। शुरू में तो लगता है कि क्षणिक सुख में क्या रखा है? लेकिन जो व्यसनी है वह 'मुझे ब्रह्मानन्द ही प्राप्त करना है' इस हठ से बार-बार इसी का अभ्यास करेगा जिससे उसका अहंकार भी लुप्त होगा और धीरे-धीरे ब्रह्मानन्द के संस्कार दृढ़ हो जायेंगे। क्षणिक होने पर भी बार-बार का अभ्यास करने से यह निश्चय दृढ़ हो जाता है। श्रद्धा और व्यसन इन दो गुणों वाला इसका निश्चय अवश्य प्राप्त करता है। मनन और अनुभव की आवृत्ति से सारे संशयों को हटा देना आवश्यक ही है। 'मैंने किया तब आनन्द हुआ' ऐसा नहीं समझकर स्थित आनन्द का अनुभव किया—यह समझना चाहिये। जैसे 'मैंने रोशनी लाकर साँप को रस्सी बना दिया' ऐसा नहीं, उसी प्रकार ब्रह्मानन्द हम बनाते नहीं वरन् उसे प्राप्त करते हैं। प्रमुख है ऐसा निश्चय करना जिसे प्रतिबद्ध करने वाला कोई संशय न रह जाये।

श्रवण-मनन से ब्रह्म की आनन्दस्वरूपता का एक बार निश्चय क्षणभर को भी होने पर तो केवल समाहित स्थिति में नहीं, अन्य स्थितियों में भी विश्वास बना रहता है कि वास्तविकता वही है। समाधि में जो सत्यापित हुआ वह व्युत्थान में भी सत्य ही समझा जाता है, चाहे वैसा ग्रहण न किया जा रहा हो।

नाम-रूप का व्यवहार करते हुए भी, उसका यह निश्चय नहीं जाता कि आत्मा निर्विकार पूर्ण आनन्द है। ऐसे समझो : कोई सज्जन पुरुष है, किसी पराई स्त्री को कुदृष्टि से नहीं देखता। उसे रामलीला में रावण बना दिया। सीता को लेकर दौड़ता है तो क्या वह कामुक हो जाता है? ऐसा नहीं, क्योंकि जानता है कि सीता भी कोई लड़का ही बना है! वैसे भी वह कामुक व्यक्ति है नहीं। इसी प्रकार प्रारब्धवेग से उपाधि का ग्रहण होने पर भी उसे विषय के मिथ्यात्व का और अपने अभोक्तापने का निश्चय है अतः ग्रहण से वह विकृत नहीं हो जाता। बाकी सब उसे भले ही बुरा आदमी समझें पर उसमें कामना आदि नहीं है जैसे सीता बने लड़के के प्रति रावण बने लड़के की कामना नहीं है। 'मैं अभोक्ता हूँ, और ये सारे नाम-रूपात्मक विश्व मिथ्या हैं' यह जब निश्चय हो गया, तब शरीर-मन की प्रवृत्ति से विश्वास में कोई अंतर नहीं आता ॥१२०॥

उक्त विश्वास का प्रभाव बताते हैं—

तादृक् पुमान् उदासीनकालेऽप्यानन्दवासनाम् ।

उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः ॥१२१॥

ऐसा व्यक्ति उदासीनता के समय भी वासनानन्द की उपेक्षा कर तत्पर हुआ मुख्य आनन्द की भावना करता ही रहता है।

जिसने श्रद्धा और व्यसन के द्वारा निश्चय को प्राप्त कर लिया है ऐसा व्यक्ति वासनानन्द का सुख तुच्छ जानकर उसे छोड़ता है। अहंकार का जब लोप हुआ, तब ब्रह्मानन्द का उसने निश्चय कर लिया है। तदनन्तर उदासीन काल में, अर्थात् जब कुछ नहीं कर रहा है, शांति से बैठा है तब पुनः मुख्यानन्द को याद करता है। पहले वासनानन्द का प्रयोग करता था मुख्यानन्द ग्रहण करने के लिये। श्लोक ६४-६५ में यह समझाकर श्लोक ६८ में कहा था कि वासनानन्द से मुख्यानन्द का अनुमान होता है। पहले अनुमान के लिये वासनानन्द की ज़रूरत रहती थी। लेकिन अब जब निश्चय दृढ़ हो गया तब उदासीन काल में भी वासनानन्द की उपेक्षा ही करता है। जो मुख्य आनंद है, जिसके कारण यह हो रहा है, उसी की तत्परता से भावना करता है। शनैः शनैः वासनानन्द से भी हमें हट जाना है। इसलिये उस मुख्य आनंद की ही बार-बार भावना करता है। वासनानन्द के अनुभवकाल में उसके रसास्वाद में नहीं लग जाता, उसके अन्दर मुख्य आनंद पर दृष्टि एकाग्र करता है। १२१॥

असमाहित अवस्था में भी समाधि के अनुभव में दृष्टान्त देते हैं—

परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि ।

तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥१२२॥

पराये पुरुष में आसक्त उसकी संगति के दुर्व्यसन वाली स्त्री अपने घर के काम में व्यस्त होने पर भी मन ही मन परपुरुष के संग के उसी रस का मानो स्वाद लेती रहती है।

यह दृष्टान्त ध्यानदीप श्लोक ८४ में समझा चुके हैं। अपने पति पर आसक्त स्त्री के लिये तो गृहकार्य भी पतिसेवारूप होता है। लेकिन अन्यत्र आसक्त को गृहकार्य अनिवार्यता प्रतीत होता है, उसमें कोई सुख नहीं मिलता अतः अन्यत्र अनुभूत सुख का वह स्मरण करती रहती है या भावी सुख की कल्पना करती रहती है। गृहकार्य तो जैसे-तैसे पूरा ही करती है, उसके गुणादि में उसे आदर नहीं होता। इसी प्रकार विद्वान् का गृहकर्म है शरीर-रक्षार्थ जो कुछ करना पड़े। शरीर को घर बताया जाता है। 'शारीर कर्म' करना आवश्यक है ही किंतु उसमें विद्वान् को कोई प्रसन्नता नहीं होती। व्यग्रता से, जैसे-तैसे होकर खत्म हो—इस तरह वह उसे संपन्न करता है एवं तब भी समाधि में जो परमेश्वर का संग, अभेद स्पष्ट हुआ था उसका स्मरण करता है। जैसे रोगनिवारक औषध रसायन प्रसिद्ध है वैसे जन्मजरादि स्थायी रोग का समापक वह परसंग ही रसायन है जिसका अंतः अर्थात् चित्त में वह आस्वादन, स्मृतिरूप अनुसन्धान करता रहता है। १२२॥

उक्त दृष्टान्त का प्रकृत में तात्पर्य स्वयं व्यक्त करते हैं—

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।

तदेवास्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥१२३॥

इसी प्रकार शुद्ध परमार्थ वस्तु के बारे में जो निश्चय वाला है अतः विश्राम पा चुका है वह बाह्य व्यवहार करते हुए भी भीतर उसी का स्वाद लेता रहता है।

[प्र. ११ श्लो. १२४]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२७७

जैसे परपुरुष के संग से सुखी हुई नारी वैसे समाधि में अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार कर चुका पुरुष उस बारे में दृढ निश्चयी होता है। वैसी स्त्री को कभी शंका भी नहीं होती कि परप्रसंग में क्लेश भी है! ऐसे ही विद्वान् परमार्थ के बारे में निःसन्दिग्ध होता है। 'तत्त्वे' आदि में सप्तमी विषयार्थक है अर्थात् इस विषय में जो धीर, धीमान् है, विद्वान् है। परमार्थ का मतलब है कि अविद्या और उसके कार्यों से अस्पृष्ट है। शुद्ध अर्थात् परोक्षतारूप मल भी उसमें है नहीं। ऐसा जो तत्त्व अर्थात् सत्य वस्तु है उसका जिसने दृढ निश्चय कर लिया तथा उसे कभी विस्मृत नहीं होने देता वह यद्यपि व्युत्थानकाल में अनात्मव्यवहार करता है तथापि उसका मन समाधिसुख के स्मरण से ही प्रसन्न रहता है। विषय-सम्पर्क उसे किंचित् भी सुख दे नहीं पाता, इसकी सामर्थ्य से अतिशय अधिक सुख उसे परमार्थानुसंधानमात्र से सुलभ रहता है। आस्वादन अर्थात् सुखस्मृति से भी सुख लेना। इससे उसी का संस्कार दृढ होता जाता है, संसार के संस्कार पड़ नहीं पाते अतः धीरे-धीरे बहिर्मुखता घटकर समाहितता स्थायी हो जाती है। ११२३।।

पूर्व श्लोक में आये 'धीर' शब्द का अर्थ बताते हैं—

धीरत्वम् अक्षप्राबल्येऽप्यानन्दास्वादवाञ्छया ।

तिरस्कृत्याखिलाक्षाणि तच्चिन्तायां प्रवर्तनम् । ११२४ ।।

इन्द्रियाँ पुष्ट रहने पर भी परमानन्द का स्वाद लेने की इच्छा से सब इन्द्रियों का तिरस्कार कर आनन्द के अनुसन्धान में ही तत्पर रहना 'धीरता' है।

ऐसा नहीं कि विद्वान् की विषय-व्यवहार की सामर्थ्य क्षीण हो। उसकी इन्द्रियों में दुर्बलता नहीं, वे पुष्ट रहती हैं, विषय सामने रहने पर उधर आकृष्ट होने में समर्थ हैं, फिर भी विद्वान् उनकी उपेक्षा करता है, उन्हें महत्त्व नहीं देता क्योंकि उससे अधिक जो परमानन्द उसे चखते रहना चाहता है। यह वांछा, चाहना इसलिये सहज स्वाभाविक है कि सभी को अधिकाधिक आनन्द में सराबोर रहना अभीष्ट ही है। अज्ञानी भी यह चाहता है भले ही भ्रमवश अनात्मा को आनन्दहेतु मानकर उधर उन्मुख हो। ज्ञानी का भ्रम मिट चुकने से अनात्मा से वह आकृष्ट नहीं होता फलतः आत्म-सुख लेते रहना स्वभावतः प्राप्त है। इसे इस प्रसंग में धीरता कह रहे हैं। अन्यत्र भी उपनिषत् कहती है कि इन्द्रियाँ जिसकी बहिर्मुख नहीं रही वही धीर है जो अमरता चाहते हुए प्रत्यक्स्वरूप का साक्षात्कार पाता है (कठ. २. १.१)। यहाँ भी धीर में समझपूर्वक स्थिरता से चिंतन कह रहे हैं जिससे धैर्य का लोकसिद्ध अर्थ भी संगृहीत हो जाता है। 'अखिल' अक्षों का अर्थात् एक को भी छोड़े बगैर सब इन्द्रियों का तिरस्कार करने पर जो एकनिष्ठ चिंतन उसमें संलग्नता को यहाँ धैर्य कह रहे हैं। अखिल कहने से मन का भी संग्रह हो गया। चिन्तन उससे करना है फिर भी तिरस्कार अर्थात् संकल्पादि जो मन के स्वाभाविक कृत्य उन्हें वह न कर पाये, उसके लिये मन प्रेरित करे तो व्यक्ति उस दिशा में सोचने का तिरस्कार कर दे। इसी तरह यदि पढ़ना-सुनना ज़रूरी हो

तो आँख-कान का प्रयोग भले ही करे, अनात्म-दर्शन-श्रवणादि में प्रवृत्ति न करे। संभव हो तो सब इंद्रियाँ निगृहीत कर मन भी वृत्तिहीन कर ले ताकि समाधिलाभ बना रहे। 'प्रवर्तन' से सूचित किया कि सब इंद्रियों को चिन्तन में लगाना चाहिये अर्थात् सारे व्यवहार चिन्तनोपयोगी बनें, विरोधी नहीं ॥१२४॥

श्लोक १२३ में आये 'विश्रान्ति' शब्द का अभिप्राय व्यक्त करते हैं—

भारवाही शिरोभारं मुक्त्वाऽऽस्ते विश्रमं गतः ।

संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥१२५॥

भार ढोने वाला सिर पर रखे भार को उतार कर आराम पाने पर जैसे निश्चय वाला होता है, सांसारिक व्यवहार छोड़ने पर वैसा निश्चय होना यहाँ 'विश्राम' कहा है।

पहाड़ आदि पर सामान पहुँचाने के लिये सिर पर ढोना पड़ता है। उपायान्तर रहते कोई उसे ढोना नहीं चाहता, अनिवार्य हो तभी ऐसा कार्य करता है। अनिच्छा से भार ढोने वाला जब गंतव्य पर पहुँचकर भारमुक्त होता है तब 'कार्य समाप्त हुआ, अच्छा हुआ' यह अनुभव करता है। इसी तरह विवेकी संसारव्यवहार प्रारब्ध की अनिवार्यता से ही करता है। उसमें थोड़ा भी रस आता नहीं अतः आवश्यक व्यवहार पूरा होते ही उसे छोड़कर राहत महसूस करता है, उसके बारे में स्मरणादि कुछ नहीं करता। प्रपंच-मिथ्यात्व के निश्चय से उसे मालूम है कि दृश्य कुछ तात्त्विक है नहीं अतः अपनी ओर से प्रवृत्ति संभव नहीं, प्रारब्ध से ही आवश्यक चेष्टा कर लेता है। भार ढोने की तरह अच्छे-बुरे प्रारब्ध का वह निर्वाह करता है। करते हुए भी निश्चय रहता है कि होना कुछ नहीं है। अतः प्रारब्ध का वेग निवृत्त होते ही सुख से स्वरूपास्वादन में तृप्ति का अनुभव करता है। संसार कहते ही निरन्तर सरकने वाले को हैं अतः इसके स्तर पर रहें तो कोई कार्य पूर्णतः कभी समाप्त हो नहीं सकता। अतः विवेकी केवल बोझ की तरह समझकर इसका वहन कर देता है। प्रारब्ध रुकने पर निर्विषय स्थिति में स्वरूप का आनन्द यथावत् भासता है। अतः संसार-संपर्क रुकने पर अकेलेपन से या कुछ करने-जानने को न होने से विवेकी खिन्न नहीं होता वरन् परमानन्द का आस्वादन करता है। संसार से जुड़ना पसंद से नहीं, संसार छूटने पर वह पसंद से समाहित रहता है ॥१२५॥

श्लोक १२३ में 'तदेव आस्वादयति', उसी को चखता है ऐसा कहा था। इसमें धीरता चाहिये, उसे बताया और 'आराम पाकर चखता है' के लिये भारवाही का उदाहरण दिया। 'व्यवहार करते हुए भी' जो कहा था उसी का उल्लेख करते हुए श्लोक १२० से चले प्रसंग का निगमन करते हैं—

विश्रान्तिं परमां प्राप्तस्त्वौदासीन्ये यथा तथा ।

सुखदुःखदशायां च तदानन्दैकतत्परः ॥१२६॥

निःसीम आराम पाया विवेकी उदासीन दशा में जैसे आनन्द चखने में तत्पर होता है वैसे विद्वान् सुख-दुःख भोगते समय भी उसी आनन्द को चखने में तत्पर रहता है।

घर के कामों में व्यग्र होने पर भी जैसे परसंग-रसायन का आनन्द लेना सम्भव होता है, (श्लोक १२२) वैसे ही सुख-दुःख की दशा में भी परमेश्वरस्वरूप के आनन्द का आस्वादन संभव होता है। प्रारब्ध होने से शरीर व्यवहार करता है, इससे सुख-दुःख भी होगा। उस दशा में भी निष्ठावान् विद्वान् की तत्परता स्वरूपभूत ब्रह्मानन्द ग्रहण करने में रहती है। उदासीन दशा में जैसे वासनानन्द छोड़ता है वैसे व्यवहारदशा में बाह्य भोग के आस्वादन की उपेक्षा करता है। इस प्रकार वह वास्तविक आनन्द में ही परायण रहता है। वह सांसारिक सुख-दुःख के भोग से अपने को सुखी-दुःखी नहीं बनाता। जैसे घर का काम करते हुए काम के अच्छे-बुरे होने की चिन्ता उस स्त्री को नहीं होती जिसकी तत्परता किसी अन्य आनन्द के लिये है इसी प्रकार प्रारब्ध कर्म जो सुख-दुःख देता है, उसके परायण विद्वान् नहीं है। दुःख-सुख तो यथावत् लगते हैं, पर उनमें वह दुःखी-सुखी नहीं होता क्योंकि जानता है कि ये तो हट जायेंगे और उदासीन अवस्था वाला निजानन्द प्राप्त हो जायेगा। उदासीन काल में परम विश्राम की प्राप्ति केवल दृष्टान्त है। है वहाँ भी विद्वान् ब्रह्मानन्द के परायण, न कि वासनानन्द के। प्रारब्ध का सुख-दुःख भोगता तो है, परन्तु उसका तात्पर्य इसमें नहीं है वरन् परमार्थ आनन्द में है। इस प्रकार 'अन्यदाप्ययं विश्वसिति' (श्लोक १२०) में जो व्युत्थानदशा का प्रसंग उठा था उसके बारे में समझा दिया। १२६।।

सुख के प्रति प्राणिमात्र का प्रेम होता है। दुःख सब को प्रतिकूल लगता है। इसलिये विद्वान् दुःख के लिये प्रवृत्ति न करे यह सम्भव है परन्तु विषय से जो सुख होता है, उसमें अनुकूलता है इसलिये उसके लिये प्रयत्न क्यों नहीं करता है? सुख के काल में उस सुख को क्यों नहीं तात्पर्य से लेता? इस शंका के समाधानार्थ दूसरा दृष्टान्त देते हैं—

अग्निप्रवेशहेतौ धीः शृङ्गारे यादृशी तथा ।

धीरस्योदेति विषयेऽनुसन्धानविरोधिनि ।। १२७ ।।

आग में जलने के लिये आवश्यक शृंगार के प्रति जैसी बुद्धि हुआ करती है, धीर को परमानन्द के अनुसन्धान में विरोध करने वाले विषय में वैसी ही बुद्धि होती है।

जब स्त्री सती होने के लिये आग में प्रवेश करने जाती है तब वह सोलहों शृंगार करती है, परन्तु अग्नि-प्रवेश के योग्य बनने के लिये जो शृंगार किया जाता है, उस शृंगार में तात्पर्य नहीं होता है। मनु कहते हैं कि जब पति दूर गया होवे तब पत्नी किसी भी प्रकार का शृंगार न करे। अतः जब पति मर गया, प्रेत हो गया तब यह शृंगार करेगी क्यों? अतः इस शृंगार से उसका तात्पर्य तो नहीं है, रुचि तो नहीं है परन्तु विधि है अतः करती है। इसी प्रकार बुद्धि भी ज्ञानाग्नि में, ब्रह्माकार वृत्ति में जल जायेगी, खत्म होने वाली है। ज्ञानाग्नि से पूर्णतः जलने से पहले विधि कहती है कि प्रारब्ध को भोगना है। प्रारब्ध में सुख भी, दुःख भी है।

जैसे सती होने वाली स्त्री को शृंगार में तात्पर्य नहीं है पर करती है उसी प्रकार आत्मज्ञान होने के बाद प्रारब्ध विधि से वह सुख-दुःख का भोग करती तो है, परन्तु उसमें तात्पर्य नहीं है। आत्मा के अनुसन्धान की प्रक्रिया में विषयव्यवहार अत्यन्त रुकावट डालता है अतः उसका विरोधी है। विषय-भोग के दौरान ही नहीं उसे प्राप्त करना आदि सब अत्यन्त बहिर्मुखता लाता है। इसलिये विवेकी किंचित् भी रुचि से उधर प्रवृत्त नहीं हो सकता, अनिवार्य व्यवहार सती के शृंगार की तरह कर लेता है। सुख की इच्छा से वह नहीं करता है क्योंकि जो सुख मिलेगा भी वह निजानन्द की अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ है।

प्रारब्धमात्र से अपेक्षित को वह सम्पन्न करता है। किसी भोग को स्थिर रखना चाहे—यह तत्त्वज्ञ के लिये सम्भव नहीं। नारदपरिव्राजकोपनिषत् (३.६१) में बताया है 'नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्। कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा।' दफ्तर के बाहर बैठा चपरासी न चाहता है किसी काम से उसे बुलाया जाये, न यह कि मत बुलाया जाये, केवल बैठता है कि बुलाया तो चला जायेगा; इसी प्रकार विद्वान् न चाहता है कि मौत बुलाये, न यह कि मत ही बुलाये, केवल निजस्वरूप के अनुसन्धान में रहकर काल-निर्देश की प्रतीक्षा करता है। बहिर्मुखता से सर्वथा बचता है। मन्द-तीव्र-तीव्रतर भेद से तीन तरह के प्रारब्ध हैं, मन्द की उपेक्षा कुछ सरल है, तीव्र की कठिन है, तीव्रतर भोगना पड़ता ही है। मंद के लिये विशेष आयास नहीं चाहिये अतः स्वरसतः मिलने से कम विक्षेपक है। किसी से मिलने गये, उसने रसगुल्ला खिला दिया, इसमें रसगुल्ले के लिये बहिर्मुखता बहुत कम होती है। तीव्र को भोगने में इससे ज्यादा एवं उससे भी ज्यादा होती है तीव्रतम के कारण। अनिवार्य को भी केवल 'आवश्यक है' इस दृष्टि से भोगता है क्योंकि सती को शृंगार की तरह विद्वान् को भोग किसी महत्त्व का नहीं प्रतीत होता। १२७७।

पूर्व श्लोक में विषय के लिये 'अनुसन्धानविरोधिनि' विशेषण दिया था। इससे लगता है कि कोई विषय अविरोधी भी होगा अतः प्रश्न होता है कि ब्रह्मानुसन्धान भी करे एवं कोई अविरोधी विषय भी ग्रहण करे यह कैसे सम्भव है? उदाहरण सहित उत्तर देते हैं—

अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानन्दे च गमागमौ ।

कुर्वन्त्यास्ते क्रमादेशा काकाक्षिवद् इतस्ततः ।। १२८ ।।

विद्वान् की बुद्धि अविरोधी सुख और स्वरूपभूत आनन्द—इनमें क्रमशः गमन-आगमन करती रहती है जैसे कौवे की आँख इधर से उधर जाती रहती है।

जो विषयभोग प्रारब्धवश अनिवार्य है, न्यूनतम बहिर्मुखता की अपेक्षा वाला है उसको ग्रहण करने के लिये विषयदृष्टि बनाता है। बिना प्रयत्न किये मिले सुख में 'यह ब्रह्मसुख ही उपाधिपरिच्छेद में उपस्थित है' ऐसी दृष्टि बनाकर उसका भोग संभव है। ऐसे भोगों में बहिर्मुखता अत्यल्प होने से ये अविरुद्ध हैं। जैसे ही इस प्रकार का भोग पूरा हो वैसे ही पुनः विद्वान् अन्तर्मुख होकर ब्रह्मानन्द लेता है। भोग में भी ब्रह्मदृष्टि करने से औपाधिकता की

परिच्छिन्नता याद आने से उधर अधिक रुचि न हो पाने से शीघ्र ही ब्रह्मानन्द पर दृष्टिपात करता ही है। उसकी बुद्धि दोनों आनन्द क्रमशः ग्रहण करती रहती है। विषयभोग आते-जाते रहते हैं, ब्रह्मानन्द निरन्तर विद्यमान है अतः प्रारब्धवश भोग देखकर प्रारब्धवेग समाप्त होते ही ब्रह्मानन्द ग्रहण करने लगता है। विषयानन्द में भी, आनन्द को वह ब्रह्मरूप ही जानता है। क्रम से ग्रहण सम्भव होने से इनमें कोई विरोध नहीं। इसमें उदाहरण है कौवे की आँख ॥१२८॥

ब्रह्मात्मानुभव और द्वैतदर्शन क्रमशः होता है, भोगहेतु प्रारब्ध न रहते समाधि में ब्रह्मबोध एवं प्रारब्धकाल में द्वैतदर्शन। विवरणाचार्य ने (पृ. ६७१ विव.द.मू.मठ.) यह समझाया है। तदनुसार बताया कि काकाक्षिकी की तरह बुद्धि दोनों ग्रहण करती है। काकाक्षिका दृष्टांत स्पष्ट करते हुए विद्वान् की स्थिति स्पष्ट करते हैं—

एकैव दृष्टिः काकस्य वामदक्षिणेनेत्रयोः ।

यात्यायात्येवमानन्दद्वये तत्त्वविदो मतिः ॥१२९॥

कौवे की आँख का डोया एक ही होता है जो बाँयी-दाँयी आँखों में जाता-आता रहता है; इसी तरह तत्त्ववेत्ता की बुद्धि ब्रह्मानन्द और विषयानन्द में जाती आती रहती है।

कौवे के बाँये और दाँये नेत्र में एक ही देखने वाला डोया है। हम लोगों के दो डोये होने से लाभ क्या है? कैमरे से लम्बाई-चौड़ाई का चित्र तो आता है, गहराई का नहीं आता। दो कोणों से अलग चित्र लो, उन्हें ढंग से इकट्ठा करो तो गहराई समझ आती है। इसी प्रकार एक आँख से गहराई का पता नहीं लगता। कौवे की एक और हमारी दो दृष्टियाँ हैं। अतः हमें गहराई का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार, हम लोग भी कौवे की तरह हैं! क्योंकि संसार के विषयों को देखने वाली एक ही दृष्टि हमारे पास है। विषयों को देखते हैं, उसके अधिष्ठान को नहीं देख पाते। आत्मज्ञान की जब उच्च भूमिका पर रूढ़ हो जाता है या विदेहमुक्त हो जाता है तब उसकी केवल ब्रह्मदृष्टि है, संसार का, नाम-रूप का कोई ज्ञान नहीं रहता है। जो जीवन्मुक्त है, उसकी दोनों दृष्टियाँ हैं। प्रारब्धभोग-काल में संस्कारों के अनुसार उसकी बुद्धि वैषयिक सुख को भी देखती है तथा जब प्रारब्धभोग-काल नहीं है, उस समय निजानन्द के अन्दर उसको ब्रह्मानन्द की प्रतीति रहती है। उसे निर्विषय आनन्द की और विषयानन्द की भी प्रतीति होती है। बिना किसी प्रयत्न के जो सुख प्राप्त हो गया, उसके अन्दर भी नाम-रूप के अधिष्ठानरूप से वह सुख को जानता है। 'दृष्टि' मायने जिससे प्रतीत होता है; बुद्धि भी प्रतीति का साधन है। अनादि संस्कारों वाली बुद्धि से विषयदर्शन और शास्त्र-आचार्य के उपदेश के संस्कारों वाली उसी बुद्धि से अधिष्ठान-दर्शन भी कर लेता है। जैसे कौवे की आँख इधर-उधर आती-जाती है, इसी प्रकार जिसने तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया, उसकी बुद्धि अनायास प्राप्त विषयसुख और निर्विषय सुख दोनों को समझ लेती है। ज्ञानी की बुद्धि एक है। परंतु कभी लौकिक इंद्रियों से देखती है तो विषयसुख ग्रहण कर लेती

है, कभी शास्त्र-आचार्य-उपदेश के संस्कारों के अनुसार देखती है तो अधिष्ठान का दर्शन करती है। दोनों ही चीजों को उसकी बुद्धि जान लेती है। तत्त्वज्ञानी प्रारब्ध के सुख को भी परमात्मसुख जानता है, उस काल में भी उसे ब्रह्मानन्द की पहचान रहती है। जब प्रारब्ध-भोग नहीं मिल रहा है, उस समय उदासीन अवस्था में, परमविश्राम को प्राप्त किये हुये वह निर्विषय आनन्द को ग्रहण करता है। आनन्द की ब्रह्मरूपता दोनों दशाओं में उसे स्पष्ट है। ११२६॥

अन्य दृष्टान्त से भी दोनों का साथ सम्भव दिखाते हैं—

भुञ्जानो विषयानन्दं ब्रह्मानन्दं च तत्त्ववित् ।

द्विभाषाऽभिज्ञवद् विद्याद् उभौ लौकिकवैदिकौ ॥१३०॥

दो भाषायें जानने वाला जैसे दोनों से अर्थ समझता है वैसे तत्त्ववेत्ता विषयानन्दरूप लौकिक और ब्रह्मानन्दरूप वैदिक, दोनों सुख अनुभव करता है।

भाषा दो तरह की चीजों को बतलाती है। एक, जो इंद्रियों के द्वारा जानी जाती हैं। भाषा नहीं होवे तो भी उन चीजों को हमारी इंद्रियाँ जान लेती हैं। जैसे पानी ठंडा, तरल, स्वादिष्ट, मीठा है—यह इंद्रियों से जान लेंगे। जिसको हम इंद्रियों से जानते हैं, उसे भी भाषा से कहा जा सकता है, परंतु जिन चीजों को इंद्रियों से नहीं जानते, ऐसी चीजों का भी भाषा से ज्ञान होता है। जैसे प्रेम को तुम देख, चख, सूँघ आदि नहीं सकते। उसे केवल भाषा से ही जान सकते हो। जिन चीजों का ज्ञान केवल भाषा से होता है, उन्हें एक भाषा से कह सकने पर भी दूसरी भाषा से नहीं कह पाते। जैसे संस्कृत में स्नेह और प्रेम अलग भाव हैं। यदि अन्य भाषा में उन्हें कहने के लिये शब्दभेद नहीं है तो उनमें भेद बतला नहीं सकते। हमारे यहाँ देव, सुर, ईश, ईश्वर अलग-अलग शब्द हैं। अंग्रेजी में इन भेदों को कह ही नहीं सकते, इन सब अर्थों के लिये 'गॉड' एक ही शब्द है। उस भाषा से इन भेदों को नहीं जाना जा सकता।

यहाँ 'द्विभाषाभिज्ञ' से तात्पर्य है जो लौकिक तथा वैदिक दोनों को समझ सकता है। लौकिक अर्थात् इंद्रियों के द्वारा जिसको जाना जा सकता है। वैदिक अर्थात् जिसको इंद्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। इंद्रियों में हम लोग मन, बुद्धि को भी लेते हैं। संसार में वेद के अलावा जितने ग्रन्थ हैं उनको प्रकट करने वाले क्रा कहना है कि 'ऐसा मैंने जाना'। अर्थात् बुद्धि के द्वारा जानी जाने वाली बातें ही कही गई हैं, इंद्रियों के द्वारा भले ही न जानी जायें। वेद ऐसा नहीं है कि किसी ने जान कर अर्थात् बुद्धि से विषय कर तब कहा है। अन्य सारे मत किसी-न-किसी व्यक्ति की बात पर निर्भर करते हैं। वेद, किसने कहा—इसके ऊपर निर्भर है ही नहीं। वेद जिस विषय को कहता है वह न बाह्य न आभ्यन्तर इंद्रियों का विषय है। अतः वेद के द्वारा प्रतिपाद्य परमार्थ ही है यह भगवान् ने गीता में कहा 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'। सारे वेद एकमात्र 'मैं' इस आत्मतत्त्व का ही प्रतिपादन करते हैं। आत्मा,

मैं, इंद्रियों का विषय होता ही नहीं। आत्मा किसी के अनुभव का विषय भी नहीं है। आत्मा वह है जो अनुभव करता है। वह एक है, दो नहीं। इसलिये उसका अनुभव किया ही नहीं जा सकता। ऐसा बुद्धि एवं इंद्रियों का अविषय जो आत्मतत्त्व है, उसे वेद बतलाता है अतः उसकी अपनी कही जाये वह वैदिक भाषा है। उस तत्त्व में प्रमाण एकमात्र वेद ही है। अधिष्ठान तत्त्व एकमात्र वेदप्रतिपाद्य है। वेद की भाषा समझना इसलिये ज़रूरी है। वेद की भाषा को जानने से एक भाषा का अभिज्ञ है। दूसरी भाषा लौकिक है जिसके लिये संसार के प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से संस्कृत अन्तःकरण पर्याप्त है। जिस चीज़ का संस्कार अन्तःकरण में नहीं होगा, उस चीज़ को तुम भली प्रकार से नहीं जान सकते। जो जिस के संस्कारों से संस्कृत नहीं है, उसके सामने शब्दों से कहो तो कुछ नहीं समझेगा अथवा ग़लत ही समझेगा। अतः जब तक परम्परा से गुरु के द्वारा अंतःकरण शास्त्र-संस्कारों से संस्कृत नहीं हो जाता तब तक वेदार्थ का ज्ञान नहीं हो पायेगा क्योंकि तब तक महावाक्य का अर्थ समझ में नहीं आयेगा।

जो जैसे दो भाषाओं को जानने वाला है, वह दोनों भाषाओं की बातें समझ लेता है ऐसे ही ब्रह्मवेत्ता लौकिक और वैदिक दोनों भाषाओं को समझ लेता है। लौकिक भाषा तो हम सब समझते ही हैं। जैसे अज्ञानी को दाल का सीरा खाकर आनंद आता है, वैसे ज्ञानी को भी आता है। अतः लौकिक विषयानन्द को भी विद्वान् ग्रहण करता है। किंतु विषयानन्द का भोग करते हुए साथ ही दूसरी भाषा से ब्रह्मानन्द का भी अनुभव कर लेता है। दाल का सीरा खा रहे हैं; उसके स्वाद का प्रकाशक अंतःकरण, आगे उसका प्रकाशक कौन? अंतःकरण खुद पंचमहाभूतों से बना हुआ है, जड़ है। अहंकारात्मिका वृत्ति मन का विकार होने से जड़ है, उसमें चेतनता आई कहाँ से? चेतनता ही ब्रह्म का रूप है। अनुभव बिना चेतन नहीं होता। मैं का जड़ वाला हिस्सा जिस चेतन के स्पर्श से अनुभव करता है, वह चेतन ही 'मैं' की वास्तविकता है। यही बात शास्त्र से पता लगती है इसलिये जो मेरा सच्चिदानन्दस्वरूप है इसे वैदिक भाषा से ही जाना जाता है। यह जानना ब्रह्मानन्द को जानना है। आनन्द तभी होता है जब किसी प्रकार की परिच्छिन्नता का बोध नहीं हो। वेद कहता है कि भूमा या व्यापक ही सुख है, अल्प में सुख नहीं है। शरीर आदि सारी उपाधियों की परिच्छिन्नता जहाँ है, वहाँ सच्चा आनंद नहीं है। सच्चा आनन्द उसे ही मिलता है जो तत्त्ववित् है। जो सारी उपाधियों से रहित आत्मतत्त्व को वेद-प्रमाण से ही जानता है वही संस्कृत अंतःकरण के द्वारा ब्रह्मानन्द को जानता है। यह वैदिक भाषा से हुआ ज्ञान है। जब प्रारब्ध सुख को लाता है तब इस तरह विद्वान् ब्रह्मानन्द भी समझता है।

प्रारब्ध दुःख को भी लाता है। दुःख आता है तब क्या होता है? दुःख के प्रारब्ध भोग-काल में ब्रह्मानन्द का अनुसन्धान कैसे हो सकता है? दुःख भी भोगने वाला, उसका अनुभव करने वाला भी कौन है—इसका चिंतन करने से आत्मवस्तु ही समझ आती है। सुख लेने वाला, दुःख लेने वाला और जिस समय प्रारब्ध का भोग नहीं है, अर्थात् न सुख है न

दुःख है तब भी एकमात्र तत्त्व वही है। इंद्रियों को पसंद आने वाले अनुभव को सुख कहते हैं, इंद्रियों को जो बुरा लगे वह दुःख है। मन और बुद्धि भी अंतःकरण हैं, अन्तरिन्द्रिय हैं। इन्द्रियाँ सभी परागदर्शी हैं इसलिये मन और बुद्धि भी अपने से बाहर की चीज़ों को देखते हैं। जब प्रारब्धभोग का काल है तब किसी समय इंद्रियों व मन को अच्छी चीज़ें मिलती हैं तथा कभी ऐसी चीज़ें मिलती हैं जो अच्छी नहीं लगतीं। अच्छा और बुरा लगना संस्कारों के कारण है। कोई चीज़ स्वरूप से न अच्छी, न बुरी होती है। जब पुण्य प्रारब्ध का फल परमेश्वर देना चाहता है, तब अनुकूल संस्कार वाले विषयों के साथ संसर्ग हो जाता है इसलिये सुख हो जाता है। जब पाप प्रारब्ध का फल देना चाहता है, तब जिसके संस्कार पड़े हैं कि बुरा है, उसके साथ सम्पर्क हो जाता है जिससे मनुष्य को दुःख का अनुभव हो जाता है।

जिस समय न कोई पाप, न कोई पुण्य फल देने वाला है, उस समय सुख दुःख कुछ नहीं होता है, उदासीन काल है। जिन्हें सुख या दुःख के भोग की आदत पड़ी है, वे सोचते हैं कि व्यर्थ का समय है; अंग्रेजी में उसे 'बोर' होने का समय कहते हैं। यहाँ आचार्य ने बतलाया कि वह मामूली समय नहीं है, उस समय अहंकार के अन्दर से ब्रह्मानन्द छनकर आ रहा है। क्योंकि वहाँ सुख या दुःख का कोई कारण नहीं है, इसलिये आनंद न तो अनुकूल संस्कारों के कारण सुख वाला है, न प्रतिकूल संस्कारों के कारण दुःख वाला है। विषयों के अभाव में वहाँ शांति के आनंद का अनुभव है, अहंकार के अंदर पड़ा जो ब्रह्मानंद है वही प्रतीत हो रहा है, जिसे यहाँ निजानंद कहा। प्रारब्धभोग काल में ही जो उदासीन काल है, वह निजानंद के अनुभव का काल है।

जो सुखभोग का काल है, वहाँ ज्ञानी समझता है कि यह सुख, ब्रह्म का ही सुख प्रतिबिम्बित हो रहा है इसलिये विषयसुख के द्वारा भी वह ब्रह्मानंद को ही ग्रहण करता है। मनीआर्डर का भुगतान तो डाकिया करेगा लेकिन धन्यवाद दोगे भेजने वालों को। इसी प्रकार दाल का सीरा खाकर जो आनंद आया, वह वास्तव में ब्रह्मानंद है। डाकिये को ही रुपया देने वाला समझने की तरह साधारण व्यक्ति समझता है कि इस विषय से सुख हुआ या पुण्य के कारण सुख मिला। परन्तु तत्त्वज्ञानी जानता है कि पुण्य के प्रारब्ध के द्वारा ब्रह्मानंद ही मिला क्योंकि आनंदस्वरूप तो ब्रह्म ही है। इस प्रकार से वैषयिक सुखभोग काल में भी ब्रह्मानंद का अनुसन्धान रहता है। जब दुःख मिलेगा तब भी अनुभवरूप से ब्रह्मानन्द को विद्वान् देखता रहता है। १३०॥

यदि दुःखानुभूति होती है तो ब्रह्मानुभव देखने का क्या फायदा? यह बताते हैं—

दुःखप्राप्तौ न चोद्वेगो यथापूर्वं यतो द्विदृक् ।

गङ्गामग्नार्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा ॥१३१॥

दुःख मिलने पर भी पहले की तरह उसे उद्वेग नहीं होता क्योंकि विवेकी

व्यावहारिक-पारमार्थिक दोनों को देखता रहता है। गंगा में आधा शरीर डूबा हो तो व्यक्ति को ठंडा-गर्म दोनों जैसे महसूस होते हैं वैसे विद्वान् को दोनों अनुभव होते हैं।

दुःख सुख की जाति का तो नहीं है। विषयसुख, सुख की जाति का होने से उसमें ब्रह्मानन्द का अनुसन्धान हो जाता है परन्तु दुःख उस जाति का है नहीं। जेठ माह में गंगा स्नान करने गये, शरीर के ऊपरी भाग पर धूप की उष्णता से दुःख का अनुभव होता है, उसी समय नाभि तक गंगा के शीतल जल से सुख का अनुभव होता है। इसी प्रकार दुःख का अनुभव तभी हो रहा है जब चिदानन्द ब्रह्म का स्पर्श हो रहा है। अंतःकरण तो जड़ है, वह न सुख न दुःख का अनुभव कर सकता है। अनुभव करने की शक्ति जड़ मन में आनन्दस्वरूप ब्रह्म के कारण ही है। दुःख का अनुभव करते समय भी ब्रह्म का भान है ही, वही मन से अवच्छिन्न हुआ दुःख को प्रकाशित कर रहा है।

अज्ञानी ब्रह्म को न जानने से दुःखमात्र समझता है, ज्ञानी दुःख के साथ ही ज्ञानरूप ब्रह्मानन्द भी समझता है। मन में दुःख का अनुभव हो रहा है लेकिन तभी जब वहाँ अनुभवरूप ब्रह्म है। जैसे टाँगों से गंगा की शीतलता को और मस्तकादि से धूप की गर्मी को जानते हैं वैसे लौकिक अनुभव से विद्वान् दुःख को और वेदप्रमाण से ज्ञानरूप ब्रह्मानन्द को जानता है। ईंट आदि जड़ को दुःख नहीं होता, जहाँ चेतन व्यक्त है वहीं दुःख, दर्द होता है; चेतन आनन्दरूप है अतः विद्वान् दुःखकाल में आनन्द भी समझता रहता है। चेतनमात्र तो सभी समझते हैं लेकिन वह आनन्द है इसे न जानने से केवल दुःखानुभव ही कर पाते हैं जबकि विद्वान् दोनों जानता है। अतः अज्ञ को दुःख की प्राप्ति पर 'यह दुःख कब हटे' ऐसा उद्देग होता है क्योंकि उसे पता नहीं है कि उसी समय आनन्द भी अक्षुण्ण है। जिसे पता है कि ब्रह्म आनन्द-स्वरूप तो है ही, उसे दुःख हटने की छटपटाहट नहीं होती। उद्देग का अभाव अज्ञानी में नहीं होगा, ज्ञानी में होगा। अज्ञानी को उद्देग का अतिरिक्त दुःख और हो जाता है! दुःख माया है, आने वाली चीज़ ज़रूर जायेगी—इस बात का जिसे निश्चय है उसे उद्देग नहीं होता। अज्ञानी समझता है 'मेरे कुछ करने से ही दुःख जायेगा'। लोग मानते हैं कि दुःख बिना बुलाये आया है, पर बिना प्रयत्न के चला जायेगा—यह नहीं मानते। अनुभव दोनों हैं—बिना प्रयत्न के दुःख आता भी है, जाता भी है, कभी प्रयत्न से आता और जाता है। हर हालत में आगमापायी है, अतः दुःख जायेगा ज़रूर। सुख के विषय में हम मानते हैं कि प्रयत्न करेंगे तो आयेगा पर जीवन में अनेक बार वह सुख भी आता है जिसके लिये हमने कोई प्रयत्न नहीं किया। फिर भी सुख प्रयत्न से ही आयेगा—यह आग्रह है। दुःख स्वयं भी जाता है, पर मान्यता है कि इसके लिये प्रयत्न करना ही पड़ेगा। इसीलिये अज्ञानी को सुख की प्राप्ति के लिये भी उद्देग होता है और दुःखनिवृत्ति के लिये भी उद्देग होता है।

विद्वान् को दुःखकाल में केवल दुःख का ही अनुभव नहीं है, जिस आनन्द के कारण दुःख का अनुभव हो रहा है, उसका भी उसे भान है। कारण यह कि 'द्विदृक्' है, लौकिक और वैदिक दोनों भाषाओं को जानने वाला है। अत एव यह दुःखप्राप्ति काल में भी अपने

अधिष्ठान को कभी भूलता नहीं जिससे उसमें उद्वेग नहीं होता। उसे पता है कि पाप का प्रारब्ध समाप्त होगा तो दुःख चला ही जायेगा ॥१३१॥

विद्यालाभ दिखाते हैं कि वह सदा आनंद-अनुभव करता है—

इत्थं जागरणे तत्त्वविदो ब्रह्मसुखं सदा।

भाति तद्वासनाजन्ये स्वप्ने तद् भासते तथा ॥१३२॥

इस प्रकार तत्त्ववेत्ता को सदा ब्रह्मसुख भासता है। जाग्रत् में भासने से जाग्रत् की वासना से जन्य स्वप्न में भी वैसे ही भासता है।

‘इत्थं’ अर्थात् सुख, दुःख और उदासीन तीनों अनुभव-कालों में विद्वान् ब्रह्मानंद से रहित नहीं होता। जाग्रत् अवस्था में ये तीन अवस्थायें हैं। उनमें उदासीन में निजानंदरूप से, सुखभोग में ‘ब्रह्मसुख का ही विषयपरिच्छिन्न लाभ है’ इस रूप से, एवं दुःखभोग में अनुभवरूप से वह ब्रह्मानंद का अनुभव करता रहता है। जिसने वेद के द्वारा तत्त्व को यथावत् जान लिया, उसे सदा ही ब्रह्मसुख, ब्रह्मानंद का भान होता है। जाग्रत् में यह दृढ हो जाता है तो स्वप्न में भी आनंद बना रहता है। जाग्रत् की वासना से ही उत्पन्न होता है स्वप्न अतः जिसे जाग्रत् में ब्रह्मानन्द पर दृष्टि रखने की वासना है वह स्वप्न भी वैसा ही देखेगा। इस तरह जीवन्मुक्त सदा सुखी रहता है ॥१३२॥

आनन्दसंस्कार है तो विद्वान् को स्वप्न में दुःख कैसे भासता है—यह समझाते हैं—

अविद्यावासनाऽप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते।

स्वप्ने मूर्खवदेवैष सुखं दुःखं च वीक्षते ॥१३३॥

अविद्या की वासना भी है अतः वासनाओं से उत्पन्न सपने में यह विद्वान् मूर्ख की ही तरह सुख व दुःख दोनों का अनुभव करता है।

‘ब्रह्मसुखं सदा भाति’ कहने से प्रश्न होता है कि जाग्रत् में सुख का ही ग्रहण हो तो वासनाजन्य स्वप्न में दुःख का ग्रहण होना ही नहीं चाहिये। किंच, अभ्यास किया है ब्रह्मानन्द ग्रहण करने का, अतः विषय और विषयसुख भी सपने में ग्रहण नहीं होने चाहिये? जाग्रत् में प्रारब्धभोग से सुख-दुःख हो जायें पर स्वप्न में क्यों होते हैं? स्वप्न वासनाजन्य हो तो वहाँ आनंद का ही अनुभव होना चाहिये।

इसके उत्तर में कहा, वासना जो बन रही है उसमें विषयादि का सम्बन्ध भी अनिवार्य है अतः वे भी सपने में ग्रहण होंगे। अभ्यास कर रहे हो जाग्रत् में ब्रह्मानंद लेने का, पर उस काल में विषयों की प्रतीति भी हो रही है अतः उनकी भी तो वासना है। जिस प्रकार, हमने गीता का श्लोक बाँचा देवनागरी में। वह याद आता है तो देवनागरी के अक्षर भी याद आते हैं क्योंकि उनका संस्कार भी है ही। तत्त्ववेत्ता ब्रह्मानन्द ग्रहण भले ही करे पर उपस्थित तो सभी कुछ होता है। सुख, दुःख, नाम, रूप आदि सारा संसार जैसा प्रसिद्ध है वैसा उसे भी

[प्र. ११ श्लो. १३४]

ब्रह्मानन्द में योगानन्द प्रकरण १२८७

दीखता है। उसमें जो ब्रह्मानन्दरूपता देखी है, उसका अभ्यास किया है, उसकी वासना तो है किन्तु वासनान्तर भी मना नहीं की जा सकती। इसलिये कहा 'अविद्यावासनाऽप्यस्ति'। ब्रह्मानन्द की वासना तो है लेकिन बिना अभ्यास किये जो अविद्या के कारण नाम-रूप की प्रतीति थी, उसकी भी वासना है ही। इच्छा नहीं करने पर भी है अनादिकाल से अविद्यावासना है ही। जीवन्मुक्ति में भी अविद्यालेश से वासना होती है। याद रखना, वासना पड़ने के लिये इच्छा की ज़रूरत नहीं है। बिना इच्छा के भी किसी चीज़ का बार-बार अंतःकरण से सम्बन्ध होता है तो उसकी वासना बन जाती है। प्रायः लोग कह देते हैं 'बुरी चीज़ लेनी नहीं चाहिये, देखने में हर्ज नहीं'। किन्तु वास्तविकता है कि देखोगे तो संस्कार पड़ेगा ही। प्रयत्नपूर्वक तो ब्रह्मानन्द की वासना बनाई है, पर अविद्या की वासना भी हो ही जायेगी। विषयों का जो अनुभव हुआ है उसकी वासना से उनका भी स्वप्न आता है। अतः 'मूर्खवदेव' मूर्ख अर्थात् अज्ञानी की तरह ही तत्त्ववेत्ता जाग्रत् की तरह स्वप्न में सुख-दुःख का अनुभव करता है। जाग्रत् में भी 'ब्रह्म के सिवाय कुछ नहीं है' यह निश्चय होने पर भी जिस समय प्रारब्ध के अनुसार व्यवहार करता है, उस समय मूर्ख की तरह ही करता है। इसलिये अध्यासभाष्य में भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं कि हरी घास को देख कर, गाय उसकी तरफ जाती है और लाल आँखें एवं डंडा दिखाने से दूर भागती है। ऐसे ही समझदार लोगों का भी व्यवहार होता है। पशु और मनुष्य में सुख की तरफ जाना और दुःख से दूर भागना, इस बारे में कोई अंतर नहीं है।

इस प्रकार संगत है कि स्वप्न अवस्था के अंदर भी अविद्या की वासना से सुख-दुःख का भोग भी करता है और अभ्यास के कारण ब्रह्मानन्द का भी। जाग्रत् से स्वप्न को अलग करके इसलिये कह रहे हैं कि जाग्रत् में बाह्य विषय हैं जो सुख-दुःख देते हैं जबकि स्वप्न में बाह्य विषय हैं नहीं। वहाँ वासनाजन्य ही विषय भी हैं। बिना व्यावहारिक विषयों के वहाँ भोग है। जैसे अज्ञानी बिना विषयों के स्वप्न में सुख-दुःख का अनुभव करता है वैसे ही बिना विषयों के सुख-दुःख का अनुभव अविद्या के संस्कारों से स्वप्न में ज्ञानी भी करता है ॥१३३॥

'ब्रह्मानन्द' नामक पंचप्रकरणी के इस प्रथम प्रकरण का अर्थात् पंचदशी के ग्यारहवें प्रकरण का समापन करते हैं—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे ब्रह्मानन्दप्रकाशकम्।

योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम् ॥१३४॥

॥ इति ब्रह्मानन्दे योगानन्दो नामैकादशं प्रकरणम् ॥

'ब्रह्मानन्द' नामक ग्रंथ में, उसके इस पहले ('योगानन्द' नामक) प्रकरण में ब्रह्म के आनन्द का प्रकाश करने वाला जो प्रत्यक्ष योगी को होता है उसे व्यक्त किया।

पंचदशी के अंतिम पंचक में परमात्मा का आनन्दस्वरूप व्यक्त किया गया है। पाँच अध्यायों को मिलाकर 'ब्रह्मानन्द' नामक ग्रंथ कहा जाता है। पंचदशी का भाग है ही पर ये पाँच मिलकर एक स्पष्ट बोध आनन्द के बारे में प्रदान करते हैं अतः मानो एक ग्रंथ ही है। इसमें पाँच अध्याय या प्रकरण हैं जिनमें 'योगानन्द' यह पहले अध्याय का नाम पुष्पिका से पता चलता है एवं तेरहवें प्रकरण के प्रारंभिक श्लोक से भी सूचित है। यहाँ 'योगिप्रत्यक्षम्' कहकर उसी बात को बताया है। योगाभ्यासी निजानन्द कैसे पाता है इसे यहाँ विस्तार से समझाया। योग अर्थात् समाधिका अभ्यासी ही यहाँ बताया प्रत्यक्ष आनन्द कर पाता है। एकाग्र चित्त के बिना यह सनातन सुलभ आनन्द दुर्लभ बना रहता है। ॥१३४॥

॥ योगानन्द-नामक ग्यारहवाँ प्रकरण समाप्त ॥

बारहवाँ

ब्रह्मानन्द में आत्मानन्द प्रकरण

ब्रह्मानन्द ग्रंथ का द्वितीय अध्याय 'आत्मानन्द' है। विवेकवान् योग से निजानन्द का अनुभव कैसे करता है यह पूर्व प्रकरण में स्पष्ट किया। जो जिज्ञासु अभी आत्मयाथात्म्य से तत्त्वतः परिचित नहीं उसका भी अपना स्वरूप है तो आनन्दरूप आत्मा ही। त्वम्पद का वाच्य अर्थ भी वस्तुतः आत्मरूप आनन्द ही है, भले ही अध्यासवश वह रूप अग्राह्य हुआ-सा उपस्थित है बल्कि दुःख-शोकादि से सम्पन्न हुआ-सा प्रतीयमान है। इसका भी विवेक करें तो अनुभव ब्रह्मरूप आनन्द का ही होगा। वह आनन्द कैसे पायें—यह जिज्ञासुओं को समझाने के लिये यह प्रकरण है। शिष्य के प्रश्न से इसे प्रारम्भ करते हैं—

नन्वेवं वासनानन्दात् ब्रह्मानन्दादपीतरम्।

वेत्तु योगी निजानन्दं मूढस्याऽत्राऽस्ति का गतिः॥१॥

(शिष्य पूछता है) पूर्वोक्त ढंग से योगी वासनानन्द और ब्रह्मानन्द के अलावा निजानन्द भी ग्रहण करे, आनन्दलाभ के लिये मूढ के पास क्या उपाय है?

वासनानन्द हुआ, जब सोकर उठे उस समय 'मैं कुछ नहीं जान रहा था, किसी प्रकार की चिन्ता नहीं, आनन्द में था' इसका संस्कार रहते जो सुख होता है। संस्कारी पुरुष सोकर उठता है तो कुछ समय तक सुषुप्ति की, निश्चिन्तता की वासना रहती है जिससे होते सुख को वासनानन्द कहते हैं। सुषुप्ति में जिसका अनुभव हुआ वह ब्रह्मानन्द है। इन दोनों से भिन्न है निजानन्द। जाग्रत् में समाधि का अभ्यास करते हुए, सारी वृत्तियाँ शान्त होकर केवल अहम् का भान रह जाता है, धीरे-धीरे अहम् जैसे-जैसे कम होता जाता है, वैसे-वैसे उस आनन्द की अधिकता होती जाती है। उसको निजानन्द कहाँ है। जब अहम् सर्वथा लुप्त हो जाता है, तब ब्रह्मानन्द में स्थिति हो जाती है। अहंकार-वृत्ति सूक्ष्म हो, अन्य वृत्तियाँ चली जायें, तब निजानन्द है जो अहम् की सूक्ष्मता के अनुसार बढ़ता जाता है। यह योगी के ही अभ्यास का विषय है, इसका योगी ही अनुभव कर सकता है। जो विवेकी है, साथ ही योगी है वेदांत से संस्कृत जिसका अन्तःकरण है, वह चित्त को एकाग्र करने पर निजानन्द को जानता है। योगाभ्यास दीर्घकाल की अपेक्षा करता है। कलियुगी मनुष्य अल्पायु है अतः दीर्घकाल तक कलियुग में यह सम्भव नहीं कि योगाभ्यास हो सके। कलिकाल में विक्षेप भी

अत्यधिक है। जो योगाभ्यास और विवेक प्राप्त नहीं कर सकता वह हुआ मूढ़। एक मूढ़ जिसका ब्रह्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, उधर वृत्ति ही नहीं है। वह तो लौकिक आनंद अथवा पारलौकिक आनंद ही चाहता है। दूसरा मूढ़ वह है जो परमात्मा को चाहता है पर विवेक और चित्त-एकाग्र नहीं कर पाता। ऐसे मूढ़ के लिये ब्रह्मज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के लिये, कौन-सा उपाय है, यह इस श्लोक में प्रश्न है ॥१॥

मूढ़ता दुर्गति का मूल है यह सूचित करते हुए आचार्य जवाब देते हैं—

धर्माधर्मवशाद् एष जायतां म्रियतामपि ।

पुनः पुनर्देहलक्षैः किं नो दाक्षिण्यतो वद ॥२॥

पुण्य-पाप के फलस्वरूप यह मूढ़ बार-बार लाखों शरीरों को लेते-छोड़ते जन्मे-मरे, हमारी कुशलता से क्या लाभ, बताओ!

मूढ़ क्योंकि संघात से तादात्म्य अनुभव करने से मोहग्रस्त हुआ कामनादि से प्रेरित हो कर्म करता है, क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, इसलिये उससे धर्म या अधर्म सम्पन्न होते ही हैं। किये कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है, धर्म का पुण्य द्वारा सुख एवं अधर्म का पाप द्वारा दुःख फल होता है। मूढ़ कर्मानुसार फल पाने को जन्मेगा, फिर मरेगा। अधिक मूढ़ हुआ तो ज्यादा पुण्य भी न करने से, उपासना भी न करने से 'जायस्व म्रियस्व' का तीसरा मार्ग तय करेगा जिसमें बारम्बार जन्म-मरण ही है। यों लाखों शरीरों में भटकता रहेगा। हमारी अर्थात् जो ब्रह्मानुसन्धान में तत्पर हैं उनकी कुशलता से मूढ़ को कोई लाभ नहीं, उसे तो स्वयं समझ आये तभी कोई फायदा होगा। सभी अज्ञानियों को समझा सकना तो किसी विद्वान् के बूते का नहीं। शिष्य ने पूछा था कि योगी निजानन्द भले ही पा ले, मूढ़ कैसे उसे पायेगा? गुरु का उत्तर है कि मोह का परित्याग बगैर किये वह निजानन्द नहीं पा सकता ॥२॥

सभी पर अनुग्रह करना आचार्य का स्वभाव होने से शिष्य प्रेरित करता है कि मूढ़ों के लिये भी कोई उपाय बतायें—

अस्ति वोऽनुजिघृक्षुत्वाद् दाक्षिण्येन प्रयोजनम् ।

तर्हि ब्रूहि स मूढः किं जिज्ञासुर्वा पराङ्मुखः ॥३॥

(शिष्य कहता है) आप स्वभावतः अनुग्रह करना चाहते हैं इसलिये आपकी कुशलता से प्रयोजन (सिद्ध हो सकता है)। (गुरु पूछते हैं) तो बताओ (जिसके बारे में तुम्हारी जिज्ञासा है) वह मूढ़ क्या परमात्मज्ञान चाहता है या विषयाभिमुख ही है?

शिष्य कहता है, 'आप का स्वभाव है अनुग्रह, दया करना। इसलिये मूढ़ का कल्याण हो—यह इच्छा भी स्वभाव से आपकी है ही। अतः उसके ऊपर अनुग्रह करना—यह आपके लिये प्रयोजन है ही।' गीता में दो जगह (५.२५; १२.४) भगवान् ने हितैषिता को कहा है, 'सर्वभूतहिते रताः'। सारे प्राणियों का हित होवे ऐसा सिद्ध का भाव होता ही है। इसलिये

शिष्य का कहना है कि आचार्य में अनुजिघृक्षा, अनुग्रह करने की इच्छा है ही। भगवान् ने अन्यत्र भी कहा 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'। जो परमात्मभाव को प्राप्त होते हैं, स्थितप्रज्ञ हैं, उनका किसी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं होता। जो दूसरे विवेकी हैं उनके प्रति मित्रता भी होती है, और अज्ञानियों के प्रति करुणा भी होती है। अतः आचार्य से निवेदन है 'इस करुणा के वश में होकर आप उनके प्रति दया करें ताकि उनका भी उपकार होवे। जो आपके पास आया है, उसका उद्धार हो यह आपके दाक्षिण्य का, बुद्धिमानी का प्रयोजन है।' गुरु को शिष्य से कुछ लेना नहीं है। देवताओं से भी कुछ नहीं लेना है तो अन्यो से क्या प्राप्त करेगा! ज्ञानी का अपने लिये कोई प्रयोजन नहीं होता है। भाष्यकार ने (गीता भूमिका में) कहा है 'स्वप्रयोजनाभावेऽपि' अपना कोई प्रयोजन उसका नहीं है। उसका स्वभाव करुणा से सम्पन्न है इसलिये दूसरे का उद्धार हो ऐसी वृत्ति बन जाती है।

गुरु ने कहा—यदि किसी का उद्धार संभव हो तो जिसके उद्धार की चर्चा है : वह मूढ़ कैसा है? उसे समझकर ही प्रयास सम्भव है। गुरु अपनी ओर से ढूँढने निकलते नहीं, जो कल्याण चाहकर उनकी शरण में आता है उसकी योग्यतानुसार ही वे प्रयास करते हैं। उन्हें लगता है कि जो मूढ़ शिष्य भोगपरायण न होकर तत्त्वज्ञान चाहे, परमात्ममार्ग का पथिक हो, अर्थात् उसे संसार नहीं परमात्मा चाहिये, उसी के लिये गुरु का दाक्षिण्य सार्थक है। याद रखना कि संसार की और परमात्मा की इच्छा, ये साथ-साथ नहीं रहती। दोनों मिल जायें यह असंभव है। संसार अज्ञान का कार्य है। अज्ञान से ही संसार की चीजें मिलती हैं। ज्ञान से संसार की कोई चीज नहीं मिल सकती, क्योंकि ज्ञान से संसार रह ही नहीं जाता। ज्ञान होने पर अज्ञान की किसी चीज की प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि वे चीजें स्वप्न के संसार की तरह कभी किसी काल में नहीं हैं। संसार की कोई चीज नहीं चाहते, परम वैराग्य है, तभी अधिष्ठान परमात्मा को चाहते हो। अधिकतर लोग संसार में प्रसन्न हैं। ईश्वर को मानते हैं, लेकिन ईश्वर से संसार की चीजें चाहते हैं। ईश्वर को नहीं चाहते। पराङ्मुख अर्थात् आत्मा से भिन्न अनात्म पदार्थों को चाहने वाले लोग। लोग सब चीजों को बाहर देखते हैं अतः परमेश्वर को भी अपने से बाहर देखना चाहते हैं। यह भी पराङ्मुखता है। संसार बाहर है, परमेश्वर अपने से बाहर नहीं है। जो मूढ़ शरण में आया वह क्या संसार को चाहने वाला है या जिज्ञासु है, परमात्म-ज्ञान को चाहने वाला है? रागी और विरक्त में यही भेद है। कुछ लोग कहते हैं 'हमारे मार्ग से संसार और परमात्मा दोनों मिल जायेंगे;' यह धोखे के सिवाय और कुछ नहीं है। एक उपाय से आत्मा और अनात्मा दोनों नहीं मिल सकते। पटनावासी चाहे कि गंगोत्री और गंगासागर एक साथ पहुँच जाये तो यह नहीं हो सकता। एक की तरफ जाने से दूसरे से दूर होना ही पड़ेगा। आत्मा और अनात्मा का मार्ग ऐसा ही भिन्न है। शिष्य आत्मा को चाहता है या अनात्मा को, इससे महान् अन्तर आता है। ॥३॥

मूढ़ संसार को सत्य मानता है। यह तो अनेक जन्मों के सत्संग के बाद निश्चय होता है कि जो दीख रहा है, वह नहीं है। जैसे दूरदर्शन या सिनेमा में सब कुछ पर्दे पर दीखता

है, देखने वाला जानता है कि वहाँ कुछ नहीं है, इसलिये उसकी कामना भी नहीं होती, ऐसे जिसको सत्संग के संस्कार पड़ते हैं वही विरक्त हो पाता है। जब तक संसार की असत्यता का निश्चय नहीं होता तब तक जिज्ञासु नहीं बन पाता। बिना वैराग्य के जिज्ञासा होती नहीं है। इसलिये यजुर्वेद में कहा कि जिज्ञासा उत्पन्न हो इसके लिये यज्ञ, दान, तप आदि सब करो। अतः आचार्य का शिष्य-योग्यता के बारे में प्रश्न संगत है। प्रायः प्राथमिक शिष्य रागी होगा जिसे कर्म-उपासना के साधन बताये जायेंगे। यदि पूर्व जन्म या यहीं के सत्संस्कार से विरक्त हो जिज्ञासु है तो तदनुरूप साधन बताये जायेंगे। अतः ग्रंथकार स्पष्ट करते हैं कि अधिकारानुरूप उपदेश देय है—

उपास्तिं कर्म वा ब्रूयाद् विमुखाय यथोचितम् ।

मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासुम् आत्मानन्देन बोधयेत् ॥४॥

आत्मा से विमुख के लिये यथायोग्य उपासना या कर्म साधन बताया जाये। जिस जिज्ञासु की प्रज्ञा मन्द है उसे 'आत्मानन्द' से समझाया जाये।

'विमुखाय' अर्थात् जो पराङ्मुख, बहिर्मुख है उसमें चीजों की इच्छा रहती है। आचार्य शंकर बार-बार कहते हैं कि अविद्या से कामना और उससे कर्म होता है। जो विमुख अर्थात् तत्त्वज्ञान से विमुख है, जिज्ञासु नहीं है, यदि वह ब्रह्मलोकादि की प्राप्ति चाहता है, तो उसको गुरु उपासना का साधन बतलावे। अगर वह स्वर्गादि चाहता है, तो उसको अग्निहोत्र आदि कर्म और साथ में उपासनाओं को बतलावे। जो इहलोक के पदार्थों को चाहता है, उसे वेदों में जो ऐहिक फलों के साधन बताये हैं वे बतावे। जो परमात्मा से विमुख है, उसको यथोचित जैसी कामना है वैसा साधन बतावे। वशिष्ठ जी ने दशरथ को पुत्रेष्टि बताया, रामचंद्रजी को तत्त्वज्ञान और वैराग्य का उपदेश दिया। शास्त्र या ज्ञानी अपनी ओर से कोई रास्ता नहीं बतलाता, जो राग तुम्हारे मन में है उसे पूर्ण करने का उपाय बतला देता है। यदि उससे पूछो तो कहेगा कि संसार को सर्वथा असत्य देखो। यही रास्ता बतायेगा। दूसरे रास्ते तो मूढ़ को ही बताये जाते हैं। जिज्ञासु परमात्मज्ञान को चाहता है, पर उसकी प्रज्ञा, बुद्धि मंद भी हो सकती है। ऐसा शिष्य विवेक और दीर्घकालीन निरन्तर योगाभ्यास करने में अक्षम होता है। शांति का सुख ठीक से समझ ही नहीं पाता। फिर भी यदि चाहता परमात्मा को है तो उसे समझाने के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। 'आत्मानन्देन' से यह तो कहा ही कि आत्मा की आनन्दरूपता समझाने के द्वारा उसे प्रबोधित करे, इस प्रकरण का नामोल्लेख भी कर दिया, अर्थात् इसमें ऐसे का अधिकार कहा है। आत्मानन्द द्वारा वह ब्रह्मानन्द पा लेगा।

योग में समर्थ तो अहंकार भी लीन कर लेगा। उसे उस मार्ग से ब्रह्मानन्द मिल जायेगा। परंतु जिसमें ऐसे विवेक और योगाभ्यास की सामर्थ्य नहीं है उसके लिये भी उपाय चाहिये।

इस कलिकाल में अल्पायु वाले होने से ऐसे लोग बहुत ज्यादा हैं, उनकी गति बताते हुए गुरु उत्तर दे रहे हैं। आत्मज्ञान की दृढता होने के बाद केवल प्रारब्धाधीन ही ज्ञानी का आचरण रह जाता है। प्रारब्ध दो प्रकार के हैं। एक, जिसमें द्वैतदर्शन अत्यल्प है। वह शरीर के भोजन-पानी इत्यादि के लिये फलप्रद होता है। उससे अतिरिक्त किसी फल वाला नहीं होता। ऐसे ज्ञानी स्वभाव से भूमिकारूढ होते चले जाते हैं और अंतिम भूमिका में पहुँचकर विदेहकैवल्य को प्राप्त कर जाते हैं। पंचमादि भूमिकाओं में किंचित् द्वैत-प्रतीति रह जाती है, उतना ही उनका प्रारब्ध-भोग हुआ करता है। सप्तम भूमिका में द्वैतदर्शन खत्म हो जाता है। ऐसा ब्रह्मनिष्ठ शिष्यप्रबोधन में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि भेद का ग्रहण ही नहीं करता। जो भूमिकारूढ होगा वह भी पहले, चतुर्थ में आने पर स्पष्ट ज्ञानी हो चुका है। पंचम भूमिका तक किंचित् द्वैत-प्रतीति होने से, तदनुकूल आचरण भी हो जाता है। शास्त्र की आज्ञा है कि 'ज्ञानी भी अज्ञानी की उपेक्षा न करे' अतः जो योग्य है उसे तो वह तत्त्वज्ञान का उपदेश दे देता है, बाकी जो पराङ्मुख अतः जन्म-मरण के चक्र में रहने वाले हैं उनका क्या किया जा सकता है! दूसरा प्रारब्ध ऐसा है जिसके फल में द्वैत-दर्शन है। ऐसे प्रारब्ध वाले विद्वान् में स्वभावतः करुणा होती है। सामने आया मध्यम या उत्तम कैसा भी शिष्य हो, उसका कल्याण करने की तत्परता होती है। अतः वे सभी प्रकार का उपदेश देते हैं। ईश्वरकोटि वाले, केवल उत्तम साधकों के लिये जितना आवश्यक है, उतना ही प्रतिपादन करते हैं। उनका द्वैतदर्शन और प्रारब्ध इतना अल्प है कि ज्यादा करने की उनके प्रारब्ध में अवस्था ही नहीं है। जिनके प्रारब्ध में द्वैत-प्रतीति है, उनमें करुणा भी होती है। ऐसे ज्ञानियों को आचार्य-कोटि का कहते हैं। वे व्यक्तियों की जैसी योग्यता है वैसा उपदेश करते हैं। अगर शिष्य, सामान्य विषयों की तरफ आकृष्ट है, या स्वर्गादिलोकों के प्रति आकृष्ट है, तो उसे कर्म का उपदेश दे देते हैं। यदि वैकुण्ठ आदि लोकों को जाना चाहता है, तो उपासना का उपदेश दे देते हैं। जो प्रबुद्ध जिज्ञासु है, उसको तो निजानंद का उपदेश दे ही देते हैं। परंतु जो मंदप्रज्ञ है, उसके प्रति भी उपायान्तर बतलाते हैं।

मंदप्रज्ञ को कैसे उपदेश दिया जाये? ब्रह्म के आनंदस्वरूप का निश्चय योगाभ्यासी ने तो अहंकार को लीन करके प्राप्त किया। मन्द को ब्रह्म आनंदरूप है—यह निश्चय कैसे हो? जब कहा जाता है कि 'तू ब्रह्मरूप है' तब 'मैं हूँ' अर्थात् सद्रूप हूँ यह पहले समझ आता है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में मैं हमेशा रहता हूँ, देहान्तरों में भी हमेशा रहता हूँ, इसलिये 'होना', सत् मेरा रूप है—यह निश्चय हो जाता है। इसी प्रकार ऐसा भी काल कभी नहीं आता, जब मेरा ज्ञान लुप्त हो जाये। किसी चीज का ज्ञान नहीं होता है तब भी 'किसी चीज का ज्ञान नहीं हो रहा है' यही ज्ञान होता है। मैं हूँ और हमेशा ज्ञानरूप हूँ—इतना निश्चय तो सभी को हो सकता है। जैसे सर्पभ्रम में 'यह है' अर्थात् यहपना और होना—इनका निश्चय अंधेरे में भी होता ही है, केवल रस्सीपना नहीं प्रतीत होता, वैसे अज्ञान में भी सद्रूपता व चिद्रूपता का पता चल जाता है, आनंदरूपता समझने में ही कठिनाई है। 'यह

है' साँप हटने पर भी रहेगा, ऐसे ही सच्चिद्रूप तब भी रहेगा जब कर्तृभोक्तरूप हट जायेगा। अभी जो व्यापक आनन्दरूप ढका है वह तत्त्वबोध से प्रकट हो जायेगा जैसे भ्रमकाल में ढका रस्सीरूप प्रमाकाल में प्रकट हो जाता है। 'मैं आनंद हूँ' यह किसी को अविद्या-दशा में अनुभव नहीं होता। 'मुझे मज़ा आया' तो अनुभव होता है, 'मैं मज़ा हूँ' ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता। इसी का मतलब है कि आनंदरूपता ढकी हुई है। यदि यह निश्चय हो जाये कि 'मैं आनंदरूप हूँ' तो क्योंकि आनंद ही ब्रह्म है इसलिये ब्रह्मरूपता का निश्चय हो जाये। जो मंदप्रज्ञ है, उसको भी अपनी आनंदरूपता का निश्चय कराना जरूरी है। आगे (श्लोक ७२ में) बतलाया है कि परमानंदरूप की सिद्धि परम-प्रेमास्पद होने से है। 'मैं आनंद हूँ' यह निश्चय कराने का उपाय क्या है? यह समझना कि मैं परमप्रियरूप हूँ। 'मैं ही परमप्रिय है' सिद्ध कर दें तो आनंदरूपता की सिद्धि हो जाये। आनंदरूप कब सिद्ध होता है? जब यह सिद्ध होवे कि उससे मुझे प्रेम है। जो मुझे बुरा लगेगा, उससे मुझे कभी सुख नहीं होगा। जो अच्छा लगेगा उसी से मुझे सुख होगा। जिससे ज्यादा और कोई चीज अच्छी न लगे, वह परम प्रेमास्पद होगा, और वही परमानंदरूप होगा।

यह है निश्चय कराने का तरीका। आगे बतलाया है कि सब चीजें मुझे अपने लिये प्रिय होती हैं। प्रायः लोगों का यही कहना है कि 'प्रेम अपने से नहीं, दूसरों के लिये करो'। पर वस्तुस्थिति है कि अपने प्रति निरतिशय प्रेम कोई छोड़ नहीं पाता। हम सच्ची बात कहते हैं कि सब लोग स्वार्थी ही हो सकते हैं। 'स्वार्थी होना चाहिये' ऐसा हम नहीं कह रहे। हमारा प्रश्न है कि दूसरे के लिये क्यों कर रहे हो? क्योंकि तुम्हें अच्छा लग रहा है। लोग चाहे कहें 'हम परमार्थ के लिये कर रहे हैं', परंतु दूसरे के लिये भी वही करेंगे जो उन्हें अच्छा लगता है। दूसरे को वह अच्छा लगे जो तुम्हें अच्छा लगता है, तब तुम्हें जँचता है, अन्यथा नहीं। दूसरा सुख को प्राप्त होवे तो मैं सुखी होऊँ—यों स्वयं के लिये ही दूसरे को सुख देते हो। स्वार्थी बनो—यह नहीं कह रहे पर सच यह है कि स्वार्थी ही हो सकते हो। दूसरे के लिये भी तभी करते हो जब तुम्हें अच्छा लगता है। गड़बड़ी क्या है? हम अधिकतर काम दूसरों के लिये करते हैं। आँख को अच्छा लगे—इसके लिये हम परेशान होते हैं। क्योंकि हम आँख को स्व मानते हैं इसलिये आँख को अच्छा लगे तो मुझे अच्छा लगता है। यह विचार से पता लगता है कि आँख तो मैं हूँ नहीं। जो मन को अच्छा लगे उसके लिये करते हो। पर क्यों करते हो? क्योंकि वह मन मेरा है। जिस मन को तुम अपना रूप मानते हो, उसके लिये करते हो। वेदांत समझाता है कि ये सब तुम नहीं हो इसलिये इनके लिये करना व्यर्थ है। भ्रम से उन्हें स्व समझते हो। अतः करते स्वार्थ से ही हो क्योंकि भ्रम से जिसको स्व समझते हो उसके लिये करते हो। उचित यह है कि जो असली स्व है उसके लिये करो। वास्तविक स्व वह है जो अज्ञान के कारण सारे ब्रह्माण्डरूप से प्रतीत हो रहा है। इन्द्रियाँ तुम्हारा स्व नहीं हैं। मन, प्राण, इंद्रियों आदि के लिये करने को लोग स्वार्थ समझते हैं। वेदांत कहता है कि सब कुछ अपने लिये प्रिय है तो उसका स्व से मतलब इंद्रियाँ, मन, प्राण आदि नहीं है। उसका मतलब है कि सारे जगत् के अधिष्ठान

के लिये सब प्रिय हैं। शास्त्र को यही समझाना है कि आत्मा आनंदरूप है, वही परप्रेम का विषय है। आनंद से ही प्रेम होगा ॥४॥

उपनिषत् में आनंद के आधार पर आत्मोपदेश कैसे समझाया है यह बताते हैं—

बोधयामास मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यो निजप्रियाम् ।

न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रिय इतीरयन् ॥५॥

अपनी प्रिय मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य ने 'अरे! पति के लिये पति प्रिय नहीं होता' इत्यादि कहते हुए आत्मा को आनंदरूप समझाया है।

बृहदारण्यक उपनिषत् (२.४ एवं ४.५) में महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी को आनंदरूप आत्मा का बोधन कराया। याज्ञवल्क्य को मैत्रेयी प्रिय थी क्योंकि वह जिज्ञासु थी। उनकी दो पत्नियाँ थीं, मैत्रेयी और कात्यायनी। जब वे संन्यास लेने चले, तब कहा 'अपनी सम्पत्ति को तुम दोनों में बाँट देता हूँ ताकि बाद में कोई मनमुटाव न होवे।' कात्यायनी तो लौकिक दृष्टिकोण वाली थी। पर मैत्रेयी ने कहा 'आप सारा कुछ बाँट रहे हैं या कुछ साथ ले जा रहे हैं? अन्यथा संन्यास में गुजर कैसे करेंगे? जिस सम्पत्ति को लेकर आप संन्यास मार्ग पर जा रहे हैं, उसे मुझे बाँटिये। जिस सम्पत्ति को आप छोड़कर जा रहे हैं, उससे तो किसी का कल्याण हुआ नहीं है। इसको मैं लेकर क्या करूँगी? जिस आत्मज्ञान को आप लेकर जा रहे हैं, वही मुझे दीजिए।' वह वैराग्यवान् जिज्ञासु थी। प्रिय तो उनको कात्यायनी भी थी लेकिन वह सम्पत्ति प्राप्त कर प्रसन्न थी अतः उसे आत्मप्रबोधन अपेक्षित नहीं था। जो शिष्य इहलोक और परलोक का जिज्ञासु है, उसके प्रति ब्रह्मवेत्ता गुरु का पूर्ण प्रेम नहीं होता। जैसे कात्यायनी को धन दे दिया, वैसे उसको कर्म उपासना से इहलोक और परलोक के साधन बता देते हैं। जो वैराग्यवान् और जिज्ञासु है, उसके प्रति ही पूर्ण प्रेम होता है। उपनिषत् में शब्द हैं 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।' पति के लिये, अर्थात् पति की कामना से पति प्रिय नहीं होता। पति की इच्छा है इसलिये पति प्रिय है, ऐसा नहीं है वरन् अपने लिये ही पति प्रिय होता है। पति लम्बे समय से बीमार है, हजारों खर्च हो गये, ठीक होने की सम्भावना नहीं, तब पत्नी ही कहती है 'ईश्वर इन्हें उठा ले तो ठीक है, बहुत कष्ट पा रहे हैं।' पति को दुःखी देखकर स्वयं दुःखी होती पत्नी अपने दुःख को दूर करने के लिये ही ऐसी प्रार्थना करती है। 'मुझे पसन्द है' तभी कुछ प्रिय है अतः प्रेम का ठीक-ठीक विषय मैं ही हूँ, आत्मा ही है ॥५॥

उपनिषत् में क्रमशः पति, पत्नी, पुत्र, धन एवं पशु, ब्राह्मण-क्षत्रिय जातियाँ, लोक, देवता, वेद, अन्य प्राणी—इन्हें कहकर 'सर्वस्य कामाय' यों सामान्यतः सभी को आत्मा के लिये ही प्रिय घोषित किया है अतः यहाँ भी पति-कथन को सभी के उपलक्षणार्थ बताते हैं—

पतिर्जाया पुत्रवित्ते पशुब्राह्मणबाहुजाः ।

लोका देवा वेदभूते सर्वं चात्मार्थतः प्रियम् ॥६॥

पति, पत्नी, पुत्र, धन, पशु, ब्राह्मण जाति, क्षत्रिय जाति, लोक, देवता, वेद, भूत—सभी आत्मा के लिये प्रिय हैं।

पत्नी को जैसे पति वैसे पति को पत्नी उसके लिये नहीं वरन् अपने ही लिये प्रिय होती है। कर्कश पत्नी से कितने दिन पति प्रेम रख सकता है! इसी प्रकार पुत्र, वित्त, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता, वेद, भूत आदि सभी से प्रेम होता है किंतु ये सब आत्मा के लिये ही, अपने लिये ही प्रिय होते हैं। आजकल देशप्रेम की बात भी होती है। हमसे सम्बन्ध वाला होने से ही हमें देश से प्रेम है। ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाला जो धर्म है, उससे प्रेम है या हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, आदि धर्म से प्रेम है, क्योंकि उसका पालन करने से मेरा कल्याण होगा। यही नियम सर्वत्र लागू होता है अतः निष्कर्ष यह है कि मुख्य प्रेम आत्मा से (मैं से) ही है, उसी के लिये भले ही अन्यत्र भी प्रेम प्रतीत हो जाये। अतः ब्रह्म की आनंदरूपता के निश्चय के लिये आत्मा के प्रिय स्वरूप पर दृष्टि केन्द्रित करनी पड़ती है, वहीं आनंद का साक्षात् अनुभव होता है। अहंकार को लुप्त करने पर भी जो आत्मा रह जाता है वही प्रेम का मुख्य केंद्र अतः आनंदस्वरूप है। रसगुल्ले में आनंद है यह निश्चय कैसे करते हो? यही कहोगे कि 'रसगुल्ला हमें प्रिय है इसलिये रसगुल्ले में आनंद है।' रसगुल्ले में आनंद का अनुभव कब होता है? जब रसगुल्ले के प्रति प्रेमाकार वृत्ति बने। रसगुल्ला सफेद है, इसका निश्चय कैसे होता है? रसगुल्ले से आँख में सफेद आकार की वृत्ति बनती है इसलिये निश्चय होता है कि वह सफेद है। इसी प्रकार स्पर्श के द्वारा मुलायमियत की अंतःकरण में वृत्ति बनती है तब निश्चय करते हो कि रेशम मुलायम है। वृत्ति के बनने से ही निश्चय होता है कि कोई चीज कैसी है। इसी प्रकार से रसगुल्ले को देखकर प्रेम की वृत्ति बनती है इससे निश्चय करते हो कि रसगुल्ला सुखरूप है। जिस चीज से प्रेम होता है वही आनंद देती है। ब्रह्म की आनंदरूपता का तब निश्चय होता है जब उससे प्रेम हो। नित्य-निरंतर सभी को आत्मा से प्रेम है अतः सिद्ध होता है कि अन्ततः सबका प्रेम ब्रह्म से ही है क्योंकि आत्मा ही ब्रह्म है। ब्रह्म की परमानन्दरूपता का निश्चय तभी होगा जब आत्मा को ब्रह्म समझें। आत्मा और ब्रह्म दो चीजें नहीं हैं। इसलिये आत्मा की आनंदरूपता का बोध होने से ब्रह्म की आनंदरूपता समझ आ जायेगी। भ्रम से जिसे आत्मा समझ रहे हो, वह भी प्रेम का विषय बन जाता है। पर जैसे उसे अनात्मा जान लेते हैं वैसे ही वह प्रिय नहीं रहता। कदाचित् तो दुःखदायी, अप्रिय बन जाता है। चालीस लाख की हीरे की अंगूठी पहनी है, वह हमें प्रिय है। कहीं एक मिनट छूट जाये तो सब काम छोड़कर उसे ढूँढने लगते हैं। रेल में अकेले जा रहे हैं। कोई हमें मारने का भय दिखाकर अंगूठी लेना चाहे तो झट से अंगूठी उतारकर उसे देते हैं, तब अंगूठी से प्रेम नहीं रहता, उससे ज्यादा प्रेम जीवन से है, प्राणों से है। अभ्यास क्या करना है? इस विचार का कि जितना धन तुम्हारे पास है, उस सब की अपेक्षा प्राण अधिक प्रिय है इसलिये धन नहीं वरन् प्राण आनंदरूप है। प्राण प्रतिक्षण तुम्हारे साथ है। धन की अपेक्षा तो यही ज्यादा प्रिय है। पर कोई नहीं कहता 'बड़ा आनंद है, साँस आ रही है' क्योंकि उधर ध्यान जाता नहीं। साँस नहीं आयेगी, तब छटपटाओगे। 'प्राण ब्रह्म

है' यह कहते हैं तो आजकल के लोगों को समझ में नहीं आता है। किंतु प्राण तुम्हारे प्रेम का विषय है इसलिये आनंदरूप है। आत्मा की प्रेमास्पदता सिद्ध करेंगे, वह समझने के बाद तो तुम्हारा आत्मा आनंदस्वरूप है, उसके रहते तुम्हें और कोई दूसरी चीज ज्यादा सुख नहीं दे सकती। जैसे किसी के पास एक खरब रुपया है। उसको तुमने एक पैसा दिया। उसका धन तो बढ़ ही गया, पर क्या उसे प्रसन्नता होगी? उसी प्रकार जिसको ब्रह्मानंद का अनुभव है उसे सारे संसार के सुख अतितुच्छ लगते हैं। अतः विषयसुख मिलने पर 'ज्यादा सुखी हो गया' ऐसा बोध उसे नहीं होता। खरब वाले को पैसा तो असली मिल सकता है लेकिन जो 'एक पैसा'-रूप संसार परमेश्वर ने तुम्हें दिया है वह खोटा है! सच्चा नहीं दिया। अतः चलता नहीं है। ऐसे पैसे से तो समझदार को बिलकुल प्रसन्नता नहीं होगी। उसका सुख कैसे होगा? आत्मा की आनंदरूपता को समझाना इसलिये है कि तुम हमेशा परमानन्द में मग्न रहो ॥६॥

उक्त प्रसंग को स्वयं ग्रंथकार समझाते हैं—

पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा प्रीतिं करोति सा ।

क्षुदनुष्ठानरोगाद्यैस्तदा नेच्छति तत्पतिः ॥७॥

पत्नी में जब पति-विषयक इच्छा हो तब वह उससे प्रेम करती है। भूख, धार्मिक व्रत, रोगादि से जब उसका पति युक्त हो तब वह उसकी इच्छा नहीं करती।

पत्नी को जब पति की इच्छा होती है, तब वह पति से प्रेम करती है। यदि उसको भूख लगी है, और पति कहता है 'मैं तेरे पास बैठा हूँ तेरी प्रीति का विषय हूँ, मुझसे प्रेम कर।' वह कहेगी 'कहीं से रोटी लाओ।' पति कहे कि 'इसके लिये मुझे जाना पड़ेगा, तुझे वियोग का दुःख नहीं देता हूँ।' तो क्या पति उस पत्नी की प्रीति का विषय रहेगा? इसी प्रकार वह रोगादि से ग्रस्त हो, पति कहे 'मैं वियोग देने के लिये उपचार के लिये कहीं नहीं जाता, न तुझे भेजता हूँ। मैं तेरे पास बैठा हूँ।' ऐसा भी नहीं है कि पत्नी को पति से प्रेम नहीं है पर उस समय भूख या रोग के कारण प्रेम प्रतिबद्ध हो जाता है। प्राण और शरीर के अंदर जो वेदना है, उसके चलते बाह्य जो पति उससे सुख नहीं मिलता। प्राण और शरीर पति की अपेक्षा ज्यादा प्रिय हैं। इसलिये पति का चाहे वियोग हो जाये, इनकी सुरक्षा अवश्य की जायेगी। इसी प्रकार पत्नी ने कोई अनुष्ठान, व्रत ले रखा है। अनुष्ठान के नियमों में पतिप्रेम नहीं करना भी है। उस समय वह पति की इच्छा नहीं करती। अनुष्ठान-काल में पति की अपेक्षा अधिक प्रेम बुद्धि से है। आजकल पति चाहते हैं कि पत्नी उन्हें शराब पिलाये। मनु के अनुसार पीने की तरह शराब पिलाना भी पाप है। जिसे धर्म से प्रेम होगा वह पति की खुशी के लिये ऐसा पाप नहीं करेगी। जैसे पत्नी वैसे पति यदि भूख, रोगादि से ग्रस्त है या व्रत ग्रहण किये है तो भी पत्नी की इच्छा का विषय नहीं रह जायेगा। पति चाहे तभी पत्नी उसे चाहती है अन्यथा नहीं। इससे निर्णय होता है कि अंततः अपने ही लिये पत्नी का पतिप्रेम है, पति के लिये नहीं ॥७॥

प्रेम-विश्लेषण का निष्कर्ष बताते हैं—

न पत्युरर्थे सा प्रीतिः स्वार्थ एव करोति ताम् ।

पतिश्चात्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन ॥८॥

वह प्रेम पति के लिये नहीं वरन् अपने ही लिये पत्नी करती है। पति भी पत्नी के लिये कभी प्रेम नहीं करता वरन् अपने ही लिये करता है।

पति के लिये पत्नी का प्रेम नहीं है। पत्नी उस प्रीति को अपने लिये ही करती है। पति के विषय में भी वही समझ लेना। पति जब पत्नी की इच्छा करता है तब भी अपने लिये ही करता है। पति का प्रेम भी अपने लिए ही है ॥८॥

प्रश्न होता है कि जहाँ एक की इच्छा अवरुद्ध हो वहाँ तो मान लिया कि प्रेम अपने लिये है लेकिन जहाँ दोनों की इकट्ठी ही कामना होवे, वहाँ क्यों न मान लें कि पति के लिये ही प्रेम है? उत्तर देते हैं—

अन्योन्यप्रेरणेऽप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम् ॥९॥

परस्पर प्रेरणा में भी इसी तरह स्वकीय इच्छा से ही प्रवृत्ति होती है।

प्रायः अनुभव होता है कि दोनों को आपस में प्रेम है। एक-दूसरे को प्रेरित कर वे अभीष्ट क्रिया आदि संपन्न करते हैं। वहाँ भ्रम होता है कि दूसरे के लिये प्रेम होगा। किन्तु सत्य वहाँ भी यही है कि स्वयं के लिये ही प्रेम है। यह हो सकता है कि दूसरे की प्रेरणा से हमारी इच्छा उद्भूत हो जाये, परन्तु प्रवृत्ति तो अपनी इच्छा से ही होगी। इसलिये दोनों की इच्छायें अपने-अपने लिये ही हैं। यद्यपि परेच्छा एवं अनिच्छा से भी भोग प्रसिद्ध है तथापि जहाँ किसी प्रयास से सुखानुभूति का प्रसंग है वहाँ अन्ततः स्वेच्छा रहती ही है। दूसरे का आग्रह भी तभी मान्य होता है जब उसे प्रसन्न करने की हमें इच्छा हो, अन्यथा नकारने में देर नहीं लगती।

दुःख तो अनिच्छा से भोगा भी जाता है लेकिन सुख-भोग में इच्छा का विनियोग रहा करता है। कम-से-कम जब दो लोग एक-दूसरे को परस्पर सुख के लिये प्रेरित करते हैं तब तो निश्चित ही उनकी स्वेच्छा से प्रवृत्ति होती है। फिर भी 'स्वेच्छा' कही वहाँ जाती है जहाँ प्रेरणा आदि का बाहरी स्रोत न हो। बाहर से प्रेरणा पाकर स्वेच्छा से करना भी परेच्छा से करना कहलाता है। इस प्रकार पति-पत्नी का परस्पर प्रेम स्वयं अपने-अपने लिये ही है यह तात्पर्य है ॥९॥

पति-पत्नी परस्पर प्रेमी प्रसिद्ध होने से उन्हीं से परीक्षा प्रारम्भ कर निर्णय किया कि उनका प्रेम अपने ही लिये है, एक-दूसरे के लिये नहीं। इसी तरह, माता-पिता का बालक के प्रति प्रेम भी निःस्वार्थ प्रसिद्ध है अतः उसका भी विचार करते हैं—

श्मश्रुकण्टकवेधेन बाले रुदति तत्पिता ।

चुम्बत्येव न सा प्रीतिर्बालार्थे स्वार्थ एव सा ॥१०॥

काँटों-सी दाढ़ी चुभने से बच्चे के रोते हुए भी उसका पिता उसे चूमता ही है। वह प्रेम बालक के लिये नहीं वरन् अपने ही लिये है।

चार दिन की यात्रा करके रंगून से घर पहुँचा है। मार्ग में हजामत कहाँ बनायेगा! अतः दाढ़ी बढ़ी है, काँटों की तरह है। आते ही अपने बच्चे को बड़े प्रेम से चूमता है। पिता की बढ़ी दाढ़ी बालक को काँटों की तरह चुभती है। जिससे परेशान हुआ बालक रोता है। पर बाप तो उसे चूमता ही है। बालक कष्ट से रो रहा है, किंतु पिता उसे चूमकर प्रसन्न हो रहा है अतः बालक के साथ प्रेम है इसलिये नहीं चूम रहा, वरन् स्वयम् को अच्छा लग रहा है, इसीलिये चूम रहा है। वह प्रेम अपने सुख, सन्तोष के लिये है, बालक के लिये नहीं। पति-पत्नी और बालक के सम्बन्ध में माना जाता है कि बिना कारण ही प्रेम किया जाता है। हमें कुछ मिलेगा—इसलिये नहीं। जब वहीं पर स्वार्थ है तो अन्य जितने रिश्ते हैं, उनमें स्वार्थ होगा ही, यह स्वाभाविक है ॥ १० ॥

पति-पत्नी और बच्चा तो स्वयं चेतना वाले हैं, इसलिये सम्भावना है कि उनके लिये प्रेम होगा। परन्तु लोगों में धन से प्रेम देखा जाता है। सोना, चाँदी, जवाहरात आदि से प्रेम होता है। वहाँ तो सम्भावना भी नहीं है कि उन रत्नादि के लिये या धन के लिये धन से प्रेम है क्योंकि उनमें तो जड़ होने से इच्छा है ही नहीं। अतः जड़ों के, अनात्मा के प्रति प्रेम स्पष्ट कर देता है कि प्रेम स्वयं के लिये होता है, अन्य के लिये नहीं—

निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन्।

प्रीतिं करोति सा स्वार्थे वित्तार्थत्वं न शङ्कितम् ॥११॥

जिसमें इच्छा हुआ ही नहीं करती उस रत्न आदि धन का यत्नपूर्वक पालन (रक्षण-संवर्धन) करते हुए उससे व्यक्ति प्रीति करता है, वह प्रीति (प्रेम) अपने लिये है क्योंकि धन के लिये हो यह शंका भी सम्भव नहीं।

रत्नादि वित्त अर्थात् हीरा, पन्ना, मोती, सोना, चाँदी, नोट आदि धन। यद्यपि गाय आदि मानुष वित्त एवं उपासनारूप दैव वित्त अन्यत्र शास्त्र में प्रसिद्ध है तथापि विद्यारण्य स्वामी ने स्पष्ट किया कि यहाँ वित्त मायने रत्नादि। जड़ होने से रत्नादि के अन्दर तो कोई इच्छा है ही नहीं। पत्नी, बालक आदि से प्रेम कह तो सकते हैं कि अपने नहीं उन्हीं के लिये प्रेम है किंतु धन से प्रेम में तो ऐसा कह भी नहीं सकते क्योंकि धन जड़ है।

मखमल की डिब्बी बनाकर उसमें हीरों को रखते हैं! हीरा संसार में सबसे कठोर, कड़ी चीज है। उसमें कोई न तरेड़ आयेगी, न दाग लगेगा, चाहे जहाँ रखो। फिर भी लोग उसके लिये मखमल की डिब्बी बनाते हैं। हीरा तो यह चाहता नहीं है। ऐसे नये नोट के प्रति रुचि भी अपने लिये ही है, नोट तो पुराना भी उसी कीमत का है। न हीरे के लिये मखमल है, न धन के लिये नया नोट है वरन् अपनी प्रसन्नता के लिये ही यह प्रेम है। धन-स्थल में यह

शंका-योग्य भी नहीं कि धनार्थ प्रेम होगा। अतः यहाँ आत्मार्थ प्रेम निर्विवाद सिद्ध हो जाता है ॥११॥

बालक की तरह पशु से प्रेम भी स्वार्थ सिद्ध करते हैं—

अनिच्छति बलीवर्दे विवाहयिषते बलात्।

प्रीतिः सा वणिगर्थैव बलीवर्दार्थता कुतः ॥१२॥

बैल न चाहे तो भी बलपूर्वक उससे वजन ढुआना चाहता है। अतः वणिक् को अपने लिये ही प्रीति है, बैल के लिये नहीं।

व्यापारी बैल के ऊपर कपड़े के थान रखकर एक मंडी से दूसरी मंडी जाता है। प्राचीन भारत में ग्राहक दुकानों पर नहीं जाता था, दुकानें ही ग्राहक के पास आती थीं। बैल आराम चाहे, चलना नहीं चाहे, फिर भी व्यापारी उसे मारता है, बलपूर्वक उससे माल ढुलाता है। मंजिल पर पहुँचने पर तो उसे चारा, पानी देता है, प्रेम करता है। लगेगा कि बैल से उसे कितना प्रेम है। पर वह सब इसलिये कि आगे और माल ढोना है। वह प्रेम बैल से नहीं है, अपने लिये है। प्रीति बैल के लिये होती तो जबरदस्ती बैल को मारकर क्यों चलाता? 'कुतः' बैल के लिये वह प्रीति कैसे हो सकती है! लोग कहते हैं 'इसे अपनी गाय से बड़ा प्रेम है, घोड़े या कुत्ते से बड़ा प्रेम है।' किंतु इसीलिये है कि वह उसे अच्छा लगता है ॥१२॥

ब्राह्मणों को अपने वर्ण के प्रति प्रेम होता है। अनेक कष्ट सहकर शास्त्रीय नियमों का अनुसरण करते हैं ताकि ब्राह्मणत्व सुरक्षित रहे। इससे लगता है कि वह प्रेम अपने लिये न होकर जाति के लिये होगा। किंतु वहाँ भी है अपने ही लिये यह स्पष्ट करते हैं—

ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पूज्योऽहमिति तुष्यति पूजया।

अचेतनाया जातेर्नो सन्तुष्टिः पुंस एव सा ॥१३॥

'मुझमें ब्राह्मणत्व है, मैं पूज्य हूँ' इस अभिमान से पूजा पाकर खुश होता है। वह खुशी जड जाति की नहीं वरन् स्वयं व्यक्ति की ही है।

'मेरे में ब्राह्मण जाति है' अर्थात् 'मैं ब्राह्मण हूँ, इसलिये पूज्य हूँ' यह व्यक्ति को ही अनुभव है। उसे और कुछ नहीं मिले, गाँव के लोग चरणस्पर्श करें तो भी बड़ा संतोष होता है। जब तक पूजा मिलती रही, उससे संतोष रहा तब तक जाति-रक्षा के लिये तप भी करते रहे। आधुनिक काल में अधिकांश जनता ने आदर देना छोड़ दिया, तपस्वी ब्राह्मण का भी चरणस्पर्श करने वाले नहीं रहे, ब्राह्मण होना पूजा में कारण नहीं रहा तो लोग जाति के लिये तप भी छोड़ बैठे। सरकारी विभाग में जाकर कोई कहना भी नहीं चाहता 'मैं ब्राह्मण हूँ' क्योंकि यह पता लग जाये तो उसका काम कभी नहीं करेंगे। दक्षिण भारत में अन्ना दुरई आदि के आन्दोलनों के बाद से अपने नाम के आगे अय्यर, अय्यंगर आदि शब्द लगाते ही जब पूजा की जगह अपमान मिलने लगा तब ब्राह्मण जाति की रक्षा करते हैं क्या? जाति

[प्र. १२ श्लो. १४]

ब्रह्मानंद में आत्मानंद प्रकरण १३०१

के लिये वे तप नहीं कर रहे थे, 'मैं ब्राह्मण हूँ, पूज्य बना रहूँ' इसके लिये करते थे। ब्राह्मण तो जाति है, जड है, उसे संतोष हो ही नहीं सकता। संतोष पुरुष के लिये ही है। १३।।

जो ब्राह्मण के बारे में कहा वह अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये यह समझाते हैं—

क्षत्रियोऽहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता।

न जातेर्वैश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम्। १४।।

'मैं क्षत्रिय हूँ अतः राज्य करता हूँ' यह व्यक्ति का ही अभिमान है, जाति में तो राजापना है नहीं। ब्राह्मण-क्षत्रिय का उल्लेख वैश्यादि सभी जातियों के बारे में यह समझने के लिये किया।

प्रजा या शरणागत का क्षत से त्राण करना क्षत्रिय का धर्म है। इससे प्रसन्नता किसे है? जाति तो जड है, व्यक्ति ही स्वधर्मानुष्ठान से प्रसन्न होता है। राजस्थान में एक राजकुमार का विवाह होते ही उसे युद्ध पर जाने का आदेश हुआ। पत्नी से प्रेमवश वह युद्धभूमि से लौटा तो पत्नी ने उसे कर्तव्य-परायण बनाये रखने के लिये अपना सिर काट लिया। पति की कर्तव्यनिष्ठा से पत्नी को सुख था इसलिये उसने ऐसा किया। 'मैं क्षत्रिय हूँ इसलिये जहाँ कहीं भी देश-धर्म पर आपत्ति आवे उसकी रक्षा का काम करता हूँ' इसी अभिमान का नाम 'राजता' है। जिसमें यह अभिमान जितना दृढ़ है वह उतना ही तत्परता से राजधर्म का पालन करता है। जाति-प्रयुक्त हो तो ऐसे अभिमान से वंचित आधुनिक क्षत्रियों में भी धर्मनिष्ठा मिले। जिस व्यक्ति में क्षत्रिय होने का अभिमान है वही क्षात्रधर्म पर दृढ़ रहता है। उससे वही सुखी होता है, जड जाति को कोई सुख हो ऐसा नहीं। ब्राह्मण-क्षत्रिय की तरह वैश्य-शूद्र आदि जातियों के बारे में भी यही नियम है कि जिसे अभिमान है वही उसके लिये तत्पर होता है, जाति के प्रयोजन से नहीं। जाति-उचित कार्य से व्यक्ति ही प्रसन्न होता है, जाति नहीं। जाति की तरह ही देश के बारे में समझना। जिसे स्वदेश का अभिमान है वह उसके लिये बलिदान देता है। देश जड वस्तु होने से न उस बलिदान से सुखी होता है न लाभान्वित।

जैसे देशाभिमानरहित में देश-प्रेम नहीं वैसे जाति के अभिमान से रहित में जातिप्रेम नहीं। कृषि को उत्तम व्यवसाय मानने वाले वैश्य को नगरीय सुविधायें मिलने लगीं तो खेती छोड़ गया। सर्वत्र वस्तुएँ उपलब्ध कराने से, गाँव-नगर में सबको अन्नादि सुलभ कराने से कीर्ति मिलते व्यापारी ऐसे कार्यों में सचेष्ट रहा, विद्यालय, औषधालय, धर्मशाला, घाट-प्याऊ, अन्नक्षेत्र बनाता चलाता रहा। जब इन कार्यों के बजाये अधिक धनी होने से ख्याति मिलने लगी तब ये काम छोड़कर अपनी संपत्ति, अपना भोग-वैभव बढ़ाने लगा। जिस कार्य से श्रेष्ठता का बोध होगा, जिससे सुख मिलेगा उसी में प्रवृत्ति होगी, जाति देश आदि अनात्मा के उद्देश्य से नहीं। सभी कुछ अपने लिये प्रिय होता है। कदाचित् प्रतीति होती है कि 'हमें दूसरे के लिये प्रिय है' परंतु वास्तविक बात यही है कि विषय के लिये नहीं, भोक्ता को अपने लिये विषय प्रिय है। १४।।

आगे वाक्य है 'न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति' इत्यादि। लोकप्राप्ति के लिये प्रयास प्रसिद्ध होने से संभव है कि लोक ही स्वप्रधान होकर प्रिय हो! किंतु श्रुति उन्हें भी आत्मा के लिये प्रिय घोषित करती है—

स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ स्तां ममेत्यभिवाञ्छनम् ।

लोकयोर्नोपकाराय स्वभोगायैव केवलम् ।।१५।।

'स्वर्गलोक एवं ब्रह्मलोक मुझे मिलें' यह इच्छा लोकों के उपकार के लिये नहीं वरन् केवल अपने ही भोग के लिये है।

केवल कर्म से मिलने वाले लोकों को स्वर्ग से तथा उपासना-समेत कर्म से मिलने वाले को ब्रह्मलोक से ग्रहण किया। 'स्वः' का अर्थ सुख है अतः भुवः, स्वर्, महः, जनः, तपः—इन्हें स्वर्ग से एकत्र किया और सत्यलोक को ही ब्रह्मलोक कहते हैं। वही हिरण्यगर्भ का लोक है। जहाँ अपने इष्टदेव के साथ सम्बन्ध होता है, वह ब्रह्मलोक है। वहाँ अपने इष्ट का ही भोग है और कोई विषय-भोग नहीं है। वैकुण्ठ, गोलोक आदि सब ब्रह्मलोक के ही अवान्तर भेद हैं। एक ही परमेश्वर भिन्न-भिन्न साधकों को, उनके इष्ट के रूप में दर्शन देता है। परमेश्वर एक ही है। यह प्रश्न नहीं करना 'परमेश्वर का अपना रूप क्या है?'

परमेश्वर का अपना कोई रूप नहीं है। जैसे संस्कारभेद से रस्सी ही सर्प-माला-जलधारादि दीखती है वैसे भक्तों के संस्कारों के अनुरूप परमेश्वर ही विभिन्न रूप धारण कर दर्शन देते हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये ही स्वेच्छावश ईश्वर विभिन्न नाम-रूप ग्रहण करते हैं। उन्हीं रूपों के संस्कारों से युक्त भक्त आराधनाकर उन्हीं रूपों वाले परमेश्वर का दर्शन करते हैं। दीखता हर रूप में परमेश्वर ही है। जिस प्रकार के संस्कार हैं, उस प्रकार दीखने वाला है परमेश्वर ही, इसमें सन्देह नहीं। ब्रह्मलोक वह है जहाँ अपने इष्टदेव का सुख मिलता है। वहाँ कोई विषय-सुख नहीं है। जैसे जाग्रत् में बाह्य विषय हैं ऐसे स्वप्नमें नहीं, भले ही स्वप्न में भी 'रसगुल्ले से सुख हुआ' प्रतीति है। इसी तरह ब्रह्मलोक में प्रतीति सविषयता की है, लेकिन विषय नहीं है। छांदोग्योपनिषद् में जहाँ इस पर विचार आया है वहाँ भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि स्वप्न और जाग्रत् का भेद केवल काल्पनिक है। ब्रह्मलोक के अन्दर बाह्य विषय नहीं हैं, स्वप्न-समान स्थिति है। बाह्य विषयों की सत्ता मानकर स्वर्गलोक और ब्रह्मलोक में भेद है। वस्तुतः तो एक ब्रह्म में ही अज्ञान के कारण सारी प्रतीति हो रही है। श्रुति ने जो लोकों का उल्लेख किया, उसे आचार्य ने यहाँ दो भागों में बाँट दिया—एक, जहाँ बाह्य विषय हैं, और दूसरा, जहाँ बाह्य विषय नहीं हैं। 'स्वर्ग और ब्रह्मलोक मेरे होवें। मैं वहाँ पहुँचूँ—यही कर्ता चाहता है। स्वर्गलोक और ब्रह्मलोक को नहीं चाहता। वे लोक बने रहें, फलें-फूलें—इसलिये कोई यज्ञादि अनुष्ठान नहीं करता। क्या चाहता है? 'गोलोक मेरा हो जाये, मैं वहाँ जाऊँ। स्वर्ग और ब्रह्मलोक मेरे हो जायें।' यही इच्छा है। मैं वैकुण्ठ में पहुँचूँगा तो वैकुण्ठ का कुछ उपकार होना नहीं है। स्वर्गलोक या ब्रह्मलोक के उपकार के

लिये मैं उन लोकों को नहीं चाहता। मुझे अपने इष्ट के भोग की प्रतीति हो यही अभिलाषा है। अपने इष्टदेव के दर्शन, उनसे निकट के व्यवहार की इच्छा भक्तों को होती है। 'मुझे दर्शन मिले, सेवा का अवसर मिले' यों मैं-से सम्बन्ध चाहिये, केवल इष्ट की अभिलाषा नहीं। इष्ट से अन्य धन, पुत्र, दुःखनिवृत्ति आदि कुछ नहीं चाहते इसलिये भक्ति अहैतुकी है, लेकिन इष्ट को अपने लिये ही चाहते हैं।

लोक में भी विभिन्न देवी-देवताओं की आराधना अलग-अलग प्रयोजनों से करने वाले सुलभ हैं। उनकी अपेक्षा वे भक्त निष्काम कहलाते हैं जो देवता को चाहते हैं, किंतु वे भी देवता को अपने लिये चाहते हैं, 'मुझे दीखे, मुझसे सम्पर्क हो' यह चाहते हैं। देवता जहाँ हैं वहीं आनन्द से बने रहें—यह भक्तों की इच्छा नहीं हुआ करती। इसी प्रकार सन्त-महात्माओं की सेवा आदि में कुछ तो धन-पुत्र आदि के लिये संलग्न होते हैं तथा कुछ अपने कल्याण के लिये। 'मेरा कल्याण हो' यह भी न चाहते हुए केवल महात्मा के प्रयोजन से उनका भक्त हो यह संभव नहीं। 'एव' और 'केवलम्' से सूचित है कि पूज्य की असुविधा के प्रति भी सावधान न रहकर भक्त इष्ट का लाभ चाहता है। राक्षस-निवारण में इष्ट को श्रम होगा यह जानने पर भी उन्हीं से प्रार्थना करते ही हैं। राम, कृष्ण आदि ने जीवन में असंख्य क्लेश सहे यह जानकारी भी हम 'धर्मरक्षार्थं भगवान् शीघ्र अवतार लें' यही प्रार्थना करते हैं। इससे स्पष्ट है कि अपने सुख के लिये ही इष्ट से, देवी-देवताओं से प्रेम है, न कि उनके लिये ॥१५॥

लोकों के प्रसंग में आराध्य देव भी आत्मार्थ प्रिय हैं यह जो विचार किया उसे स्वयं ग्रंथकार व्यक्त करते हैं 'न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति' आदि श्रुति को समझाते हुए—

ईशविष्णवादयो देवाः पूज्यन्ते पापनष्टये ।

न तन्निष्पापदेवार्थं तत्तु स्वार्थं प्रयुज्यते ॥१६॥

शिव, विष्णु आदि की जो पाप-निवृत्ति के लिये पूजा की जाती है वह निष्पाप देवताओं के लिये नहीं वरन् हमारे अपने लाभ के प्रयोजन से।

देवाराधना देवता के लिये नहीं वरन् आराधक के स्वार्थ की सिद्धि के लिये होती है। पाप-क्षय से हमें दुःख नहीं होगा—इसलिये इस प्रयोजन से पूजा करते हैं न कि इसलिये कि देवता निष्पाप बने रहें! देवता चाहते हैं हम पाप करें ही नहीं। हम चाहते हैं कि पाप तो करें, देवताओं की पूजा से उनके फल दुःख से बच जायें।

परमेश्वर तो हैं ही निष्पाप जैसा श्रुति ने 'अपापविद्धम्' से कहा है, अतः उनके लिये, उनके पाप की निवृत्ति के लिये नहीं वरन् अपने हितार्थ पूजा की जाती है। कह देते हैं 'ठाकुरजी भूखे न रह जायें इसलिये नैवेद्य तैयार कर रहा हूँ'। शास्त्र से मालूम यह है कि देवता खाते-पीते ही नहीं! अतः अपने नियम के पालनार्थ ही नैवेद्यपाक है, देवार्थ नहीं। अशुद्ध दशा में देवविग्रह का स्पर्श हमारे पाप का हेतु होगा। इसलिये उससे बचते हैं, ऐसा

तो है नहीं कि हमारे छू देने से भगवान् अशुद्ध हो जायें। कह तो देते हैं कि अस्पृश्य-स्पर्श से विग्रह अपवित्र हो गया किंतु तात्पर्य यही है कि स्पृष्टा दोषी हुआ। ईश्वर तो पवित्र ही रह सकता है! हिरण्यगर्भ से देवताओं तक जीवभाववश कोई पाप संभव भी हो किंतु ईश्वर नित्य निष्पाप ही है। उसके पाप को नष्ट करने के लिये पूजनादि चाहिये ही नहीं। पूजादि से हमें, करने वाले को ही लाभ होता है। पूजा से कर्ता के पाप नष्ट होते हैं। अतः ईश्वर, देवता आदि से भी प्रेम स्वार्थवश ही है। ११६।।

पति आदि सम्बन्धियों से, धन से, जाति से, देवताओं से जैसे स्वार्थप्रयुक्त प्रेम है वैसे ही वेद से भी है यह कहते हैं—

ऋगादयो ह्यधीयन्ते दुर्ब्राह्मणानवाप्तये ।

न तत् प्रसक्तं वेदेषु मनुष्येषु प्रसज्जते । ११७ ।।

ऋक् आदि शाखाएँ इसलिये विधिवत् पढ़ी जाती हैं कि निकृष्ट ब्राह्मणता से बचा जाये। वह बुरी ब्राह्मणता वेदों में तो आती नहीं; मनुष्यों में ही आती है।

यद्यपि घोर श्रमपूर्वक वेद सुनकर याद करना एवं रोज पाठ करते रहना प्रतीत होता है कि वेदरक्षा के लिये होगा तथापि 'मैं अच्छा ब्राह्मण बनूँ, नीच ब्राह्मण न बनूँ' ऐसा चाहने वाला ब्राह्मण ही वेद पढ़ता-याद रखता है अतः वह अपने ही लिये है, वेद के लिये नहीं। वेद शब्दराशि तो है किंतु गुरुमुख से सुनकर वैसा ही उच्चारण कर पाने की सामर्थ्य आये बगैर वेद-शब्दों का शास्त्रीय उपयोग संभव नहीं अर्थात् यथाविधि जिसने वेदोच्चारण सीखकर याद नहीं किया उसके द्वारा किया वेदपाठ शास्त्रीय कर्मों में काम नहीं आता। वेदाध्ययन से रहित ब्राह्मण को 'व्रात्य' या निकृष्ट ब्राह्मण माना गया है। निकृष्टता व्यक्ति में ही आयेगी यदि वह वेद न पढ़ सका। न पढ़ा गया वेद तो निकृष्ट हो नहीं जाता। अतः वेद के लिये नहीं वरन् अपनी ब्राह्मणता बेहतर हो इसलिये ब्राह्मण वेद पढ़ते हैं। तपस्या और वेदाध्ययन से रहित को जातिब्राह्मण अर्थात् जन्ममात्र से ब्राह्मण या ब्राह्मणबन्धु अर्थात् जिसके रिश्तेदार ब्राह्मण हैं, खुद जिसमें ब्राह्मणोचित योग्यता नहीं है—ऐसा कहा है। आचार्य शंकर ने ऐसों को ब्राह्मणों में 'अपसद' या नीच कहा है। ब्राह्मण पैदा अवश्य हुआ किन्तु आचार-विचार उस योग्य नहीं रखा, यह नीचता है। ऐसी नीचता से बचने के लिये ब्राह्मण वेद पढ़ता है न कि वेद के किसी प्रयोजन से। क्षत्रिय-वैश्य भी वेदाधिकारी होने से वेद न पढ़ने से नीच होते हैं। उन्हें भी उस नीचता से बचने के लिये वेदाध्ययन करना चाहिये। सर्वथापि वेदसेवा भी आत्मार्थ ही है, वेद के लिये नहीं, यह भाव है। ११७।।

महाभूत भी आत्मार्थ प्रिय समझ आते हैं—

भूम्यादिपञ्चभूतानि स्थान-तृट्-पाक-शोषणैः ।

हेतुभिश्चावकाशेन वाञ्छन्त्येषां न हेतवः । ११८ ।।

सब प्राणी जगह, प्यास मिटाना, पकाना, सुखाना तथा खालीपन के प्रयोजनों से पाँचों भूत चाहते हैं। भूतों के अपने तो कोई हेतु नहीं जिनके लिये लोग भूतों को चाहें।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन भूतों को लोग चाहते हैं। पृथ्वी को चाहते हैं स्थान के लिये, बैठना आदि कोई भी काम भूमि पर ही कर सकते हैं। जल से ही प्यास बुझेगी। अग्नि से ही भोजन पकेगा। वायु से ही चीजें सूखेंगी और किसी भी काम को करने के लिये खाली जगह चाहिये। आकाश अवकाश देगा तभी चलना भी सम्भव है। जिस चीज की जरूरत जब होती है तभी उसकी वाञ्छा करते हैं। दिल्ली में बारिश से सड़कों पर पानी भर जाता है। लोग कहते हैं 'मौसम खराब है'। नगर से बाहर गाँव में लोग इसी वर्षा से प्रसन्न हैं कि खेती अच्छी होगी। किसान को पानी की प्यास है अतः उसे वर्षा अच्छी लगती है। नलों में पानी न आवे तो नगरवालों के लिये बुरा है, पर वर्षा होवे यह नहीं चाहते क्योंकि कीचड़ लगती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना। कारणों से ही उन चीजों को भी चाहते हो, ये कारण नहीं रहें तो वे चीजें अच्छी भी नहीं लगतीं। पृथ्वी स्वयं पृथ्वी के लिये अच्छी नहीं लगती है, हमें बैठने, खड़े होने को जगह मिलती है, इसलिये अच्छी लगती है। अग्नि भोजन पकाती है, इसलिये अच्छी लगती है, अग्नि के कारण नहीं। पंचभूतों से जितनी चीजें उत्पन्न होती हैं, वे भी समझ लेना कि इसी तरह मैं के लिये प्रिय हैं। जिस चीज की जरूरत जब होती है, वह तब अच्छी लगती है अन्यथा नहीं। ११८।।

पदार्थों के बारे में बताकर अब कहते हैं कि आपस के सम्बन्धों में भी यही बात है—

स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वाञ्छति।

तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते। ११९।।

मालिक, नौकर आदि सब को अपने उपकार के लिये कोई भी चाहता है; उस-उस का उस-उससे किया तो कोई उपकार है नहीं।

नौकर कहते हैं 'हम तो सारा दिन मालिक के लिये काम करते हैं।' मालिक कहता है 'हमें तो भोजन करने का भी समय नहीं मिलता, हजार व्यक्तियों को भोजन कराते हैं।' एक-दूसरे के लिये कर रहे हैं—ऐसा कहते हैं। किन्तु वास्तविकता है कि नौकर मालिक के लिये नहीं उससे प्राप्य वेतन के लिये कर रहा है। मालिक भी अपने लाभांश की प्राप्ति होगी इसलिये करता है। यदि घाटा हो तो सभी नौकरों को निकाल फेंक्री बंद कर देगा। कहते तो हैं कि दूसरों के लिये करते हैं, परंतु ऐसा नहीं है। जैसा मालिक-नौकर के सम्बन्ध में है ऐसा ही यह सारे सम्बन्धों के बारे में है। सारे सम्बन्ध अपने-अपने उपकार के लिये प्रिय लगते हैं। नेता कहता है 'हम जनता के लिये करते हैं।' जनता कहती है, 'हम नेताओं का पेट भरते हैं।' सचमुच में हरएक केवल अपने उपकार के लिये ही कर रहा है। स्वामी या

भृत्य ने अपने लिये ही किया। 'तत्-तत्-कृत' अर्थात् मालिक या नौकर द्वारा किया कोई उपकार 'तस्य तस्य' अर्थात् नौकर या मालिक का हो ऐसी परिस्थिति नहीं। अल्प समय में नहीं तो दीर्घ काल में, इहलोक में नहीं तो परलोक में अपने हित के लिये ही सबकी चेष्टा है। सम्बन्धी एवं सम्बन्ध सभी आत्मार्थ प्रिय है यह सार है ॥१६॥

इतने सारे दृष्टान्त श्रुति ने क्यों दिये? इसका उत्तर देते हैं—

सर्वव्यवहतिष्वेवम् अनुसन्धातुमीदृशम् ।

उदाहरणबाहुल्यं तेन स्वां वासयेन्मतिम् ॥२०॥

सभी व्यवहार इसी तरह आत्मकाम-प्रयुक्त हैं—यह विचार करने के लिये पूर्वोक्त ढंग के दृष्टान्तों की बहुलता कही। इसलिये अपनी बुद्धि को इस संस्कार वाली बनाना चाहिये।

दीर्घकाल से हमारे मन में संस्कार पड़े हैं, कि हम दूसरों के लिये करते हैं। कहते भी हैं 'दूसरों के लिये करना बहुत अच्छा है। परोपकार ही करना चाहिये' यह प्रसिद्धि भी है। व्यास जी ने भी कह दिया है 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'। दूसरे का उपकार करने से पुण्य होता है, दूसरों को पीडा देने से पाप होता है इसलिये परोपकार करना चाहिये। यही संस्कार पड़े हुए हैं। वास्तविक स्थिति है कि कोई परोपकार नहीं करता है! अमरीका के एक राष्ट्रपति थे। घोड़ागाड़ी का काल था, उस पर जा रहे थे। एक सुअर कहीं कीचड़ में फँसा था। लोगों की भीड़ उसे निकालने में लगी थी। वे बगी से उतरे, उसको बचाने में लग गये। वह बाहर आ गया तो राष्ट्रपति भी अपने कार्यालय आ गये। लोगों ने तारीफ की। उन्होंने कहा 'मैंने कोई परोपकार नहीं किया। केवल अपने मन की चिन्ता से परेशान न होने के लिये वैसा किया। यदि फँसा छोड़ आता तो बाद में उसी का विचार करता रहता।' तात्पर्य है कि सुअर के लिये नहीं वरन् अपने मन की शांति के लिये सुअर को बचाया। दूसरे का दुःख हमें सहन नहीं होता है तभी उसे हटाने के लिये प्रयास करते हैं। यह बात स्पष्ट रूप से हमारे मन में दृढ़ हो जाये इसलिये बहुत दृष्टान्तों से समझाया। अपने हर व्यवहार में देखो कि कैसे मैं अपनी अनुकूलता के लिये कर रहा हूँ।

व्यवहार कब करते हो? नियम है कि अविद्या से काम, उससे कर्म होगा। अज्ञान के कारण कामना होती है, कामना के कारण कर्म होता है। यह भाष्यकार बार-बार याद दिलाते हैं। फिर भी हम भूल जाते हैं! अज्ञान से होने वाली कामना को पूर्ण करने के लिये, चाहे प्रवृत्ति का, चाहे निवृत्ति का व्यवहार करते हैं। इस बात का पुनः-पुनः अनुसन्धान करो। अन्यथा, 'हम कर्तव्य कर्म करते हैं, अपनी इच्छा से नहीं करते' यह संस्कार आता है। विचार करने से पता लगता है कि कर्तव्य भी हम इसलिये करते हैं कि उसे न करने से कोई-न-कोई दुःख या दोष की प्राप्ति का भय है। सब अपने ही लिये प्रिय है—यह मन में स्थिर करने से आत्मा की परमप्रियता स्पष्ट हो जाती है। अनेक दृष्टान्तों से विषय स्पष्ट भी होता है

तथा नियम भी स्थिर होता है, व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है। श्रुति ने बहुत से दृष्टान्त दिये हैं, इसलिये सब समय इसका अनुसन्धान करना है। इससे अपनी ही बुद्धि में सही संस्कार दृढ़ होगा। तुम्हारे ऐसा अनुसन्धान करने के कारण दूसरों की बुद्धि सुधर जायेगी, ऐसा नहीं है। अपनी बुद्धि ही सुधरेगी। उसके अन्दर यह वासना दृढ़ होगी कि सभी चीजें आत्मा के लिये ही प्रिय हैं। तभी आत्मा में आनन्द की प्रतीति होगी। अभी हमें संस्कार है कि विषय से सुख मिलता है। जब आत्मा को सुख समझते हैं तब पता चलता है कि कामनारूप दुःख हम पैदा करते हैं जिसे विषय-लाभ मिटाता है तो सुख वही होता है जो हमारा स्वरूप है। स्वयं एक काँटा चुभायें, फिर दूसरे काँटे से उसे निकालें—यह जैसे बुद्धिमानी नहीं वैसे कामना करके उसे मिटाने में बुद्धिमानी नहीं। कामना का मूल अज्ञान मिटाने में ही बुद्धिमानी है। मन में पहले इच्छा करते हो, फिर उसे पूरी करते हो, फिर खुश होते हो कि बढ़िया हो गया। पहले तुमने इच्छा की क्यों थी? इच्छा हटी तभी सुख हुआ। इच्छा तो पहले ही हटी हुई थी। हटानी ही थी तो इच्छा को लाये क्यों थे? समझना है कि सभी कामना अज्ञानमूलक है। आत्मा में आनन्दरूपता का भान न होने से कामना हो रही है। जब कामना नहीं होगी तब पूरा आनंद है। जैसा किसी कवि ने कहा है 'जाको कछू न चाहिये सो जग शाहनशाह' जिसे कोई इच्छा नहीं वह संसार में असली राजा है। इस स्थिति को पाने के लिये श्रुति ने अनेक दृष्टान्त दिये जिनसे हर परिस्थिति में अनुसन्धान करे। जब-जब किसी में प्रीति की विषयता की प्रतीति हो, तब विचार करे कि असल में प्रिय तो आत्मा है। अनादि काल से वासना बैठी हुई है कि पदार्थों में सुख है। यह वृत्ति जब हटे, तब परमात्मा में सुख की श्रद्धा हो सकती है। अन्यथा परमात्मा भी प्रिय रहेगा, साथ ही विषय भी प्रिय रहेंगे। दोनों में प्रिय-बुद्धि होगी तो परमात्मा की आनंदरूपता का निश्चय कभी भी दृढ़ नहीं हो सकेगा। भक्तों की यह समस्या है कि वे भगवान् को आत्मा समझते नहीं। इसलिये भगवान् से भी प्रेम है उनका, परंतु साथ में स्वयं से भी प्रेम है। स्वयं और भगवान् का अभेद समझ आये तभी केवल भगवत्प्रेम सम्भव है। ॥२०॥

प्रश्न होता है कि आत्मा के लिये सब प्रिय है यह तब निर्णय हो जब पहले स्पष्ट हो कि प्रिय होने का मतलब क्या, प्रीति कहते किसे हैं? लोकसिद्ध प्रेम के भेदों का उल्लेख करते हैं यह व्यक्त करने के लिये कि प्रेम-सामान्य की जिज्ञासा है, जिस प्रेम का विषय आत्मा विवक्षित है—

अथ केयं भवेत् प्रीतिः श्रूयते या निजात्मनि ।

रागो वध्वादिविषये श्रद्धा यागादिकर्मणि ।

भक्तिः स्याद् गुरुदेवादाविच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि ॥२१॥

प्रश्न उठता है कि निज आत्मा के बारे में सुनी जाती यह प्रीति है क्या? पत्नी आदि के विषय में (प्रेम) राग होता है। याग आदि कर्म में (प्रेम) श्रद्धा होती है। गुरु, देव आदि

के प्रति (प्रेम) भक्ति होती है। न मिली चीज के प्रति (प्रेम) इच्छा होती है। (आत्मा के विषय में प्रेम इनमें से कोई वृत्ति है या अन्य ही है?)

हम लोग प्रीति शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में करते हैं। चाहे हिन्दी हो या संस्कृत हो, अंग्रेजी या फ्रेंच हो। कोई भाषा ऐसी नहीं जिसमें प्रेम के पर्यायवाची अनेक शब्द न हों। अनेक शब्द इसलिये हैं कि उनके अंदर सूक्ष्म अर्थभेद है। हम लोग प्रायः विचार ही नहीं करते कि क्या सूक्ष्म भेद है। यहाँ यही विचार कर रहे हैं। 'या निजात्मनि श्रूयते' उपनिषद् में अपने आत्मा के बारे में जो प्रेम कहा जा रहा है, वह प्रीति कौन-सी है? प्रीति के अनेक भेद शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, लेकिन यहाँ चार भेदों को विद्यारण्य स्वामी कह रहे हैं। एक प्रेम है राग। किसी में राग होना अर्थात् उस पर प्रेम होना। पति-पत्नी आदि का आपसी जो प्रेम हो, उसे राग कहते हैं। राग का मतलब संस्कृत में होता है रंग। जब तुम को कोई सुखद अनुभव होता है, तब अन्तःकरण के ऊपर 'यह पदार्थ सुख देने वाला है' ऐसा संस्कार पड़ जाता है अर्थात् रंग चढ़ जाता है। भगवान् कहते हैं कि इस रंग चढ़ने के लिये जरूरी है अभ्यास। जितना उस चीज का अभ्यास करोगे उतना ही उस का राग तीव्र होगा।

अन्तःकरण में सुखदता के संस्कार से विषय के प्रति जो प्रीति होती है उसको राग कहा। पत्नी इत्यादि से सुख का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है, इसलिये उसके प्रति राग होता है। एक पंडितजी कहते थे कि यदि पत्नी से सच्चा प्रेम है तो पत्नी के मरने के बाद जल्दी-से-जल्दी ब्याह करेगा। यदि पत्नी ने दुःखी किया है तो उसके मरने के बाद कभी ब्याह नहीं करेगा। प्रायः लोग उल्टा सोचते हैं कि यदि पत्नी से प्रेम है तो उसके मरने पर फिर ब्याह करेंगे ही नहीं। लेकिन जैसे रसगुल्ला खाया, हमें अच्छा लगा, तो फिर रसगुल्ला खायेंगे, यदि रसगुल्ला खट्टा मिला, तो पुनः रसगुल्ला नहीं खायेंगे; इसी प्रकार पत्नी से सुख मिला तो उसके मरने के बाद जल्दी से जल्दी पत्नी-प्राप्ति का प्रयत्न करेगा। यदि दुःख मिला हो तभी तो कहोगे 'अब बस'। तात्पर्य है कि जिस चीज का अनुभव करके सुख हुआ है उस चीज को फिर प्राप्त करने के लिये जो मन में वृत्ति बनती है उसको राग कहते हैं।

'श्रद्धा यागादिकर्मणि'। पूजा-पाठ इत्यादि में भी प्रीति होती है, उसके करने में कोई सुख तो होता नहीं, इसलिये उसे राग नहीं कह सकते। जेठ की गर्मी में निर्जला एकादशी आयेगी, पानी नहीं पीना। इससे कोई सुख तो होगा नहीं। यदि व्रत नहीं रख पाये तो मन में दुःख होता है। गर्मी में हवन कर रहे हो, पसीना आ रहा है तो सुख का अनुभव तो नहीं है फिर भी उस यज्ञ को करने में प्रीति है। इसे राग नहीं कह सकते, श्रद्धा कहते हैं। गुरु और वेदांत जो कह रहा है, उसमें आदर-बुद्धि के कारण साधना में प्रीति होती है। सुख का अनुभव न होने पर भी गुरु और शास्त्र के वाक्यों में आदरबुद्धि कि जैसा कहा है वैसा ही ठीक है, श्रद्धा कहलाती है। जिसमें श्रद्धा नहीं होती, शास्त्रों के प्रति आदर नहीं होता वह साधना आदि से प्रेम नहीं करता। लौकिक लाभ आदि के लिये वह कोई कार्य कर भी ले पर शास्त्रनिर्देश है इतने मात्र से करने के लिये प्रेरित नहीं होता क्योंकि श्रद्धा नहीं है।

जैसे आजकल लोग रुद्राक्ष पहनते हैं। कहते हैं 'महाराज! आजकल श्रद्धा बढ़ गई है।' श्रद्धा नहीं है, शास्त्र कह रहा है इसलिये नहीं पहन रहे। कुछ वैज्ञानिकों ने लौकिक प्रयोग करके देखा कि रुद्राक्ष पहनने से रक्तचाप कम होता है। इसे मानकर रक्तचाप को कम करने के लिये ही रुद्राक्ष पहनते हैं। इस दोष से बचने के लिये हमारे मीमांसकों ने एक नियम बतलाया: मीमांसक मानते हैं 'दृष्टफल हो तो अदृष्ट फल की कल्पना असंगत है' अर्थात् कर्म का एक ही फल मान्य है, या लौकिक या पारलौकिक। श्रद्धालु शास्त्रीय कर्म का शास्त्रीय ही फल मानेगा, लौकिक असर हो तो भी उसे उस कर्म का फल नहीं मानेगा। अश्रद्धालु के लिये दृष्ट लाभ-हानि ही प्रधान है। इसलिये वे लोग कहेंगे 'आग में घी झोंक कर क्या होगा, गरीबों को खिलाओ'। उनके अंदर यह श्रद्धा नहीं है कि यज्ञ करने से पुण्य होगा। गरीब को घी खिलाने पर हमें लौकिक प्रमाण से दीखता है कि उसके गाल पर लाली आ गई, इसमें श्रद्धा की जरूरत नहीं है। इसलिये खिलाने को अच्छा कह रहे हैं। जहाँ केवल शब्द प्रमाण से ही प्रेम होता है, प्रीति होती है वहाँ श्रद्धा है। आत्मा में प्रीति रागरूप नहीं है क्योंकि इस आत्मा से पहले कभी हमें सुख नहीं हुआ है। पहले सुख हुआ होता तो इतना विचार करने की जरूरत नहीं थी। आत्मा से कोई पुण्य होता नहीं है इसलिये इस प्रीति को श्रद्धा भी नहीं कह सकते।

'भक्तिः स्याद् गुरुदेवादी'। गुरु और अपने इष्टदेव आदि से प्रेम को भक्ति कहते हैं। जिसको हम पूज्य समझते हैं उसके प्रति जो मन में प्रेम होता है, उसे भक्ति कहते हैं। अगर हमें साक्षात्कार हुआ होता और फिर प्रीति होती तो राग कहते। उससे पूर्व भक्ति ही है। भक्ति-शास्त्र वाले भक्ति को दो प्रकार की बतलाते हैं—वैधी भक्ति और रागानुगा भक्ति। विधि से प्रवृत्ति वैधी है। जिसको वे वैधी भक्ति कहते हैं, उसी को शास्त्रों में श्रद्धा कहा है। इष्ट का दर्शन, स्पर्श इत्यादि मिलने पर जब सुख का अनुभव हो गया, उसके बाद की भक्ति को रागानुगा भक्ति कहते हैं क्योंकि फिर विधि की जरूरत नहीं है। परंतु इन दोनों से भिन्न यहाँ कह रहे हैं कि पूज्य के प्रति प्रेम की भावना भक्ति होती है। यह श्रद्धा से भी अलग है, राग से भी अलग है। गुरु और देवता के प्रति प्रेम होता है क्योंकि वह पूज्य है, उसे भक्ति कहते हैं। इसलिये नियम किया है कि भगवान् का महत्त्व विस्मृत नहीं होना चाहिये, अर्थात् यह मत भूल जाओ कि 'ये भगवान् हैं'। यदि यही भूल जाओगे तो पूज्यबुद्धि रही नहीं अतः भक्ति रही नहीं। अपने आत्मा में पूज्य बुद्धि भी नहीं है, इसलिये इससे प्रेम को भक्ति भी नहीं कह सकते।

चौथा कहा 'इच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि'। जो चीज हमें प्राप्त नहीं उसकी इच्छा होती है। प्राप्त वस्तु के विषय में तो राग होता है और अप्राप्त वस्तु के विषय में इच्छा कहेंगे। जैसे यहाँ बैठा लड़का सोचता है, 'हमें अमरीका के कॉलेज में प्रवेश मिल जाये'। इच्छा कर रहा है क्योंकि अभी प्रवेश मिला नहीं है। 'हम इस कॉलेज में पढ़ रहे हैं, कोई ऐसा काम न करें कि निकाल दिये जायें, इस कॉलेज में हम बने रहें'—यह राग हुआ और 'वह अप्राप्त कॉलेज

हमें प्राप्त हो जाये' यह इच्छा हुई। राग और इच्छा, ये दोनों लौकिक वस्तुओं को लेकर ही होती हैं। श्रद्धा और भक्ति—ये दोनों अलौकिक पदार्थों के बारे में होती हैं। इनमें से कोई भी प्रीति आत्मा के साथ नहीं बनती। अलौकिक होने से राग और प्राप्त होने से इच्छा नहीं। पूज्यबुद्धि न होने से भक्ति नहीं और पारलौकिक फल न होने से श्रद्धा नहीं। फिर आत्मा से प्रेम कौन-सा है? ॥२१॥

कोई भाव उक्त चारों में अनुगत मिले तो उसे प्रीति कह सकते हैं। कोई ऐसी प्रियता बतानी पड़ेगी, जो इस तरह के भावों में समान रहे। आत्मा को प्रियतम कह रहे हैं, तो प्रिय एवं प्रियतर भी समझने पड़ेंगे एवं तीनों में प्रियता अनुगत मिलनी पड़ेगी। राग आदि भाव एक-दूसरे से भिन्न हैं। पत्नी के विषय में श्रद्धा नहीं हो सकती। अप्राप्त वस्तु की भक्ति नहीं हो सकती। इन सब में रहने वाली होवे और आत्मा में भी होवे वही प्रियता है। सब दुनिया प्रेम की बातें करती है लेकिन प्रेम को समझने की चेष्टा कोई नहीं करता। यह प्रश्न होने पर बताते हैं कि प्रेम किसको कहते हैं—

तर्ह्यस्तु सात्त्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी।

प्राप्ते नष्टेऽपि सद्भावाद् इच्छातो व्यतिरिच्यते ॥२२॥

रागादिरूप नहीं हो सकती तो केवल सुख को विषय करती अन्तःकरण की सात्त्विक वृत्ति प्रीति होवे। प्राप्त और नष्ट हो चुके, दोनों तरह के सुखों के बारे में होने से प्रीति इच्छा से अलग है।

प्रीति या प्रेम को राग आदि किसी एक से अभिन्न नहीं कह सकते यह ठीक है। अतः प्रीति का स्वरूप यहाँ बता रहे हैं—'सात्त्विकी वृत्तिः'। प्रेम एक सत्त्वगुणी वृत्ति है। सुख सत्त्वगुण में ही सम्भव है। सात्त्विकी वृत्ति तो ज्ञान की भी है, उससे अलग करने को कहा 'सुखमात्रानुवर्तिनी'। केवल सुख का अनुवर्तन करने वाली वृत्ति प्रेम है। संसार में जहाँ भी प्रेम का विषय आवे, सब जगह यह नियम मिलेगा कि वहाँ सर्वत्र सुख की वृत्ति है। सुख होता है तभी प्रेम होता है। दुःख में किसी को प्रेम नहीं है। प्रेम का विषय केवल सुख है। विषय तो अनिवार्य होने से प्रिय-व्यवहार का आस्पद बनते हैं, प्रिय वस्तुतः है सिर्फ सुख। विषय क्योंकि स्वयं सुख नहीं इसलिये प्रिय भी नहीं। अतः विषयों के प्रति राग आदि हो जाते हैं। अर्थात् प्रेम से अतिरिक्त कुछ जुड़ जाता है। विषय को महत्त्व दिये बिना केवल सुख का अनुवर्तन करने वाली जो अन्तःकरण की सत्त्वगुणी वृत्ति वह प्रेम है। भगवान् ने गीता में कहा कि सत्त्वगुण कैसा है? 'निर्मलत्वात्' मल से रहित है। यहाँ दोनों ही मल समझ लेना। जब पाप कर्म का उदय होता है तब सुख नहीं हो सकता। पुण्य कर्म का उदय होने पर ही सुख होता है। इसलिये चीज अपने पास होवे, खूब मात्रा में भी होवे, पर यदि पुण्य कर्म नहीं होगा तो उस चीज का सुख नहीं मिलेगा, जैसे मधुमेह के रोगी के पास चाहे जितनी मिठाइयाँ हों उसे उनसे कोई सुख नहीं मिलता। मिठाई बेचने से प्राप्त पैसे का सुख भले ही हो, पर मिठाई का सुख नहीं होगा। यदि चीज से सुख होना होता तो उसे हो जाता,

इसलिये सुख के लिये पापरूप मल न रहना भी आवश्यक है। जब पापादि मल नहीं रहेंगे तब रजोगुण और तमोगुण से रहित सत्त्वगुण होगा, तभी वह अपना यह कार्य कर सकेगा।

यद्यपि सत्त्वगुणी वृत्ति ज्ञान भी बतायी गयी है तथापि सुखमात्र को विषय करती यह प्रेम वृत्ति ज्ञानात्मक नहीं है। सत्त्वगुण निर्मल होने से उसके बड़े रहते ज्ञान स्पष्ट होता है किंतु प्रेम में ऐसा नहीं। जैसे वृत्ति में ज्ञान का वैसे सुख का प्रतिबिम्ब पड़ने से 'मैं सुखी' बोध होता है। सत्त्व की विशेषता है कि इस सुखिता में आसक्त कर बाँधता है जिससे कोई सुख नहीं होना चाहता, सुखी रहना चाहते हैं। इस सुखसंग से आत्मा की सुखरूपता को समझना कठिन हो जाता है। ऐसे ही ज्ञानी रहना चाहते हैं, ज्ञान नहीं होना चाहते। यह बन्धन पापी को रहता है, निष्पाप को नहीं। पूर्ण सात्त्विकता के लिये पापराहित्य आवश्यक है। प्रीति है तो सात्त्विक वृत्ति लेकिन न यह ज्ञानरूप है न निष्पाप स्थितिवाली है वरन् सुखमात्र से सम्बद्ध है। प्रश्न होता है कि फिर यह इच्छा क्यों नहीं हुई? सुखमात्र अभी प्राप्त नहीं है, इसलिये उसकी चाह को इच्छा के अंतर्गत क्यों नहीं लेते? उत्तर है कि इच्छा अप्राप्तविषयक ही होती है जबकि प्रीति पदार्थ प्राप्त होने पर भी रहेगी और पदार्थ के नष्ट होने पर भी रहेगी। विषय की तो विषयलाभ से इच्छा मिटती है जबकि सुख मिलने से उससे प्रेम मिटता नहीं। यद्यपि राग भी ऐसे ही बना रहता है तथापि वह पत्नी आदि अर्थात् विषयों के प्रति आकर्षणरूप है जबकि प्रेम सुखमात्र के प्रति है अतः इनमें अन्तर है। इस प्रकार प्रेम को इच्छारूप कहना नहीं बनता।

इस प्रकार विद्यारण्य स्वामी ने चार भावनायें गिनार्यीं। राग प्रधानतः इहलौकिक के बारे में होता है। श्रद्धा-भक्ति में परलोक-प्रधानता रहती है जबकि इच्छा दोनों के विषय में होती है। अपनी समझी जाती वस्तु के बारे में राग और अभी अपनी नहीं हुई वस्तु के बारे में इच्छा होती है। शास्त्रोक्त तत्त्व के प्रति भक्ति तथा शास्त्रोक्त विधियों के प्रति श्रद्धा होती है। श्रद्धा क्रिया में प्रेरित करती है, भक्ति ज्ञान में प्रवृत्त करती है। इन चार से अलग प्रेम है जो सुखमात्र-सम्बन्धी सात्त्विक वृत्ति है। प्रेम में तारतम्य है एवं सर्वाधिक प्रेम आत्मा से है। इसे राग आदि में से कोई एक नहीं समझ सकते। आत्मीय, आत्मसम्बन्धी के प्रति राग होता है जबकि यह आत्मा के बारे में है। क्रियादिरूप न होने से आत्मा के बारे में श्रद्धा कहना नहीं बनता। स्वप्रकाश अतः केवल शास्त्रगम्य नहीं अतः इसके प्रति भक्ति नहीं कही जा सकती और नित्य प्राप्त होने से इसकी इच्छा नहीं हो सकती। प्रेम का विषय होने से आत्मा सुखरूप ही निर्धारित होता है। प्रेम सात्त्विक वृत्ति है क्योंकि परम विवेक रहते ही आत्मा से प्रीति सम्भव है। अविवेकी को रागादि हो सकते हैं, प्रेम विवेकी में स्फुट होगा। सात्त्विक होने से यह क्रियानिरपेक्ष है किन्तु तमोगुण की तरह प्रमादपक्षीय नहीं है। प्रमादी विषय चाहकर उसके लिये प्रयास से विमुख रहता है जबकि सात्त्विक को विषय की चाह ही न होकर आत्मतृप्ति रहती है। किंच इच्छा की तरह प्रेम हटता नहीं, बना रहता है। ऐसे प्रेम का विषय आत्मा परमानन्दरूप है यह तात्पर्य है। ॥२२॥

शंका होती है कि क्या आत्मा से वैसा ही प्रेम है जैसा विषयों से होता है या अन्य तरह का है? इसके समाधानार्थ विचार प्रवृत्त करते हैं—

सुखसाधनतोपाधेरन्नपानादयः प्रियाः ।।२३।।

आत्माऽऽनुकूल्यादन्नादिसमश्चेद् अमुनाऽत्र कः ।

अनुकूलयितव्यः स्याद् नैकस्मिन् कर्मकर्तृता ।।२४।।

अन्न, जल आदि इसीलिये प्रिय हैं कि सुख के साधन हैं। अन्नादि से आत्मा में अनुकूलता की समानता हो तो, आत्मनिष्ठ सुखोपायता से यहाँ वह कौन होगा जिसे तृप्ति होगी! एक आत्मा ही अनुकूलन-क्रिया का कर्ता एवं कर्म दोनों बने यह संगत नहीं।

अन्न आदि प्रिय क्यों हैं? क्योंकि भूख मिटने से होने वाले सुख के उपाय हैं। विषयों में सुखोपायता हो तभी वे प्रिय हैं। जब प्रियता वस्तुमात्र पर निर्भर न होकर उसकी किसी विशेषता पर निर्भर हो तब उस प्रियता को सोपाधिक एवं उस विशेषता को उपाधि कहते हैं। वह उपाधि जहाँ-कहीं हो उसे प्रिय बना देगी। अन्न, जल, वस्त्र, पशु आदि सभी सुखोपाय होने से प्रिय हैं, सुखोपायता-रूप विशेषता न रहने पर कोई विषय प्रिय नहीं होता। इससे भ्रम हो सकता है कि आत्मा भी प्रिय है तो सुखोपाय होगा, न कि स्वयं ही सुख होगा। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जो भोग्य है, भोग का विषय है वही सुखसाधन होने से प्रिय होता है, अभोग्य रहकर प्रिय आत्मा बिना सुखसाधन हुए ही प्रिय है क्योंकि स्वयं सुख है।

अन्न-पानादि प्रिय हैं तथा भोग्य हैं। आत्मा प्रिय है, पर भोग्य नहीं है। आत्मा भोग करने वाला है, उसका भोग नहीं होता। जो चीज भोग्य हो और प्रिय हो वह तो अन्नपानादि की तरह साधन हो जायेगी। जो भोग्य न हो और प्रिय होवे उसे सुखसाधन नहीं होना पड़ता। इसी को उपपन्न करने के लिये कहते हैं कि अन्न-पानादि तो आत्मा के अनुकूल होते हैं, आत्मा किसके अनुकूल समझा जाये? 'अत्र' अर्थात् लोक में ऐसा कोई मिलता नहीं जिसके अनुकूल आत्मा हो सके। अनात्मा जड़ होने से उसके अनुकूल-प्रतिकूल का प्रसंग नहीं और आत्मा है ही एक। यदि अपने ही अनुकूल आत्मा हो तो एक को ही अनुकूल होने का कर्ता भी मानना पड़ेगा और कर्म भी। किसके अनुकूल हुआ? आत्मा के। कौन अनुकूल हुआ? आत्मा। कर्म और कर्ता एक ही हों यह संगत नहीं। उपकार करने वाला और उपकृत होने वाला एक ही नहीं हो सकता। एक में दोनों बातें नहीं हो सकतीं। क्योंकि गौणता-प्रधानता दोनों विरुद्ध हैं। बाकी सब मैं के लिये प्रिय हैं, मैं किसी के लिये प्रिय नहीं, स्वतः-प्रिय है।

'तुम स्वयं को क्यों चाहते हो, सब कुछ अन्ततः अपने लिये क्यों चाहते हो?' इस प्रश्न का 'यही स्वाभाविक है' के अतिरिक्त कोई उत्तर नहीं मिलता। अतः मैं किसी सुख का साधन नहीं वरन् स्वयं सुख ही है। वह प्रिय है लेकिन किसी के लिये नहीं। जैसे गुलाबजामुन किससे मीठा है? चीनी से। आगे, चीनी किससे मीठी है? चीनी तो खुद ही मीठी है। जिससे

सम्बन्ध वाली होती है उसे भी मीठा करती है। इसी प्रकार आत्मा का जिससे अनुकूल सम्बन्ध हो जाता है, वह प्रिय हो जाता है। आत्मा का अर्थात् मेरा; मेरे अनुकूल जो-जो चीज है वह मुझे प्रिय है। मैं जिससे अनुकूल सम्बन्ध करता हूँ वह भी सब प्रिय होता है तो मैं खुद प्रिय हूँ ही ॥२४॥

विषयसुख से और भी विलक्षणता बताते हैं आत्मप्रेम के वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने के लिये—

सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रम् आत्मा त्वतिप्रियः ।

सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी ॥२५॥

विषयोपाधिक सुख के प्रति केवल प्रेम होता है जबकि आत्मा से अति-प्रेम होता है। किसी विषयसुख से प्रेम स्थायी नहीं रहता लेकिन आत्मा से स्थायी, कभी घटने भी न वाला प्रेम है।

अन्नपानादि जो विषय हैं, उनसे जो सुख होता है उसके प्रति प्रीतिमात्र है। अर्थात् हर विषयसुख से अधिक प्रिय कुछ होता है। किंच प्रतिकूल हो जाने पर वही विषयसुख प्रिय नहीं भी रहता। मधुमेह के रोगी का दीर्घकालिक विवेकी रोगी मिठाई को प्रिय समझना ही छोड़ देता है। किंतु आत्मा के लिये ऐसा कभी नहीं होता कि आत्मा अब दुःख का साधन हो गया इसलिये इसमें प्रीति नहीं है। इसलिये आत्मा अतिप्रिय है। अन्नादि तो अनुकूल होने पर ही सुख देंगे, आत्मा हमेशा ही प्रीति का विषय रहेगा। अन्नपानादि विषयसुख में प्रीति व्यभिचारी है, अर्थात् अनुकूल है तो प्रिय है अनुकूल नहीं है तो वही चीज प्रिय नहीं है। पर 'नात्मनि व्यभिचारिणी' मैं प्रतिकूल हो जाऊँ जिससे मुझे मुझसे प्रीति न रहे—ऐसा नहीं होता। इसलिये विषयों का तो परिवर्तन चाहते हैं। दस लड्डू खाने के बाद नमकीन, अचार की इच्छा होती है, अब लड्डू अच्छा नहीं लग रहा है। अचार से इच्छा हटी तो फिर मीठा खाने लगा। विषय में तो प्रीति व्यभिचारिणी हुई क्योंकि अच्छा लगा तो प्रिय है, अच्छा नहीं लगा तो प्रिय नहीं है। परंतु ऐसा कभी नहीं होता कि मैं प्रिय नहीं हूँ। जैसे प्रीति एक विषय से दूसरे विषय में जाती है, वैसे आत्मा में प्रीति का व्यभिचार नहीं होता। आनंद भोगने पर, सुख भोगने पर 'थोड़ा दुःख भी भोगूँ' ऐसा कोई कभी नहीं चाहता। लड्डू के बाद तो अचार से प्रेम होता है लेकिन मैं के बाद 'यह' से प्रेम हो ऐसा नहीं है। विषयसुख प्रिय ही है, प्रियतम नहीं एवं विषयसुख कभी प्रिय है कभी प्रिय नहीं जबकि आत्मा प्रियतम है और हमेशा प्रियतम है ॥२५॥

विषयप्रेम का व्यभिचारी रूप तथा आत्मप्रेम का अव्यभिचार स्पष्ट करते हैं—

एकं त्यक्त्वाऽन्यद् आदत्ते सुखं वैषयिकं सदा ।

नात्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन् व्यभिचरेत् कथम् ॥२६॥

विषयोपाधिक सुख के बारे में हमेशा देखा जाता है कि प्रेम किसी एक को छोड़कर दूसरे

को ग्रहण करता है। आत्मा न छोड़ा जा सकता है न पकड़ा जा सकता है तो उसके बारे में प्रेम बदलने वाला कैसे होगा!

प्रेम एक चीज को छोड़कर जैसे लड्डू को छोड़कर दूसरी चीज जैसे अचार को ग्रहण करता है। पहले लड्डू में प्रेम था फिर अचार में हो रहा है। एक विषयसुख को छोड़कर प्रेम दूसरे को लेता है। वैषयिक सुख में यही होता है। परंतु आत्मा के बारे में ऐसा नहीं होता कि 'मैंने बहुत दिन सुख भोग लिया, दूसरे को भोगने दूँ।' आत्मा त्याज्य भी नहीं है, ग्राह्य भी नहीं है। अपने आप को न छोड़ सकते हो, न कहीं से ला सकते हो। क्योंकि जो छोड़ने वाला वही तुम हो। इसी प्रकार आत्मा को पकड़कर ला नहीं सकते, ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि जो लायेगा, वही तो तुम हो। जब आत्मा छोड़ने-ग्रहण करने के योग्य नहीं तब उसके साथ प्रेम का व्यभिचार भी असंभव है। छोड़ी जा सके ऐसी चीज को ही प्रेम छोड़ता है, पकड़ी जा सके उसे ही पकड़ता है। आत्मा को प्रेम न पकड़ता है, न छोड़ता है वरन् अव्यभिचारी निरंतर एकरस बना रहता है। ॥२६॥

ग्रहण-त्याग के अयोग्य को उपेक्ष्य क्यों न समझें यह बताते हैं—

हानादानविहीनेऽस्मिन्नुपेक्षा चेत् तृणादिवत् ।

उपेक्षितुः स्वरूपत्वाद् नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः । ॥२७॥

छोड़ना-लेना से रहित इस आत्मा के प्रति क्या उपेक्षा होती है जैसे तिनके आदि के प्रति हो जाती है? उपेक्षा करने वाले का स्वरूप होने से निजका आत्मा उपेक्षा के भी योग्य नहीं है।

शंका होती है कि जिसे न ग्रहण करो न छोड़ो, उसकी तो उपेक्षा कही जाती। जैसे रास्ते में पड़े सूखे तिनकों को लेने की इच्छा नहीं होगी पर सोना पड़ा है तो लेने की इच्छा करते हो। मरे गधे को देख दूर भागते हैं ऐसे तिनका देखकर दूर भी नहीं भागते। सोने को लेने की इच्छा, मरे गधे को छोड़ने की इच्छा, पर तिनके को न लेने, न छोड़ने की इच्छा होती है अर्थात् उसके प्रति उपेक्षा है। लेने-छोड़ने जैसा नहीं तो फिर आत्मा भी उपेक्षा का ही विषय हुआ। जब इसे छोड़ना भी नहीं और ग्रहण भी नहीं करना है तब तिनके की तरह इसकी उपेक्षा होगी। संसार में अधिकतर लौकिक पुरुष आत्मा की उपेक्षा ही करते हैं। बाकी सब चीजों को तो कीमत देते हैं, परंतु आत्मा की उपेक्षा ही करते हैं। फिर इससे अव्यभिचारी प्रीति क्यों कह रहे हैं? उत्तर में कहा कि यह उपेक्षा का विषय भी नहीं है। आत्मा की उपेक्षा कौन करेगा? आत्मा ही करेगा। मैं ही अपनी उपेक्षा कर सकता हूँ। तिनके की तो उपेक्षा हो सकती है क्योंकि उससे अलग उपेक्षक मैं हूँ, परंतु यहाँ उपेक्षा करने वाला हूँ तो उपेक्षा का विषय कैसे बन जाऊँ? उपेक्षा का कर्ता और कर्म एक ही कैसे हो? अतः उपेक्षा का विषय मैं नहीं हूँ। चीजों को छोड़ने वाला मैं हूँ, चीजों को पकड़ने वाला भी मैं हूँ तथा चीजों की उपेक्षा करने वाला भी मैं हूँ। इसलिये न मैं छोड़ा जाने वाला हूँ, न पकड़ा न उपेक्षा किये जाने वाला हूँ। उपेक्षा करने वाले का स्वरूप मैं हूँ। इसलिये अपने आत्मा की

उपेक्षायोग्यता नहीं है। 'निजात्मनः' अर्थात् अपना मैं! प्रायः यदि मैं शब्द से कहते हैं तो लोग अहंकार वाले को समझ लेते हैं। मैं शब्द से नहीं कहते, आत्मा शब्द से कहते हैं, तो लोग 'मैं से भिन्न कोई आत्मा होगा' ऐसा मान लेते हैं। इसलिये कह दिया, 'अपना मैं'। अपने मैं की न तुम उपेक्षा कर सकते हो, न उसका ग्रहण कर सकते हो, न उसका त्याग कर सकते हो। इस तरह समझाया कि वह उपेक्ष्य भी नहीं है ॥२७॥

ऐसा देखा जाता है कि आदमी अपने को छोड़ना चाहता है अतः आत्मा त्याज्य कैसे नहीं? यह शंका उठते हैं—

रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित् ।

ततो द्वेषाद् भवेत् त्याज्य आत्मेति यदि तन्न हि ॥२८॥

रोग, क्रोध आदि से बेबस हुए लोगों में कभी मरने की इच्छा देखी जाती है अतः द्वेषवश आत्मा त्याज्य है—यदि ऐसी शंका हो तो समाधान है कि ऐसी बात नहीं।

कोई आदमी भयंकर रोगी हो जाता है। मान लो कैंसर आदि रोग है, जब तक जीयेगा, उसे कष्ट ही भोगना है। उसे इच्छा होती है कि 'मर जाऊँ'। ऐसी को मरने का अधिकार होना चाहिये ऐसा कुछ देशों में कहते हैं। दूसरे कहते हैं कि मरने का अधिकार किसी को नहीं होना चाहिये। रोग में जब आदमी अति कष्ट को सहन नहीं कर पाता तब मरने की इच्छा करता है। ऐसे ही जब किसी को भयंकर क्रोध आता है तब भी आत्महत्या कर लेता है। अतः दारुण रोग या क्रोध में मरने की इच्छा देखी जाती है। हर आदमी गुस्सा होकर या रोग के कारण मरना नहीं चाहता। 'क्वचित्' कभी ही किसी में ऐसी इच्छा होती है। इसलिये अपने आप से भी द्वेष होता है जैसे क्रोध या रोग में स्वयं दुःखी होने पर दुःख न मिटा सकने पर खुद मिटने की इच्छा हो जाती है अतः आत्मा द्वेष्य तो है ही। यह शंका अनेक बार उठती है। समाधान दिया कि ऐसा नहीं है कि आत्मा द्वेषविषय हो जाये या उसे छोड़ने का प्रयास भी हो। इसमें उपपत्ति अगले श्लोक से देंगे ॥२८॥

'आत्महत्या' में आत्मत्याग नहीं होता अतः इससे आत्मा की अप्रियता की संभावना नहीं उठती यह समझाते हैं—

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तुरेव सा ।

न त्यक्त्यस्ति स द्वेषस्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः ॥२९॥

छोड़ा जा सकने वाला शरीर आत्मा नहीं, छोड़ने वाला आत्मा है। छोड़ने वाले के प्रति वह द्वेष है नहीं; छोड़ने योग्य से द्वेष होने में हानि क्या है!

जो मरना चाहता है वह क्या चाहता है? 'यह शरीर रोगी है, इससे मैं छूट जाऊँ।' या सास से परेशान है तो 'बहूपने को लाने वाला शरीर छूट जाये'। रोग और क्रोध से शरीर

को छोड़ना चाहता है। अपने आप को नहीं छोड़ना चाहता। आशा यह है कि इस रोगी शरीर के छूटने से इस रोगी शरीर का दुःख मुझे नहीं झेलना पड़ेगा। यह सिद्धान्ती ने कब कहा कि जीव शरीर को नहीं छोड़ना चाहता? शरीर तो विषय है, अनात्मा है। शरीर को थोड़े ही आत्मा कह रहे हैं! आत्मा कौन है? जो शरीर को छोड़ रहा है, वह आत्मा है। छोड़ने वाला आत्मा है, जिसे छोड़ रहा है वह आत्मा नहीं है। रोग या क्रोध के कारण जो द्वेष है, वह छोड़ने वाले के प्रति नहीं है वरन् रोग आदि निमित्तों के प्रति है। इसलिये जो मरने वाला है उसे अपने से द्वेष नहीं है। जो दुःख देने वाला शरीर है उसी से द्वेष है, उसे छोड़ता है। जो छोड़ने लायक है, त्याज्य है उस शरीर से मुझे द्वेष होवे, इससे जो हम आत्मा के अपने विषय में बात कर रहे हैं, उसमें क्या अन्तर आ रहा है? जिस इच्छा के आधार पर शंका की उससे तो आत्मा शरीर से छूटना चाहता है। जो छूटना चाहने वाला आत्मा है उसके प्रति तो द्वेष की सिद्धि हुई नहीं। आत्मा को न छोड़ना है, न आत्मा का ग्रहण है, न आत्मा उपेक्ष्य है। आत्मा तो उपेक्षा करने वाला, द्वेष करने वाला प्रीति करने वाला है। बचपन में खिलौने, जवानी में धन, बुढ़ापे में पोते-पोती प्रिय होते हैं लेकिन जिसे प्रिय हुआ करते हैं वह निरन्तर रहने वाला आत्मा है। छोड़ता-ग्रहण करता विषयों को है, स्वयं को नहीं। उस स्वयं के लिये ही अन्य सबसे प्रेम होता है। इस प्रकार यहाँ विद्यारण्य स्वामी उस 'स्वयं' पदार्थ के विवेक का संकेत कर रहे हैं जिसका छठे प्रकरण में (श्लोक ३४ आदि में) विस्तार आ चुका है। यह ठीक है कि अविवेकावस्था में, मैं देवदत्त हूँ अर्थात् शरीर हूँ, शरीर बीमार तो मैं बीमार। परन्तु आत्महत्या करता हूँ तब करने वाला आत्मा है, शरीर नहीं। वहाँ भी मैं शरीर के बन्धन से छूट कर सुखी होना चाहता हूँ। इसलिये सब चीजें मुझे अपने लिये प्रिय हैं। जिसके लिये सब चीजें प्रिय हैं, वह मैं अतिप्रिय हुआ।

शरीर की तरह मेरा मन मुझे दुःखी करता है तो मैं आत्महत्या कर लेता हूँ। जब मन दुःखी करता है तब मैं दुःखी होता हूँ, अतः मन को छोड़ना चाहता हूँ। इसका पहला तरीका, खूब भाँग खा लो, गांजे के दम खींच लो। मन को मारना चाहते हैं अतः भाँग पी लेते हैं। ईसाइयों में शराब पाप नहीं है अतः वे शराब पी लेते हैं। उद्देश्य एक ही है कि दुःखी मन से बचना है। धार्मिक व्यक्ति सोचता है कि नशा करना ठीक नहीं है। तब प्राणायाम आदि करके मन को स्तब्ध करता है ताकि मन से मैं छूट जाऊँ। जो मन के दुःख से छूटना चाहता है वह आत्मा है, जिससे छूटना चाहता है वह मन आत्मा नहीं है। मन की ही एक वृत्ति है अहंकार। जब जीव गहरी नींद में जाता है तब यह वृत्ति भी नहीं रह जाती। वहाँ असीम आनंद का अनुभव होता है। गहरी नींद में मैं-वृत्ति से रहित अपना स्वरूप रहता है। उसमें प्रीति है ही अन्यथा लोग नींद न चाहें। नींद का अनुभव मैं की वृत्ति को नहीं होता। नींद में मैं की वृत्ति नहीं रह जाती। चाहे जाग्रत् हो, स्वप्न हो, नशा हो, आत्महत्या हो, मैं अर्थात् आत्मा तो सुखी ही होना चाहता हूँ। अतः आत्मा की प्रियता निर्विवाद है। ॥२६॥

आत्मप्रियता में युक्तिप्रदर्शन भी करते हैं

आत्मार्यत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यतिप्रियः ।

सिद्धो यथा पुत्रमित्रात् पुत्रः प्रियतरस्तथा ।।३०।।

क्योंकि सभी आत्मा के लिये प्रिय हैं इसलिये सिद्ध होता है कि आत्मा अतिप्रिय है जैसे पुत्र का मित्र जितना प्रिय हो, पुत्र उससे ज्यादा प्रिय होता है।

‘सर्वस्य’ जितने भी सुख के साधन हैं, उनमें शरीर-मन भी समझ लेना, वे सब आत्मा के लिये प्रीति का विषय होते हैं। आत्मा के लिये हैं तभी प्रीति का विषय हैं। पास की दुकान वाले को दस लाख का फायदा होना मुझे अच्छा लगे—ऐसा कभी होता है? लाभ सुख का साधन तो है पर तभी जब मुझे होवे। जब चीजें आत्मा का उपकार करें, तभी प्रिय हैं। इसी से सिद्ध है कि आत्मा अत्यन्त प्रिय है। लड़के का दोस्त है, साथ रहते हैं, उस दोस्त को पकौड़े पसन्द हैं तो लड़के की माँ बनाकर खिलाती है। यदि लड़के की उससे दोस्ती समाप्त होकर दुश्मनी हो जाये तो लड़के की माँ उसी व्यक्ति के लिये पकौड़े बनाने से इनकार कर देती है। पुत्र के लिये उसके मित्र से प्रेम था, पुत्र को जब वह इष्ट नहीं रहा तो माँ का उससे कोई प्रेम नहीं। उस लड़के को खिलाना अच्छा लगता था, क्योंकि उसकी खुशी से बच्चा प्रसन्न होता था। प्रेम पुत्र से था, उस लड़के से प्रेम नहीं था। लड़का बच्चे को प्रिय था और बच्चा माँ को प्रिय है। बच्चे के लिये उसको खिलाती थी। इसी प्रकार चीजें आत्मा के लिये प्रिय हैं। आगे आत्मा किसी के लिये प्रिय नहीं है अतः आत्मा अतिप्रिय हुआ। जैसे लड़के के दोस्त की अपेक्षा लड़का अधिक प्रिय है उसी प्रकार सब चीजों की अपेक्षा आत्मा अतिप्रिय है यह बात सिद्ध हो गई। इस प्रकार श्रुति प्रमाण से भी बतला दिया कि आत्मा अति प्रिय है और इस अनुमान से भी बतला दिया : जो चीज जिसके लिये प्रिय होती है वह उसकी अपेक्षा अधिक प्रिय होता है, जैसे पुत्रमित्र की अपेक्षा पुत्र अधिक प्रिय होता है ।।३०।।

आत्मप्रियता के लिये अनुभव प्रमाण भी बताते हैं। यद्यपि वेदान्त में परम प्रमाण श्रुति ही है तथापि भगवान् भाष्यकार ने एक जगह कहा है कि आत्मा के संदर्भ में श्रुति, स्मृति, युक्ति, अनुभव आदि सभी प्रमाण हैं। श्रुति के अनुकूल स्मृति, युक्ति, अनुभव सभी प्रमाण हो जाते हैं। ग्रंथारंभ (१.८) का स्मरण कराते हुए अनुभव दिखाते हैं—

मा न भूवमहं किन्तु भूयासं सर्वदेत्यसौ ।

आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ।।३१।।

‘ऐसा न हो कि मैं न रहूँ किन्तु हमेशा रहूँ ही’ ऐसी सभी में आशा देखी जाने से आत्मा से प्रेम प्रत्यक्ष है।

यज्ञादि में शब्द ही प्रमाण है। उसमें युक्ति और अनुभव लागू ही नहीं होता। ज्योतिष्टोम से स्वर्ग होता है, इस बात में न युक्ति लग सकती है, न अनुभव लग सकता

है इसलिये श्रुति ही प्रमाण है, शब्द ही प्रमाण है। वेदान्त में श्रुति परम प्रमाण तो है ही, परंतु श्रुति के अनुकूल युक्ति भी मिल जाती है और अनुभव भी मिल जाता है। अतः उन्हें भी प्रमाण मान लेते हैं। आत्मा से निरतिशय प्रीति को बतलाने के लिये अनुभव दिखा रहे हैं। 'मैं न होऊँ ऐसा कभी न हो'—सभी को यह आशा रहती है। सब चाहते हैं कि कभी भी ऐसा न हो, कहीं भी ऐसा न हो, कि मैं न होऊँ। सबकी इच्छा है कि 'मैं सर्वदा रहूँ ही।' वेदों ने कहा है कि मनुष्य की सोलह कलायें हैं, उनमें एक कला 'नाम' है। बाकी पंद्रह कलायें मरने पर चली जाती हैं, पर सोलहवीं कला तो बच जाती है। इसलिये आदमी मरने पर भी चाहता है 'मेरे नाम पर दाग न लगे। नाम बना रहे।' नाम के प्रति आसक्ति है क्योंकि वह मेरा ही हिस्सा है। सब जीव हमेशा रहना चाहते हैं। सभी लोगों में यही आशा, प्रार्थना देखने में आती है। यह सबके अनुभव का विषय है। इस तरह स्वयं से प्रेम अनुभवसिद्ध है ॥३१॥

आत्मा अन्य किसी का शेष अर्थात् अन्य किसी के लिये नहीं है यही और स्पष्ट करने के लिये प्रश्न उठाते हैं—

इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायामेवमात्मनि ।

पुत्रभार्यादिशेषत्वम् आत्मनः कैश्चिदीरितम् ॥३२॥

पूर्वप्रदर्शित की तरह के तीन प्रमाणों से आत्मा के प्रति प्रेम सिद्ध होने पर भी कुछ लोगों द्वारा कहा जाता है कि आत्मा पुत्र, पत्नी आदि का शेष (अर्थात् उनके लिये) है।

तीन प्रमाण हो गये प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। तीनों प्रकार से आत्मा में प्रीति सिद्ध हो रही है। अतः आत्मा को आनंदरूप मान लेना चाहिये किंतु जो लोग श्रुति के तात्पर्य को या तो जानते नहीं, या उसके तात्पर्य को मानना चाहते नहीं उन अतिरागी लोगों का अन्यथा कथन है। जैसे शास्त्रों में वर्णविभाग है, पर लोग कहते हैं कि 'शास्त्रों का इसमें तात्पर्य नहीं है; यह प्राचीन समय की सामाजिक व्यवस्था थी, शास्त्रों ने अनुवाद किया है।' शास्त्रीय विधियों की अन्यथानुपपत्ति आदि अनेक रीतियों से जानते हुए भी कि शास्त्रों को वही व्यवस्था स्वीकृत है, क्योंकि उसको मानना नहीं चाहते इसलिये अन्यथा कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा में प्रीति श्रुति, युक्ति, प्रत्यक्ष तीनों से सिद्ध होने पर भी, जो नहीं मानना चाहते, या जो अनभिज्ञ हैं, वे कहते हैं कि पुत्र भार्या इत्यादि का आत्मा अंग है। आत्मा को शेष कहते हैं अर्थात् वह पुत्रादि का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये है। उनका अभिप्राय है कि आत्मा पुत्र भार्या आदि के अंगरूप से प्रिय है, स्वयं अपने लिये नहीं। लोक में ऐसा बहुत माना जाता है। आदमी कहता है 'मैं तो दो रोटी ही खाता हूँ पर घर वालों के कारण सब कुछ करता हूँ।' पत्नी कहती है 'मैं तो झोंपड़ी में रह लूँ पर परिवार के सम्मान के कारण बड़े भवन में रहती हूँ।' अर्थात् मैं पुत्र, पति इत्यादि का शेष हूँ। ऐसा प्रयोग संसार में रात-दिन होता है। व्यापारी, नेता भी ऐसा ही कहते हैं कि 'मैं अन्य के लिये कर रहा हूँ।' अर्थात् मैं शेष हूँ, शेषी कोई और है। इस प्रकार मैं शेष हूँ किसी दूसरे का—ऐसा कुछ लोग कहते हैं ॥३२॥

उक्त मान्यता के समर्थन में वे वेदवाक्य भी सुनाते हैं—

एतद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् ।

आत्मा वै पुत्रनामेति तच्चोपनिषदि स्फुटम् ।।३३।।

पूर्वोक्त तथ्य बताने की इच्छा से पुत्र मुख्यात्मा है यह 'पुत्र आत्मा ही है' इस श्रुति ने कहा है। यह बात (ऐतरेय) उपनिषत् में स्पष्ट है।

यह बात वेद भी कहना चाहते हैं कि पुत्र ही मुख्य आत्मा है। इसलिये बेटे के लिये सब कुछ करना चाहिये। वेद में कहा है 'आत्मा वै पुत्र नामासि' पुत्र नामसे तुम ही हो अर्थात् आत्मा ही पुत्र नाम से है। इस तरह श्रुति पुत्र को ही मुख्य आत्मा बतला रही है, अतः पुत्र ही आत्मा अर्थात् शेषी है। सिद्धान्ती के अनुसार श्रुति ने तो केवल यह बतलाया है कि तुम्हारे कर्म उपासना इत्यादि को तुम्हारे मरने के बाद तुम्हारा पुत्र करेगा इसलिये वह तुम्हारा ही रूप है। पुत्र ने पिता का कर्ज पिता के बाद चुका दिया तो लोक में भी माना जाता है कि पिता ने चुका दिया। अर्थात् पुत्र ने जो किया वह पिता का किया हुआ ही मान्य है। पर जो इस तात्पर्य को नहीं समझता, वह कहता है कि पुत्र को आत्मा बताया। किंच वादी को लगता है कि यही बात उपनिषद् में स्पष्ट कही है।।३३।।

ऐतरेय (२.१.४) में वाक्य है 'सोऽस्याऽयमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते । अथाऽस्याऽयम् इतर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति' । इससे पुत्र की आत्मरूपता प्रमाणित करने के लिये वादी इसका उपन्यास करता है—

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते ।

अथास्येतर आत्माऽयं कृतकृत्यः प्रमीयते ।।३४।।

इसका वह यह आत्मा पुण्य कर्मों के लिये प्रतिनिधि बनाया जाता है। इसके बाद इस पिता का यह दूसरा आत्मा सारे कर्तव्य कर चुका होकर मरता है।

पुत्र अपने पिता का आत्मा है। अपने सारे पुण्य कर्मों को करते रहने के लिये मरते समय पिता पुत्र को बुलाता है। प्राचीन समय में मृत्यु से पूर्व भूमि पवित्र कर, स्नान कर, कुशा के आसन पर शरीर को रख, भस्म लगाते थे और परमात्मा का ध्यान करते हुए शरीर छोड़ते थे। ऐसा न होने पर नारायण बलि करते थे। उसी समय मृत्यु से पहले पिता, पुत्र को उपदेश देता था कि 'ये ये शुभ कर्म हमारी वंश-परम्परा में होते रहे हैं, अब मैं तुम्हें उनमें अपना प्रतिनिधि बनाता हूँ, अब से तुम यह सब करना।' इसको उपनिषदों में संप्रप्ति कर्म कहा है। अपने धार्मिक नियम पुत्र को देने चाहिये। शास्त्रों में पुण्य के लिये पुत्र को प्रतिनिधि बनाने का विधान है। उस पिता का पुत्ररूप आत्मा पिता के धर्म करता रहेगा और जो मरने वाला पिता है, 'मेरे नियम पूर्ण हो गये, अब बेटे को प्रतिनिधि बना दिया, अब मेरे वंश के

पुण्य कर्म का प्रवाह रुकेगा नहीं' ऐसा अपने को कृतकृत्य समझ कर वह मरता है। इस श्रुति-प्रसंग से निर्णय होता है कि पुत्र आत्मा है। ॥३४॥

'पुत्रहीन लोक से वंचित रहता है' आदि वचनों से भी उक्त भाव ही प्रकट होता है ऐसा वादी समझाता है—

सत्यप्यात्मनि लोकोऽस्ति नाऽपुत्रस्यात एव हि ।

अनुशिष्टं पुत्रमेव लोक्यमाहुर्मनीषिणः । ॥३५॥

स्वयरूप आत्मा रहने पर भी पुत्रहीन को श्रेष्ठ परलोक नहीं मिलता, इसीलिये मनीषी उसी पुत्र को परलोक के लिये हितकारी साधन बताते हैं जो विधिवत् धर्मपालन के लिये सुशिक्षित है।

शास्त्र कहता है 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' 'अपुत्रस्य लोको न अस्ति' इत्यादि। अर्थात् जिसके पुत्र नहीं है, उसको लोक नहीं मिलता है। आत्मा तो सबका है ही, फिर क्यों कहत हैं कि सन्तति नहीं है, पुत्र नहीं है इसलिये गति नहीं है? इससे पता चलता है कि शास्त्र की दृष्टि में पुत्र ही आत्मा है, पुत्र न होने से आत्मा ही नहीं अतः लोक नहीं मिलता—यह संगत हो जाता है। 'पुत्र को जिसने पुण्य कर्मों का उपदेश दिया, उसी को परलोक की प्राप्ति होगी' ऐसा भी मनीषियों ने कहा है। श्रुतियों में भी यही बात कही गई है, लोक में भी प्रसिद्ध है कि बिना पुत्र के गति नहीं है। अतः पुत्र का आत्मा होना वेदसम्मत प्रतीत होता है यह वादी का अभिप्राय है। ॥३५॥

परलोक की तरह इहलोक के लिये भी पुत्रनिर्भरता कही होने से वही आत्मा सिद्ध होता है यह वादी कहता है—

मनुष्यलोको जय्यः स्यात् पुत्रेणैवेतरेण नो ।

मुमूर्षुर्मन्त्रयेत् पुत्रं त्वं ब्रह्मेत्यादिमन्त्रकैः । ॥३६॥

'पुत्र द्वारा ही मनुष्य-लोक जीता जा सकता है, अन्य साधनों से नहीं', 'मरणासन्न को चाहिये कि 'तू ब्रह्म है' आदि मन्त्रों से पुत्र को अभिमन्त्रित करे।'

बृहदारण्यक उपनिषत् में (१.५.१६) कहा है 'मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा' अर्थात् पुत्र के द्वारा ही मनुष्य लोक का जय हो सकता है। अतः न केवल परलोक वरन् वर्तमान लोक भी पुत्रहीन द्वारा हारा हुआ ही है। यह तभी संभव है जब पुत्र ही आत्मा हो अन्यथा आत्मा से ही यह लोक क्यों न जीता जा सके? वहीं यह भी समझाया है कि मरणासन्न व्यक्ति पुत्र को मन्त्रों से अपना प्रतिनिधि बनाये 'यदा प्रैष्यन् मन्यतेऽथ पुत्रमाह—त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञः, त्वं लोकः इति'। 'त्वं ब्रह्म' आदि तीन छोटे-छोटे मंत्र हैं जिनसे पुत्र विधिवत् आगे पिता के कर्म करने में अधिकृत होता है। इस तरह क्योंकि इह लोक पर जीत का भी पुत्रातिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है यह श्रुति ने कह दिया, इसलिये उसे

[प्र. १२ श्लो. ३७]

ब्रह्मानंद में आत्मानंद प्रकरण १३२१

आत्मा स्वीकारना चाहिये। इसलिये 'मुमूर्षु' जो मरने को तैयार है वह अपने पुत्र को तीन मंत्र देता है 'त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञः त्वं लोकः।' इन तीन मंत्रों से पुत्र को मंत्रित अर्थात् अनुशासित करता है। इन विधियों का अभिप्राय पुत्रात्मवाद में प्रतीत होता है। यह वादी को अभिप्रेत है। ॥३६॥

शंका का उपसंहार करते हैं—

इत्यादिश्रुतयः प्राहुः पुत्रभार्यादिशेषताम् ।

लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यमनुमन्वते ॥३७॥

पूर्वदर्शित एवं ऐसी अन्य भी श्रुतियाँ बताती हैं कि जीव पुत्र-पत्नी आदि के प्रति शेष है, उनके लिये है। संसारी लोग भी स्वयं से पुत्र-प्रधानता का अनुमोदन करते हैं।

जिस प्रकार श्रुतियों में पुत्र को आत्मा बतलाया वैसे ही श्रुतियों में पत्नी को भी आत्मा कहा है। 'अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी' आदि से वेद ने बताया कि आत्मा का आधा पुरुष और आधा स्त्री है, दोनों मिलकर ही आत्मा पूरा होता है। लोक में पत्नी को अर्धांगिनी कहते हैं, इसलिये भार्या का भी पुरुष शेष अर्थात् अंग है और पुत्र का भी शेष है। ऐसा श्रुतियाँ भी कहती हैं। लोकप्रसिद्धि भी ऐसी ही है। आदमी सुबह से शाम तक खटनी करता है। उसे पता है 'मुझे इतने रुपये मिल गये। सौ साल भी जीऊँगा तो आराम से खा लूँगा, मेरे लिये पर्याप्त है।' फिर भी काम करता है, क्यों? बच्चों के लिये, 'मेरे मरने के बाद भी बच्चे खाते-पीते रहें।' अर्थात् अपने को बच्चों का शेष मानता है। अपने लिये पूरा होने के बाद सारी मेहनत बच्चों के लिये है। इससे सिद्ध होता है कि वह अपनी अपेक्षा बाल-बच्चों से ज्यादा प्रीति करता है। इससे पता लगता है कि जिसको सिद्धांती स्व कहता है, वह नहीं वरन् स्व से भिन्न जो पर है, पुत्र, पत्नी आदि, वह ज्यादा प्रिय है। तभी आदमी अपने को इतना परेशान करता है। लौकिक लोग भी मानते हैं कि पिता से अधिक पुत्र का महत्त्व है। ॥३७॥

श्लोक ३३ से प्रारंभ पूर्वपक्ष का उपसंहार करते हैं—

स्वस्मिन् मृतेऽपि पुत्रादिर्जीवेद् वित्तादिना यथा ।

तथैव यत्नं कुरुते मुख्याः पुत्रादयस्ततः ॥३८॥

स्वयं के मरने पर भी पुत्रादि धनादि से जैसे सुखसम्पन्न रहें वैसे ही प्रयास पिता करता है। इसलिये पुत्रादि पिता की अपेक्षा मुख्य निश्चित होते हैं।

पिता सोचता है 'मैंने जो कमा कर छोड़ा है, मैं तो मर जाऊँगा, इनका भोग नहीं करूँगा, पर मेरे पुत्र-पत्नी इस धन से अपना जीवन सुख से व्यतीत कर सकें।' व्यक्ति ऐसा ही प्रयत्न करता है कि मरने के बाद भी पत्नी-पुत्र आदि सुखी रहें। श्रुति, स्मृति और अनुभव भी मिल गया इसलिये निर्णय जानना चाहिये कि पुत्रादि मुख्य हैं, प्रत्यगात्मा नहीं। खुद को प्रधान समझकर नहीं वरन् बाल-बच्चों के लिये करता है। यहाँ तक पूर्व पक्ष है। ॥३८॥

अब श्रुतियों ने क्या कहा है और तुम क्या गलत समझ रहे हो—यह आगे बतलायेंगे। वस्तुतः ऐसा नहीं है कि किसी और की प्रधानता हो वरन् पुत्रादि के लिये करते हुए पिता अपने लिये ही कर रहा है। 'आत्मा' शब्द का प्रयोग तीन जगह होता है। पुत्रात्मता कहती श्रुतियों में जहाँ आत्मा शब्द का प्रयोग आया है, वहाँ 'आत्मा' का अन्य अर्थ है, और जहाँ आया है कि 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वहाँ आत्मा का कुछ और अर्थ है। यह सब समझाने के लिये अनुभव को स्वीकार कर उसे शास्त्र-युक्ति से उपपन्न करते हैं—

बाढमेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित् ।

गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्माऽयं भवति त्रिधा ।।३६।।

(पुत्रादि की प्रधानता प्रतीत होती है) यह बात ठीक है। लेकिन इतने से आत्मा किसी (अनात्मा) का शेष नहीं हो जाता। गौण, मिथ्या और मुख्य—इन भेदों से यह आत्मा तीन तरह का है।

सिद्धान्ती कहता है कि तुमने जो श्रुति, स्मृति और लोकानुभव बतलाया है, वह सत्य है। हमें स्वीकार है। लेकिन तुमने उसके बल पर कुछ बढ़ करके कहा कि आत्मा शेष है, वह गलत है। कई जगह पुत्र, पत्नी आदि की प्रधानता होती है लेकिन कहाँ? जहाँ उन्हें आत्मा समझा जाता है। सर्वत्र आत्मा के रूप में प्रत्यक्स्वरूप ही नहीं समझा जाता। आत्मा किन-किन चीजों को कहते हैं—इस पर विचार वादी ने नहीं किया अतः उसे भ्रम हुआ कि अनात्मा प्रधान है। आत्मबुद्धि के वैविध्य को समझे तो पता चलेगा कि जो वह कहना चाहता है वह सिद्ध नहीं होता। श्रुति, स्मृति और अनुभव बताये, उनसे आत्मा किसी अन्य का शेष अर्थात् अंग सिद्ध नहीं होता। वादी ने बतलाया कि पुत्र का अंग आत्मा हुआ क्योंकि 'मैं काम करता हूँ बच्चों के लिये' ऐसा अनुभव है। किंतु आत्मा कभी भी किसी का शेष नहीं होता, होता तो आत्मा के लिये ही है। दृष्टान्त में भी है आत्मा के लिये ही, लेकिन इसके लिये आत्मा-शब्द का अर्थ तीन तरह से समझना पड़ता है। गौण, मिथ्या और मुख्य—ये आत्मा के तीन प्रकार हैं। जहाँ आत्मा को शेष बतलाया, वहाँ भी शेषी तो आत्मा का ही कोई प्रकार है।।३६।।

आत्मा के तीन भेद स्पष्ट करते हैं—

देवदत्तस्तु सिंहोऽयम् इत्यैक्यं गौणमेतयोः ।

भेदस्य भासमानत्वात् पुत्रादेरात्मता तथा ।।३७।।

'यह देवदत्त शेर है' ऐसे प्रयोगों में देवदत्त और शेर की गौण एकता होती है क्योंकि दोनों का अन्तर प्रतीत होता रहता है। पुत्रादि इसी तरह गौण आत्मा हैं।

गौण उसको कहते हैं जहाँ भेद की प्रतीति, अनुभव भी हो, फिर भी किसी गुण सम्बन्ध के कारण अभेद का प्रयोग किया जाता है। जैसे, देवदत्त हिम्मत वाला बहादुर है तो उसे कह देते हैं कि शेर है। कहने वाला भी जानता है कि वह शेर नहीं है। भोजन उसे आदमी

वाला ही देते हो, कच्चा मांस तो नहीं देते! पता है कि देवदत्त शेर नहीं है, यह सत्य भी है। भेद सच है, प्रतीति भी भेद की है, फिर भी अभेद का प्रयोग कर लिया जाता है। दो बड़े विद्वान् पंडित थे। विद्वत्ता से असूयारूप दोष बहुत लोगों में आ जाता है। असूया का मतलब होता है 'किसी में गुण होवे फिर भी उस गुण की तरफ ध्यान न देकर उसमें कोई न कोई दोष मन में सोच लेना। जैसे आजकल कोई घूस नहीं खाता तो जो घूस खाने वाला है वह उसकी प्रशंसा नहीं करता। कहेगा कि 'घूस खाने के लिये हिम्मत चाहिये। डरपोक क्या घूस खायेगा?' घूस नहीं खानारूप गुण में उसने भयरूप दोष का आविष्कार कर लिया। वे दोनों विद्वान् एक साथ कहीं गये। एक की अनुपस्थिति में दूसरे ने यजमान से कहा 'यह विद्वान् नहीं है, मीमांसा नहीं पढ़ा, वेद का सही अर्थ नहीं कर सकता है। कुतर्की है, कौआ है।' इसके बाद पहले वाले की अनुपस्थिति में दूसरे ने कहा, 'यह विद्वान् नहीं है खाली वेद में लिखे को बोलता रहता है, मीमांसा करता रहता है। यह तो गधा है, पंडित नहीं है।' भोजन में यजमान ने चिड़ियों का भोजन एक के लिये, तथा गधे का भोजन दूसरे के सामने रख दिया। पण्डितों को मालूम था कि वे कौआ या गधा नहीं हैं। पर उसने युक्तियाँ देने वाले, ज्यादा बोलने वाले को कौआ कह दिया था। जानता था कि वह कौआ नहीं है। इसी प्रकार दूसरे ने उसे गधा कहा था। भेद हो, भेद की प्रतीति हो, फिर भी एकता कही जाये, उसे गौण एकता कहते हैं। इसी तरह देवदत्त के लिये शेर शब्द का प्रयोग गौण है।

पुत्र और भार्या को इसी तरह आत्मा कहते हैं। जब श्रुति, स्मृति पुत्र को आत्मा कहती है या वैसा अनुभव होता है, वहाँ पुत्र सचमुच में आत्मा है ऐसा मतलब नहीं है। पुत्र और आत्मा अलग भी हैं, कहते समय यह प्रतीति भी है कि अलग हैं फिर भी आत्मा के जैसा यह मुझे प्रिय है—इस प्रियतावश आत्मबुद्धि है। पुत्र ने किया तो मानो मैंने ही किया ऐसा लगता है। इसलिये पुत्रादि गौण आत्मा ही है। वहाँ भेद है, भेद की प्रतीति भी है फिर भी एकता कह दी जाती है। जहाँ श्रुति, स्मृति, अनुभव से पुत्र आत्मा है वहाँ गौण दृष्टि से है। तात्पर्य है कि पुत्र के लिये करते हुए 'अपने लिये कर रहा हूँ' यह प्रतीति होने से मैं ही तब भी प्रधान रहा। गलती इतनी ही है कि मैं-बुद्धि पुत्र में कर ली। श्रुति ने पुत्र को आत्मा क्यों कहा? अज्ञानी को स्थूल शरीर में आत्मबुद्धि है, शरीर को 'मैं' समझता है। शरीर के अंगों को भी 'मैं' समझा जाता है। माथे पर चंदन लगे तो 'मुझे तिलक लगाया' यह प्रतीति होती है, समूचे शरीर पर चंदन लगे तभी 'मुझे लगा' ऐसा अनुभव हो यह नियम नहीं। शरीर का ही एक अंग शुक्र है, उसी का विकसित रूप पुत्र है अतः अज्ञानी के लिये पुत्र आत्मा है। जैसे अपने शरीर के अंगों से अपना, अंगी का भेद भी भासता है अतएव सड़ने लगे तो पैर या अंगुली कटवा देते हैं, वैसे पुत्र से अपना भेद भी स्पष्ट है एवं अधिक विरोध होने पर उससे आत्मबुद्धि हट भी जाती है। इसलिये पुत्र को आत्मा समझना गौण दृष्टि से है, इसी को श्रुति आदि ने अनुमोदित किया। ॥४०॥

मिथ्या आत्मा बतलाते हैं—

भेदोऽस्ति पञ्चकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ ।

मिथ्यात्मताऽतः कोशानां स्थाणोश्चोरात्मता यथा ॥४१॥

साक्षी से पाँचों कोश अलग हैं लेकिन यह भेद प्रतीत नहीं होता इसलिये कोश मिथ्यात्मा हैं जैसे ठूँठ चोररूप होता है ।

मिथ्या आत्मा किसको कहते हैं? शरीर से लेकर के अहंकार पर्यन्त को । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—ये पाँचों कोष हैं । कोष का मतलब होता है उन दीवारों का घेरा जिसमें कोई महत्त्वपूर्ण चीज होवे । ये पाँच मानो दीवारें हैं । जैसे तुम धन को सुरक्षित करके रखते हो वैसे परमेश्वर ने भी अपने को पंचकोषों के अंदर सुरक्षित रखा । बाहर का है अन्नमय कोष अर्थात् शरीर जो अन्न से बनता है, उसी में विलय होता है । इस अन्नमय कोष में प्राणमय कोष है । प्राण मायने जीवनी शक्ति । जिसमें प्राण होता है उसे प्राणी कहते हैं । सभी जीवित चीजों में प्राणमय कोश होता है । प्राण अपान व्यान उदान और समान—ये पाँच प्राण कहे गये हैं । साँस वह है जो आती-जाती है, ये प्राण-अपान हो गये । शरीर में फैलकर रहने वाली जीवनी शक्ति व्यान हुई, उसी से खाना पचाया जाता है, रक्त पहुँचाया जाता है । उदान वायु तुमको बैठा रखती है, नहीं तो शरीर लुढ़क जायेगा । जीवित शरीर में ही आत्मा स्पष्ट मिलता है । प्राणमय के अंदर है मनोमय जो संकल्प-विकल्प करता है । जहाँ आत्मा व्यक्त होगा वहाँ खाली प्राण ही नहीं, मनोमय भी है । केवल मन से भी काम नहीं चलता । कर्तृत्व, भोक्तृत्व वाला जो विज्ञानमय है, वह भी उपस्थित है । जहाँ कर्ता-भोक्तापना होगा वहीं आत्मा प्रकट होगा । मूल कारण है आनन्दमय । हम कुछ भी करें, कुछ भी भोगें, विचार करो तो उसका सदैव अंतिम लक्ष्य आनन्द पाना है । संसार में कोई भी दुःख के लिये काम नहीं करता है, दुःख को नहीं चाहता है । आनन्दमय कोष सबसे अन्त में, सबसे भीतरी है ।

उस आनन्दमय कोष के अंदर, उसका भी अधिष्ठान ब्रह्म है । इन कोशों के अंदर परमात्मा ने प्रवेश किया अतः ये पाँच कोष साक्षी से भिन्न हैं । साक्षी शास्त्रसिद्ध है । सामान्यतः साक्षी का अनुभव लोगों को नहीं है । शास्त्र के द्वारा ही साक्षी का बोध होता है । हमें अपना बोध हमेशा कर्ता-भोक्तरूप में होता है, साक्षीरूप में नहीं होता । जब हम साक्षी शब्द का प्रयोग करते हैं, तब भी हमें ऐसा लगता है कि 'जिसका मैं साक्षी हूँ उसके कारण मुझमें फरक तो आता ही है ।' बहुत से लोग यह कहते हैं कि दुःख-सुख का साक्षी होने पर भी दुःख होता तो है; ऐसा इसलिये कि साक्षी को नहीं जानते, द्रष्टा, देखने वाले को ही जानते हैं । साक्षी हमेशा निर्विकार है । साक्षी से पंचकोषों में भेद है, लेकिन 'न तु भात्यसौ' प्रतीत नहीं होता । जैसे बेटे से मैं अलग हूँ, मैं जानता हूँ कि मैं अलग हूँ, इस प्रकार साक्षी से पाँच कोष अलग हैं—यह हम नहीं जानते, केवल शास्त्र में सुनते हैं । हमें तो पाँच कोषों वाला

[प्र. १२ श्लो. ४१]

ब्रह्मानंद में आत्मानंद प्रकरण १३२५

ही मैं लगता है। गाल पर थप्पड़ लगा तो यह नहीं लगता कि 'गाल को थप्पड़ लगा' वरन् 'मुझे थप्पड़ लगा'। इसी प्रकार मन हमें अपने से अलग नहीं लगता। मन सुखी-दुःखी हो तो मैं ही सुखी-दुःखी होता हूँ। साक्षी जो मेरा स्वरूप है, वह है तो कोशों से अलग, परन्तु प्रतीत अलग नहीं होता। जहाँ भेद हो प्रमाणसिद्ध परन्तु भेद का भान न होवे वहाँ मिथ्या एकता होती है। प्रायः जब साक्षी का विचार आता है तब आदमी यह रहस्य भूलकर 'साक्षी है' के ज्ञान से सन्तुष्ट हो जाता है, 'साक्षी हूँ' की अनुभूति का प्रयास नहीं करता। अभी साक्षी का भान नहीं है, द्रष्टा का ही भान है, उसी को साक्षी समझ रहे हो। साक्षी का अनुभव करने के लिये दीर्घकाल तक साधना चाहिये। साक्षी का क्षणभर को भी यदि साक्षात् अनुभव हो जाता है तो उसका बड़ा दीर्घकालीन प्रभाव पड़ जाता है। यह नहीं समझ लेना चाहिये कि 'मुझे साक्षिभाव तो है, फिर भी दुःख होता है'। साक्षिभाव होने पर दुःख नहीं होता। इस तरह कोशों को जब तुम आत्मा कहते हो तब गौण आत्मता नहीं है, क्योंकि भेद का भान नहीं है, वरन् मिथ्या आत्मता है। तुम कोष हो, आत्मा कोष नहीं है। परन्तु 'मैं कोष' ऐसा एकता का भान होता है। मिथ्या वह चीज हुई जहाँ भेद प्रमाणसिद्ध होने पर भी भेद का भान न होवे। दृष्टांत दिया, जैसे मन्द अंधकार में तुम्हें ठूँठ दिखाई दिया, किन्तु तुम्हें वह चोर लगा। वह चोर है तो नहीं, लेकिन दीख रहा है। ऐसी प्रतीति नहीं होती कि यह चोर है नहीं केवल दीख रहा है वरन् 'चोर ही है' ऐसी प्रतीति होती है। इसी प्रकार से 'मैं देवदत्त हूँ' ऐसी प्रतीति होती है। जैसे स्थाणु में चोर है, ऐसे ही अपने साक्षिरूप से ये पंचकोष एक हुए प्रतीत होते हैं। इस तरह मिथ्यात्मा बताया ॥४१॥

अब मुख्य आत्मा बतलाते हैं—

न भाति भेदो नाऽप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः ।

सर्वान्तरत्वात्तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते ॥४२॥

अप्रतियोगी (अर्थात् सम्बन्धहीन) साक्षी का किसी से भी न भेद है, न उसका किसी से भेद प्रतीत होता है। ऐसा साक्षी सबकी अपेक्षा आन्तर (प्रत्यक्) होने से उसे मुख्य आत्मा स्वीकारा जाता है।

साक्षी और 'मैं' के भेद का भान नहीं होता इसलिये वह गौण से अलग हो गया। और भेद है भी नहीं इसलिये मिथ्यात्मा से अलग हो गया। साक्षी, मुख्य आत्मा कैसा है? 'अप्रतियोगिनः' उसका कोई प्रतियोगी नहीं है। जैसे, 'मैं कौन?' मैं देवदत्त—ऐसे शरीर का भान हुआ। मैं सुखी, तो मन का भान हुआ। या अपने पुत्र के बारे में कहा 'यह मैं ही समझ लेना' तो 'मैं' से सम्बद्ध पुत्र का भान हुआ। 'मैं'—इसके साथ किसी-न-किसी का भान होता है। किन्तु मुख्यात्मा जो साक्षी है, उसके बारे में 'कौन?' ऐसी जिज्ञासा हो तो अन्य कुछ प्रतीत नहीं होता। इसलिये बहुत से लोग इस साक्षी से घबराते हैं। भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा है, 'अभये भयदर्शिनः'। हमें सदा मैं का अनुभव किसी प्रतियोगी के साथ है, अर्थात्

मैं अमुक हूँ, ऐसी प्रतीति है। इसलिये जब 'मैं क्या हूँ' नहीं कह पाते, तब समझते हो कि मैं रहा ही नहीं। केवल 'मैं हूँ' इस अभेद-दर्शन से लोगों को लगता है कि मैं कुछ नहीं रहा किंतु यों 'कुछ और नहीं रहना' ही साक्षी का रूप है। जब कोई भी अध्यस्त नहीं रह जायेगा तब जो मैं-मात्र अनुभूति वही साक्षी है। शरीर से लेकर के अहंकार-पर्यन्त, सब कुछ अध्यस्त है और एकमात्र आत्मा अधिष्ठान है। अधिष्ठान के ज्ञान से अध्यस्तों की निवृत्ति हो जाती है। अगर चीज सचमुच होवे, तो सचमुच निवृत्त भी होवे, अगर झूठमूठ है, तो झूठमूठ ही निवृत्त होती है। पास गये तो पता लगा 'यह तो काँच है, मेरा अपना ही मुँह दीख रहा है'। अन्दर मुँह नहीं है यह पता लगने पर भी मुँह दीखता रहता है। चूँकि प्रतिबिम्बरूप मुँह झूठा है इसलिये उसका दीखना बंद नहीं होता, पर तुम जानते हो कि वहाँ है नहीं। इसी प्रकार उस अधिष्ठान के ज्ञान के बाद, अध्यस्त की प्रतीति भी होती है पर है-रूप से नहीं होती। नहीं होते हुए ही प्रतीत होता है जैसे काँच में मुँह। अधिष्ठान में जितने कल्पित, अध्यस्त हैं वे सब अपने अधिष्ठान के प्रतियोगी नहीं हैं। जब अध्यस्त प्रतीत होता है तब अधिष्ठान नहीं और जब अधिष्ठान-बोध हो जाता है तब अध्यस्त 'नहीं है' प्रतीत होने से अधिष्ठान का सम्बन्धी नहीं लगता। या 'ब्रह्म है' प्रतीति होती है, या 'जगत् है' प्रतीति होती है अतः 'ब्रह्म है' प्रतीति होने पर 'जगत् है' प्रतीति न रहने से 'ब्रह्म का' समझा जाये ऐसा कुछ नहीं है इसलिये वह अप्रतियोगी है। किं च वही सर्वान्तर है।

गौणात्मा पुत्रादि तथा मिथ्यात्मा देहादि, ये सब प्रतीत उसके कारण ही हैं। वह है तब ये प्रतीत हो रहे हैं। जिसकी प्रतीति होती है, उसको शास्त्रों में 'बाहर' पराक् कहा है। प्रायः हम लोग इंद्रियों से अनुभव करते हैं और इंद्रियों से जो चीज दीखती है, वह बाहर ही दीखती है। इसलिये दीखने वाली चीजें बाहर हैं, और मैं देखने वाला, शरीर में हूँ, या अविद्या रहते शरीर हूँ। देखने वाला अंदर लगता है, जो दीखने वाली चीजें हैं वे अपने से अलग लगती हैं। बाहर की चीजों के लिये शरीर या उसके अंग, आँख आदि साधन हैं। आँख को देखने के लिये मन है, मन को देखने के लिये? जो मन को जानता है वही सर्वान्तर है, सब चीजें बाहर दीखने वाली हैं और वह सबका आन्तर है, उसके होने से ही यह सब प्रकाशित हो रहा है। अंदर-बाहर को ऐसे नहीं समझना कि जैसे पेट में कपड़े होते हैं, ऐसे सबमें परमात्मा होवे! जो द्रष्टा है वह अन्दर हुआ, अंतिम द्रष्टा साक्षी है इसलिये उसे सबके अंदर कहा जाता है। बाकी चीजों में मत ढूँढना कि वहाँ ब्रह्म मिल जायेगा। कई लोग कहते हैं, 'चाहे अपने अंदर और चाहे शालिग्राम में परमात्मा का दर्शन करो, वहाँ भी परमात्मा ही है।' वे लोग द्रष्टा-दृश्य इन दोनों का भेद नहीं समझ पाते। बाहर परमात्मा सदैव 'यह रूप' से ही प्रतीत होगा। देखने वाले तुम रहोगे। अन्दर तुम कहते हो देखने वाले को और देखने वाले का अनुभव तुमको केवल मैं में ही होता है, और कहीं देखने वाले का अनुभव नहीं होता है। वही मुख्यात्मा है, जो सबका साक्षी है।

जहाँ शास्त्रों ने 'आत्मा' कहा है, वहाँ कहाँ किस अर्थ में प्रयोग है यह समझना पड़ता

है। कहीं गौणात्मा को, कहीं मिथ्यात्मा को तथा कहीं मुख्यात्मा को कहा है। यह विवेक करके समझना चाहिये नहीं तो आत्मा शब्द का गलत अर्थ समझ लोगे। आत्मा शब्द का कहीं गौण अर्थ में प्रयोग है, कहीं मिथ्या में, कहीं मुख्य में। आत्मा का मतलब साधारण भाषा में होता है खुद। खुद को हम जो समझते हैं, उसी के लिये खुद शब्द का प्रयोग हो जाता है। इसी तरह से आत्मा शब्द का प्रयोग हो जाता है। यह गौणात्मा, मिथ्यात्मा, मुख्यात्मा का भेद आचार्य शंकर से भी बहुत पहले सुन्दर पाण्ड्य ने व्यक्त किया है। उनकी कारिकाओं को भगवान् भाष्यकार ने उद्धृत किया है। यह प्रयोग प्राचीन है। गौण वहाँ हुआ जहाँ भेद और भेद प्रतीति है फिर भी अभेद व्यवहार होता है। मिथ्यात्मा वह कहा जाता है जहाँ भेद है, परंतु भेद की प्रतीति नहीं है। और मुख्यात्मा वह कहा जाता है जहाँ न भेद है और न प्रतीति होता है। ॥४२॥

आत्मा त्रिविध होने से उस शंका का समाधान कैसे जिसमें आत्मा को शेष और पुत्रादि को शेषी उपपादित किया था (श्लोक ३२-३८)। यही समझाते हैं—

सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता।

तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्यान्यस्य शेषता ॥४३॥

ऐसी स्थिति रहते, जिन व्यवहारों में जिसका आत्मा होना उचित है उनमें वही शेषी एवं बाकी सब शेष हो जाते हैं।

मूल विचार चल रहा था कि आत्मा ही सबसे ज्यादा प्रिय है। आत्मा शब्द के तीन प्रकार से तात्पर्य सिद्ध हो जाने पर जिस व्यवहार में गौण, मिथ्यात्मा या मुख्य की संगति हो वहाँ उसे ही आत्मा कहा-समझा जाता है। जब पुत्र को आत्मा कहते हैं तब आत्मा शब्द का गौण आत्मा ही अर्थ है। 'मेरे स्थान पर मेरे मैनेजर को भुगतान कर देना' इसका मतलब यह नहीं है कि मेरे स्थान पर भोजन भी उसी को खिला देना! भुगतान जायज होगा क्योंकि उसमें गौणात्मता हो सकती है मिथ्यात्मता नहीं हो सकती। जहाँ पालन करने का प्रसंग है वहाँ पुत्रादि प्रधान हैं, जीने-स्वस्थ रहने का प्रसंग है वहाँ शरीरादि प्रधान है तथा जहाँ परमार्थ का प्रसंग है वहाँ मुख्यात्मा प्रधान है। उन सन्दर्भों में आया आत्मा-शब्द उन्हीं अर्थों को कहेगा। मुख्य आत्मा को भूख-प्यास नहीं लगती पर मिथ्यात्मा को तो लगेगी। अनेक लोग जो बात मिथ्यात्मा के बारे में कही जाती है, उसे गौणात्मा या मुख्यात्मा के विषय में घटाना चाहते हैं। जिस लौकिक व्यवहार में जिसकी आत्मरूपता उचित है, उसमें वह शेषी होगा, अर्थात् अंगी होगा। दूसरी सब चीजें उसके प्रति अंग होंगी अर्थात् उसके लिये होंगी। अंग-अंगी के लिये होता है। अनेक कर्मों के अनुष्ठान से पहले कुछ प्रारम्भिक कर्म भी करने पड़ते हैं तभी प्रधान कर्म सम्पन्न होता है। अतः प्रधान कर्म शेषी तथा बाकी कर्म शेष कहलाते हैं। जिसके लिये होता है वह अंगी, और उसके लिये जो हो वह अंग। इसलिये जब जो शेषी होगा, उसके अतिरिक्त बाकी सब गौण होंगे ॥४३॥

पूर्वोक्त विषय और स्पष्ट करते हैं—

मुमूर्षोर्गृहरक्षादौ गौणात्मैवोपयुज्यते ।

न मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः ॥४४॥

मरणासन्न के घर की रक्षा आदि के लिये गौणात्मा (पुत्रादि) ही उपयुक्त है, न मुख्य और न मिथ्या, अतः उस प्रसंग में पुत्र शेषी होता है।

जो मरने को तैयार है, वह घर की देखभाल के लिये किसको कहेगा? बेटे को ही कहेगा या पत्नी को कहेगा। 'जैसे मैंने घर को रखा, तुम भी वैसे ठीक से रखना'। खाली इहलोक की रक्षा मत समझ लेना, घर की परम्पराओं का रक्षण भी घर के रक्षण के अन्तर्गत आता है। पहले घर के बँटवारे में पहले अग्नि और बाद में देवमूर्तियाँ बाँटी जाती थीं, तब ही बँटवारा मान्य होता था। घर की रक्षा केवल दीवालों की रक्षा नहीं है, किसी परम्परा की रक्षा है। कुलधर्म शाश्वत माने गये हैं। यह तभी होगा जब पिता उसकी जिम्मेदारी पुत्र को देगा, पुत्र उसे स्वीकार करेगा। इसलिये वहाँ पुत्र या भार्या, जो गौणात्मा है, उसी का उपयोग हो सकता है, मुख्यात्मा का नहीं हो सकता क्योंकि उसमें किसी प्रकार की क्रिया सम्भव नहीं है। मुख्यात्मा अकर्ता अभोक्ता है, इसलिये वह घर की रक्षा इत्यादि कार्य के लिये उपयोगी नहीं है। मिथ्यात्मा उपयोगी नहीं हो सकता क्योंकि शरीर तो खुद ही मर रहा है, घर की रखवाली नहीं कर सकता। मुख्यात्मा कर्माधिकारी नहीं, क्योंकि वह न वर्ण-धर्म, न आश्रमधर्म वाला है। वर्ण-धर्म शरीर के साथ होते हैं। ब्राह्मण माता-पिता से पैदा हुआ इसलिये मैं ब्राह्मण हूँ। पैदा शरीर हुआ, इसलिये जब तक उस शरीर में हूँ, तभी तक ब्राह्मण हूँ। हो सकता है अगले जन्म में मैं कहीं और पैदा हो जाऊँ। उसी वर्ण जाति देश में पैदा होऊँ, ऐसा नियम नहीं है। आश्रमधर्म हम अपने वर्ण एवं संस्कारों के अनुसार चुनते हैं इसलिये हमारे मन से सम्बन्धित हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी बनेंगे, इसका जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह निश्चय मन का है। निश्चय कर गृहस्थ बन गये, तब उस आश्रम के नियम लागू हो गये। ब्रह्मचारी रहे तो गृहस्थ के नियम लागू नहीं होते। वर्णधर्म का सम्बन्ध तो है शरीर के साथ, आश्रम-धर्मों का सम्बन्ध है, अन्तःकरण के साथ। जो मुख्य आत्मा है अर्थात् जो शरीर-मन-प्राण से रहित है, उसका न तो वर्ण है न आश्रम है। इसलिये उसके लिये कोई भी कर्माधिकार की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये कुलधर्म, परम्परा की रखवाली करने के लिये तो पुत्र ही अंगी होगा। इस अभिप्राय से शास्त्र ने भी पुत्र को आत्मा कहा ॥४४॥

तात्पर्यानुसार शब्दों के अर्थ समझे जाते हैं यह दृष्टान्त से बताते हैं—

अध्येता वह्निरित्यत्र सन्नप्यग्निर्न गृह्यते ।

अयोग्यत्वेन योग्यत्वाद् बटुरेवाऽत्र गृह्यते ॥४५॥

‘अध्ययन करने वाला आग है’ इस कथन से उपस्थित भी आग ग्रहण नहीं की जाती

क्योंकि वह अध्ययन करने के योग्य नहीं। अध्ययन करने के योग्य होने से बटु ही इस वाक्य में 'आग' शब्द से समझा जाता है।

कोई पूछे कि जब शरीर भी है और बेटा भी है तब कैसे पता लगे किसको कह रहे हो? दो ब्राह्मण बैठे हैं, उनसे कहा 'रुद्रिय पाठ कर लेना'। कौन समझे कि उसे कह रहे हो? इसी प्रकार मुमूर्षु है, अभी मरा तो है नहीं, और बेटा भी बैठा है। कैसे पता लगे कि किस आत्मा को कह रहे हो? उत्तर है कि योग्यतावश अर्थबोध होता है। एक जगह ठंडा मौसम है और आग जल रही होती है, वहाँ वेदपाठ हो रहा है। वेदपाठ करने वालों में कोई बड़ा तेज है। उसको कहते हैं कि 'यह वेदपाठ करने वाला तो आग है।' जो कड़वी बातें बोलता है उसे भी कहते हैं कि आग है, आग उगलता है। वहाँ आग भी जल रही है, बटुक वेदपाठ भी कर रहे हैं। 'आग' कहा तो उसका मतलब क्या लें? 'पाठ करने वाला आग है' जब ऐसा कहा जाता है तब अग्नि वहाँ होते हुए भी ग्रहण नहीं की जाती। क्यों? क्योंकि आग बोला नहीं करती। अतः वेदपाठी को ही आग शब्द से लिया जाता है। इसी प्रकार जो मरने को तैयार पड़ा है, उसको कोई काम बताना सम्भव ही नहीं है यद्यपि अभी जिन्दा है। लड़का बैठा भी है। अतः लड़के को ही लेना पड़ेगा। इसलिये गौणात्मा और मिथ्यात्मा दोनों उपस्थित होवें, तो भी जिस व्यवहार के जो योग्य है, उसे ही लेना पड़ेगा। १४५।।

अब मिथ्यात्मा की शेषिता को बतलाते हैं—

कृशोऽहं पुष्टिमाप्स्यामीत्यादौ देहात्मतोचिता ।

न पुत्रं विनियुङ्क्तेऽत्र पुष्टिहेत्वन्नभक्षणे ।। १४६ ।।

'मैं कमजोर हूँ, (भोजनादि से) पुष्टता पाऊँगा' इत्यादि कथनों में देह को आत्मा कहना ही उचित है। पुष्टि के लिये अन्न खाने में पुत्र विनियोग के अयोग्य है।

'मैं बहुत दुबला हो गया हूँ। कुछ घी-दूध खाऊँगा तो पुष्ट हो जाऊँगा। दुर्बलता समाप्त हो जायेगी।' इस प्रकार के व्यवहार में जो मिथ्यात्मा है, शरीररूप आत्मा है, वही समझना उचित है। यहाँ पुत्र का विनियोग नहीं हो सकता। अपनी पुष्टि के लिये जो अन्न खाना है वह मिथ्यात्मा अर्थात् शरीर को ही खाना पड़ेगा, गौणात्मा खाये तो मिथ्यात्मा पुष्ट नहीं होता। यह याद रखना कि कहाँ किसका प्रयोग है। तुम्हारे शरीर में गंगा नाडी है, इतने मात्र से तुम शुद्ध हो गये, ऐसा नहीं। शुद्धि के लिये गंगा नहाना ही पड़ेगा। जैसे पुष्टिहेतु अन्नभक्षण वैसे पुण्यहेतु गंगास्नान हुआ। दोनों जगह मिथ्यात्मा का उपयोग होगा। चाहे लौकिक कर्म हों या शास्त्रीय कर्म हों, जहाँ जिसका प्रयोग संभव है, वही समझ लेना उचित है। तुम गंगा में गोता लगाओगे तो तुम्हें पुण्य होगा, कोई दूसरा तुम्हारे नाम से गोता लगाये तो तुम्हें नहीं होगा जैसे दूसरे के खाने से तुम्हारे शरीर की पुष्टि नहीं हो सकती। १४६।।

तपसा स्वर्गमेष्यामीत्यादौ कर्त्रात्मतोचिता ।

अनपेक्ष्य वपुर्भोगं चरेत् कृच्छ्रादिकं ततः ।।४७।।

‘तपस्या से स्वर्ग जाऊँगा’ इत्यादि में कर्ता (विज्ञानमय) को आत्मा समझा जाता है अतः शरीर के सुखभोगों की परवाह बिना किये व्यक्ति कृच्छ्र आदि सम्पन्न करता है।

किसी ने निर्णय किया कि ‘मैं तपस्या करूँगा, तपस्या करके स्वर्ग जाऊँगा।’ वेद कहता है कि तपस्या से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। तुम स्वर्ग के लिये तप करोगे तो तुम्हें पंचाग्नि का ताप सहना पड़ेगा। जेठ के महीने में अपने चारों तरफ आग जला लो, ऊपर से धूप हो, इस प्रकार चारों तरफ से अग्नि और ऊपर से सूर्यरूप अग्नि—यों जब पंचाग्नि तपोगे तब स्वर्गप्राप्ति होगी। स्थूल शरीर तो स्वर्ग जायेगा नहीं और शरीर को ही तपना पड़ रहा है। स्थूल शरीर कष्ट भोग रहा है, जिससे जो सूक्ष्म शरीर है—मनोमय, विज्ञानमय, प्राणमय—वह स्वर्ग को भोगेगा। स्वर्ग का सुख भोगने वाला सूक्ष्म शरीर है और तप स्थूल शरीर से हो रहा है। वैसे ही कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि तपस्यायें हैं। उन सबके अंदर स्थूल शरीर की सुख-सुविधा नहीं देखी जाती जबकि शरीर की अपेक्षा नहीं है स्वर्ग जाने के लिये। शरीर को तो कष्ट ही होता है। क्यों? क्योंकि वह शेष है कर्ता का, विज्ञानमय का। वहाँ अन्नमय को छोड़कर विज्ञानमय को ही प्रधान समझना पड़ेगा क्योंकि स्वर्ग जाने का संकल्प उसी का है। स्थूल शरीर को स्वर्ग नहीं मिलना है। इसलिये जब कहता है ‘मैं स्वर्ग जाऊँगा’ तब ‘मैं’ मायने आत्मा अर्थात् शरीर नहीं वरन् सूक्ष्म शरीर है। शरीर भोगों का परित्याग करे तभी कर्ता का उपकार होगा। इसलिये शरीर हो गया शेष और विज्ञानमय हो गया शेषी। हैं तो पाँचों कोष मिथ्यात्मा पर, इनमें भी कभी कोई प्रधान हो जाता है, कभी कोई प्रधान हो जाता है। यद्यपि यहाँ प्रधान के रूप में दो ही कोष लिये हैं तथापि प्राणमय, मनोमय आदि सबमें समझ लेना। कई बार हमारा निश्चय कुछ होने पर भी, उससे विपरीत मन के पीछे जाना पड़ता है। कई बार अनुभव होता है ‘मैं क्या करूँ, करना नहीं चाहता पर बेटे के मोह के कारण करना पड़ता है।’ वहाँ मोहादि जो मन के धर्म हैं वे प्रधान हो जाते हैं। मन तो करता है गोमुख पर चढ़ा जाये, पर वृद्धावस्था के कारण साँस टूटने लगती है, उस समय प्राणमय ही प्रधान है। कई बार आनंदरूप प्रधान हो जाता है। बढ़िया नाच गाना हो रहा है, बढ़िया भोजन भी आ रहा है, हमें उसका शौक भी है, पर चार दिन से जरा भी नींद नहीं आई है तो जो मन को सुख देने वाली चीजें हैं वे सब गौण हो जाती हैं, उस समय आनंदमय की सुषुप्ति, गहरी नींद, ही प्रधान हो जाती है। परीक्षा के समय कॉफी पीकर भी नींद को भगाते हैं। वहाँ आनंदमय गौण हो गया, विज्ञानमय प्रधान हो गया। इस प्रकार मिथ्यात्मा की प्रधानता समझायी।।४७।।

अब मुख्यात्मा कहाँ प्रधान है यह बताते हैं—

मोक्ष्येऽहमित्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान्।

तद्वेत्ति गुरुशास्त्राभ्यां न तु किञ्चित् चिकीर्षति ॥४८॥

‘मैं मुक्त होऊँगा’—यहाँ चेतन ही आत्मा है, (मैं-पद का अर्थ है)। जब मोक्ष पाने का निर्णय करता है तब पुरुष गुरु व शास्त्र के उपदेश से उस आत्मा का साक्षात्कार पाता है, कुछ भी करना नहीं चाहता।

जब शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा, वैराग्य आदि से सम्पन्न हो जाता है तब ‘मैं मुक्त हो जाऊँगा’ ऐसा निश्चय होता है। यहाँ मुक्ति का मतलब आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति और परमानंद की प्राप्ति है। उसके लिये मुख्यात्मा ही उपयोग में आयेगा। सालोक्य, सामीप्य आदि भी मुक्तियाँ हैं लेकिन वे आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति वाली नहीं हैं। वैकुण्ठ में भगवान् के सदैव समीप रहकर भी जय और विजय राक्षस योनि में गये। इसलिये वहाँ आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति नहीं है। वहाँ भोगों में तारतम्य भी है, इसलिये परमानन्द की प्राप्ति नहीं है। यहाँ ‘मोक्ष्ये’ का मतलब उन मुक्तियों का ग्रहण नहीं वरन् कैवल्य का ग्रहण है। यह मुमुक्षा तभी हो सकती है, जब सारे भोगों से पूर्ण वैराग्य हो जाये। ‘मुझे न यहाँ भोग चाहिये, न ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक की प्राप्ति चाहिये’ यह निश्चय हो तभी कैवल्य का अधिकारी बने। जब वह कहता है ‘मैं मुक्त होऊँगा’ तब ‘मैं’ का क्या मतलब, मुक्ति को कौन प्राप्त होगा? ‘चिदात्मत्वं’; जो चिद्रूप आत्मा है उसी को आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिपूर्वक परमानंद की प्राप्ति है। न पंचकोशरूप मिथ्यात्मा, न पुत्रादि गौणात्मा मुक्त होंगे वरन् मुख्यात्मा ही मुक्त होगा। ऐसा पुरुष ही गुरु और शास्त्र के द्वारा इस चिदात्मा को जानता है अर्थात् अपरोक्ष साक्षात्कार करता है। अपरोक्ष ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। न केवल शास्त्र से और न केवल गुरु से काम चलता है। शास्त्र का जो वाक्य है उसमें ही शक्ति है कि वह हमें जगावे।

शब्द की शक्ति बड़ी विचित्र है। चार आदमी सो रहे हैं, हम कहते हैं ‘शिवप्रसाद!’ बाकी तीन सोते रहते हैं, शिवप्रसाद जग जाता है। इसलिये आवाज से जगा यह नहीं कह सकते। आवाज तो तीनों के कानों में जाती है। लेकिन जो तुम्हारा नाम है, उसी में शक्ति है कि तुम्हें जगा देती है। कोई तर्क करने वाला कहे कि शिव मायने ईश्वर, प्रसाद मायने कृपा, तो ईश्वरकृपा कहने से भी यह जग जायेगा! पर उसमें चारों में से कोई नहीं जगेगा। ऐसे ही ‘तत्त्वमस्यादि’ में ही वह शक्ति है, अन्य भाषाओं के वाक्यों में नहीं। आदमी की सारी इंद्रियाँ तो सो रही हैं, इसलिये कान से आवाज आई यह तो नहीं कह सकते। यदि कान से गयी आवाज जगाती तो बाकी तीन को भी जगा देती। विचार करके देखो तो आवाज देने से सोया आदमी जगे इसमें कोई उपपत्ति नहीं है। फिर भी जगनारूप फल उत्पन्न होता है। इसी प्रकार शास्त्र के महावाक्यों से अपरोक्ष अनुभव होता देखा जाता है इसलिये मानना पड़ता है। जो अविद्या निद्रा में सोया हुआ है वह कैसे ‘तत्त्वमसि’ का अर्थ सुन सकता

है—यह समझना तो असम्भव है। जब तक मैं समझने वाला हूँ, तब तक तो अविद्या की निद्रा है। उसमें मैं कैसे अपने परमार्थ स्वरूप में जगूँ? जो अपनी बुद्धि से सोचते हैं उन्हें ब्रह्मज्ञान असम्भव लगता है। शरीरादि, भूख-प्यास आदि के रहते कैसे परमार्थ तत्त्व का ज्ञान हो सकता है—यह स्वमति से अबोध है। भगवान् सुरेश्वराचार्य इसलिये कहते हैं, शब्द की शक्ति अचिन्त्य है अतएव शास्त्र से आत्ममोह निवृत्त होता है। इसलिये शास्त्र की जरूरत है।

जब तक पदार्थ-शोधन आदि नहीं हो जाता तब तक वाक्य भी नहीं जगाता। इसके लिये गुरु की आवश्यकता है। संशय-छेदन करने के लिये गुरु की आवश्यकता है। इसलिये कहा 'गुरुशास्त्राभ्याम्'। जब तुम वाक्यार्थ का विचार करते हो तब वह प्रकट होता है, अपरोक्ष ज्ञान होता है, तब पता लगता है कि 'मैं मिथ्यात्मा नहीं हूँ। पंचकोषों वाला नहीं हूँ। सच्चिदानंद ब्रह्म हूँ।' अतः जब व्यक्ति कहता है, 'मैं मुक्त होऊँगा' तब 'मैं' का मतलब मुख्यात्मा है। वह जब अपने को 'मैं ब्रह्म हूँ' जानता है तब कुछ भी करने की इच्छा, कामना नहीं रह सकती। मेरे अलावा कुछ है—यह अविद्या है। अविद्या से, भेदबुद्धि से कामना होती है, पाना या छोड़ना अभीष्ट होता है। अपने आपको न कोई पाना चाहता है, न कोई छोड़ना चाहता है क्योंकि पाया हुआ है ही, छोड़ सकता नहीं। अविद्या समाप्त होने से कामना नहीं रह जाती तो कर्म भी नहीं रह जायेगा। इसीलिये उपनिषदों ने कहा है 'जब हृदय की सारी कामनायें चली जाती हैं, तब मरणधर्मा, अमरणधर्मा हो जाता है, यहीं ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।' इसलिये न उसमें कर्म, न इच्छा रह जाती है। अविद्या-निवृत्ति से कामना और कर्म दोनों निवृत्त हो जाते हैं। यहाँ दोनों का निषेध किया है अतः जब तक कामना या कर्म की इच्छा है तब तक अपरोक्ष ज्ञान नहीं हुआ। ॥४८॥

दृष्टान्तपूर्वक बताते हैं कि तीनों आत्मा व्यवस्थित रूप से ग्राह्य होते हैं—

विप्रक्षत्रादयो यद्वद् बृहस्पतिसवादिषु।

व्यवस्थितास्तथा गौणमिथ्यामुख्या यथोचितम्। ॥४९॥

जैसे बृहस्पतिसव आदि में ब्राह्मण, क्षत्रियादि अधिकारीरूप से निर्धारित हैं वैसे गौणात्मा, मिथ्यात्मा और मुख्यात्मा औचित्यानुसार प्रधानरूप से निर्णीत हैं।

शास्त्रों में अलग-अलग लोगों का अलग-अलग कर्मों में अधिकार बतलाया है। बृहस्पति सव नाम का जो यज्ञ है, उसे ब्राह्मण को ही करने को कहा है। इसमें क्षत्रिय का अधिकार नहीं। इसी प्रकार से राजा, क्षत्रिय को राजसूय करने को कहा है। इसमें ब्राह्मण का अधिकार नहीं। वैश्य को वैश्यस्तोम करना है। इसमें क्षत्रिय, ब्राह्मण का अधिकार नहीं है। जहाँ जिसका अधिकार है वहाँ उसी को समझना पड़ता है। सब कर्म सबके योग्य नहीं होते। लोक में लौकिक अधिकार निर्धारित होते हैं। यदि तुम वेदान्ताचार्य होना चाहते हो तो तुम्हें वेदान्त शास्त्री उत्तीर्ण करना पड़ेगा। यदि न्यायशास्त्री बनना चाहते हो तो पुनः मध्यमा में न्यायशास्त्र पढ़ना पड़ेगा। जिसका जिसमें अधिकार है वही उसे कर सकता है। लोक और

शास्त्र में अधिकार का विचार है। शास्त्रीय अधिकार का विचार शास्त्र के आधार पर ही करना पड़ता है। बृहस्पतिसव केवल ब्राह्मण ही क्यों करे—इसमें तुम्हारी युक्ति काम नहीं करेगी। यह अधिकार शास्त्र से ही जानना पड़ता है। शूद्र के लिये कहा है कि यदि वह मंदिर के शिखर का दर्शन कर लेता है, तो उसे भगवान् के दर्शन का पुण्य हो जाता है। कोई ब्राह्मण कहे कि मुझे शिखर-दर्शन से पुण्य क्यों नहीं हो सकता? तो उत्तर है कि वह इसका अधिकारी नहीं। जैसे चाहे जितना समझदार हो, पूर्व परीक्षा में उत्तीर्ण हुए बिना अगली परीक्षा में क्यों अधिकारी नहीं? इसमें युक्ति काम नहीं करती, विधान ही मान्य है, ऐसे शास्त्र में भी निर्देश ही स्वीकार है। जो अधिकारी नहीं होता है, उसे वह कर्म करने से कोई फल होता नहीं। अनेक पूजा-अर्चना में चोटी, जनेऊ वाले को ही अधिकार है, उनमें संन्यासी को अधिकार नहीं। अधिकार की जब बात करते हैं तब श्रेष्ठता या निकृष्टता की भावना नहीं है।

यदि बुद्धि से सोचो तो मंदिर में मूर्ति बना हुआ पत्थर ही है, उससे पुण्य का क्या लेना-देना! यदि शास्त्र से सोचो तो वह भगवान् का प्रतीक है, उसकी पूजा करने से भगवान् प्रसन्न होते हैं। यह बात केवल शास्त्र से पता लगती है। जैसे शास्त्र ने पत्थर में विष्णु भगवान् को बताया, वैसे ही कोई आदमी ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, संन्यासी है आदि बात का आँख से देखकर पता नहीं लग सकता है, यह तो शास्त्र से ही पता लगता है। जैसे पूजा का विधान शास्त्रसिद्ध है, ऐसे ही कौन पूजा करे—इसका भी विधान शास्त्रसिद्ध है। आगे, किस देव की पूजा कैसे की जाये—यह भी शास्त्रसिद्ध है। चाहे पूजा की विधि हो, पूजा का अधिकारी हो, चाहे पूज्य हो, ये सब चीजें शास्त्र से ही सिद्ध होती हैं। इसमें युक्ति नहीं लगा सकते। इसी प्रकार से वेद कहाँ आत्मा का मतलब गौणात्मा करता है, कहाँ मिथ्यात्मा, कहाँ मुख्यात्मा करता है, यह शास्त्र-परम्परा को जानने वाला ही समझ सकता है। उसमें अपनी बुद्धि लगाने से काम नहीं होगा। शास्त्र ने कह दिया 'आत्मा वै पुत्रनाम', वहाँ 'आत्मा' का अर्थ तुम मुख्यात्मा करने लगे तो नहीं होगा। ब्राह्मण-शब्द का भी अर्थ वेदों में अलग-अलग जगह अलग है। बृहदारण्यक उपनिषद् में, जब सारी साधना पूरी हो करके रागादि निवृत्त हो गये, जब तत्त्वज्ञानी हुए, तब कहा है, 'अथ ब्राह्मणः', अब ब्राह्मण हुआ। वहाँ 'ब्राह्मणी से पैदा हुआ ब्राह्मण' अर्थ नहीं है, वहाँ अर्थ ब्रह्मज्ञानी है। यक्षप्रश्न में युधिष्ठिर कहते हैं कि 'जिसमें ऐसे गुण होते हैं वह शूद्र भी होवे तो ब्राह्मण है। यदि ब्राह्मण में वे गुण नहीं हैं तो वह ब्राह्मण नहीं है।' लोग अपनी बुद्धि से कहते हैं कि महाभारत का तात्पर्य है कि गुणों से पता लग जाता है कि कौन ब्राह्मण है। पर वे कह रहे हैं कि 'वह ब्राह्मण है तो भी ब्राह्मण नहीं है' अतः दो 'ब्राह्मण' हैं, दोनों का अर्थ अलग-अलग है। शास्त्र कहता है 'तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः' जिसमें तपस्या और वेदाध्ययन नहीं हैं, वह जाति से ही ब्राह्मण है। मतलब है कि विवाह आदि संस्कारों के काम का तो वह ब्राह्मण है, लेकिन उसके पास जाकर तुम वेदाध्ययन कर सको, ऐसा नहीं है क्योंकि उसमें वह ज्ञान है ही नहीं। जब कहा कि 'वह ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं है,' तब पहले ब्राह्मण शब्द

का मतलब है कि जाति से, वर्ण से तो ब्राह्मण है, पर उसमें ब्राह्मणोचित गुण नहीं हैं इसलिये दूसरे ब्राह्मण शब्द से 'गुणवान् ब्राह्मण' अभिप्रेत है। इसी प्रकार जब कहते हैं कि वह शूद्र भी ब्राह्मण है, तब पहले 'शूद्र' का मतलब है कि वर्ण से, जाति से तो शूद्र है, पर उसमें गुण ब्राह्मण के हैं। इस तरह के अर्थ का पता परम्परा से लगता है। गलत अर्थ करने से अव्यवस्था नजर आयेगी। इसी प्रकार कहाँ गौणात्मा लेना है, कहाँ मिथ्यात्मा, कहाँ मुख्यात्मा लेना है—यह सब व्यवस्थित है। ॥४६॥

आत्मत्रैविध्य से निर्णय हुआ कि प्रेम आत्मा में ही है, भले ही मिथ्या या गौण में हो। यही निष्कर्ष सुनाते हैं—

तत्र तत्रोचिते प्रीतिरात्मन्येवातिशायिनी।

अनात्मनि तु तच्छेषे प्रीतिरन्यत्र नोभयम् ॥५०॥

विभिन्न व्यवहारों में जो आत्मरूप से ग्रहण करना उचित है उस आत्मा में ही सर्वाधिक प्रेम होता है, उसका शेष बनने वाले अनात्मा से भी प्रेम हो जाता है लेकिन जो न आत्मा है, न आत्मा का शेष है उससे प्रेम होता ही नहीं।

विभिन्न व्यवहारों में जो आत्मा समझना उचित है वही प्रिय है। जैसे 'मुझे भूख लगी है', भूख प्राण का धर्म है। वहाँ मुख्यात्मा अर्थ नहीं बनेगा। और मिथ्या में भी शरीरात्मा अर्थ नहीं बनेगा। स्वस्थ व्यक्ति भी कहता है 'मुझे भूख लगी है'। स्थूल शरीर मोटा है पर प्राण को तो भूख लगती है। अतः यहाँ 'मैं' से प्राण ही समझे जायेंगे, उन्हीं से प्रेम है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि आत्मा के लिये ही सब प्रिय होता है, पर कहीं मुख्य कहीं मिथ्या एवं कहीं गौणात्मा के लिये प्रिय होता है। है सर्वत्र आत्मा में प्रीति। 'बीमार लड़के के ठीक होने से मैं उपकृत होऊँगा', यहाँ मैं मायने गौणात्मा। लड़के को गौणात्मा समझ रहा है तभी ऐसा कह रहा है। मिथ्यात्मा का तो उसने कुछ उपकार नहीं किया तो तुम्हें प्रीति कैसे है? उस समय गौणात्मा की प्रीति को कह रहे हो। प्रीति तो हर हालत में आत्मा से ही है। संदेह यह होता है कि कई बार मैं काम करता हूँ लड़के के लिये, तो कहाँ अपने से प्रेम है? किंतु वहाँ भी लड़के में गौणात्मा-दृष्टि है इसलिये वह प्रेम आत्मा से ही है। देशप्रेम में भी देश में गौणात्मदृष्टि है। गौणात्मा का मोटा रूप समझ लो मेरापन। जैसे पुत्र-पत्नी मेरे, देश मेरा है, इसलिये 'मेरे देश' के लिये काम करते हैं, चाहे जिस देश के लिये नहीं।

अंगी जो भी आत्मा उसमें अतिशय प्रेम होता है। आत्मा का जो अंग होवे, अर्थात् जो अनात्मा है, उसमें भी प्रीति होती है। वह है इसलिये कि वह आत्मशेष है, आत्मा के लिये है। पहले दृष्टांत दिया था, जैसे पुत्र के दोस्त में प्रीति है, पर पुत्र में अतिशय प्रीति है। इसी प्रकार जो शेषी आत्मा होगा वहाँ अतिशय प्रीति होगी और जो उसके लिये होगा, उसका शेष होगा, उसमें केवल प्रीति होगी। अतिशय प्रीति नहीं होगी। गौणात्मा, मिथ्यात्मा, और मुख्यात्मा का जो शेष है, उस अनात्मा में भी प्रेम होता है। कहो कि मुख्यात्मा का तो शेष कुछ भी नहीं है, उसका अंग कुछ भी नहीं है, तो वहाँ किस में प्रीति है? विवेक, वैराग्य

से लेकर ब्रह्माकार वृत्ति तक, यह सब उस ब्रह्मस्वरूप का अनावरण करने के लिये शेष हो जाता है। शेष न होने पर भी शेष की तरह है। क्योंकि विवेक से लेकर ब्रह्माकार वृत्ति तक जो कुछ भी हम प्रयत्न करते हैं, वह किसलिये है? ब्रह्म का अनावरण होने के लिये। इसीलिये हमें शम, दम, वैराग्य आदि प्रिय होते हैं। मुमुक्षु के लिये वैराग्य आदि प्रिय है। तपस्वी को तपस्या अतिशय प्रिय नहीं है, उसकी अतिशय प्रीति स्वर्ग में है। स्वर्ग की प्राप्ति तप से होगी इसलिये तप से प्रेम है। अतः अतिशय प्रेम हुआ स्वर्ग में। तप करेंगे तब स्वर्ग जायेंगे। इसलिये तप में भी प्रेम है। उनसे ब्रह्म अनावृत होगा इसलिये वैराग्य आदि में प्रेम है, उद्देश्य तो अनावृत ब्रह्म है। इसलिये उस अनावृत ब्रह्म का इसको शेष कहा जाता है। आवरण और अनावरण ब्रह्म की दृष्टि से नहीं है प्रमाता की दृष्टि से है। परंतु प्रमाता का अन्वेषण करने से ही उसका पता लगेगा। इसलिये आचार्यों ने कहा है कि जब तक आत्मा अनावृत नहीं होता है, तब तक मैं जो प्रमाता, कर्ता-भोक्ता, उसको ही ढूँढना पड़ता है। जब ढूँढ लिया जाता है तब जिसे हम कर्ता-भोक्ता समझ रहे हैं, वही मैं सारे दोषों से रहित, सच्चिदानन्द, ब्रह्म मिल जाता है। इसलिये अनावृत ब्रह्म हो गया मुख्यात्मा, परंतु उस अनावरण के लिये जितनी साधनायें हैं वे उसका शेष हो गयीं। इस तरह मुख्यात्मा का शेष भी सम्भव होता है। जो तीनों प्रकारों का आत्मा नहीं, और उसका शेष भी नहीं, उसमें न प्रेम है न अतिशय प्रेम है ॥५०॥

जो प्रेमपात्र नहीं उसके भी दो विभाग बताते हैं—

उपेक्ष्यं द्वेष्यमित्यन्यद् द्वेधा मार्गतृणादिकम् ।

उपेक्ष्यं व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम् ॥५१॥

अप्रिय वस्तु दो प्रकार की होती है—उपेक्षा-योग्य और द्वेष-योग्य। रास्ते में पड़े तिनके आदि उपेक्षणीय हैं तथा बाघ, साँप आदि द्वेष-विषय हैं। इस प्रकार सब पदार्थ चार तरह के हैं।

अन्य अर्थात् आत्मा और आत्मशेष से भिन्न, जहाँ प्रीति भी नहीं, अतिशय प्रीति भी नहीं। एक जिनकी उपेक्षा की जाती है, दूसरा जिनसे द्वेष होता है। तुम मार्ग पर जा रहे हो, मार्ग में तिनका पड़ा है, उसकी उपेक्षा करते हो। न वह राग का विषय है न द्वेष का विषय है। उपेक्ष्य अर्थात् राग-द्वेष दोनों जिससे नहीं। अगर शेर है, या सर्प है तो वह द्वेष का विषय है। इस प्रकार संसार की सभी चीजें चार प्रकार की हो जाती हैं। एक अतिशय प्रेम का विषय, दूसरा प्रेम का विषय। तीसरा द्वेष का और चौथा उपेक्षा का विषय ॥५१॥

उक्त भेद की औपाधिकता व्यक्त करते हैं—

आत्मा शेष उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्वपि ।

न व्यक्तिनियमः किन्तु तत्तत्कार्यात् तथा तथा ॥५२॥

(चार प्रकार हैं—) आत्मा (अर्थात् शेषी), उसका शेष, उपेक्ष्य और द्वेष्य। चारों में ही

व्यक्ति के बारे में नियम नहीं कि वह हमेशा ही शेषी या शेष या उपेक्ष्य या द्वेष्य हो किंतु विभिन्न कार्यों से शेषी आदि हो जाता है।

एक हो गया आत्मा; तीनों आत्मा समझना। हमें भूख लगी है; प्राण हो गया शेषी, भूख लगने वाला मिथ्यात्मा, उसका शेष हुआ रसगुल्ला। पैसा हो तो वह मिले। इसलिये पैसा भी प्रिय हो गया। बृहदारण्यक में विस्तार बतलाया : पहले इच्छा होती है 'मेरे बेटा हो जाये'। पत्नी हो तो बेटा होगा। अतः पत्नी से प्रेम हुआ। बिना धन कमाये कोई विवाह भी नहीं करेगी, अतः धन में प्रीति हुई। धन के लिये कर्म करना पड़ेगा इसलिये कर्म से प्रीति हुई। कर्म में प्रीति है धन के लिये, धन में प्रीति है पत्नी के लिये, पत्नी में प्रीति है पुत्र के लिये। ऐसे आत्मा का शेष लम्बा होता जाता है। जिस-जिसमें ममता होती जाती है, वही गौणात्मा होता जाता है। अतः एक शेषी आत्मा और दूसरा शेष हो गया। उपेक्ष्य— जिसकी उपेक्षा करते हो। द्वेष्य, जिससे द्वेष करते हो। ये चार भेद हो गये। किसी एक चीज का नियम नहीं कर सकते कि यह शेषी ही है या शेष, उपेक्ष्य या द्वेष्य ही है। एक ही चीज कभी प्रिय, कभी अतिशय प्रिय, कभी उपेक्षा का विषय, कभी द्वेष का विषय हो जायेगी। पर यह निश्चित है कि आत्मा और उसका शेष ये प्रीति और अतिशय प्रीति का विषय रहेंगे तथा उपेक्ष्य और द्वेष्य दूसरे हो जायेंगे। नियम है कि जिस-जिस काम के लिये जो-जो चीज अपेक्षित होगी वह प्रियादि होती जायेगी। धन कमाने के लिये मेहनत करते हो अतः धन से प्रेम है पर फिर भोग के लिये उसे खर्च करते हो, अर्थात् धन की अपेक्षा भोग से प्रेम है। धन खर्च न हो, इसलिये कोई भूखा तो रहेगा नहीं। भूख के कारण धन खर्च करते हो तो वह प्रिय नहीं रहा। इस प्रकार प्रियता के पात्र बदलते रहते हैं। ॥५२॥

बाघ जैसी चीज में भी द्वेष्य-उपेक्ष्य-प्रिय बनने की सामर्थ्य दिखाते हैं—

स्याद् व्याघ्रः सम्मुखो द्वेष्यो ह्युपेक्ष्यस्तु पराङ्मुखः।

लालनाद् अनुकूलश्चेद् विनोदायेति शेषताम् ॥५३॥

सामने अपनी ओर आते बाघ से द्वेष होता है, अपने से दूर जा रहा हो तो उसकी उपेक्षा होती है, पाल लेने से यदि अनुकूल हो जाये तो मन बहलाने के लिये अपना शेष अतः प्रिय हो जाता है।

शेर तुम्हारे सामने आ रहा है, खाने के लिये। उस समय वह द्वेष का विषय है। अगर वह तुम्हारी तरफ न आकर दूसरी तरफ चला जाता है, तब वह उपेक्ष्य है। अगर तुमने किसी शेर को पाल लिया तो प्रिय भी होगा। एक महात्मा ने शेर पाल लिया था, कुम्भ में शेर पर सवार होकर आये, लोगों को उत्सुकता रही। बचपन से उसे शाकाहारी रखा। उसका लालन-पालन किया तब वह अनुकूल हो गया, विनोद के लिये। शेर ही द्वेष्य है, पराङ्मुख होने पर उपेक्ष्य है, यदि विनोद के लिये है तो वह अपना शेष हो गया, प्रिय हो गया। अतः व्यक्ति के बारे में नियम नहीं है कि हमेशा द्वेष्य ही होगा या प्रिय आदि ही होगा ॥५३॥

प्रियता आदि की व्यवस्था का नियामक समझाते हैं—

व्यक्तीनां नियमो मा भूद् लक्षणात् तु व्यवस्थितिः ।

आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम् ॥५४॥

व्यक्ति पर निर्भर नियम न होने पर भी लक्षणवश व्यवस्था है : अनुकूलता, प्रतिकूलता और दोनों न होना—ये (क्रमशः प्रिय, द्वेष्य और उपेक्ष्य के) लक्षण हैं।

किसको द्वेष्य या उपेक्ष्य मानें? इसका क्या चीज है, इससे नियम नहीं लेकिन लक्षण से व्यवस्था हो जायेगी। जैसे जमालघोटा प्रिय भी होता है, द्वेष्य भी होता है। पता कैसे लगे? जहाँ व्यक्तियों का नियम नहीं होता है वहाँ लक्षण से व्यवस्था हो जाती है। जिस आदमी को शौच नहीं होता उसके लिये जमालघोटा तो प्रिय ही होगा। जिसको संग्रहणी है, उसे वह द्वेष्य ही होगा। यहाँ लक्षण से ही व्यवस्था है। ये तीन लक्षण हैं—जो चीज अपने अनुकूल है वह होगी प्रिय। जो प्रतिकूल है वह होगी द्वेष्य और जिसमें न अनुकूलता है, न प्रतिकूलता है, वह होगी उपेक्ष्य। अतः उपेक्ष्य, प्रिय, द्वेष्य चीजों का लक्षण से पता लगता है। इसलिये कुछ आचार्यों ने सुख का लक्षण ही किया है 'अनुकूलवेदनीयता'। जिस चीज में अनुकूलता का अनुभव होता है, वही सुख है। जहाँ प्रतिकूल वेदनीयता होवे वही दुःख है। सुख प्रिय होता है, इसलिये जहाँ-जहाँ सुख है वहाँ-वहाँ प्रीति है। संसार के पदार्थ, संसारी लोगों को तो अनुकूल हैं, इसलिये वे पदार्थ उनको सुख देते हैं। जो मुमुक्षु है, उसे वही पदार्थ प्रतिकूल लगते हैं, उसके लिये वे दुःख की चीजें हैं। मुमुक्षु को विषय प्रतिकूल इसलिये लगते हैं कि उनसे प्रेम के कारण ही परमात्मा की तरफ नहीं जा पा रहे हैं। उनमें सुख समझने वालों को शम, दम आदि की सिद्धि नहीं होती। संसार में जो आसक्त हैं, उन्हें पदार्थों में अनुकूलता-बुद्धि है। मुमुक्षु को उनमें प्रतिकूलता बुद्धि होगी तभी वैराग्य होगा। जो सत्य को जान लेता है, अपने स्वरूप को जान लेता है कि संसार के पदार्थ वास्तविकता से परे होने के कारण न अनुकूल हैं, न प्रतिकूल हैं, उसे संसार उपेक्ष्य दीखता है। वह गौणात्मा एवं मिथ्यात्मा को आत्मा ही नहीं मानता। अतः उसके लिये सब कुछ उपेक्ष्य हो जाता है। इस तरह अनुकूलता, प्रतिकूलता और दोनों का अभाव—ये ही तीनों के लक्षण हैं। मुमुक्षु के लिये संसार के सारे पदार्थ प्रतिकूल ही हैं। संसारी के लिये अनेक अनुकूल, अनेक प्रतिकूल हैं और ज्ञानी के लिये संसार के सारे पदार्थ उपेक्ष्य ही हैं। इन लक्षणों से व्यवस्था हो जाती है ॥५४॥

पूर्वोक्त विषय संक्षेप में व्यक्त करते हैं—

आत्मा प्रेयान् प्रियः शेषो द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः ।

इति व्यवस्थितो लोको याज्ञवल्क्यमतं च तत् ॥५५॥

प्रत्यगात्मा अतिशय प्रिय है, जो शेष अर्थात् आत्मा का उपकारक हो वह प्रिय है, जो इन दोनों से अन्य हों, उनके प्रति द्वेष या उपेक्षा होती है। यह लोक में निश्चित है और याज्ञवल्क्य को भी स्वीकृत है।

‘आत्मा प्रेयान्’ प्रियतर है। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि सभी कुछ आत्मा के लिये प्रिय है अतः आत्मा सर्वाधिक प्रिय है यह उनका भाव है। सब आत्मा के लिये प्रिय होता है इसलिये आत्मा को प्रियतर कहा। उसका शेष हुआ पति आदि। इसलिये पति भी प्रिय हुआ। यदि ये दोनों नहीं हैं, अर्थात् वस्तु न आत्मा है न आत्मशेष है तो द्वेष्य या उपेक्ष्य होती है। यह संसार में व्यवस्था है और वेद ने भी कहा है। यही याज्ञवल्क्य ने विचार-पूर्वक बतलाकर निश्चय कराया है। ॥५५॥

यद्यपि वेद में एक जगह कहा भी पूर्ण प्रमाण है तथापि अभ्यास को तात्पर्यसूचक माना जाता है इसलिये बताते हैं कि केवल मैत्रेयी-प्रसंग में ही नहीं, पुरुषविध ब्राह्मण में भी यही व्यक्त किया है—

अन्यत्राऽपि श्रुतिः प्राह पुत्राद् वित्तात् तथाऽन्यतः ।

सर्वस्माद् आन्तरं तत्त्वं तदेतत् प्रेय इष्यताम् । ॥५६॥

अन्यत्र (बृ. १.४.८) भी श्रुति ने समझाया है कि पुत्र, धन आदि अन्य सब से जो भीतरी तत्त्व उसी को सर्वाधिक प्रिय समझा जाये।

उपनिषत् का वाक्य है ‘तद् एतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्माद् अन्तरतरं यद् अयम् आत्मा’। आत्मा प्रेय अर्थात् प्रियतर, अधिक प्रिय है। किसकी अपेक्षा अधिक? पुत्र, धन आदि सभी कुछ की अपेक्षा अधिक प्रिय है। गौण से मिथ्या एवं उससे मनुष्य अधिक प्रिय है। पुत्र से भी मुख्यात्मा ज्यादा प्रिय है तभी पुत्र के दुर्यवहार से पिता दुःखी होता है। पुत्र तो वैसा व्यवहार कर प्रसन्न है, उसके सुख से पिता को सुखी होना चाहिये क्योंकि यही प्रेम है—प्रिय के सुख में सुखी होना, किंतु होता नहीं अतः स्पष्ट है कि स्वयं से, मन से प्रेम अधिक है। डकैत से जान छुड़ाने को पैसा देता है अतः धन से भी अधिक निज से, प्राणों से प्रेम है। जिसे आत्मा समझे उससे प्रेम अधिकाधिक होता है। अधिकता की समाप्ति या पूर्णता कहाँ? ‘अन्तरतरम्’ जहाँ भीतरीपन खत्म होता है उस प्रत्यक्स्वरूप में। मैं का अनुभव सदैव ‘जानने वाला’ रूप से होता है। जो चीज जानने वाली होती है वह अंदर कही जाती है और जिसको जानते हैं, उसे बाहर कहा जाता है। शरीर की अपेक्षा आँख अंदर है। आँख की अपेक्षा मन अंदर है। मन को मैं जानता हूँ।

मन दुःखी-सुखी है यह मैं जानता हूँ। मन के अंदर भी बुद्धि है, मनोमय में विज्ञानमय है। इसलिये जिसके अंदर आगे कुछ नहीं है वह ‘अयम् आत्मा’ मुख्यात्मा है। पुत्र से, वित्त से, बाकी सब चीजों से अंदर का मतलब हो गया, जानने वाला। अंदर जो आत्मा है, इसी को प्रियतर स्वीकार करो—यह श्रुति का निर्देश है। ॥५६॥

उदाहृत वेदवचनों का अभिप्राय बताते हैं—

श्रौत्या विचारदृष्ट्याऽयं साक्ष्येवात्मा न चेतारः ।

कोशान् पञ्च विविच्यन्तर्वस्तुदृष्टिर्विचारणा । ॥५७॥

श्रुतिदर्शित विचारानुसारिणी दृष्टि से यह साक्षी ही आत्मा है, अन्य कोई नहीं। पाँचों कोषों का विवेक कर भीतरी वस्तु का अनुभव श्रुतिप्रोक्त विचार है।

अब साधना की बात बतलाते हैं। वेदांत की सबसे श्रेष्ठ साधना है विचार। विचार कहते किसे हैं? लोग समझते हैं कि मन से जो सोचो वह विचार है! इसीलिये लौकिक लोगों को लगता है कि विचार कोई साधना नहीं है। जप, ध्यान, पूजा को लोग साधना समझते हैं, विचार को साधना नहीं समझते। वशिष्ठ कहते हैं कि विचार से समाधि लग जाती है। जैसे ध्यान से समाधि लगती है वैसे ही विचार से भी समाधि लगती है। वेदांत की मुख्य साधना ही 'विचारणा' है। मन में आने वाली हर बात विचार नहीं है। 'चार' शब्द का अर्थ होता है चलना। चार से 'चाल', चलना शब्द बन जाता है। विचार अर्थात् मन का चार, मन का चलना, लेकिन कहाँ? श्रुतियों में जो परमेश्वर के बारे में कहा है, उसके अंदर मन का चलना विचार है। विशेषकर वेद की बातों में घूमना विचार है। तैत्तिरीय श्रुति में विचार का ढंग बतलाया है : अन्नमय के अंदर, प्राणमय, प्राणमय के अंदर मनोमय, मनोमय के अंदर विज्ञानमय, विज्ञानमय के अंदर आनंदमय, आनंदमय का जो अधिष्ठान है वह ब्रह्म है। इस प्रकार विचार करना है। इसी से यह नतीजा निकलेगा कि साक्षी ही आत्मा है। ब्रह्म ही आत्मा है। अन्य अन्नमय आदि आत्मा नहीं है। यह श्रुति के विचार से पता लगेगा, केवल अपने तरीके से सोचने से कभी कुछ, कभी कुछ आत्मा लगेगा। कुछ लोग तो साक्षी को भी शेष मानते हैं: अधिकतर लोगों के लिये ईश्वर शेष है या शेषी? ईश्वर अंग है या अंगी? अधिकतर लोगों के लिये ईश्वर अंग है। मैं स्वास्थ्य के लिये मृत्युंजय का जप कराता हूँ। इस मंत्र के द्वारा जो शिव की आराधना है वह अंग है और मेरे शरीर के स्वास्थ्य का अर्थात् मेरे शरीर के लिये शिव का, उनके मंत्रजप का विनियोग है। अधिकतर लोग परमात्मा को अंग बनाते हैं और शरीरादि को अंगी बनाते हैं। परमेश्वर के लिये मैं हूँ—ऐसा नहीं वरन् परमेश्वर मेरे लिये है ऐसा मानते हैं। 'मैं भजन-पूजन करता हूँ, मुझ पर फिर भी दुःख आता है, तब क्या फल हुआ!' यह शिकायत बताती है कि मैं ही प्रधान हूँ। दूसरे भी कहते हैं, 'तुमने समय व्यर्थ किया।' जब अपने आप विचार करोगे तब लगेगा कि शरीर-मन का सुख अंगी है, हमारा मन सुखी, शरीर स्वस्थ हो जाये—इसके लिये भगवान् है। अपनी बुद्धि से सोचने लगोगे तो ऐसे उल्टे रास्ते जाओगे। अतः सावधान किया कि श्रुति ने जैसा कहा है, वैसे विचार करना है। जैसे साँस तो तुम्हारी हमेशा चल ही रही है, फिर प्राणायाम क्या? जिस ढंग से बतलाया है रेचक, पूरक, कुम्भक आदि करना, उस ढंग से करो तब प्राणायाम होगा। अपने आप जो प्राण चलता है, उसको प्राणायाम नहीं कहते। इसी प्रकार, जिस चीज का ध्यान करने को कहा है, उस चीज के ऊपर एकाग्रता करोगे तब ध्यान कहा जाता है। अतः चाहे जो बात मन से सोच लेना, विचार नहीं है। श्रुति में कहे गये ढंग से ही विचार करना है, तब, साक्षी ही आत्मा है यह समझ आयेगा। गौणात्मा और मिथ्यात्मा को श्रुति ने मुख्य आत्मा नहीं कहा है।

विचार कहाँ कहा है? तैत्तिरीय में बताया है कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनंदमय—इन पंच कोषों का धीरे-धीरे, विवेक करके इनसे आत्मा अलग करके समझना है। शरीर से आत्मा को अलग करने का मतलब यह नहीं है कि जहर खा लो। जहर खाकर शरीर से विवेक नहीं हो जायेगा। शरीर से अलग अपने को जानना है। आगे मन से अलग जानो। अगर तुमने मन को काम करने से बन्द कर दिया, मन को मार दिया, तो क्या मन से अलग हो जाओगे? जब तुम प्राणायाम आदि के द्वारा मन को स्थिर करते हो, तो मन फिर कोई काम नहीं करता, तब स्वरूप में स्थिति तो हो जायेगी लेकिन जब तक मन को बन्द रखोगे, जितनी देर समाधि लगाओगे उतनी देर स्थिति रहेगी, उसके बाद जैसे ही मन जगेगा पुनः देहादि में लगेंगे। अतः मन को सर्वत्र बंद करके उससे अलग होना काफी नहीं है वरन् इस बात को जानना है कि मैं मन से अलग हूँ। इस प्रकार पाँचों कोषों से अपने को अलग जानना है। इसमें सबसे ज्यादा कठिन पड़ता है मन से विवेक। यद्यपि शरीर से पृथक् जानना भी सरल नहीं या विज्ञान और आनंद से अलग जानना भी कठिन ही है तथापि मन से भेद स्पष्ट होने पर बाकी में सुविधा रहती है।

जो चीज तुमको प्रिय लगती है वही आनंदमय कोष का सिर कहा है। जो चीज तुम्हें प्रिय लगती है, वह जब तुम्हारे सामने आ जाती है तब मोद होता है। जब प्रिय वस्तु जैसे रसगुल्ला जीभ पर पहुँच गया तब प्रमोद होता है। आनंद अर्थात् सुखसामान्य। परंतु ये चारों प्रमेय हैं, आत्मरूप नहीं हैं। इसलिये वेद ने कहा है, 'आनंदमयमात्मानमुपसंक्रम्य'। जैसे शरीर आदि से अपने को अलग जानना है, वैसे ही मोद, प्रमोद इत्यादि से भी अपने को अलग जानना है। ये सब मेरा स्वरूप नहीं हैं। इन सब का जो अधिष्ठान है, जिसके होने से कुछ प्रिय है, वही आत्मा है।

पंचकोषों का विवेक करके इनको जानने वाला 'अंतर्वस्तु' अन्दर का सत्य तत्त्व है। वही जानने वाला है। यह याद रखना कि आनंदमय तक सबको जानने वाला है पर आगे 'जानने वाला' नहीं है, वह अधिष्ठान है, वह है इसलिये ये सब जानने वाले बनते हैं। जैसे बिजली है तब पंखे इत्यादि चलने वाले बनते हैं। बिजली स्वयं समझ में नहीं आ सकती, लेकिन पंखा चलता देखकर पता लगता है कि बिजली है। इसी प्रकार साक्षी के होने से ये सब जानने वाले बनते हैं। साक्षी स्वयं न जाना जाता है न जानने वाला है, वह तो केवल ज्ञानमात्र है। यह हुई 'अन्तर्वस्तु-दृष्टि'। अर्थात् इन पंचकोषों से अपने को अलग करके, आनंदमय आत्मा को भी छोड़ कर, उसका जो अधिष्ठान आत्मा है, उसमें अनुभवरूप से स्थित हो जाना, उस ज्ञानरूप में स्थित हो जाना, जिससे ये सब जाने जाते हैं। यह जो दृष्टि है, इसका अनुभव नहीं, यह खुद ही अनुभवरूप है। ॥५७॥

अब इस अन्तर्वस्तुदृष्टि का एक और भी ढंग बतलाते हैं—

जागरस्वप्नसुप्तीनाम् आगमापायभासनम् ।

यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाश-चिदात्मकः ॥५८॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के आने-जाने का प्रकाशन जिससे होता है वह स्वप्रकाश चेतन आत्मा है।

जैसे तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रक्रिया से बतलाया पंचकोषों का विचार, वैसे ही छान्दोग्योपनिषद् की प्रक्रिया से, इंद्र-विरोचन के संवाद की प्रक्रिया से या माण्डूक्य की प्रक्रिया से, और एक प्रकार बतलाते हैं। इंद्रियों से जब हम विषयों का अनुभव करते हैं तब उसका नाम है जागर-अवस्था। जब इंद्रियाँ थक जाती हैं तब सो जाते हैं। वहाँ भी देखते हो पर स्वप्न देखते हो, मन से देखते हो, वहाँ इंद्रियों से नहीं देखते। सपना बिना इंद्रियों के मन देखता है। इसलिये अगर जागते हुए भी व्यक्ति कुछ सोच रहा होता है तो यही कहते हैं, 'यह स्वप्न देख रहा है'। जहाँ इंद्रियों से विषयों को देखते हो, वहाँ जाग्रत् अवस्था है, जहाँ बिना इंद्रियों के, केवल मन से देखते हो वह स्वप्न अवस्था है। जाग्रत् की कोई चीज स्वप्न में नहीं है, दोनों अलग हैं। पर दोनों में होने वाला आत्मा, मैं तो एक ही हूँ। जो मैं जाग्रत् में भूखा था वही स्वप्न में लड्डू खा रहा हूँ। जाग्रत् का मैं था इंद्रियों के द्वारा विषयों का अनुभव करने वाला, स्वप्न में वह मैं तो हूँ नहीं, इंद्रियों से विषयभोग करने वाला नहीं हूँ। बिना इंद्रियों के मन के संस्कारों का भोग करने वाला हूँ। दोनों में तुम्हारी उपाधि बदल गई। इसलिये जो 'तुम' हो, वह न इंद्रियों से, न मन से विषयों का भोग करने वाले हो। जाग्रत् में इंद्रियों से, स्वप्न में बिना इंद्रियों के भोग करते हो। दोनों उपाधियों को छोड़कर जो हो वह तुम हुए। उसके बाद, गहरी नींद आ गई। अब मन से भी तुम कुछ नहीं देख रहे हो, मन भी नहीं है, मैं का अनुभव भी नहीं है। लेकिन उठकर स्मृति होती है, 'मैं बड़े सुख से सो रहा था। मैंने कुछ नहीं जाना।' यह तुमने मन से नहीं जाना। वहाँ बिना मन के ही सुख से और न जानते हुए थे। लोग कह देते हैं कि 'वहाँ अनुभव हुआ ही नहीं'। लेकिन नियम है कि जिस-जिस चीज की स्मृति होती है, उसका पूर्व काल में अनुभव हुआ है तभी स्मृति होती है। अतः उस समय कोई था, जिसने अनुभव किया 'सुख से सो रहा हूँ, कुछ नहीं जान रहा हूँ' मायने 'कुछ नहीं को जान रहा हूँ।' इसी को अज्ञान कहते हैं। वहाँ आनंद था और अज्ञान था और स्मृति बतलाती है कि उस समय इनका अनुभव था। उस समय मन नहीं होने से, सुख-अनुभव मन का नहीं था।

मन के अनुभव को हम खुद का अनुभव सरलता से समझ पाते हैं। लेकिन साक्षी के अनुभव में विवेक चाहिये। जैसे आज के मनोवैज्ञानिक बतलाते हैं कि बहुत-सी चीजें हमारे मन में, हमें बिना पता हुए रहती हैं जिसे अचेतन मन कहते हैं। वे संस्कार हमें नहीं पता लेकिन हैं। उनका भी पता प्रयोगों से तो लगता है, सामान्यतः नहीं। ऐसे ही मन का ज्ञान सामान्यतः समझ आता है, साक्षी समझने के लिये विवेक चाहिये। जहाँ मन नहीं है, वहाँ होश नहीं होता है, ज्ञान होने पर भी। इंद्रियों से विषयों को जाना तो हमने जाना, इन उपाधियों से। बिना इंद्रियों के जाना, तो हमने ही। 'सुख से सो रहा हूँ, कुछ नहीं जाना', यह भी जाना हमने ही। जानने वाला मैं ही हूँ क्योंकि मैं को ही स्मरण हो रहा है। 'आगमापायभासनम्'। आगम, इस समय जाग्रत् आ गया। अपाय—अब सपना नहीं है,

गहरी नींद नहीं है। इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, आने-जाने वाले हैं। इन तीनों अवस्थाओं में नहीं बदलते रहने वाला आत्मा है। अगर खाली जाग्रत् अवस्था होती, तो भी आत्मा का पता नहीं लगता, इन्द्रियों से विषयों का अनुभव करना ही जानते। केवल स्वप्न अवस्था होती, तो मन से विषयों को कल्पित करना—बस यही जानते। इन दोनों अवस्थाओं से अन्वय-व्यतिरेक हो जाता है—अन्वय, मैं जाग्रत् में भी, और स्वप्न में भी। स्वप्न में मैं मन-वाला है, सुषुप्ति में वह भी नहीं है, पर मैं हूँ। जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति का आना-जाना पता चल रहा है, उसका भास हो रहा है। जिसके होने से ये सब जाने जा रहे हैं वह निर्विकार है, आत्मा है।

उसका रूप क्या? 'स्वप्रकाशचिदात्मकः'। आगे उसको प्रकाशित करने के लिये, जानने के लिये, कोई जानने वाला नहीं है। जैसे कमरे में आदमी, दीवालें, दरवाजे आदि हैं, सबको तुम लट्टू के प्रकाश में जान रहे हो। आगे, लट्टू के प्रकाश को किस प्रकाश से जान रहे हो? किसी से नहीं, वह स्वप्रकाश है। इसी प्रकार जो चेतन आत्मा है, वह किसीसे नहीं जाना जाता है, ज्ञानस्वरूप है। कह सकते हो 'लट्टू अपने को प्रकाशित कर रहा है', पर सचमुच मैं वह अपने 'को' प्रकाशित थोड़े ही कर रहा है! वह तो प्रकाश-रूप है। इसी प्रकार कह सकते हैं कि 'आत्मा अपने आप को जानता है' पर सचमुच मैं वह अपने आप को जानता नहीं, वह तो ज्ञान-स्वरूप है। इसमें अत्यंत विचारक ही स्थित हो पाता है, अन्यथा लम्बे समय तक साधक को यही भ्रम रहता है, 'आत्मा कुछ चीज होगी जिसको मैं जानूँ। परमात्मा कुछ है जिसे मैं जानूँ।' परमात्मा ज्ञान-स्वरूप है, उसको कोई जानता नहीं है। वह स्वयं भी अपने 'को' नहीं जानता है क्योंकि ज्ञानस्वरूप है। जो प्रकाशरूप न होवे उसे तो रोशनी प्रकाशित करेगी, प्रकाशरूप को रोशनी क्या प्रकाशित करेगी! तुम सूर्य देवता की आरती करते हो। क्या आरती के प्रकाश से उसके दर्शन करते हो? जो प्रकाशरूप नहीं ऐसी मूर्ति आदि को तो प्रकाश प्रकाशित करेगा, पर प्रकाश-रूप सूर्य को नहीं। सूर्य नारायण की आरती की तरह ब्रह्माकार वृत्ति है। उससे वह प्रकाशित नहीं होता, ब्रह्म जाना नहीं जाता वरन् ब्रह्म का जो अज्ञान है, वह निवृत्त हो जाता है। प्रकाशरूप होना उसका स्वरूप है। किसी अन्य से बिना प्रकाशित हुए प्रकाश होना, किसी से बिना जाने हुए, ज्ञानरूप रहना स्वप्रकाशता है। कहा था कि 'वस्तुदृष्टि-विचारणा'; वस्तु है 'स्वप्रकाशचिदात्मकः', इस रूप से स्थित होना विचारणा है। इन दो श्लोकों से विचार की साधना बतलाई ॥५८॥

विचार का अर्थ क्या है? शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त सब जाने जाते हैं, अतः वह सब मैं नहीं हूँ। मैं ज्ञानमात्र हूँ जिसके कारण अन्तःकरण जड़ होने पर भी, अहंकारात्मिका वृत्ति में मेरे प्रतिबिम्ब को लेकर सब चीजों को प्रकाशित करता है, सब चीजों को जानता है। मेरा स्वरूप ऐसा है जिसके ऊपर से जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति की उपाधियाँ निकलती जाती हैं, और मैं निर्विकार साक्षी वैसा ही बना रहता हूँ। संक्षेप में जो कह चुके वही समझाते हैं—

शेषाः प्राणादिवित्तान्ता आसन्नास्तारतम्यतः ।

प्रीतिस्तथा तारतम्यात् तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते ॥५९॥

प्राण से शुरु होकर धन तक जो शेष (अंग) पदार्थ हैं वे न्यूनाधिकभाव से निकट हैं एवं निकटता की अधिकता के अनुसार उन सब में प्रेम अनुभव में आता है।

जो स्वप्रकाश शुद्ध चेतनमात्र मेरा स्वरूप है, शेषी तो एकमात्र वही है। सचमुच में वह शेषी नहीं है, परन्तु उसके लिये ही मिथ्यात्मा और गौणात्मा प्रवृत्त होते हैं। ज्ञानस्वरूप साक्षी मौजूद है, इसलिये उन सबकी प्रवृत्ति होती है। इसीलिये वह शेष कहलाता है। शेष कौन है? 'प्राणादिवित्तान्तः', प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आदि कोष और गौणात्मा पुत्र, पत्नी, मकान, धन आदि; प्राण से लेकर वित्तपर्यन्त, सब शेष हैं। 'तारतम्यतः आसन्नाः' कोई ज्यादा पास है, कोई कम पास है। जैसे, धन की अपेक्षा पत्नी नजदीक है इसलिये धन खर्च करके भी पत्नी का इलाज कराता है। पुत्र प्रिय है, सम्पत्ति बेचकर भी पुत्र की रक्षा करता है। इन सबकी अपेक्षा प्राण प्रिय है। जो ज्यादा नजदीक है वह ज्यादा प्रिय है, जो दूर है वह कम प्रिय है। धन में भी प्रेम है तो वस्तुतः आत्मा से ही। अतः वही धन प्रिय है जो मेरा है। दूसरे का धन तो मुझे प्रिय नहीं! मुझसे सम्बन्ध वाला धन प्रिय होता है। लड़का भी प्रिय नहीं है, मेरा है तभी प्रिय है क्योंकि मैं-से सम्बन्ध वाला हुआ। मैं के सम्बन्ध का पता नहीं है तो प्रियता भी नहीं है। मैं और मैं-सम्बन्धी में ही प्रीति होती है। संसार में जो जितना मैं के नजदीक होता है उतना ही ज्यादा प्रिय होता है। ॥५६॥

प्रेम का न्यूनाधिकभाव अनुभव से प्रमाणित करते हैं—

वित्तात् पुत्रः प्रियः पुत्रात् पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम्।

इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणाद् आत्मा प्रियः परः ॥६०॥

धन से पुत्र, उससे शरीर, उससे इंद्रियाँ, उनसे प्राण और उससे भी अधिक प्रिय आत्मा है अतः वह परम प्रिय है।

धन की अपेक्षा पुत्र ज्यादा प्रिय है। पुत्र के रोगादि हटाने के लिये धन को खर्च कर देता है। अपने देह की रक्षा के लिये, पुत्र को भी प्रयोग में लेता है। वेद में कथा आती है कि अपने देह की रक्षा के लिये पुत्र का भी पिता ने बलिदान किया। अतः धन से पुत्र प्रिय और पुत्रसे अपना शरीर प्रिय। शरीर की अपेक्षा इंद्रियाँ प्रिय हैं। इसलिये यदि कहीं पत्थर की चोट लगने को हो तो आदमी अपनी आँख पर हाथ रखता है। इंद्रियों की अपेक्षा भी प्राण ज्यादा प्रिय है। यदि आँख में जहर फैल गया है तो प्राण को बचाने के लिये उसे भी निकलवा देता है ताकि आँख जाये पर हम बच जायें। एक-दूसरे की अपेक्षा जो अधिक नजदीक है वह अधिक प्रिय है। प्राण भी क्यों प्रिय है? आत्मा के लिये, अपने लिये। इसलिये निरतिशय तो प्रेमास्पदता आत्मा में ही है। पर यह तब तक पता नहीं लगता जब तक उसका अनुभव नहीं होता। क्योंकि अभी गौणात्मा और मिथ्यात्मा को ही हम आत्मा समझते हैं इसलिये गौणात्मा-मिथ्यात्मा में दूर-पास समझ पाते हैं। जो आत्मा परम प्रिय है उसका जब तक अनुभव नहीं होता तब तक उसकी प्रियता का भी अनुभव नहीं होता। परम प्रेम

निर्विषय प्रेम है, यह आत्मानुभव होने पर ही सिद्ध होता है। निरतिशय प्रेमास्पदता वाला शुद्ध आत्मा है। जब तक उस अधिष्ठान साक्षी का पता नहीं लगता, तब तक मिथ्यात्मा तक ही प्रियता प्रतीत होती है। उसकी परमप्रेमास्पदता का पता लगना—इसी को देवर्षि नारद और महर्षि शाण्डिल्य, दोनों ने 'भक्ति' नाम दिया है। नारद ने कहा है कि भक्ति है 'परमप्रेमस्वरूपा'। परम प्रेम को ही भक्ति कहा है। परमप्रेमस्वरूप आत्मा ही हो सकता है। महर्षि शाण्डिल्य ने भी कहा है 'परानुरक्तिरीश्वरे'। ईश्वर में परम अनुराग अर्थात् परम प्रेम का नाम भक्ति है। इसलिये वैधी भक्ति, भक्ति कही ही नहीं जा सकती नारद और शाण्डिल्य के अनुसार। हर हालत में, असीम, निर्हेतुक प्रेम प्रत्यगात्मा से ही है। ॥६०॥

आत्मप्रियता बताने में श्रुति का उद्देश्य प्रकट करते हैं—

एवं स्थिते विवादोऽत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः।

श्रुत्योदाहारि तत्रात्मा प्रेयानित्येव निर्णयः॥६१॥

यह परिस्थिति होने पर इस बारे में आत्मज्ञ और विमूढ का विवाद रहता है जिसमें 'आत्मा ही अधिक प्रिय है' यह श्रुति ने निर्णय दिया है।

इस प्रकार, आत्मा की प्रियतमता श्रुति प्रमाण से सिद्ध होने पर भी, ज्ञानियों के अनुभव से सिद्ध होने पर भी, विमूढ जिसने उस परमात्मा को अभी तक नहीं जाना वह तत्त्वज्ञ से इस बारे में विवाद करता है। लोकसंमत प्रमाण से न मुख्य आत्मा सिद्ध है न उसकी निरतिशय प्रियता। अतः लौकिक पुत्रादि को भी अधिक प्रिय सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। ज्यादा से ज्यादा प्राण ही परम प्रिय है, बस यहीं तक समझ पाते हैं। ज्ञानी कहता है कि अन्य नहीं, परम प्रेम का विषय मुख्य आत्मा है। इस विवाद में निर्णय को बतलाते हुए श्रुति ने कहा है 'प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्' (बृ. १.४.८) कि आत्मा ही प्रियतम है। यही निर्णय श्रुति ने किया है। ॥६१॥

विवाद किस प्रकार का है, इसको बतलाते हैं—

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मात् प्रेयानित्याह तत्त्ववित्।

प्रेयान् पुत्रादिरेवेमं भोक्तुं साक्षीति मूढधीः॥६२॥

तत्त्वज्ञ का पक्ष है कि अन्यो से अर्थात् दृश्यों से अधिक प्रिय साक्षी ही है। मूढ बुद्धि वाला मानता है कि पुत्रादि ही अधिक प्रिय हैं, उन्हें भोगने के लिये ही साक्षी की उपस्थिति है।

जिसने उस परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया, वह तत्त्ववेत्ता कहता है कि साक्षी आत्मा को छोड़कर सब कुछ दृश्य है। जिसको तुम मैं समझ रहे हो वह भी साक्षी का दृश्य ही है। कभी शान्ति से बैठकर इतना ही सोचो कि 'मैं हूँ' तो उसमें दो ज्ञानों का पता लगता है। एक तो मैं हूँ, और एक 'मैं हूँ' इस बात का ज्ञान भी है। 'मैं हूँ' को वैसे नहीं जानते

जैसे रसगुल्ले को जानते हो। 'मैं हूँ' प्रकाशित हो रहा है, बस इतनी ही बात है। मैं हूँ, यह है अहंकारात्मिका वृत्ति और मैं हूँ का जो प्रकाश हो रहा है वह ज्ञान या साक्षी है। बाकी सब चीजों की अपेक्षा देखने वाला द्रष्टा है मैं। बाकी सब दृश्य हैं। इसलिये प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि इस मैं का ही विचार करना पड़ता है। मैं करने वाला जानने वाला—इसका ही विचार करना पड़ता है आत्मा को समझने के लिये। वस्तुतः जो करने-जानने वाला है उसी को शास्त्रीय भाषा में जीव, प्रमाता आदि कहते हैं। आत्मा का अनुभव होने के बदले, जिस चीज पर ध्यान केन्द्रित करना है जहाँ परमात्मा मिलेगा, वह 'मैं' है। इसी का विचार-विश्लेषण करना पड़ता है, इसी में साक्षी परमात्मा मिलेगा। जब श्रुति में बताये प्रकार से विचार कर लेते हैं तब जिस अपने आप को हम आज तक कर्ता-भोक्ता समझते रहे हैं, वही कर्ता भोक्ता नहीं वरन् सारे पापों से रहित शुद्ध समझ आता है। तत्त्ववेत्ता तो यही कह रहा है, कि एक साक्षी को छोड़कर, अहंकार पर्यन्त सब ही दृश्य है। उस सब से साक्षी भिन्न है। बाकी जितनी चीजें हैं, वे ही जानने वाली हैं, या जानी जाती हैं। आँख, मन आदि जानने वाले हैं, घड़ा, रसगुल्ला आदि सब जाने जाते हैं। पहले तो जानी जाने वाली चीजों से, जानने वाले पर आत्मबुद्धि लानी पड़ती है। जानने वाला भी ज्ञाता और कर्ता किसी-न-किसी साधन से होता है। आँख या कान या हाथ, मन या प्राण होवे तब वह जानता या करता है। इन साधनों से अतिरिक्त वह है तो सही। जैसे खाती, बढ़ई औजारों के साथ आता है तो काम कर लेता है, बिना औजारों के उससे काम ले नहीं सकते पर उसका आदमी (खाती) वाला रूप तो है ही। इसी प्रकार से ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण—इनके होने पर तो सब जानना-करना होता है, जब ये करण नहीं हैं तब भी वह तो है ही। साक्षी वह है जिसके होने से ये सब जानते-करते हैं। जैसे खाती होवे तभी औजार काम करेंगे, उसी प्रकार साक्षी है तब अहंकार से लेकर ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तक सब काम करते हैं। वही प्रियतम है—यह तो कहता है जो तत्त्ववेत्ता है। और 'मूढधीः' जो अभी मोह में पड़ा हुआ है, गौणात्मा, मिथ्यात्मा को ही जानता है। वह भी जानता तो है कि ज्ञान होता है तब ये सब काम करते हैं पर कहता है कि साक्षी किस काम का! जो संसारी लोग हैं, उनको ऐसा ही लगता है कि जो न जान सके, न कर सके, वह किसी काम का नहीं। कहते हैं 'साक्षी की जरूरत तो केवल इसलिये है कि हम रसगुल्ला खा सकें।' वे कहते हैं कि साक्षी अंग है, भोग करने के लिये। 'भोक्तुम्' के साथ 'कर्तुम्' भी समझ लो। पुत्रादि अंगी हैं, उनका भोग करने के लिये साक्षी जरूरी है लेकिन साक्षी परम प्रिय नहीं है, परम प्रिय तो पुत्रादि हैं। बीमारी की अवस्था में भी व्यापार में लगे रहते हैं अर्थात् वे अपने शरीर को शेष और व्यापार को शेषी समझते हैं। व्यापार प्रधान है, मैं शरीर गौण हूँ। व्यापार किसके लिये? कहते हैं, 'हमें शरीर मिला है, इस व्यापार को चमकाने के लिये।' ऐसे ही मूढ कहता है कि साक्षी इसलिये है कि उस ज्ञान से हम भोग कर सकें। साक्षी प्रियतर नहीं है। इस विवाद का निर्णय श्रुति ने आत्मा को प्रेयान् कहकर दिया। ॥६२॥

मूढ दो प्रकार के हैं—एक, शिष्य होते हैं जो समझना चाहते हैं। दूसरा मूढ है, जो अपनी बात को सिद्ध करने के लिये जिद करता है। तत्त्वज्ञ दोनों को समझाता है। शिष्य अपनी सोच बदलता है। जिदी को समझ में नहीं आता है। तत्त्वज्ञ दोनों को एक ही वचन से उद्बोधित करता है—यह 'प्रियं त्वा' आदि का अवतरण करते हैं—

आत्मनोऽन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि ।

तस्योत्तरं वचो बोधशापौ कुर्यात् तयोः क्रमात् ॥६३॥

शिष्य और प्रतिवादी दोनों आत्मभिन्न को प्रिय कहते हैं। उसके जवाब में विद्वान् जो कहता है वह शिष्य को ज्ञान करा देता है लेकिन प्रतिवादी के लिये शाप हो जाता है।

साक्षी आत्मा से भिन्न, दूसरी चीज को प्रिय कहने वाले दो हैं—शिष्य और दूसरा, प्रतिवादी। आधुनिक वादी कहते हैं 'व्यक्ति की अपेक्षा देश या समाज प्रधान है, देश या समाज के लिये ही व्यक्ति है।' शिष्य और प्रतिवादी दोनों को तत्त्ववेत्ता उत्तर देता है। वचन तो एक ही है लेकिन शिष्य उससे बात समझ जाता है किन्तु प्रतिवादी को शाप लग जाता है! बहुत समझाने पर भी जनक का पुरोहित शाकल्य नहीं समझा तब याज्ञवल्क्य ने कहा 'तेरा अकल्याण होगा। उस साक्षी तत्त्व को जाने बिना तू विवाद कर रहा है, तेरा सिर कट जायेगा।' और कट गया, शरीर की दुर्गति हुई। तत्त्ववेत्ता प्रतिवादी को शाप दे सकता है। क्यों? आत्मपुराण में बतलाया है, याज्ञवल्क्य को जब परम तत्त्व का ज्ञान दिया था, तब उनके गुरु ने कहा था 'यदि इस आत्मतत्त्व का कोई अपमान करेगा तो मैं तेरे अंदर आकर उस आदमी का सर्वनाश कर दूँगा।' तत्त्ववेत्ता के अंदर बैठा ज्ञान शाप दे देता है। बात एक ही कही जाती है, अधिकारी के अनुसार बोध और शाप अलग-अलग प्रभाव हो जाते हैं ॥६३॥

तत्त्वज्ञ के उस वचन को सुनाते हैं—

प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येवम् उत्तरं वक्ति तत्त्ववित् ।

स्वोक्ताप्रियस्य दुष्टत्वं शिष्यो वेत्ति विवेकतः ॥६४॥

तत्त्वानुभवी 'प्रिय तुझे रुलायेगा'—ऐसा उत्तर बताता है। शिष्य विवेक द्वारा समझ लेता है कि उसने जिसे प्रिय कहा था वह दोषपूर्ण (अतः प्रियता के अयोग्य) है।

श्रुतिवचन है, 'स योऽन्यम् आत्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीति, ईश्वरो ह तथैव स्यात्' (वृ. १.४.८) वेद में लिखा है कि 'जिसको तू प्रिय कह रहा है, वह तुझे रुलायेगा।' तत्त्ववेत्ता दोनों को उत्तर तो एक ही देता है। शिष्य समझता है कि गुरुजी मुझे उपदेश दे रहे हैं। मैंने जिसे प्रिय समझा है वह प्रिय नहीं वरन् सचमुच में दोष वाला है। वह विवेक करके देखता है कि वह कैसे दुःख का कारण होगा। जैसे भगवान् ने गीता में कहा 'अनित्यमसुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम्', इस संसार की सभी चीजें अनित्य हैं, और सुख से रहित हैं। यह चीजों की वास्तविकता को बताया, भगवान् शाप नहीं दे रहे हैं। ऐसे ही ज्ञानी बतला रहा है कि साक्षी से अतिरिक्त तुम जिसे प्रिय समझोगे, वह नष्ट होगी और

दुःख देगी अतः वहाँ से मन को हटाओ। क्योंकि वह गुरु के वाक्य का विवेक करता है इसलिये विषयदोष समझ पाता है।

तत्त्ववेत्ता और अज्ञानी की वार्ता में जब अज्ञानी इस बात पर जोर देता है कि सबसे अधिक प्रिय परमात्मा नहीं है, शरीर, पुत्र, धन आदि सबसे अधिक प्रिय हैं तब जवाब देते हुए तत्त्ववेत्ता कहता है, 'जिसको तुम प्रिय समझते हो वह 'रोत्स्यति'।' इस शब्द के दो अर्थ होते हैं। 'रुदिर् अश्रुविमोचने' (अदा.प. से) धातु से जब यह शब्द बनता है, तब मतलब होता है, 'रुलाता है'। और 'रुधिर् आवरणे' (रु.प.अ.) धातु से जो 'रोत्स्यति' बनता है, उस का मतलब है 'रोक लेता है'। जो शिष्यभाव से समझने की इच्छा से कहता है कि 'मुझे परमात्मा से अतिरिक्त, शरीर, पुत्र, पत्नी, धन आदि प्रिय लगते हैं', उसको तो तत्त्ववेत्ता कहता है, 'वे तुम्हें परिच्छिन्न करते हैं'। जो विवाद करना चाहता है, उसको कहता है, 'तू जिसे प्रिय सोचता है, वह नष्ट हो जायेगा। उसका प्राण निरुद्ध हो जायेगा, अर्थात् मर जायेगा।' इस प्रकार एक ही वाक्य से शिष्य को बोध करा दिया और प्रतिवादी को शाप दे दिया। क्यों? तत्त्वज्ञान का अपमान सहन नहीं किया जा सकता।।६४।।

शिष्य के विवेक का ढंग बतलाते हैं—

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम्।

लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते।।६५।।

गर्भ में न आया पुत्र 'कब आयेगा!' इस इन्तजार से माता-पिता को लम्बे समय तक क्लेश पहुँचाता है। गर्भ में आने पर भी गर्भ गिरने से या प्रसव-पीडा से बाधा पहुँचाता है।

पुत्र को दृष्टान्तरूप से लिया। लम्बे समय तक सन्तान नहीं हो तब भी माता-पिता दुःखी रहते हैं, अनेक अनुष्ठान करते हैं। जब तक पुत्र नहीं होता, तब तक क्लेश होता ही रहता है। यदि पुत्र प्राप्त हो भी गया, तो तीन-चार माह में गर्भपात हो जाये तो भी दुःख होता है। शरीर, मन दोनों को कष्ट होता है। बच्चा होने में भी, प्रसव में भी माँ को भयंकर कष्ट होता है। यदि मूल नक्षत्र में पैदा हो जाये तो बाप उसका अनेक दिनों तक मुँह नहीं देख सकता, नहीं तो अनिष्ट हो जायेगा।।६५।।

जातस्य ग्रहरोगादि कुमारस्य च मूर्खता।

उपनीतेऽप्यविद्यत्वम् अनुद्वाहश्च पण्डिते।।६६।।

पैदा हुए को ग्रह-पीडा हो जाती है, रोगादि हो जाते हैं। बचपन में मूर्खता रहती है। उपनयन होने पर भी कदाचित् विद्वान् नहीं बन पाता। पण्डित हो भी जाये तो ब्याह नहीं होता।

इसी प्रकार कभी उसका पेट खराब होगा, कभी गला खराब होगा। बच्चे के रोग आदि सब के कारण माता-पिता को कष्ट ही है। जब तक बच्चा छोटा है, अगर उसकी आँख पर मक्खी भी बैठ जाती है, तो उड़ाना नहीं जानता, केवल रोता है। माँ दौड़कर आती है।

बाल्यावस्था से बड़ा हुआ, कुमार हो गया तो पढ़ता ही नहीं है, खेलने में ही मन लगाता है। ब्राह्मण माता-पिता तो कहते हैं, 'पैदा ही नहीं होता, मर गया होता तो अच्छा था।' इतना दुःख होता है! उसका उपनयन कर दिया, गुरु के घर भेज दिया। विद्या का लक्षण होता है 'विद्या ददाति विनयम्'। जितनी विद्या आती है उतना ही मनुष्य विनयी होता है, नम्र होता है, शास्त्रानुकूल व्यवहार करता है। पर आजकल प्रायः पढ़कर और ज्यादा उद्वण्ड हो जाते हैं, जैसे श्वेतकेतु हुआ था। ऐसे में माँ-बाप को नमस्कार करना भी भारी लगता है। पुत्र माता-पिता के पैर नहीं छुए तब भी पिता को बड़ा दुःख होता है। पुत्र की उद्वण्डता से पिता को मरने जैसा दुःख लगता है। यदि पढ़ भी गया, विनय वाला भी हो गया, तो गुण होते हुए भी विवाह नहीं हुआ तब भी माँ-बाप को लगता है 'मेरी जिम्मेदारी पूरी नहीं हुई'। जब तक बच्चों का विवाह नहीं हो जाता तब तक महान् दुःख होता है। ॥६६॥

इतना ही नहीं, जवानी पागलपन लाती है—

यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः।

पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेद् प्रियते तदा। ॥६७॥

जवान लड़का अन्यों की पत्नियों पर कुदृष्टि करता है, परिवार बढ़ाकर भी दरिद्र रहता है, धनी हो तो मर जाता है। माता-पिता के दुःख की समाप्ति नहीं।

जवानी में व्यक्ति पागलपन करता है, अपनी पत्नी की अपेक्षा दूसरी स्त्री की तरफ दृष्टि करता है। यह भी माँ-बाप के लिये दुःख का विषय है। या कहीं बच्चे हो गये, पर उनका पेट पालना ही कठिन हो जाता है तब भी दुःख होता है। यदि वह किसी राजा के साथ सम्बन्ध वाला हो गया, तब धन भी आ गया पर चिन्ता, रोग, दुर्घटना आदि से उसका देहान्त हो जाये तो दुःखी। इस प्रकार माता-पिता को सन्तान से होने वाले दुःख का अन्त नहीं है। विवेकी पुत्र को प्रिय समझे यह संगत नहीं। भगवान् विष्णु रामरूप में दशरथ के घर जन्मे, पर दशरथ बेटे के शोक में मरे। वसुदेव के यहाँ भगवान् ने जन्म लिया पर गर्भ में आते ही वसुदेव-देवकी को जेल में रहना पड़ा। साक्षात् भगवान् पुत्ररूप में आने पर भी सुख नहीं मिलता है तो अन्य को पुत्र कैसे सुख दे सकता है? विवेकी तो इस प्रकार से विचार कर लेता है। ॥६७॥

पुत्र की तरह गौणात्मा मात्र से विवेक चाहिये—

एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि।

निश्चित्य परमां प्रीतिं वीक्षते तमहर्निशम्। ॥६८॥

इस प्रकार विवेक कर पुत्रादि में प्रेम छोड़कर निजात्मा में परम प्रेम का निश्चय कर उसे रात-दिन देखता रहता है।

जैसा पुत्र में बताया है वैसा पत्नी, धन आदि सभी चीजों में घटा कर देख लेना चाहिये। योगवाशिष्ठ में काफी लम्बे प्रकरण हैं जहाँ यह विस्तार है। अपनी बुद्धि से या जहाँ शास्त्रों में वर्णन किया है, उससे समझ लेवें लेकिन यह विवेक करके वास्तव में समझ आता है। बिना विवेक के तो यही लगता है कि इन चीजों से सुख है। एक बहुत बड़ा कारण यह होता है कि अधिकतर लोग सोचते हैं कि 'मेरे बेटे ठीक नहीं निकले, पर कहीं अच्छे भी हैं'। इसी प्रकार प्रायः लोगों को दूसरे का धन, दूसरे की पत्नी, दूसरे की सन्तान लगते हैं कि वे सुख के कारण हैं। विवेक से पता लगता है कि सब जगह वही बात है। जो अनात्मा है वह कभी सुख दे नहीं सकता। अतः विवेक करके उन सबके प्रति जो प्रेम है उसको छोड़ देता है। इसी को वैराग्य कहते हैं कि सभी पदार्थों से राग का हट जाना। राग दो तरह से हटता है, किसी चीज से दुःख पा करके भी हटता है और विवेक से भी हटता है। दुःख पाकर जो हटता है, वह वैराग्य ज्ञान का कारण नहीं है। दुःख से जो वैराग्य होता है वह कालान्तर में जब दुःख वाली चीज नहीं रह जाती, तब फिर राग आ जाता है। यह देखा जाता है कि दुःख से वैराग्य हुआ पर कालान्तर में, वह दुःख की चीज नहीं रही, उस जाति की दूसरी चीज अच्छी है, तो फिर आसक्ति हो जाती है। इसलिये दुःख से होने वाला जो वैराग्य है वह ज्ञान का साधन नहीं बन पाता। जो विवेक से वैराग्य होता है वह हमेशा दृढ़ ही रहता है। चीज से सुख मिलने पर भी वैराग्य कम नहीं होता। इसलिये साधक विवेक से वैराग्य करके चीजों से राग को छोड़ता है। जो अपने अन्दर रहने वाला साक्षी परमात्मा है, उसमें ही परम प्रेम रखता है। निजात्मा मायने मुख्य आत्मा। गौणात्मा और मिथ्यात्मा निजात्मा नहीं है। निजात्मा तो परमात्मा ही है। इसलिये उसमें परम प्रीति रखनी चाहिये। जिस चीज से प्रेम होता है उसे आदमी रात-दिन, अपने सामने रखना चाहता है। हमेशा देखता रहता है। जिसको धन से प्रेम होता है, वह धन को बार-बार गिनता रहता है। इसी प्रकार जब साक्षी परमात्मा के साथ प्रेम होता है तभी उसकी तरफ उसका ध्यान हमेशा लगा रहता है, उसी को सोचता है। जैसे धन से प्रेम करने वाला सारे संसारी काम करता है, पर ध्यान धन में ही रहता है, इसी प्रकार परम प्रीति साक्षी चिन्मात्र में है, फिर भी शरीर आदि का व्यवहार करता है, लेकिन उस समय में भी ध्यान रहता है कि 'यह शरीर आदि का व्यवहार कब सम्पन्न होवे, और कब मैं साक्षी परमात्मा में फिर से स्थित होऊँ'। सब कुछ करते हुए भी उसका ध्यान उधर ही लगा रहता है। जो शिष्य है, वह विवेक कर लेता है, और ब्रह्मवेत्ता के वाक्य के सहारे से, जो परम प्रेम के योग्य साक्षी चिन्मात्र है, उसमें लग जाता है। तत्त्ववेत्ता ने कहा, 'ये तुम्हें रुलायेंगे।' विवेक से, 'कैसे रुलायेंगे' यह सोच कर ही वैराग्य प्राप्त करके, निरन्तर उस परमात्मा में मन को शिष्य तो लगा देता है अतः बोध पा जाता है॥६८॥

वादी के लिये वह वाक्य शाप कैसे—यह बताते हैं—

आग्रहाद् ब्रह्मविद्वेषादपि पक्षममुञ्चतः ।

वादिनो नरकः प्रोक्तो दोषश्च बहुयोनिषु ।।६६।।

पुत्रादि की परम प्रियता के हठ से या ब्रह्म के प्रति द्वेष से जो अपना गलत मत छोड़ता नहीं उस वादी के लिये नरकप्राप्ति एवं अनेक योनियों में दुःखादि दोषोपलब्धि बतायी है।

प्रतिवादी भी दो तरह के हैं। एक तो 'आग्रहाद्'। कुछ लोग समझते हैं—ब्रह्मवेत्ता बाबाजी हैं, इन्होंने कौन से बच्चों को पैदा किया है जो प्रियता जानें! एक बाबा ने एक लकड़हारे का दुःख-कष्ट सुन कर दया कर कहा, 'ठीक है, आकर आश्रम में रहो और भोजन करो।' उस ने कहा, 'नहीं बाबाजी, इतना दुःख-कष्ट होते हुए भी बच्चों का जो प्रेम है, उसमें बहुत सुख है।' महात्मा ने सोचा 'यह इतना दुःखी होते हुए भी कहता है, इतना सुख है, तो देखें क्या सुख है।' उसके घर जाकर देखा तो घर के लोग सभी चीजों की माँग कर रहे थे, कमियों की शिकायत कर रहे थे। थके-माँदे लकड़हारे को ठीक से भोजन भी नहीं मिला, बच्चों ने ठीक से आराम भी नहीं करने दिया। बाबाजी को यह सब देख आश्चर्य हुआ कि सभी प्रकार का कष्ट होते हुए भी संतान का सुख अनुभव कर रहा है! अज्ञानियों में कुछ तो आग्रही होते हैं। कुछ, 'ब्रह्मविद्वेषाद्' जिन्हें ब्रह्मवेत्ताओं से द्वेष होता है। इसलिये हर तरह की युक्तियों से 'ब्रह्मज्ञान हो ही नहीं सकता' सिद्ध करते हैं। पहले तो कहते हैं, 'ब्रह्म है ही नहीं। ब्रह्म निर्गुण नहीं हो सकता, और आनंदरूप भी नहीं हो सकता।' यदि कथंचित् मानते हैं तो भी जीते-जी किसी को उसका साक्षात्कार हो सके यह संभव नहीं समझते। इस प्रकार उनको ब्रह्मज्ञानियों से भी द्वेष है। अतः तरह-तरह की युक्तियों से अपने पक्ष को सिद्ध करना चाहते हैं। कहेंगे 'अगर ब्रह्म अधिष्ठान है, तो जैसे रस्सी दीखने पर साँप नहीं दीखता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञ को संसार नहीं देखना चाहिये।' जो यहाँ समझाया, गौणात्मा, मिथ्यात्मा आदि, यह सब उनकी समझ में नहीं आता। वे कहते हैं 'खूब कर्म करो और फल भोगो'। कुछ लोग समाज, देश, मानवता के लिये किये जाने वाले लौकिक कर्मों को मानते हैं। कुछ अन्य लोग यज्ञ, उपासना आदि को कर्तव्य कहते हैं। ब्रह्मवेत्ता कुछ नहीं कहता है, इससे उन्हें द्वेष होता है। उन्हें लगता है कि ब्रह्मज्ञान की इन बातों से समाज का नुकसान हो रहा है, समाज में अकर्मण्यता आ रही है। ऐसे लोग प्राचीनकाल में भी थे, वर्तमान में भी है। ब्रह्मज्ञान से अकर्मण्यता आती है, यह बात बनती नहीं है। आचार्य शंकर कहते हैं कि सारे शास्त्र एक स्वर से बताते हैं कि कामना बुरी चीज है, अपने लिये कुछ चाहना बुरा है, लेकिन सारे शास्त्रों और विद्वानों के कहने पर भी किसी ने कामना करना छोड़ दिया क्या? जैसे लाख कहें 'कामना मत करो', लेकिन कामना करने वाला करेगा ही, इसी प्रकार लाख कहने पर 'कर्म मत करो', तुम कर्म करोगे ही। भगवान् ने कहा है कि संसारी व्यक्ति जो शरीर को अपना स्वरूप समझता है, वह बिना कुछ किये रह ही नहीं सकता। अतः ब्रह्मज्ञान सुनने से कोई कर्म छोड़ देगा—ये सब बातें व्यर्थ की हैं।

साधारण लोग आग्रह से, विद्वान् ब्रह्मवेत्ताओं से द्वेष होने से, अपने इस पक्ष को नहीं छोड़ते कि संसार ही प्रिय है। ब्रह्मवेत्ता को भी बार-बार कहते हैं कि परमात्मा सबसे प्रिय नहीं हो सकता। तब ब्रह्मवेत्ता कहता है 'तेरे स्वर्ग के रास्ते रुक जायेंगे, तू नरक में ही जायेगा। बहुत-सी पशु-पक्षी योनियों में जायेगा। उन योनियों में भी जिन्हें प्रिय समझता है उनका वियोग भोगता रहेगा।' ॥६६॥

कोई कहे कि 'ब्रह्मवेत्ता के यों कहने से क्या होता है'? अतः उसका प्रभाव बताते हैं—

ब्रह्मविद् ब्रह्मरूपत्वाद् ईश्वरस्तेन वर्णितम्।

यद्यत् तत्तत् तथैव स्यात् तच्छिष्यप्रतिवादिनोः ॥७०॥

ब्रह्मरूप होने से ब्रह्मवेत्ता ईश्वर है अतः जो-जो बताया वह-वह उसके शिष्य और प्रतिवादी के साथ वैसा ही होता है।

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' यह श्रुति कहती है कि ब्रह्मज्ञान को जिसने प्राप्त कर लिया वह ब्रह्मरूप है। इसलिये वह ईश्वर ही है। भगवान् पानी बरसाते हैं। वही पानी करेले में जाता है तो उसको कड़वा करता है, मिर्च को तीखा बनाता है, आम-अंगूर मीठा बन जाता है। भगवान् का बरसाया पानी एक होने पर भी अलग-अलग पेड़ों को अलग-अलग फल देता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी ईश्वर होने के कारण, उसका कहा हुआ एक वाक्य ही शिष्य को ज्ञान दे देता है और प्रतिवादी को नरक की प्राप्ति करा देता है। जैसे पेड़ के भेद से असर में अंतर आता है वैसे जैसा अधिकारी वैसा ही उसका वाक्य फल दे देता है। इसलिये जो-जो उसने कहा है वह वैसा ही हो जाता है। शिष्य को ज्ञान कराने में कारण हो जाता है और प्रतिवादी के नाश का कारण हो जाता है। ब्रह्मवेत्ता की ऐसी सामर्थ्य हो जाती है क्योंकि उसने अधिष्ठान तत्त्व से एकता की प्राप्ति कर ली है। इसलिये जो चीजें लोक में प्रायः नहीं हो पातीं, वे भी ऐसे ब्रह्मवेत्ता के संकल्प से हो जाया करती हैं।

नारद जी ने एक भक्त से पूछा 'कोई क्लेश तो नहीं है?' उसने कहा 'संतान नहीं है।' नारद जी ने कहा, 'मैं भगवान् से पता लगाता हूँ।' भगवान् ने नारद से कहा, 'इसके तो सात जन्म तक कोई संतान का लेख नहीं है।' आकर नारद जी ने उसको ऐसा ही बताया। उसने भी कहा, 'ठीक है, जैसी भगवान् की इच्छा।' एक बार यह बात उस भक्त ने एक ब्रह्मवेत्ता को बताई। उन्होंने कहा 'इसी जन्म में सात संतति ले ले।' अब हर साल एक-एक कर उसके सात बच्चे हो गये। नारद जी ने यह देखा तो भगवान् विष्णु से जाकर शिकायत की 'मुझे झूठा क्यों बनाया?' भगवान् नारद जी को उस ब्रह्मवेत्ता महात्मा के पास ले गये जिन्होंने अपने शरीर के अंग को जलाकर भगवान् को गर्म दूध दिया। तब भगवान् ने कहा 'इसी महात्मा ने उस भक्त को सात बच्चे दिये हैं। क्या इसकी बात टाली जा सकती है?' जो अपने को मिथ्यात्मा और गौणात्मा से सर्वथा अलग जानता है वह ईश्वर ही हो जाता है। वह जैसा सोचता है, वैसा ही हो जाता है। शिष्य को उसके वाक्य से ज्ञान हो जाता है ॥७०॥

आगे श्रुति ने कहा है 'आत्मानम् एव प्रियम् उपासीत। स य आत्मानम् एव प्रियम् उपास्ते, नेहाऽस्य प्रियं प्रमायुकं भवति' (बृ. १.४.८)। इसका संग्रह करते हैं—

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रियमुत्तमम्।

तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन। ॥७१॥

जो तो उत्तम प्रिय साक्षी आत्मा का सेवन (प्रियतया स्मरण) करता है उसका यह अटिक प्रिय आत्मा कभी नष्ट नहीं होता।

श्रुति कहती है 'आत्मानमेव प्रियमुपासीत'। परमात्मा ही सबसे अधिक प्रिय है—इस बात की उपासना करे, बार-बार विचार करे। जो आत्मा को ही एकमात्र प्रिय समझता है, वह अनात्मा को अप्रिय समझता है अतः विवेक करके 'वह दुःख का साधन है'—यह जान कर उसका त्याग कर देवे। हठपूर्वक अनात्मा को प्रिय समझेगा तो नरक या निम्न योनियों को चला जायेगा। जो परमात्मा को प्रिय समझता है, उसके प्रिय परमात्मा का कभी नाश नहीं होता। उसे न कभी प्रिय वस्तु के नाश का दुःख होता है, न नरकादि लोकों की प्राप्ति, जो अनात्मा की उपासना से होती है। अनात्मा को प्रिय समझने वाले लोगों से आत्मप्रेमी भिन्न है—यह 'तुकार' के द्वारा बतलाते हैं। अनात्मा और आत्मा को एक-साथ प्रिय नहीं समझ सकते! आत्मा को प्रिय समझोगे तो अनात्मा को अप्रिय समझोगे। अनात्मा वह है जो जाना जाता है, और आत्मा वह है जो जानता है। जानने वाला और जिसको जानते हो वे कभी एक नहीं हो सकते। ज्ञेय और ज्ञाता दोनों की जाति सर्वथा विरुद्ध है। वेदान्त शास्त्र इसलिये सारे संसार को दो भागों में ही बाँटता है। 'दृग्दृश्यौ द्वौ पदार्थौ स्तः परस्परविलक्षणौ' शास्त्रकार कहते हैं कि दृक् और दृश्य ये दोनों सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं, दोनों के लक्षण सर्वथा विपरीत हैं। अतः आत्मा और अनात्मा को एक-साथ प्रेम का विषय नहीं बनाया जा सकता। कालभेद से तो हो सकता है, जैसे सर्दी में कम्बल अच्छा किंतु गर्मी में बुरा लगता है। व्यक्तिभेद से भी एक चीज प्रिय और अप्रिय हो सकती है, एक आदमी के लिये वही चीज सुखद है, दूसरे के लिये वही चीज दुःखद है। परंतु एक आदमी के लिये एक ही काल में एक ही चीज सुख और दुःख देने वाली नहीं हो सकती, एक वस्तु प्रिय होगी तो दूसरी अप्रिय होगी। इसी प्रकार संसारी लोगों के लिये अनात्मा प्रिय है। मुमुक्षुओं के लिये परमात्मा प्रिय है। कालभेद से बदल सकता है—जवानी में अनात्मरूप संसार प्रिय है, प्रौढ़ अवस्था में परमात्मा का प्रेम आ गया। काल एवं व्यक्ति के भेद से भेद हो सकता है लेकिन एक ही व्यक्ति में उसी काल में आत्मा और अनात्मा दोनों में प्रेम हो—यह नहीं हो सकता।

गौणात्मा और मिथ्यात्मा का विचार इसलिये किया था कि संसार के अनेक पदार्थ, मिथ्यात्मा को लेकर प्रिय हैं, गौणात्मा को लेकर प्रिय हैं। है तो वहाँ भी आत्मा प्रिय, लेकिन गौणात्मा और मिथ्यात्मा में अनात्मरूप उपाधि के साथ आत्मा है, अनात्मरूप उपाधि से रहित आत्मा नहीं है इसलिये उसकी प्रियता और अप्रियता बदल जाती है। जैसे पत्नी बहुत प्रिय है परंतु पाँच साल से बिस्तरे पर पड़ी है, अंत में पति दुःखी होकर कहता है 'यह बहुत

[प्र. १२ श्लो. ७१]

ब्रह्मानंद में आत्मानंद प्रकरण १३५३

कष्ट पा रही है। भगवान् इसको उठा ले तो अच्छा है।' गौणात्मा कभी प्रिय होने पर भी कभी प्रिय नहीं रहता। इसी प्रकार मिथ्यात्मा मन हमें प्रिय है। वह कैसे सुखी हो इसके लिये हम परेशान रहते हैं। पर यदि मन ही हमारे दुःख का कारण हो जाये, तो फिर अच्छा संगीत सुन कर सोने का प्रयत्न करते हैं। यदि मन अशान्ति का कारण होता है तो हम उस मन को भी बंद कर देना चाहते हैं। मिथ्यात्मा भी कभी अप्रिय हो जाता है। परंतु जो हमारा परमात्मरूप साक्षी है, उसके अंदर कभी दुःखरूपता नहीं आती। वह हमेशा एक जैसा प्रिय ही रहता है। वह गौणात्मा को भी जानता है और मिथ्यात्मा को भी जानता है। गौणात्मा, मिथ्यात्मा में जो उपाधियाँ हैं, वे पहले तो लगती हैं कि आत्मा से एक हैं, परंतु अन्य-व्यतिरेक के द्वारा, वेद में बतलाये गये पंचकोषों के विवेक के द्वारा, धीरे-धीरे पता लगता है कि उपाधि आत्मा का सत्य स्वरूप नहीं है। उसका स्वरूप तो केवल स्वप्रकाश है। तब जो साक्षी आत्मा, परमात्मा है, वही प्रियतम है—इस तरह से उसका सदा सेवन, स्मरण करता है।

जो ऐसा चिंतन करने वाला है, उसका आत्मा प्रियतम है, परमात्मा उसका प्रियतम है। वह कभी नष्ट नहीं होता। नष्ट होने वाला क्या पदार्थ है? 'नश अदर्शन' धातु है। नाश का मतलब है, कोई चीज तुम्हारे सामने न रहे। चीज है या नहीं इससे तुमको मतलब नहीं है, तुम्हारे ज्ञान में नहीं रही। तुम्हारा प्रिय पति मर गया। ऐसा नहीं है कि वह नहीं रहा। किसी अन्य लोक में पैदा हुआ है। वह है, परंतु तुम्हें उसका दर्शन नहीं होता, इसलिये कहते हो 'वह मर गया'। नश धातु का मतलब अदर्शन है, चीज है या नहीं, इससे कोई मतलब नहीं है। सामने दो प्रकार से नहीं हो सकती—एक तो इस समय नहीं, दो साल के बाद है। या यहाँ नहीं? अन्यत्र है। साक्षी आत्मा का अदर्शन कभी होता नहीं। वेद ने क्यों कहा 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः', परमात्मा का दर्शन करना चाहिये, वह दर्शनयोग्य है? यदि हमेशा ही उसका दर्शन है तो यह कहने की क्या जरूरत है? दर्शन दो तरह का होता है : तुम्हारे सामने पेड़ है, दीख रहा है, पर तुम पूछते हो 'यह कौनसा पेड़ है'? दीख तो रहा है पर जानते नहीं कि कौनसा पेड़ है। यदि वृक्ष की पहचान नहीं तो उसका लाभ नहीं उठा सकोगे। पेड़ के औषधीय गुणों का ज्ञान होने से ही उसका लाभ होगा। इसी प्रकार आत्मा आनंदघन है। आत्मा, साक्षी तुम्हें दीख रहा भी है। नया कुछ नहीं दीखेगा। मैं हूँ—इस रूप से दीख रहा है। गहरी नींद में भी अपने को, जहाँ अहंकारात्मिका वृत्ति नहीं है, देख रहे हो। उठकर कहते हो 'मैं सुख से सोया'। वही तुम्हारे अनुभव का विषय-आश्रय है क्योंकि वह न आश्रय है, न विषय है वस्तुतः स्वप्रकाशरूप है। परंतु इसके आनंदरूप को तुम जानते नहीं क्योंकि तुम उसे हमेशा किसी न किसी उपाधि के साथ देखने के आदी हो गये हो। विवेक करके तुमने अलग किया नहीं। जब वेद के बताये मार्ग से तुमने विवेक कर अलग कर लिया तब पता लगता है कि मैं ही पूर्ण आनन्द हूँ।

बहुत से लोग कहते हैं कि 'हमको पता तो है कि यह अलग है, फिर भी हम एक हो जाते हैं।' ऐसा अविचार से होता है। खाली परोक्ष रूप से जानने से अनुभव नहीं होता।

‘शरीर मैं नहीं हूँ, मैं शरीर को जानने वाला हूँ’ इसी अनुभव का अभ्यास लम्बे समय तक करोगे, तब धीरे-धीरे चीज स्थिर होगी। अतः विचार की परिपक्वता होनी चाहिये। शरीर का भान नहीं जायेगा। शरीर की प्रतीति तो होती रहेगी लेकिन ‘शरीर मैं हूँ’ इस प्रकार से भान नहीं रहेगा। शरीर से व्यवहार करते हुए भी ‘मैं कर रहा हूँ’ यह भान नहीं रहेगा। इसलिये आचार्य शंकर ने कहा है कि अभी जैसे सब समय तुम्हारा निश्चय है, ‘मैं शरीर हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ’; ये अभिमान जाते नहीं; जैसे यह दृढ है, वैसा ही दृढ हो जाये, ‘मैं सत्-प्रकाश-चिदानंदरूप ही हूँ, साक्षी हूँ’ तब देहभाव का बाध होगा। फिर चाहे शरीर आदि से व्यवहार होवे, ‘मैं शरीर, मन अहंकार हूँ’ यह प्रतीति नहीं होती। अभी लगता है कि ‘शास्त्र-गुरु कहते हैं कि मैं शरीर नहीं हूँ, मगर हूँ तो सही’। जब तक यह ‘मगर’ नहीं जायेगा, तब तक काम नहीं होता है, तब तक अभ्यास करना है। जब साक्षी परमात्मा की प्रियतमता की दृढ भावना हो जाती है, तब आत्मा का आनंदरूप भास जाता है। अभी हमें लगता है कि अनात्मा से आनंद मिलेगा। जब अपनी आनंदरूपता का पता लग जाता है तब सारे संसार का वैभव तुच्छ दीखता है। श्रुति ने कहा है कि उस परम आनंद की बूँद की भी जो बूँद है, बस उसी से सारा संसार अपने को धन्य समझता है। निष्ठा होने पर वह आनंद कभी उससे ओझल नहीं होता। जब आनंदरूपता का पता चल जाता है तब फिर तुम किस अनात्मा की तरफ अपने को ले जाओगे? सेवन या उपासना मायने विचार करके मिथ्यात्मा, गौणात्मा में आत्मभाव को हटाना। इसलिये सुरेश्वराचार्य ने कहा है ‘अनात्मादर्शनैव परात्मानमुपास्महे’ अनात्मा का अदर्शन करने के द्वारा ही परमात्मा की उपासना होती है। यही यहाँ उपासना का रूप है। जैसे कपड़े को साफ करना मायने मैल हटा देना, अन्य कुछ जोड़ना नहीं पड़ता; सोने की मैल ही हटाते हैं, चमक उसमें स्वाभाविक है; इसी प्रकार आत्मा का नित्य आनन्द स्वाभाविक है, केवल अज्ञान का निवारण आवश्यक है। ॥७१॥

प्रिय होने से निकला नतीजा बताते हैं—

परप्रेमास्पदत्वेन

परमानन्दरूपता ।

सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता ॥७२॥

परम प्रेम का विषय होने से (आत्मा) सर्वाधिक आनन्दरूप है यह सिद्ध होता है क्योंकि प्रेम बढ़ने पर सुख का बढ़ना सार्वभौम आदि के सुखों के प्रसंग में सुना गया है।

आत्मा परमानंदरूप कैसे है? जो प्रेम का विषय होता है वह सुख होता है। कोई चीज सुख वाली है यह तब पता लगता है जब उस चीज से प्रेम होवे। एक राजा को चर्मरोग हो गया। किसी ने बताया कि गीध की बीट लगाओगे तो ठीक हो जायेगा। गीध ही अप्रिय है, फिर उसका मल अतिघृणित। लेकिन जब बीट मिल गई तो राजा प्रसन्न हुआ, लगाया और ठीक भी हो गया। खराब चीज में भी जब प्रेमास्पदता आ गई तो सुखदायी हो गई।

प्रिय ही आनंदरूप होता है। आत्मा परम प्रेम का विषय है, क्योंकि बाकी सब चीजें आत्मा के लिये प्रिय हैं, आत्मा किसी अन्य चीज के लिये प्रिय नहीं है। जो किसी अन्य के लिये प्रिय न होते हुए प्रिय हो वही परम प्रेमास्पद है, वही परम आनंदरूप है। परमप्रेमास्पदत्व यह हेतु हो गया : आत्मा क्यों परमानंदरूप है? परमप्रेमास्पद होने से। इसमें तुमको अन्वयी दृष्टांत नहीं मिलेगा। 'अपने लिये प्रिय होवे, किसी अन्य के लिये प्रिय न होवे' यह विशेषता सिवाय परमात्मा के और कहीं मिलेगी नहीं। सत्-चित् आत्मा से भिन्न जो चीजें हैं वे सब प्रत्यगात्मा के लिये प्रिय हैं। कोई प्रिय चीज ऐसी नहीं जो प्रत्यगात्मा के लिये प्रिय न हो। परमात्मा जैसा प्रिय और कोई नहीं मिलेगा। परमप्रेमास्पद केवल आत्मा है, इसलिये उसकी परमानंदरूपता है। उसे परमानंद क्यों कहते हैं? जितना प्रेम बढ़ता है उतना सुख ज्यादा होता है। रसगुल्ले से प्रेम है परंतु मधुमेह हो गया, डाक्टर ने कहा 'मीठा खाना नहीं छोड़ोगे तो रोग नहीं मिटेगा।' स्वाद की अपेक्षा तुम्हें शरीर से ज्यादा प्रेम है। तुम रसगुल्ला छोड़ देते हो। कुछ लोग कहते हैं 'मरना तो है ही, खाओ।' जिस चीज से प्रेम ज्यादा है, उसी से सुख भी ज्यादा होता है। प्रीति के बढ़ने की अंतिम सीमा हुई आत्मा। इसलिये वहाँ परमानंद मानना पड़ता है। यह बात केवल युक्ति और अनुभव से नहीं कह रहे हैं। आत्मा, ब्रह्म ऐसी चीजें हैं जो युक्ति से समझ में नहीं आतीं। इसलिये कहा 'सार्वभौमादिषु श्रुता'।

यजुर्वेद में एक प्रसंग है; संसार में केवल वही जगह है जहाँ सुख का परिमाण, नाप बतलाया है। सत्रहवीं शताब्दी में विज्ञान ने यह सिद्धांत बनाया कि जिस चीज की नाप-तोल नहीं है उस चीज को नहीं मानेंगे। आयुर्वेद की दवा से कितने रोगी ठीक हुए, कितने नहीं हुए आदि माप नहीं रखे जाते इसलिये आधुनिक वैज्ञानिक आयुर्वेद-चिकित्सा पद्धति को नहीं मानते। अन्य चीजों में नाप की शर्त लगायी पर अभी तक किसी विज्ञान ने सुख का नाप नहीं किया है। यह केवल वेदों में बताया गया है। मापने के लिये इकाई बनानी पड़ती है जैसे लम्बाई के नाप की इकाई मीटर आदि, समय की इकाई घण्टा, सैकिण्ड आदि। इसी प्रकार वेद ने सुख की इकाई बना दी : सारी पृथ्वी का राजा होवे, पृथ्वी धन-धान्य से भरी हो, राजा बल वाला हो, युवा हो, सच्चरित्र हो, क्योंकि दुश्चरित्र व्यक्ति को आनंद नहीं मिलता; विद्वान् हो; इन सारे गुणों वाले व्यक्ति को जो सुख मिलता है उसे एक मानुष आनंद अर्थात् आनन्द मापने की इकाई बनाया। हम लोग उस सुख के अंशमात्र प्राप्त करने के लिये ही दुःखी हैं। संसार में लगभग छह अरब जनसंख्या है। उसमें तुम्हारा एक बेटा। वह तुम्हारी बात नहीं मानता तो तुम परेशान हो जाते हो। बाकी संसार तुम्हारी बात नहीं मानता, पर तुम परेशान उससे नहीं हो रहे हो। संसार के एकछत्र राजा के सुख को सुख का एक माप माना। आगे बताया कि पितृलोक में उससे सौ गुणा सुख है। देवलोक में उससे, पितृलोक से सौ गुणा सुख है। ऐसे ही अनेक उत्तरोत्तर अधिक सुख के स्थान बताये और हर सुख के साथ कहा गया है 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य'। जिसने वेद-अध्ययन कर उसके, अर्थ को समझा है, और जिसको इस पद की कामना नहीं है, उसको वह सुख पहले ही प्राप्त है।

अन्त में हिरण्यगर्भ का सुख बतलाया है। तैत्तिरीय और बृहदारण्यक में भी वही प्रसंग है। थोड़ा-बहुत सामान्य भेद है।

श्रुति ने बताया कि जितना चीजों से तुम्हें वैराग्य होता जाता है उतना ही तुम्हारा सुख बढ़ता जाता है। सुख होने के लिये असली चीज है अकामना। अनात्म-पदार्थ की कामना होती है, वही तुमको सुख दे सकती है। जैसे हम लोगों को बिजली के जाने से दुःख और आने से सुख होता है। अनेक वर्षों पूर्व जब बिजली नहीं थी तब बिजली जाने का दुःख होता था क्या? मूर्ख समझते हैं कि चीजें बढ़ने से सुख है। चीजों का स्वभाव है कि कभी होंगी, कभी नहीं होंगी। ज्यादा चीजों से सुख लोगे तो उनके जाने से दुःख भी ज्यादा होगा। वस्तुतः सुख का कारण अकामना है। तुम्हारे पास चीज है इसलिये या इच्छा ही नहीं है इसलिये भी अकामना हो सकती है। भरी-पूरी पृथ्वी का एकछत्र राज्य पाना किसी के हाथ में नहीं लेकिन कामना छोड़ना तुम्हारे हाथ में है। अकामता सुखी होने का उपाय वेद ने बताया है। जो हिरण्यगर्भ पद से, अर्थात् ब्रह्मा के पद से भी वैराग्य वाला है, उसको परमप्रेमास्पद परमानंदरूपता की प्राप्ति है। जब यह दृढता हो जाती है तब परमानंदमें स्थिति होती है। ॥७२॥

प्रश्न होता है—

चैतन्यवत् सुखं चाऽस्य स्वभावश्चेच्चिदात्मनः।

धीवृत्तिष्वनुवर्तेत सर्वास्वपि चित्तिर्यथा ॥७३॥

चैतन्य की तरह चिद्रूप आत्मा का सुख भी स्वभाव होता तो बुद्धि की सभी वृत्तियों में ज्ञान की तरह अनुगत मिलता।

युक्ति से तो सिद्ध कर दिया कि परमप्रेमास्पद होने से आत्मा परमानंदरूप है, लेकिन यह बात अनुभव से विरुद्ध है। अनुभव क्या है? मैं में हमेशा चेतनता की प्रतीति है, 'मैं चेतन हूँ'। आत्मा चेतनरूप है यह सिद्ध किया जाये तो अनुभव के अनुरूप है क्योंकि 'मैं चेतन हूँ' यह सब का अनुभव है। परंतु 'मैं आनंद हूँ' ऐसा भान किसी को नहीं होता। यदि चेतन की तरह ही यह हमारा स्वरूप होता तो जैसे हमें भान होता है 'मैं चेतन हूँ' वैसे ही भान होना चाहिये 'मैं आनंद हूँ'। यदि चिदात्मा का स्वभाव सुख होता तो सभी अन्तःकरण-वृत्तियों में इसकी अनुवृत्ति होती, हमेशा मैं के साथ सुख का भी भान होता। जैसे चेतन का अनुवर्तन होता है वैसे ही सुख का होना चाहिये। यदि सुख का भान होता, तो हम लोग आनंद से बैठे रहते। परेशान तो सुख के लिये ही होते हैं। धन कमाते हैं क्योंकि लगता है कि धन से सुख होगा। दाल का सीरा मेहनत कर बनाते हैं, क्योंकि उसे खाने से सुख होगा। यदि पहले ही भान होता कि 'मैं सुखरूप हूँ' तो क्यों इतनी मेहनत करते? अतः जो बात युक्ति से सिद्ध की वह अनुभव-विरुद्ध है। यह प्रश्न है। ॥७३॥

इसका उत्तर देते हैं—

मैवमुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभा गृहे ।

व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चित्तेरेवानुवर्तनम् ॥७४॥

अनुभव-विरोध नहीं है। दीपक का स्वरूप गर्मी और रोशनी है। उसकी प्रभा (रोशनी) तो घर में फैल जाती है, गर्मी नहीं। इसी तरह चैतन्य की ही बुद्धिवृत्तियों में उपलब्धि है (आनंद की नहीं)।

शंका थी कि यदि चैतन्य की तरह आनंद आत्मा का स्वभाव होता तो सारी वृत्तियों में अनुवृत्त होता। किंतु देखने में आता है कि एक ही चीज के अनेक स्वभाव होने पर भी एक अनुवृत्त होता है, दूसरा नहीं होता। इसमें दृष्टांत दिया : दीपक के दो स्वभाव हैं—वह गर्म होता है और उसमें रोशनी होती है। गर्मी और प्रकाश, दोनों दीपक के आत्मा अर्थात् स्वरूप, स्वभाव हैं। किंतु दीपक का जो प्रकाश है, वह कमरे में फैल जाता है पर उसकी गर्मी सब जगह नहीं फैलती, उसके निकट ही गर्मी रहती है। रोशनी व्यापक हो जाती है, गर्मी नहीं। इसी प्रकार आत्मा का चैतन्य और आनंद दोनों स्वभाव हैं, चैतन्य तो सभी बुद्धिवृत्तियों में प्रकाशित हो जाता है पर आनंद सारी बुद्धिवृत्तियों में नहीं होता। लोग शंका करते हैं, 'हम आनंदस्वरूप हैं तो हमें अपने आनंद का भान क्यों नहीं है। हम चेतनरूप हैं तो चेतन का भान है। फिर आनंदरूप हैं तो उसका भान क्यों नहीं है?' उत्तर है कि जैसे दीपक में भी गर्मी है तो सही, उसका स्वरूप ही है, लेकिन वह सब जगह वैसी नहीं फैलती जैसे प्रकाश फैलता है। इसी प्रकार से मन की सब वृत्तियों में चेतनता तो रहेगी पर सुख नहीं रहेगा ॥७४॥

उक्त स्थिति को स्पष्ट करते हैं—

गन्धरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्सु यथा पृथक् ।

एकाक्षेणैक एवार्थो गृह्यते नेतरस्तथा ॥७५॥

जैसे एक वस्तु में गंध, रूप, रस, स्पर्श—सभी रहने पर भी एक इंद्रिय से एक गुण ही ग्रहण किया जाता है अन्य नहीं, वैसे चेतन और आनंद में से चेतन ही भासता है, आनंद नहीं।

बढिया लंगड़ा आम है। सुन्दर गन्ध, रूप, रस और स्पर्श—सभी चीजें उस में हैं। ऐसा होने पर भी तुम आँख से केवल रूप ही देख सकते हो, नाक से केवल सुगन्धि ही ले सकते हो, जीभ से उसका स्वाद ही ले सकते हो, त्वक् से उसका स्पर्श ही कर सकते हो। हर इंद्रिय एक विशेषता को ही ग्रहण करती है भले ही दूसरी भी वहीं है। एक इंद्रिय से एक ही गुण ग्रहण होता है। इसी प्रकार से चेतन और आनंद में से सभी मन की वृत्तियाँ चेतन को तो ग्रहण कर लेती हैं, परंतु आनंद को ग्रहण नहीं करतीं ॥७५॥

शंका होती है कि दृष्टान्त में गुण परस्पर विभिन्न हैं जबकि दार्ष्टान्त में ऐसा नहीं—

चिदानन्दौ नैव भिन्नौ गन्धाद्यास्तु विलक्षणाः ।

इति चेत् तदभेदोऽपि साक्षिण्यन्यत्र वा वद ।।७६।।

गन्ध आदि तो (परस्पर) भिन्न हैं जबकि चैतन्य व आनन्द भिन्न हैं नहीं? यह शंका है तो बताओ कि चैतन्य व आनन्द का अभेद आत्मस्वरूप साक्षी में है या उससे अन्यत्र उपाधिभूत वृत्तियों में?

शंका है कि चेतन और आनन्द तो भिन्न पदार्थ नहीं हैं। यदि ये भिन्न होते तो आत्मा की अखण्डता, अद्वितीयता नहीं रह जाये। यदि तुम कहते हो कि चेतन और आनन्द अलग चीजें हैं तो सिद्धान्त-विरोध होगा। चेतन और आनन्द—ये दोनों चीजें भिन्न नहीं हैं। परंतु गंध, रंग, रूप तो सब अलग-अलग चीजें हैं। इस शंका के समाधानार्थ कहा कि दोनों को जो तुम अभिन्न कह रहे हो वह किस अभिप्राय से? दो प्रकार से चीजें भिन्न हुआ करती हैं। एक, उपाधि के कारण, और दूसरा, स्वरूप के कारण। जैसे घड़े के आकाश में और कमरे के आकाश में क्या अंतर है? दीखते तो अलग-अलग हैं, व्यवहार भी अलग है, घड़े का गोल, कमरे का चौकोर आकाश दीखता है। फिर भी उन आकाशों में भेद नहीं है। जैसे ही तुमने घड़ा उपाधि को फोड़ा, घड़े वाले आकाश और कमरे वाले आकाश में कोई अंतर रहा क्या? आकाश एकरूप होने पर भी उसमें औपाधिक भेद है। स्वाभाविक भेद भी होता है, जैसे घड़े और कपड़े में। आम में गन्ध, रूप, स्पर्श अलग-अलग हैं क्या? आम तो एक ही है, कई नहीं हैं। यह नहीं कह सकते कि हमने रस अलग निकाल लिया, गंध अलग निकाल ली आदि। इसलिये जब तुम इंद्रियों से ग्रहण करते हो तब औपाधिक भेद है। आम एक ही है, उसमें भेद इंद्रियों की उपाधि से है। क्योंकि अलग-अलग इंद्रियाँ रूप, गंध, स्पर्श को ही ग्रहण करेंगी इसलिये उनमें भेद माना जाता है, है तो एक आम ही। गन्धादि में विलक्षणता औपाधिक है। इसी प्रकार से चेतन और आनन्द स्वभाव से एक हैं। वह स्वभाव से एक रूप कौन-सा है? साक्षी। साक्षी में अभेद है। वृत्तियों में अभेद नहीं है। ज्ञान की वृत्ति और आनन्द की वृत्ति अलग हैं, वृत्तियों के भेद से दोनों में भेद प्रतीत होता है, स्वरूप तो साक्षी ही है।।७६।।

उक्त विकल्पों की परीक्षा करते हैं—

आद्ये गन्धादयोऽप्येवम् अभिन्नाः पुष्पवर्तिनः ।

अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात् तयोर्भिदा ।।७७।।

यदि पहला पक्ष स्वीकारो तो पुष्प में होने वाले गन्धादि भी अभिन्न हैं। यदि (दूसरे पक्ष के अनुसार) इंद्रियों के भेद से गन्ध आदि में भेद स्वीकारो तो वृत्तियों के भेद से चेतन और आनन्द में भी भेद है।

अगर कहते हो कि चेतन और आनन्द का स्वरूप साक्षी है अतः उनमें अभेद है, तो इस प्रकार तो फूल में रहने वाले गंध, रूप, रस, स्पर्श आदि सब भी अलग-अलग नहीं हैं, फूलरूप से तो सब एक ही हैं। यदि कहते हो कि विभिन्न इंद्रियाँ ग्रहण करती हैं अतः गंधादि में भेद है, तो भेद औपाधिक माना, वास्तविक नहीं। इंद्रियों के भेद से विषयों में भेद है, अर्थात् आँख से मन की वृत्ति बनी तो रूप दीखा, नाक से मन की वृत्ति बनी तो गन्ध आई। वहाँ फूल तो एक ही है। इसी प्रकार साक्षी तो एक ही है। यदि तुम्हारी सात्त्विक वृत्ति बनी तो तुम्हें सुख होगा। राजस वृत्ति बनी तो सुख नहीं होगा। जैसे रूपादि में इंद्रियों के भेद से भेद है वैसे सात्त्विक, राजस, तामस भेद से सुखादि का भेद हो जाता है। अतः हर-एक वृत्ति में ज्ञान व आनंद दोनों न प्रकट होना संगत है। ॥७७॥

चेतन एवं आनन्द अभिन्न कहाँ मिलते हैं यह बताते हैं—

सत्त्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः।

रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात् सुखांशोऽत्र तिरस्कृतः ॥७८॥

सत्त्वगुण से बनी वृत्ति में ज्ञान और आनंद की एकता प्रकट होती है क्योंकि वह वृत्ति निर्मल है। रजोगुण से बनी वृत्ति मलिन होने से वहाँ (आत्मा का) सुखरूप हिस्सा छिप जाता है।

भगवान् ने भी गीता में कहा है कि सत्त्वगुण व सुख का परस्पर सम्बन्ध है। सत्त्व की वृत्ति से सुख के प्रति आसक्ति होती है। अतः जब साक्षी में पहुँचना हो तब इस सत्त्व गुण की वृत्ति को भी छोड़ना पड़ता है, सुख की इच्छा को भी छोड़ना पड़ता है क्योंकि सत्त्व गुण के कारण सुख की अभिव्यक्ति होती है और सुख के प्रति हमारा आकर्षण है अतः उस वृत्ति में होने वाले आनंद को भगवान् गौडपादाचार्य ने 'रसास्वाद' कहा है। जब सत्त्व गुण की वृत्ति बनाओगे तब सुख होगा। अन्यथा नहीं। इसलिये 'हमारी हमेशा सत्त्व गुण की ही वृत्ति बने' यह आग्रह रसास्वाद के लिये है। जब सत्त्वगुण की वृत्ति बनाओगे तब कर्ता बनोगे और अपने सात्त्विक रूप से हमेशा दूर रहोगे। यह बन्धन छोड़ना बहुत बाद में है। अभी चाहो कि सुख की इच्छा न होवे, तो छूटेगी नहीं। अन्तिम बन्धन है रसास्वाद। समझने की बात यह है कि सुख तुम्हारा स्वरूप है, और वृत्ति में जो सुख का प्रकाश पड़ता है वह प्रतिबिम्ब है, औपाधिक है। जब सत्त्वगुण की वृत्ति नहीं रहती तब वह छायासुख हट जाता है। अतः वृत्तिसुख अमृतपद की प्राप्ति नहीं है। शंका होती है कि सत्त्व गुण की वृत्ति में यह विशेषता क्यों है? सत्त्वगुण की वृत्ति निर्मल है। हमारे पुराने किये जो पाप कर्म हैं, उनके कारण हमारी बुद्धि में मैल आता है। सत्त्व गुण की वृत्ति तभी बनती है जब पाप फलदायक नहीं रहते। यह नहीं कि सारे पाप खत्म हो जाते हैं। ऐसा होने से तो तुम्हारा जीना भी कठिन हो जायेगा। जैसे भूख एक दुःख है, इसके बिना कब तक खाओगे? खाओगे नहीं तो जीओगे कितने दिन? अतः भूख-प्यास तो जरूरी दुःख हैं। ऐसे ही सर्दी लगना है, इसी से तुम कम्बल ओढ़ोगे अन्यथा बुखार से मर जाओगे। अतः दुःख भी जरूरी है। इसलिये पाप भी जीवन के लिये जरूरी है। किंतु इसका मतलब यह नहीं कि हम पाप करें! आशय है कि

सब समय सात्त्विक वृत्ति रह नहीं सकती। लेकिन पाप जब फलदायक नहीं हैं, तब तक तुम्हारी बुद्धिवृत्ति में प्रकट नहीं होंगे, दबे रहेंगे। मच्छर काटे और तुम्हें दुःख होवे, तभी तुम मच्छर से बचोगे। कुछ भक्तों ने कहा है कि दुःख-सुख एक हो जायें। यदि एक हो जायेंगे तो जीना ही दुर्लभ हो जायेगा। अतः तात्पर्य है कि दुःख रहेगा, सुख भी रहेगा परंतु 'दुःख और सुख मुझ में नहीं हैं' ऐसा बोध बना रहेगा। सुख भी वृत्ति होने से है, दुःख भी वृत्ति होने से है, पर सुख जो प्रतिबिम्ब है, उससे भिन्न आनंद मेरा स्वरूप है। सत्त्वगुण में क्यों सुख होता है? क्योंकि उस समय पाप फलदायक नहीं है। सभी वृत्तियों में चेतन का अनुवर्तन तो रहता ही है। इसलिये सुख के समय में भी ज्ञान है ही।

रजोगुण की वृत्ति में मलिनता है, उस समय कुछ-न-कुछ करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। लगता है कि कुछ करना तो जरूरी ही है। इसी को भगवान् ने कहा है 'रजःकर्मणि भारत'। रजोगुण मनुष्य को कर्म में फँसाता है, आसक्त करता है। जैसे सत्त्वगुण में सुख की आसक्ति वैसे रजोगुण में कर्म में आसक्ति है। भगवान् गीता में कहते हैं कि जितने भी कर्म हैं उन सब में दोष की अनुवृत्ति रहेगी। कर्म हो और दोष नहीं होवे, यह नहीं हो सकता। सभी कर्मों में कुछ-न-कुछ दोष होगा ही। उसमें पाप का सम्बन्ध है, इसलिये रजोवृत्ति मलिन है। जैसे आग जलाओगे तो धुआँ अवश्य होगा वैसे सभी कर्मों में दोष जरूर होगा। बिना दोष के कोई कर्म सम्भव नहीं है। अतः रजोगुण की वृत्ति में मालिन्य रहता है। इसलिये उसमें सुख का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। रजोगुण में चेतनता का तो भान रहेगा, पर सुख की अनुवृत्ति नहीं रहेगी।

लेकिन तमोगुण में क्या रहेगा? भगवान् ने कहा है तमोगुण, आज तक तुमने जो भी समझा है उसे आवृत कर देता है। इसलिये तमोगुण जो करना चाहिये उसकी तरफ ध्यान नहीं जाने देता। शास्त्र कहते हैं सबेरे ब्राह्म मुहूर्त में उठना चाहिये। उठते समय व्यक्ति कहता है 'कल से प्रारंभ करेंगे'। इसी का नाम प्रमाद है। प्रायः लोग कुछ नहीं करने को सत्त्व का प्रभाव मान लेते हैं अर्थात् तमोगुण और सत्त्वगुण में भेद नहीं करते। किंतु ऐसा है नहीं, सत्त्व में असावधानी, आलस्य, लापरवाही नहीं होगी जबकि तमोगुणी वृत्ति में प्रमाद रहेगा, ज्ञान का आवरण रहेगा। अतः दोनों चीजें एक नहीं हैं। वेदांत में बार-बार इस बात का प्रतिपादन किया जाता है कि नैष्कर्म्य प्राप्त करना चाहिये। साधारण आदमी नैष्कर्म्य को तमोगुण की वृत्ति समझते हैं। तमोगुण की वृत्ति प्रमाद में आसक्त करती है, नैष्कर्म्य में नहीं ॥७८॥

दृष्टांत दिया था कि एक फूल में इंद्रियभेद से भेद है। प्रश्न होता है कि इंद्रियभेद की जगह वृत्तिभेद तब ठीक था यदि सत्त्ववृत्ति सिर्फ आनंद ग्रहण करती। वह तो ज्ञान के लिये आवश्यक है ही। अतः उसमें भी आनन्द क्यों ग्रहण नहीं होता? अतः विद्यमान के ग्रहण की सामग्री के बावजूद उसके तिरस्कार को उदाहरण से सिद्ध करते हैं—

तन्तिणीफलमत्यम्लं लवणेन युतं यदा ।

तदाम्लस्य तिरस्कारादीषदम्लं यथा तथा ॥७९॥

जैसे अत्यधिक खट्टा इमली-फल जब नमक मिलाकर चखा जाये तब उसकी स्वाभाविक खटास छिप जाती है, हल्की खटास प्रतीत होती है, वैसे रजोवृत्ति में आनंद छिप जाता है।

इमली का फल बहुत खट्टा होता है। उसे खाने के लिये लवण डाल देते हैं, जैसे नींबू में भी चूसने के लिये नमक डाल देते हैं। लवण से जब युक्त करते हो तब खटाई कम हो जाती है। रहती तो है पर महसूस कम होती है। जैसे यह दृष्टांत है वैसे ही रजोगुण की वृत्ति में आनंद का भान नहीं रहता। जैसे इमली की खटाई का कुछ अनुवर्तन तो रह जाता है, इसी प्रकार से दुःख को जानने में भी एक आनंद है। जैसे कोई चिकित्सक किसी लकवे वाले का इलाज करता है तो बीच-बीच में एक हथौड़ी पैर पर मारता है। 'कुछ लगा?' पूछता है। मार से दुःख ही होता है। पर जब उस हथौड़ी की मार का रोगी को पता लगे तब वह प्रसन्न होता है कि हथौड़ी की मार के दुःख का पता लगा। यों उसमें थोड़े-से सुख का अनुवर्तन है। ऐसे ही स्वादिष्ट भोजन मिलते समय भूख लगी हो तो सुख होता है जबकि अपने-आप में भूख भी दुःख है। पड़ौसी बुराई तुम्हारी कर रहा है, तुम दीवाल पर कान लगाकर सुनते हो। सुनने में तुमको कुछ सुख का अनुवर्तन तो है ही जैसे इमली में थोड़ी खटाई का अनुवर्तन है ही। यदि पड़ौसी तुम्हारी प्रशंसा कर रहा होता तो जैसा सुख होता वैसा नहीं है लेकिन कुछ आनंद के कारण ही कान लगाकर सुन रहे हो। जैसे रजोवृत्ति वैसे केवल ज्ञान की सात्त्विक भी वृत्ति आनन्द का तिरस्कार करती है। सात्त्विक तो है पर 'सुख' यह आकार न लेने से उसमें सुख भासता नहीं, भले ही आत्मा निरन्तर आनन्दरूप ही है। ॥७६॥

प्रश्न उठता है कि आत्मा आनन्द है यह समझना क्या पर्याप्त है? यदि अन्य कोई सहायक चाहिये मोक्षप्राप्ति के लिये तो मोक्ष ज्ञानमात्रलभ्य न होने से नित्य नहीं होगा और बिना सहायक के इतना समझना दुःखनिवर्तक प्रतीत होता नहीं। इस अभिप्राय से प्रश्नोत्तर व्यक्त करते हैं—

ननु प्रियतमत्वेन परमानन्दतात्मनि ।

विवेक्तुं शक्यताम् एवं विना योगेन किं भवेत् ॥८०॥

प्रियतम होने से आत्मा में परमानन्दरूपता है यह विवेक करना सम्भव होने पर भी योगाभ्यास के बिना क्या लाभ होगा?

तत्त्वविवेक प्रकरण में ही आत्मा प्रियतम होने से आनन्द है यह कह चुके हैं। जगह-जगह वह तथ्य प्रमाण-युक्ति से पुष्ट भी कर दिया। समझदार अनात्मा से पृथक् किये निजस्वरूप में आनंद स्वीकार भी लेगा, पर इतने-मात्र से मोक्ष तो होता नहीं। तात्पर्य है कि शब्द अकेला आत्मसाक्षात्कार के लिये काफी नहीं, उसे योग की, समाधि की सहायता चाहिये। शब्द से समझकर उस पर मन एकाग्र रखें तब दुःखहीन आनन्द का नैरन्तर्य अर्थात् मोक्ष मिलेगा। प्रश्न का तात्पर्य, शब्द अपरोक्ष का हेतु नहीं यह सिद्ध कर साधनान्तर के प्रवेश से मोक्ष अनित्य और संसार सत्य सिद्ध करने पर्यन्त समझा जा सकता है ॥८०॥

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं—

यद् योगेन तद् एवेति वदामो; ज्ञानसिद्धये ।

योगः प्रोक्तो; विवेकेन ज्ञानं किं नोपजायते ॥८१॥

हम (सिद्धान्ती) कहते हैं कि जो योग से होगा वही विवेक से होगा। यदि कहो कि ज्ञान की सिद्धि (प्राप्ति) के लिये योग बताया गया है तो (सोचो), विवेक से क्या ज्ञान उत्पन्न नहीं होता?

प्रष्टा योग का फल अपरोक्ष ज्ञान ही कहेगा। इसलिये जवाब दिया कि यही विवेक का फल क्यों न माना जाये? वस्तु अपरोक्ष है तो विवेक से उसका ज्ञान भी अपरोक्ष हो इसमें तर्क या अनुभव का कोई विरोध नहीं। यहाँ 'योग' पातञ्जल समाधि नहीं वरन् वेदान्तोक्त निदिध्यासन समझना चाहिये। शब्द से परोक्ष ज्ञान होकर समाहित रहने से अपरोक्ष होता है ऐसा कुछ वेदान्ती मानते हैं। भाष्यकार एवं उनके मुख्य अनुयायी श्रवण से साक्षात्कार स्वीकार करते हैं। यहाँ इसीलिये 'विवेक से क्या होगा?' का उत्तर दिया कि वही होगा जो योग से मानते हो। पता तो विवेक से (श्रवण से) चलेगा यह सर्वसम्मत है, योग अपरोक्ष में ही हेतु होगा और वही विवेक से (श्रवण से) संभव है। योग आवश्यक अंग भले ही हो लेकिन अपरोक्ष साक्षात्कार विवेक से हो जायेगा यह भाव है ॥८१॥

उक्त विषय में प्रमाण बताते हैं—

यत् साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।

इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम् ॥८२॥

'सांख्य जो स्थान पाते हैं, योगी भी वहीं जाते हैं' यों योगियों और विवेकियों को एक फल मिलता है ऐसा स्मृति में (गी.५.५) बताया है।

आत्मा-अनात्मा का विवेक करने वाले 'सांख्य' एवं समाहित रहने वाले 'योग' कहे जाते हैं। दोनों को प्राप्य स्थान एक मोक्ष ही है। मोक्ष तो ज्ञान से ही मिलता है पर उसके लिये सांख्य एवं योग दोनों उपाय हो जाते हैं। यद्यपि गीता में योग-शब्द से आचार्यों ने कर्मों कहे हैं तथापि वे निष्काम कर्मों ही माने हैं। कामना-राहित्य योगाभ्यासियों में ही सम्भव है एवं योग-शब्द समाधि-अर्थ में प्रचलन में भी है। अतः यहाँ समाध्यभ्यासी निदिध्यासु का 'योग' शब्द से ग्रहण संगत है। प्रमाण गीता वचन हुआ जो निश्चित करता है कि विवेकी वह फल पाता है जो योग से मिलता है ॥८२॥

फल एक है तो साधन विभिन्न क्यों विहित हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।

इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः ॥८३॥

किसी के लिये योग एवं किसी के लिये ज्ञान-निश्चय पाना असंभव है—ऐसा विचार कर परमेश्वर ने दो मार्ग बताये।

योगवासिष्ठ में (निर्वाण. पू. सर्ग १३ श्लोक ८) वर्णित है कि अधिकारिभेद से मार्गद्वय उपयोगी है। चित्त-नाश के दो मार्ग हैं—योग और ज्ञान। अनात्मवृत्ति का निरोध योग और वास्तविकता का अवलोकन ज्ञान है। किंतु सभी मुमुक्षु दोनों साधनों में सक्षम नहीं होते। वासिष्ठ उपशमप्रकरण में बताया है कि मशाल घुमाने से दीखने वाले विविध आकारों की तरह चित्त के स्पन्दन से जगत् उपलब्ध होता है। गुण-गुणी आदि में जैसे भेद कल्पित रहता है वैसे चित्त और उसका स्पन्दन है अभिन्न, व्यवहार भले ही भेद का है। वसिष्ठ जी ने कहा है 'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव। योगस्तद्धृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥' (उपशम सर्ग ७८.८)। चित्तवृत्ति का निरोधरूप योग और आत्मा का सम्यक् अपरोक्ष साक्षात्काररूप ज्ञान—ये दो उपाय चित्तविनाश के प्रतिपादित हैं। प्राण-चित्त का सम्बन्ध होने से प्राणनियन्त्रण का बड़ा उपयोग है। मनःस्पन्दन की उपशान्ति से यह संसार ही विलीन हो जाता है। अध्यात्मशास्त्र का अभ्यास, सत्संग, वैराग्य, यमादि, ध्याननिष्ठा—इन उपायों से प्राण-स्पन्दन निरुद्ध होता है। दीर्घप्रणव के सहारे अन्तर्मुखता स्थिर करना भी अतीव उपयोगी है। निर्वाणप्रकरण (पूर्वार्ध) में सरल और कष्टरहित विकल्प पूछा जाने पर वसिष्ठ जी ने दोनों को तुल्य कहा है 'एको योगस्तथा ज्ञानं संसारोत्तरणक्रमे। समावुपायौ द्वावेव प्रोक्तावेकफलप्रदौ॥ असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्याचिज्ज्ञान-निश्चयः। मम त्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः॥' (सर्ग १३ श्लोक ७-८) अधिकारी के भेद से दोनों मार्ग उचित, प्रामाणिक हैं। वसिष्ठ जी विवेक मार्ग के पक्षधर हैं। मधुसूदन सरस्वती ने माना है कि आचार्य शंकर को भी यही अभिमत है। वेदमुख से स्वयं परमेश्वर ने दोनों उपायों का प्रतिपादन किया है। क्योंकि साधकों की सामर्थ्य विभिन्न होती है इसलिये एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये विभिन्न उपायों का विधान संगत है॥८३॥

अधिक श्रमसाध्य प्रतीत होने से योग में वैशिष्ट्य सम्भावित होता है अतः प्रश्नोत्तर से समानता समझाते हैं—

योगे कोऽतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं द्वयोः।

रागद्वेषाद्यभावश्च तुल्यो योगिविवेकिनोः॥८४॥

(श्लोक ८० में जिसने योग की अनिवार्यता का प्रश्न उठाया उस) तुम्हारे मत में योग में (ज्ञान से) अतिशय (विशेषता) क्या है? दोनों क्रमों में ज्ञान समान है यह तो (श्लोक ८१-८२ में) कह चुके। राग-द्वेष आदि का अभाव भी योगी और विवेकी में समान है।

योग का पक्षधर योग से अपरोक्ष कहे तो सिद्धान्ती विवेक से अपरोक्ष उपपन्न कर चुका है। शब्दापरोक्षवाद वेदान्त-सिद्धान्त में सुप्रसिद्ध है। वेद में अनेक प्रसंग इसके समर्थक हैं,

एवं युक्ति से इसे आचार्यों ने जगह-जगह संगत बनाया है। अनुभव के यह पक्ष निकट भी है क्योंकि अपरोक्ष का शब्द से भी साक्षात्कार लोकसिद्ध है। योगी दूसरी विशेषता कह सकता है कि यम नियमादि सभी अंगों का पालन चित्त में रागादि क्षीण करता है। किंतु यह कार्य ज्ञान भी करता ही है ॥८४॥

विवेक से रागादि की निवृत्ति स्पष्ट करते हैं—

न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः ।

कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रतिकूल्यमपश्यतः ॥८५॥

‘आत्मा अधिक प्रिय है’ जानने वाले का विषयों से प्रेम नहीं होता अतः राग कैसे हो? प्रतिकूलता अनुभव न करने वाले को द्वेष कैसे हो?

विषयों में सुख-बुद्धिवश उनसे प्रेम होने से राग होता है। विवेकी आत्मा में आनन्द जानने से वहीं सारा प्रेम केन्द्रित रखता है, विषयों को सुख समझता नहीं तो उनसे प्रेम ही नहीं कर सकता अतः उनसे राग कैसे हो? आत्मा ही एक सत्य व्यापक तत्त्व है यह जानते हुए उसके अनुसन्धान में सतत संलग्न विवेकी अनात्मा को सोचने योग्य ही न समझने से ‘वह प्रतिकूल है’ यह अनुभव नहीं करता कि उससे द्वेष करे। शरीरादि में आत्मबुद्धि होने पर ही उन्हें प्रतिकूल लगते पदार्थों से द्वेष संभव है। जो विवेकमार्ग पर चल रहा है वह निरन्तर देहादि में आत्मबुद्धि से बचता है अतः किसी के प्रति प्रतिकूल भावना होती ही नहीं कि द्वेष संभव हो। इस तरह ज्ञानसाधना में राग-द्वेष और इनके विभिन्न भेद निरस्त हो जाते हैं अतः यह भी योग की ही विशेषता नहीं कही जा सकती है ॥८५॥

व्यवहारदशा में द्वेष की संभावना भी दोनों क्रमों में समान है—

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि ।

द्वेषं कुर्वन्न योगी चेद् अविवेक्यपि तादृशः ॥८६॥

शरीरादि के लिये जो प्रतिकूल हो उनके प्रति द्वेष (योगी व ज्ञानी) दोनों में बराबर है। द्वेष करता यदि योगी नहीं तो वैसा (अर्थात् द्वेष करता) विवेकी भी नहीं।

व्यवहार अर्थात् व्युत्थान दशा में बिच्छू को प्रतिकूल समझकर योगी भी उससे वैसे ही द्वेष करेगा जैसे विवेकी। स्पष्ट ही दुःखदायी पदार्थों को तुरन्त हटाने की प्रवृत्तिसे उनके प्रति द्वेष प्रकट होता है। योग का पक्षधर यदि ऐसे को योगी न माने तो विवेक-पक्षधर भी व्यवहार में द्वेष करने वाले को विवेकी नहीं, अविवेकी ही मानेगा। वस्तुतस्तु प्रतिकूल की हानि की तीव्र इच्छा द्वेष है। योगी हो या ज्ञानमार्गी, सभी साधक दुःखनिमित्त से बचने का ही प्रयास करते हैं, उनसे द्वेष नहीं। सिनेमा आदि में जैसे अनिष्ट दृश्य देखने से बचने का प्रयास होने पर भी उनसे द्वेष नहीं क्योंकि उनमें सत्यता नहीं मानी जाती, वैसे विवेकी किसी अनात्मा से द्वेष कर नहीं सकता। फिर भी देहस्थिति के लिये प्रतिकूलवारण का प्रयास होगा

ही जो योगी-ज्ञानी में समान है अतः योग में राग-द्वेषराहित्य की विशेषता नहीं कही जा सकती ।। ८६ ।।

विवेकजन्य समाधि और निर्विकल्प समाधि में कोई अंतर नहीं है। जो लोग विवेक की महत्ता को, उसमें लगने वाले परिश्रम को नहीं समझते, उन्हें लौकिक कार्यों में, गड़ढा खोदने में लगता है कि कितनी मेहनत है परन्तु श्रवण, विचार आदि में उन्हें मेहनत नहीं लगती! इसी प्रकार साधकों में जो योग करने वाला है उसे क्रियादृष्टिवश योगाभ्यास में आयास का अतिशय लगता है। जो विचार करता है, उसके बारे में लगता है कि यह कुछ नहीं कर रहा है। ऐसे ही कीर्तन करने वालों को लगता है कि सोचने वाला कुछ नहीं कर रहा। अतः योग के पक्षपाती ने कहा कि विवेक से क्या होगा! उससे पूछा कि योग से क्या होगा? उसने कहा कि योग से अपरोक्ष साक्षात्कार होगा। उत्तर दिया कि यह तो विवेक से ही हो जायेगा। क्योंकि अपना आपा नित्य अपरोक्ष है, इसलिये उसके विषय में जो कहा जायेगा, उसका अपरोक्ष ज्ञान ही होगा। योगी ने कहा कि ज्ञान तो हो जायेगा, परन्तु योगी के राग-द्वेष मिट जायेंगे और विचारक के राग-द्वेष रह जायेंगे। इसके उत्तर में कहा कि विचार करके जिसने समझ लिया कि सिवाय परमात्मा के और कोई प्रियतम नहीं है, उसको जब कोई दूसरी चीज प्रिय लगती ही नहीं, तो विषयों में राग कैसे होगा? द्वेष भी नहीं होगा। यदि कहे कि विचारक राग-द्वेष करते देखे जाते हैं, तो योगी भी देखे ही जाते हैं। जो राग-द्वेष करे वह योगी नहीं तो जो राग-द्वेष करे वह विवेकी भी नहीं। राग-द्वेष तो स्वानुभव-सिद्ध हैं। किसी दूसरे के मन को हम देख नहीं सकते। हम स्थूल शरीर की क्रियाओं से अनुमान करते रहते हैं कि इसके मन में ऐसी वृत्ति होगी। हमारा समझना ठीक भी हो सकता है, गलत भी हो सकता है। किसी की मृत्यु के निमित्त उसके घर जाने पर, जब दुःख होता नहीं है तब भी दुःख प्रकट करना पड़ता है। कोई देखकर तो यही कहेगा, 'इनको दुःख हुआ है', जबकि मन में दुःख नहीं है। अपना मन अपने को छोड़कर और किसी को प्रत्यक्ष है नहीं। योगी की और विवेकी की शरीर की क्रियाओं से कहोगे, लेकिन व्यवहार जैसे योगी का है, वैसे ही ज्ञानी का भी है। जो राग-द्वेष करता है, वह न योगी है न ज्ञानी है। राग-द्वेष कौन करता है, कौन नहीं—इसको आदमी अपने आप ही जानता है। इनकी निवृत्ति जैसी योग से है वैसी ही ज्ञान से है। इस तरह योग और ज्ञान में अपरोक्ष ज्ञान के संदर्भ में फरक नहीं। राग-द्वेष की निवृत्ति में भी फरक नहीं

तीसरा अंतर कहा जाता है कि जब निर्विकल्प समाधि में जाता है, उस समय योगी को द्वैत का भान नहीं रहता, संसार की प्रतीति नहीं रहती, पर विवेकी को हमेशा रहती है। इस पर कहते हैं—

द्वैतस्य प्रतिभानं तु व्यवहारे द्वयोः समम् ।
समाधौ नेति चेत् तद्वद् नाद्वैतत्वविवेकिनः ।। ८७ ।।

व्यवहार-काल में द्वैत-प्रतीति तो दोनों की समान है। यदि कहो कि योगी को समाधि में द्वैतभान नहीं तो उसी तरह अद्वैतता के विवेकी को भी नहीं है।

द्वैत का भान ज्ञानी को विचार करते समय रहता है या व्यवहार करते समय रहता है? जब निरन्तर द्वैत की असत्यता का विचार हो रहा है तब द्वैत का असत्य रूप से भान कहाँ है? अगर कहो कि व्यवहार काल में रहता है, तो उस काल में ज्ञानी और योगी दोनों को द्वैत का प्रतिभान एक जैसा ही रहेगा। योगी भी रोटी खायेगा जब उसे रोटी दीखेगी। अतः योगी हो या ज्ञानी, व्यवहार काल में द्वैत का भान समान है। व्यवहार दशा किसको कहते हैं? व्यवहार का मतलब होता है कुछ-न-कुछ क्रिया करना। एक चीज एक देश-काल में है, उसे वहाँ से दूसरे देश-काल में ले जाना—यही क्रिया है। कुछ-न-कुछ परिवर्तन करना—इसी का नाम व्यवहार है। ज्ञान में और क्रिया में यही अंतर है। ज्ञान में जो चीज जैसी है वैसा जानते हो, ज्ञान से परिवर्तन कुछ नहीं होता। इसलिये भगवान् पद्मपादाचार्य कहते हैं, 'ज्ञानम् अज्ञानस्यैव निवर्तकम्'। (पंच पा. पृ. २७ म.अ.सं.) ज्ञान केवल अज्ञान को नष्ट करता है। क्रिया कुछ-न-कुछ परिवर्तन करती है। व्यवहार का मुख्य मतलब है कुछ-न-कुछ क्रिया करना। क्रिया तभी हो सकती है जब द्वैत का भान होवे। जगत्-प्रतीति में कारण क्या है? प्रारब्ध ही जगत्-प्रतीति में कारण है। प्रारब्ध मायने जो पहले किये तुम्हारे कर्म हैं, उनमें से जिनके विषय में परमेश्वर का संकल्प हो गया 'इस जन्म में यह व्यक्ति ये-ये कर्मफल भोगेगा' वे कर्म प्रारब्ध हैं। सुख-दुःख किसी-न-किसी वस्तु के आश्रय से होगा। प्रारब्ध सुख-दुःख देता है जो किसी चीज के माध्यम से होंगे। जब तक अज्ञान है तब तक तुम्हें आग्रह है कि सुख होवे, दुःख न होवे। तत्त्वज्ञान के बाद शरीर-मन से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। इसलिये अपने योग्य कोई सुख-दुःख रहा नहीं। ईश्वर-संकल्प शरीर-मन से भोग के लिये हो चुका है अतः शरीर-मन के संस्कारों के अनुसार भोग होता रहे, 'मेरा प्रारब्ध भी नहीं अतः 'मुझे' भोग भी नहीं'। परमात्मा इस बात को जानता है कि 'तुम्हारा' प्रारब्ध नहीं है। शरीर-मन से क्रिया तुमने की है, शरीर-मन से ही भोगोगे। परन्तु तुम इस बात को नहीं जानते, इसलिये समझते हो 'मैं भोग रहा हूँ।' सुख-दुःख की वृत्तियाँ मन में उठती हैं, 'ये मेरी हैं'—इसका नाम अध्यास है। जब अविद्या हट गई तब सुख-दुःख उस से सम्बन्धित नहीं रहे, शरीर-मन से उनकी प्रतीति होती रहे। द्वैतभान में कारण प्रारब्ध है। प्रारब्ध योगी का भी है, और ज्ञानी का भी है। इसलिये जिस समय प्रारब्ध को फल देना है, उस समय तुम्हारा शरीर व मन न विचार कर सकेगा, न समाधि लगा सकेगा। योगी होगा तो उसका भी व्युत्थान हो जायेगा। इसलिये प्रारब्ध के कारण होने वाली द्वैत-प्रतीति योगी और ज्ञानी की एक-जैसी है, उसमें कोई अंतर नहीं। योगी को समाधि में द्वैत का भान नहीं रहता। जैसे समाधि के समय उसको नहीं होता, वैसे ही अद्वैत तत्त्व के विवेकी को भी विवेकदशा में द्वैत का भान नहीं रहता। विवेक करता है तो इस निर्णय पर आता है कि द्वैत नहीं है, तथा इस ज्ञान के रहते द्वैत कैसे नजर आयेगा!

ज्ञानी सुनार की तरह है : सुनार के सामने गहने हैं, परन्तु वह उनमें केवल सोना देखता है। सोने के गणेश हों या चूहा, दोनों उसके लिये सोना ही हैं। विवेकी को द्वैत दीखते हुए भी वह उसके असली तत्त्व ब्रह्म को ही देखता है। इस तत्त्व को देखते तो सभी हैं। जो गहना खरीदता है वह भी देख तो सोना रहा है पर ज्यादा कीमत दे रहा है गहने की। खरीददार कीमत देता है नाम-रूप को, आकार को, पर सुनार कीमत देता है सोने को। इसी प्रकार सबको घड़ा दीखता है। पूछें कि 'घड़ा है तो इस 'है' के बारे में बतलाओ।' तुम 'है' की कीमत नहीं देते, घड़े की कीमत देते हो। अतः घड़े का ही बखान करोगे, है के बारे में कुछ कह नहीं सकोगे। यदि 'है' नहीं, घड़ा 'नहीं है' हो, तब उसकी कीमत क्या होगी? शून्य होगी। इसी प्रकार इस सारे जगत् का कारण 'है' ही है। संस्कृत में इसे 'सत्' कहते हैं। शुरू में केवल है। सृष्टि बनने से पहले इसका मूल कारण केवल 'है'। जैसे तुमने रूई से धागा, कपड़ा, कमीज बनायी, इन सारे परिवर्तनों के बावजूद कमीज की वास्तविकता तो रूई ही है, क्योंकि रूई से ही शुरू हुआ है। इसी प्रकार यह सारा संसार 'है' से शुरू हुआ, इसलिये चाहे जितने परिवर्तन हों, सत्य केवल है ही है, असली कीमत है की है।

ज्ञानी जिस समय विचार करता है तब जिसको तुम द्वैत कहते हो, उसकी उसे दृष्टि नहीं रहती। सारे द्वैत के रूप में जो भान हो रहा है वह 'है' ही दीखता है। विवेकी जिसने वेदान्त-विचार करके योगाभ्यास किया है, उसके लिये तो विचार और समाधि एक जैसी स्थिति है, पर जिसने इसके बिना पातंजल योग से निर्विकल्प समाधि प्राप्त की है, उसकी व्यवहार-काल में भेदबुद्धि बनेगी ही क्योंकि उसका संस्कार द्वैत-सत्यत्व का है। समाधि-काल में तो उसका द्रष्टा-रूप से अवस्थान है परन्तु व्यवहारकाल में उसकी द्वैत-बुद्धि नहीं हटती। जो विवेकी है, उसको जैसे विचारकाल में वैसे ही व्यवहारकाल के अंदर भी हर क्षण बाधित होता हुआ द्वैत दीखने से सद्-बुद्धि बनी रहती है। जैसे सुनार एक क्षण गहना देखता है, अगले क्षण सोना देखने लगता है, इसी प्रकार विवेकी को व्यवहार काल में भी अद्वैत-प्रतीति होती रहती है। इसलिये जिसने अद्वितीय तत्त्व का विवेक किया है, उसको भी द्वैत का भान नहीं रहता है। इस तरह श्लोक ८४ में जो योग की विशेषता पूछी थी उसका विस्तार पूरा हुआ और विवेक से योग में कोई विशेषता नहीं है यह सिद्ध हुआ ॥८७॥

वैचारिक समाधि में द्वैतभान का राहिल्य 'अद्वैतानन्द' प्रकरण में स्पष्ट करेंगे यह सूचित करते हैं—

विवक्ष्यते तदस्माभिरद्वैतानन्दनामके ।

अध्याये हि तृतीयेऽतः सर्वमप्यतिमङ्गलम् ॥८८॥

पूर्वोक्त तथ्य 'अद्वैतानन्द' नामक तीसरे अध्याय में हम बतायेंगे। इस तरह सभी अत्यन्त मंगल है।

विवेककाल में द्वैत का अभाव अगले प्रकरण 'अद्वैतानन्द' में विस्तार से कहेंगे। 'ब्रह्मानन्द' नामक पंचप्रकरणी में वह तीसरा एवं पंचदशी में तेरहवाँ प्रकरण है। विचार वाले को द्वैत की कैसे प्रतीति नहीं होती है यह विस्तार से बतायेंगे। आधार यही है कि कारण से कार्य भिन्न नहीं हुआ करता। कारण में ही कार्य की प्रतीति होती है, सत्य तो कारण ही बना रहता है। गहने को गला कर सोना देखना—यह योगी की प्रक्रिया है। गहना बना रहे और सोने की दृष्टि रखना—यह विवेकी का तरीका है। ज्ञान केवल अज्ञान को हटाता है। कारण में कार्य की प्रतीति अज्ञान से है। सारे संसार को विचार करके देखो, तो रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श के सिवाय संसार कुछ नहीं है। अतः पहले सब चीजों को इन पाँच में लय करो। शब्दों में अंतर नहीं है; जैसा 'डोसा' शब्द वैसा ही 'साडो' भी शब्द है चाहे किसी भाषा में गाली हो। यह बार-बार दृढ़ विचार करना पड़ता है। जब संसार के सारे अनुभवों को तुम रूप-रस-गन्ध आदि में बदलने लग जाओ तब गन्ध को रस में लीन करो, रस को रूप में, रूप को स्पर्श में और स्पर्श को शब्द में लीन करो। सभी शब्दों को ॐ में लीन करो। अ-उ-म् ये ओंकार के घटक हैं। अ-का स्थान कण्ठ है, उ-का ओष्ठ है और म् बोलने में नासिका का प्रयोग है। इन्हीं स्थानों से कोई भी शब्द बोला जाता है अतः ॐ में सभी शब्दों का अन्तर्भाव है। यह परमात्मा का साक्षात् प्रतीक है। इस प्रकार लय करने से विवेकी को द्वैत की प्रतीति नहीं रहती। इसको विस्तार से अगले अध्याय में बतलायेंगे। जो इस प्रक्रिया को जान लेता है, उसके लिये सब कुछ मंगलरूप ही हो जाता है। विवेकी के लिये यह सब मंगलरूप है। ॥८८॥

इस तरह विवेक-योग के अभेद में उपसंहार करते हैं—

सदा पश्यन् निजानन्दम् अपश्यन्निखिलं जगत् ।

अर्थाद् योगीति चेत् तर्हि सन्तुष्टो वर्धतां भवान् ॥८९॥

सदा निजानन्द देखते हुए, सारे संसार को न देखते हुए (रहने वाला विवेकी भी) अर्थात् योगी ही है—यदि ऐसा समझो तो सन्तुष्ट रहकर उत्तरोत्तर प्रगति करो।

यह जो सारा फैलाव, ब्रह्मलोक से पाताललोक तक का है, इस निखिल जगत् को विवेकी केवल आत्मरूप ही देखता है। जितने फर्क हैं, ये उसे नहीं दीखते। सोने की चाहे पूज्य मूर्ति हो चाहे गन्दी जगह का सोना हो, सोना तो समान है। मनु ने लिखा है कि यदि गन्दी जगह पर भी सोना पड़ा हो तो भी उसको धोकर काम में ले सकते हैं, सोना कभी अशुद्ध नहीं होता। इसी प्रकार जिसे हम घृणित समझते थे, और जिसे महापूज्य समझते थे, ब्रह्मदृष्टि होने पर दोनों में कोई अंतर नजर नहीं आता। जगत् शब्द का अर्थ है जहाँ सब चीजें बदलती रहती हैं। ज्ञानी जिसे देखता है, वह नहीं बदलने वाला है। 'है' में फर्क आता नहीं। माया के बदलने वाले सारे कार्यों में वह तो केवल अधिष्ठानमात्र को ग्रहण करता है।

[प्र. १२ श्लो. १०]

ब्रह्मानन्द में आत्मानन्द प्रकरण १३६९

अधिष्ठान है निजानन्द। आनन्द ही ब्रह्मरूप है। इसलिये ज्ञानी निरंतर आनन्द में ही मग्न रहता है कि जो मेरा आनन्दस्वरूप है, वही भ्रम से इन चीजों के रूप में दीख रहा है। वह विषयानन्द नहीं है, निजानन्द है। सब अनुभवों के अंदर वह केवल अपने आत्मानन्द को देखता है, इस नाम-रूपात्मक बदलने वाले जगत् को नहीं देखता। सदा साक्षिरूप में स्थित होने से उसे संसार नहीं दीखता और परमात्मा दीखता है। योगी कहेगा कि यही तो निर्विकल्प समाधि हुई, इसमें विकल्प तो रहा नहीं तो फिर ज्ञानी भी योगी ही हो गया! इस पर वेदान्ती ने कहा, 'तो तुम उसे योगी ही कह दो।' योगी विवेकमात्र से मोक्षलाभ नहीं समझ पा रहा था, उसे योग का उपयोग आवश्यक लग रहा था। सिद्धान्ती ने समझाया कि विवेक का ही परिपाक उसके समकक्ष हो जाता है जिसे योगी समाधि समझता है। योग या ज्ञान इस नामभेद से अंतर नहीं, मोक्ष के लिये ज्ञान ही पर्याप्त है यह स्थिति है। ऐसा समझदार साधक ज्ञानाभ्यास करके उन्नत होता रहे ऐसा आशीर्वाद दिया तथा सूचित किया कि योगी को सिद्धान्ती का मत मान्य हो गया ॥८६॥

अध्याय का परिसमापन करते हैं—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे मन्दानुग्रहसिद्धये।

द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानन्दो विवेचितः ॥८७॥

॥ इति श्रीपञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दो नाम द्वादशं प्रकरण समाप्तम् ॥

ब्रह्मानन्द नामक पंचाध्यायात्मक ग्रंथ में मन्दमति साधकों पर अनुग्रह करने के लिये इस दूसरे अध्याय में आत्मानन्द का विवेचन किया गया।

यह पाँच प्रकरणों वाला 'ब्रह्मानन्द' नाम का अंश किसके लिये बनाया है? जो योगाभ्यास करने में असमर्थ हैं, उनके ऊपर कृपा कर यह ग्रंथकार ने बतलाया है। इसमें, विवेक करके आत्मा ही आनन्दरूप है—यह मैत्रेयी आदि के संवाद से सुनाया। मंदप्रज्ञ जिज्ञासु को इस आत्मानन्द प्रकरण से प्रबोधन कराया है। समाधि की तरह विवेक से ब्रह्मानन्द का स्फुरण युक्तियुक्त है। समाधि में जगत्प्रतीति न रहते जैसे ब्रह्मानन्द भासता है, विवेकी के लिये जगत् सत्य न प्रतीत होने से वैसे ही ब्रह्मानन्द भासता है। सत्यरूप से जगद्भान आनन्द को नहीं प्रकट होने देता, मिथ्यारूप से भान रुकावट नहीं डालता। जैसे व्यक्ति-सा दीखता भी चित्र व्यक्ति नहीं समझा जाता वैसे सत्य-सा दीखता भी प्रपंच विवेकी द्वारा सत्य नहीं समझा जाता। अतः उसे प्रपंच की वास्तविक ब्रह्मरूपता भासती रहती है जिससे अद्वितीय आनन्द स्थिर रहता है। योगी को प्रपंच के अभाव में विशेषता इसलिये लगती है कि वह प्रपंच सत्य समझता है। मिथ्या जानने वाले के लिये भाव-अभाव दोनों समान हैं। यदि भाव से सद्वितीयता हो तो अभाव से भी होगी। विवेकी जानता है कि 'घड़ा है' भी एक अनुभव, 'घड़ा नहीं है' यह भी एक अनुभव, इन्हीं के भरोसे हम घड़े को है या

नहीं है मान बैठते हैं। आधार केवल हमारा अनुभव है। उससे निरपेक्ष घड़े की चर्चा ही व्यर्थ है। जो स्वयं न होकर अन्य पर, अनुभव पर निर्भर है वह सत्य हो नहीं सकता। अतः जगत् मिथ्या ही है। जैसे मिथ्या साँप रस्सी को सद्वितीय नहीं बनाता वैसे उसका अभाव नहीं बनाता। इसलिये प्रपंच की अप्रतीति का आग्रह निष्प्रयोजन होने से विवेकाभ्यासी प्रतीयमान का निरन्तर बाध करता रहकर आत्मानन्द का अनुभव करे, यह इस प्रकरण का उपदेश है॥६०॥

इस प्रकार यह बारहवाँ प्रकरण समाप्त हुआ

तेरहवाँ

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण

योगानन्द प्रकरण में (११.११) ब्रह्मानन्द, विद्यानन्द और विषयानन्द इन तीन आनन्दों की प्रतिज्ञा की थी। आत्मानन्द वहाँ नहीं कहा तो क्रम में उसे स्थान कैसे मिला? इस शंका का समाधान करते हुए प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

योगानन्दः पुरोक्तो यः स आत्मानन्द इष्यताम् ।

कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्व्यस्येति चेच्छृणु ॥११॥

पहले जो योगानन्द कहा वह आत्मानन्द समझो। इस सद्वितीय की ब्रह्मरूपता कैसे? यह प्रश्न हो तो (उत्तर) सुनो।

प्रारम्भ में कहे तीन आनन्दों में ब्रह्मानन्द का ही विस्तार योगानन्द, आत्मानन्द और अद्वैतानन्द के रूप में किया है अतः उपक्रम से विरोध नहीं है। चित्त की एकाग्रता से एवं विवेक की तीव्रता से ब्रह्मानन्द ही प्राप्त किया जाता है। योगानन्द और आत्मानन्द वस्तु अलग नहीं हैं, उसी आनन्द को पाने के उपायों के भेद से वर्णन का भेद, नाम का भेद है। आनन्द एक ही है, एकाग्रता और विवेक इन दो उपायों से वह पाया जाता है। फिर भी प्रश्न उठता है कि विवेक है भेदबुद्धि, उससे लभ्य ज्ञान में, समाधि में भी भेद रहना चाहिये, वहाँ अद्वैत कैसे होगा? योगी को लगता है कि द्वैतभान मिटाने से तो अद्वैत संगत है, द्वैत प्रतीत रहते कैसे? इस प्रश्न का उत्तर तेरहवें प्रकरण में देना है ॥११॥

आनन्द की अद्वितीयता श्रुतिसिद्ध है यह प्रतिपादन करते हैं—

आकाशादि स्वदेहान्तं तैत्तिरीयश्रुतीरितम् ।

जगद् नाऽस्त्यन्यद् आनन्दाद् अद्वैतब्रह्मता ततः ॥१२॥

आकाश से लेकर अपने शरीर तक सारा जगत् आनन्द से अन्य नहीं है यह तैत्तिरीय उपनिषत् में बताया गया है। इसलिये आत्मरूप आनन्द अद्वितीय ब्रह्म ही है।

एक कथा प्रसिद्ध है। रूई लदे ऊँटों का काफिला गाँव से गुजर रहा था। कोई लड़का ऊँट गिनने लगा। बहुत ऊँट देखकर उसके मन में आया 'इतनी रूई कौन धुनेगा, कौन कातेगा, कौन बुनेगा?' यह विचार इतना तीव्र हुआ कि वह लगातार यही चिन्ता करने लगा

एवं जो-कोई मिले उससे यही रटने से लोगों ने सोचा कोई बीमारी होगी, पागल हुआ होगा अतः काफी इलाज कराया पर कुछ लाभ नहीं हुआ। एक बार उधर कोई अनुभवी परमहंस महात्मा पहुँचे। लोगों ने उन्हें उसकी समस्या सुनायी। सारा किस्सा समझकर उन्होंने लड़के को बुलवाया। पूछा 'कितने ऊँट गिने?' उसने जवाब दिया, 'लाखों!' महात्मा बोले, 'इससे भी अधिक थे।' लड़के की उत्तेजना और बढ़ गयी। महात्मा ने कहा 'सब की रूई उतार कर रखी तो हिमालय जैसा पहाड़ बन गया।' लड़के ने चिन्ता के मारे पूछा 'फिर क्या हुआ?' महात्मा बोले, 'मैं भी सोचता रहा कि इतनी रूई कैसे सँभलेगी। ऊँट वाले वहाँ बैठकर चिलम पी रहे थे। अचानक एक चिंगारी रूई में लगी और धू-धू कर क्षणभर में सारी ही रूई जल गई, राख का अम्बार लग गया। इतनी आग जली कि आसमान में बादल छा गये और ऐसी बरसात हुई कि सारी राख भी बह गयी, कहीं कुछ नहीं बचा।' वह लड़का शांत हो गया, कहा 'बहुत अच्छा हुआ, चिन्ता मिटी।'

इसी प्रकार से संसारी लोग पागल हो रहे हैं। 'यह बेटा है, मकान है, इसका ब्याह होना है' आदि आदि। 'कैसे होगा, कौन करेगा?'—सब कातने-बुनने में लगे हैं, चिन्ता में पड़े हैं। कहते हैं 'महाराज! आप को क्या पता, आप तो बाबाजी हैं!' चिन्ता छुड़ाने के लिये श्रुति ने कहा, 'आकाश बना।' वह बना तो है नहीं! 'आकाश से वायु बनी। अनेक ब्रह्मा के युग बीते। संसार इस प्रकार से चला आ रहा है।' इस प्रकार हमारे पागलपन के अनुसार सृष्टि का विस्तार बताते हुए वेद ने कहा, 'सृष्टि बनने से पूर्व सद् ब्रह्म अकेला था। दूसरा कोई नहीं था। इसलिये 'दूसरा' यों प्रतीत होता प्रपंच हुआ ही नहीं है।' इस तरह वेद उस संसार को जला डालता है जिसकी चिन्ता में हम पागल हो रहे हैं। 'संसार है ही नहीं' यही समझाने के लिये 'सब कुछ एक ब्रह्म से बना' यह बतलाना जरूरी है। इसलिये यजुर्वेद की तैत्तिरीय श्रुति में कहा कि ब्रह्म से ये पंच-महाभूत बने। उनसे पंचकोष बने। वास्तविकता है कि यह सारा जगत् है ही नहीं, अगर होता तो सद्वितीयता आती।

जैसे सुना कि रूई जल गई तो चिन्ता समाप्त हुई, इसी प्रकार 'यह जगत् है ही नहीं' समझने से सारी चिन्ता खत्म हो जाती है। सचमुच एकमात्र अद्वितीय आनंदरूप ब्रह्म है क्योंकि आनंदरूप ब्रह्म से अलग कुछ नहीं है, इसलिये विवेक करने वाले के लिये एकमात्र अद्वैत ब्रह्म ही बचता है। जैसे योगज समाधि में जगत् नहीं है, वैसे ही विवेकज समाधि में चित्त को हटाये बिना भी जगत् नहीं है। इसी को कबीर कहते हैं, 'आँख न मूँदूँ, कान न रूँदूँ, हँस-हँस रूप निहारूँ'। कारण स्थायी होता है, कार्य आगमापायी होता है अतः औपाधिक है। विवेक से स्थायी, अनुगत कारण को विचारपूर्वक ग्रहण करने से तथा औपाधिक समेत उपाधि को असत्य समझने से ही यह जगद्भ्रम दूर होकर अद्वैत आत्मानन्द भासता है। ॥२॥

तैत्तिरीय-प्रसंग में 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' कहा होने से 'आनन्द से अन्य जगत् नहीं' यह कैसे मानें? इसका उत्तर देते हैं—

[प्र. १३ श्लो. ४]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १३७३

आनन्दाद् एव तज्जातं तिष्ठत्यानन्द एव तत् ।

आनन्द एव लीनं चेत्युक्ताऽऽनन्दात् कथं पृथक् ।।३।।

वह जगत् आनन्द से ही उत्पन्न होता है, आनन्द से ही रहता है, आनन्द में ही लीन होता है—इस प्रकार बताये आनन्द से जगत् पृथक् कैसे रहे?

श्रुतियों में उपक्रम-उपसंहार की एक-वाक्यता से अभिप्राय पता चलता है। जन्मादि-अधिकरण में भगवान् भाष्यकार ने इसलिये 'यतो वा इमानि' से शुरू हुए प्रसंग का सम्बन्ध बताया 'तस्य च निर्णयवाक्यम् आनन्दाद्।' तैत्तिरीयोपनिषत् की दूसरी वल्ली में शुरू किया प्रसंग तीसरी वल्ली में भी चला है। वरुण से भृगु ने ब्रह्मज्ञान माँगा तो वरुण ने एक सूत्र बताया—जिससे सब भूत पैदा होते हैं, जहाँ रहते और विलीन होते हैं वह ब्रह्म है। उसे ब्रह्म समझने के लिये तप को साधन बताया और कुछ स्थलों का संकेत किया जहाँ ब्रह्म समझ आये—अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाक्। भृगु ने पहले तपस्यापूर्वक अन्न को ब्रह्म समझा। वरुण ने और तपस्या करने को कहा। यों प्राण, मन और विज्ञान को ब्रह्म जानकर अंत में पता चला कि आनन्द ब्रह्म है। इसे 'भार्गवी वारुणी विद्या' कहा गया है। सूत्र—जिसे हिन्दी में 'गुर' कहते हैं—से सार्वत्रिक बोध हो जाता है। गणित में यह नियम-पालन किया ही जाता है। वरुण ने ब्रह्म खोजने का सूत्र जन्मादि-कारणता बताया एवं उपाय तप बताया। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता परम तप है। एकाग्रतापूर्वक विचार ही ब्रह्मज्ञान में उपयोगी तपस्या है। इससे भृगु ने ब्रह्म को आनन्द समझा। दूसरी वल्ली में ब्रह्म को आत्मा कहा, उससे संसारोत्पत्ति बतायी; तीसरी में संसारोत्पादक को ब्रह्म एवं आनन्दस्वरूप कहा। इस प्रकार चाहे आत्मा से जगदुत्पत्ति कहें, चाहे ब्रह्म से और चाहे आनन्द से, बात एक ही है। जैसे रूई से बना कपड़ा रूईरूप है वैसे आनन्द से बना जगत् आनन्दरूप है। कार्य कारण से अलग नहीं होता। इसलिये जगत् में आनन्द के सिवाय कुछ है ही नहीं।।३।।

आनन्दरूप ब्रह्म की कारणता अधूरी समझकर स्वाभाविक शंका बताकर उसका समाधान करते हैं—

कुलालाद् घट उत्पन्नो भिन्नश्चेति न शङ्क्यताम् ।

मृद्वद् एष उपादानं निमित्तं न कुलालवत् ।।४।।

यह शंका न की जाये कि कुम्हार से घड़ा पैदा होता है पर उससे भिन्न ही होता है (तो कार्य-कारण के अभेद का नियम कैसे?) क्योंकि यह आनन्द मिट्टी की तरह उपादान (भी) है, कुम्हार की तरह (केवल) निमित्त नहीं।

कुम्हार से घड़ा पैदा होता है। यहाँ हेतुसामान्य में पंचमी है। संसार में वेदान्ती को छोड़कर सब ईश्वरवादी, ईश्वर को निमित्त कारण ही मानते हैं। इसका विस्तृत विचार ब्रह्मसूत्रों में किया है। प्रायः ईश्वरवादी मानते हैं कि परमेश्वर ने जगत् को बनाया जैसे कुम्हार घड़े को बनाता है। कुम्हार तो घड़ा नहीं है। इसी तरह परमेश्वर ने जगत् को बनाया

तो जगत् और परमेश्वर अलग हैं। वे ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही मान पाते हैं। वेद का घोष है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। सब परमात्मा ही है। खलु मायने निश्चयरूप से क्योंकि वह जगत् का उपादान भी है इसीलिये सभी कुछ को, स्वयं हम अपने आपको भी ब्रह्मरूप समझ सकते हैं। यह हमारे यहाँ ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं। प्रायः वादी समझते हैं कि जैसे कुम्हार ने घड़ा बनाया वैसे परमात्मा ने दुनिया बनायी। अतः परमात्मा और संसार अलग-अलग हैं। वेदान्त-सिद्धान्त में आत्मा उपादान कारण भी है। जैसे घड़े का उपादान कारण है मृत्; मिट्टी से घड़ा बनता है, कुम्हार से नहीं बनता।

मिट्टी की तरह परमात्मा जगत् का उपादान कारण है और चेतन होने से निमित्त कारण भी है। 'कुलालवत् निमित्तं न'। कुम्हार की तरह निमित्त कारण नहीं है। कुम्हार स्वयं से भिन्न किसी दूसरी मिट्टी को लेकर घड़ा बनाता है। परमात्मा अभिन्न निमित्त-उपादान कारण है, कुम्हार की तरह सिर्फ निमित्त कारण नहीं है जो किसी अन्य से जगत् बनाये। इसलिये श्रुति ने दृष्टान्त दिया कि जैसे मकड़ी किसी दूसरी चीज से जाला नहीं बनाती, अपने से ही जाला बनाती है; जैसे हम नाखून और बाल को पैदा करते हैं जिसमें सामग्री भी हम ही हैं और बनाने वाले भी हम ही हैं; ऐसे परमात्मा अभिन्न निमित्त-उपादान कारण है। चूँकि वह उपादान कारण है अतः कार्य में हमेशा मिलेगा। कार्य उपादान कारण में ही रहेगा, घड़ा मिट्टी में ही रहेगा एवं अंत में भी मिट्टी ही हो जायेगा। इस प्रकार कार्य अपने उपादान से भिन्न नहीं यह नियम है अतः आनंद अद्वितीय है। ॥४॥

कोई शंका करे कि घड़े को क्यों नहीं मान लेते कुम्हार का कार्य? तो समाधान देते हैं—

स्थितिर्लयश्च कुम्भस्य कुलाले स्तो न हि क्वचित्।

दृष्टौ तौ मृदि तद्वत् स्याद् उपादानं तयोः श्रुतेः। ॥५॥

घड़े की स्थिति और उसका लय कुम्हार में कभी नहीं होते, वे मिट्टी में होते ही देखे गये हैं। इसी तरह श्रुतिप्रमाण से जगत् के स्थिति-लय का उपादान आनन्द ही है।

उत्पत्ति के लिये तो कुम्हार भी और मिट्टी भी चाहिये। मिट्टी उपादान तथा कुम्हार निमित्त कारण है। दोनों से घड़ा बनेगा। बनने के काल में तो दोनों चाहिये परन्तु स्थितिकाल में मिट्टी की तो जरूरत है, कुम्हार की नहीं। स्थितिकाल में उपादान कारण जरूरी है, निमित्त नहीं, कुम्हार के न होने पर भी घड़ा रहेगा। इसी तरह से कुम्हार में घड़ा वापिस नहीं जाता! घड़े को तुम लीन, नष्ट कर दो तो वह कुम्हार के पास नहीं जाता, वरन् मिट्टी में जरूर जायेगा। घड़े के स्थिति और लय, कहीं भी कुलाल में नहीं देखे जाते। स्थिति और लय दोनों मिट्टी में देखे जाते हैं। उपादान उत्पत्ति, स्थिति और लय तीनों में जरूरी है। संसार में कोई चीज दीखती है, तो है-रूप से ही उसका अनुभव होता है। इसलिये स्थितिकाल में है तो प्रत्यक्ष ही अनुगत है। जब चीज को नष्ट कर देते हो तो भी 'है' रहता ही है। इस तरह तो स्थिति और लय में है। संसार की उत्पत्ति सत् से—यह श्रुति से प्रमाणित है। स्थिति-लय

भी ब्रह्म से है यह श्रुतिप्रमाणित है ही, स्वानुभव से उपोद्बलित भी है। उत्पत्ति भी सत् से होना अनुभवानुसारी है। सद्रूप मिट्टी से ही घड़ा बनता है, किसी असत् (नहीं है) से कुछ बनता दीखता नहीं। अतः सत् ही जन्म-स्थिति-भंग में समान कारण होने से उपादान निर्णीत होता है।

जगत् बनाता है, जगद्रूप से रहता है, अंत में अपने में उसे लीन भी करता है—यह परमेश्वर के बारे में वेद ने समझाया है। केवल उत्पत्ति-कारण कहा होता तो शंका संभव भी थी कि निमित्त होगा। पर श्रुति ने कहा कि परमात्मा वह है जो जगत् को बनाता है, जगद्रूप में रहता है, और अंत में जगत् को अपने में विलीन करता है। इन तीनों को करने वाले अलग-अलग परमात्मा नहीं हैं। वैष्णव मानते हैं कि विष्णु भगवान् पालन करते हैं, शंकर तो संसार का संहार करने वाले हैं। यदि संहार करने वाला कोई और है तो विष्णु परमात्मा ही नहीं! परमात्मा वह है जो जगत् को पैदा करता है, रखता है और लीन भी करता है। इस तरह, जगत् का उपादान कारण परमात्मा ही है। ॥५॥

आनन्द जगत्कारण है यह समझाने के लिये उपादान के प्रसिद्ध भेद दिखाते हैं—

उपादानं त्रिधा भिन्नं विवर्ति परिणामि च।

आरम्भकं च तत्रान्त्यौ न निरंशोऽवकाशकौ। ॥६॥

उपादान तीन तरह से विभिन्न प्रसिद्ध है— (१) विवर्ती, (२) परिणामी और (३) आरम्भक। इनमें आखिरी दो निरंश वस्तु में संभव नहीं।

जो चीज कार्यरूप से बनती है उसे उपादान कहते हैं। रुई कपड़ा बनने पर रुई नहीं कही जाती। ऐसे यदि परमात्मा से जगत् बना तो क्या फिर परमात्मा नहीं रहा! संभवतः इसी भाव से 'नीत्सो' नामक यूरोपीय दार्शनिक ने कहा है 'क्या तुमने आज की ताजा खबर सुनी? ईश्वर मर गया!' कपड़ा बन गया तो रुई जैसे समाप्त वैसे संसार बन गया तो ईश्वर समाप्त हो जाना चाहिये। यद्यपि परिणामवादी या आरंभवादी यों कहेंगे नहीं तथापि उनका व्यवहार ऐसा ही है क्योंकि दही-दशा में 'दूध' ऐसा व्यवहार वे नहीं मानते। कार्य अपने कारण में छिपा रहता है, निमित्त-व्यापार से वह प्रकट ही किया जाता है, अभिनव कोई रचना नहीं होती—ऐसा परिणामवादी का मानना है। अवयवभूत कारण मिलने से अभिनव कार्य उत्पन्न होता है यह आरंभवादी मानते हैं। इनके मत में कार्य पहले से छिपा नहीं वरन् नया ही पैदा होता है। इतना इनके मतों में अन्तर है पर कार्य रहता व नष्ट कारण में ही होता है यह इन्हें स्वीकार है फिर भी कारण ही है, कार्य है नहीं—यह रहस्य इन्हें समझ नहीं आता। परमात्मा अंशरहित निर्विकार पूर्ण वस्तु है अतः परिणाम या आरंभ की दृष्टि से वह उपादान नहीं हो सकता।

तीसरा तरीका है विवर्तका जिसमें बगैर बदले कारण कार्य के रूप में प्रतीत, व्यवहार्य होता है। रस्सी से साँप बनता है तो रस्सीरूप छोड़कर साँप नहीं बनता या जैसे कागज बना रहता है, उसके ऊपर राम, लक्ष्मण, सीता 'बन' गये तब भी कागज ही रहा, केवल रंगों के

कारण राम, सीता दीखने लग गये। रस्सी बनी रही, अंधकार में साँप दीख गया। जो लोग विवर्त-कारणता को नहीं समझते उन्हें परमेश्वर की सर्वरूपता खटकती है। विवेकानन्दजी ने रामकृष्ण से बार-बार पूछा कि संसार की अच्छी-बुरी, जड-चेतन सब चीजें कैसे ब्रह्म हो सकता है! रामकृष्ण ने कहा 'धीरे-धीरे समझ में आयेगा।' जैसे रस्सी रहते हुए ही साँप है ऐसे परमात्मा ही है, फिर भी हमें अच्छा-बुरा आतंकी-शान्त दीखते हैं, हमारे अज्ञान के कारण। इस तरह परमात्मा जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय तीनों का कारण है। जो चाहते हैं कि परमात्मा रक्षा करने वाला ही है, संहार करने वाला नहीं होना चाहिये, वे लोग समझते हैं कि रक्षा करना सचमुच में अच्छा है! सृष्टि, स्थिति और संहार सचमुच में होते तो अच्छे-बुरे का प्रसंग होता। जैसे रस्सी में साँप वैसे माला भी दीखती है पर इससे रस्सी में कोई विशेषता या कमी नहीं आती। इसी प्रकार जब परमात्मा आतंकी या महात्मा दीखता है तब भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। दोनों ही अज्ञान के कारण दीख रहे हैं, है तो परमात्मा ही सत्य। ब्रह्म को उपादान कारण कहते हैं, तो इस दृष्टि से। सृष्टि, स्थिति, लय तीनों कालों में हो—वह उपादान कारण है।

'त्रिधा' से गिनती कर तीन का उल्लेख किया इससे सूचित है कि इनसे अतिरिक्त कारणवाद असम्भावित है। जैसे भगवान् ने 'त्रिविध' से गिनती कही और काम-क्रोध-लोभ ये तीन गिनाये भी तो मतलब है कि नरक का अन्य द्वार नहीं है वैसे यहाँ अन्य तरह से कारणता के निषेध को समझना चाहिये। बौद्धों की चौथी कल्पना है—संघातवाद। संघात मायने ढेरी, कई चीजें इकट्ठी हो जाना। वे मानते हैं कि किसी तरह की ढेरी को घड़ा और अन्य तरह की ढेरी को सिकोरा कहते-समझते हैं, ढेरिरूप में मिट्टी के अलावा कारण नहीं है। किंतु जैसे चणे की ढेरी किसी के प्रति कारण नहीं वैसे कोई ढेरी कारण नहीं हो सकती। संघातवाद विचार के सर्वथा अयोग्य होने से 'त्रिधा' कहना संगत है। अतिस्थूल दृष्टि से संघातवाद का उल्लेख है, विवेक से नहीं। ॥६॥

तिल में एक हिस्सा तेल, दूध में एक हिस्सा घी है तभी उससे निकलता है यह मानने वाला परिणामवादी—हिस्सायुक्त वस्तु को ही कारण कहेगा। आरंभवादी को अवयवों का संयोग स्वीकार है जिससे कार्य उत्पन्न हो; संयोग भी हिस्सायुक्तों में ही देखा गया है। निरंश में संयोग केवल काल्पनिक है, हठात् ही मान्य है। परमेश्वर निरंश है, उसमें हिस्से हैं नहीं अतः उक्त दोनों तरीकों से वह कारण नहीं बन सकता। और भी तरह से समझाते हैं कि क्यों उक्त दोनों तरीके ब्रह्मकारणता समझने में उपयोगी नहीं—

आरम्भवादिनोऽन्यस्माद् अन्यस्योत्पत्तिमूचिरे ।

तन्तोः पटस्य निष्पत्तेर्भिन्नौ तन्तुपटौ खलु ॥७॥

आरम्भवादी कहते हैं कि अन्य से अन्य की उत्पत्ति होती है क्योंकि धागों से कपड़ा उत्पन्न होता है और निश्चित ही धागा-कपड़ा विभिन्न हैं।

आरम्भवाद का सिद्धान्त नैयायिक और वैशेषिक का है। गौतम और कणाद महर्षि आरम्भवादी हैं। संसार में केवल वेदान्ती को छोड़कर सभी आरम्भवाद या परिणामवाद में से एक को मानते हैं। जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण वे परमात्मा को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार कार्य-कारण आपस में सर्वथा अलग हैं, धागा, कपड़ा नहीं तथा कपड़ा धागा नहीं। जब तक 'कारण' व्यवहार है तब तक कार्य है ही नहीं अतः कार्य से सर्वथा अन्य ही कारण होगा जो अपने से सर्वथा भिन्न कार्य को उत्पन्न करेगा। 'अन्यस्मात्' अर्थात् कार्य से अन्य जो कारण उससे 'अन्यस्य' अर्थात् कारण से अन्य जो कार्य उसका जन्म होता है। इसमें धागा-कपड़ा आदि लोकसिद्ध उदाहरण उन्हें सुलभ हैं। यद्यपि इस मत में स्फुट अनेक दोष हैं तथापि साधारण दृष्टि से, जो नहीं है वही पैदा होगा—यह संगत लगता है तथा कपड़ा-धागा में भेद भी सुगम लगता है अतः तार्किकों को यह मत रुचिकर है। किंतु परमात्मा अद्वितीय वस्तु होने से वह आरंभक नहीं। तार्किक के अनुसार 'अन्य से ही अन्य का जन्म' संभव है, ब्रह्म अनन्य है अतः उससे किसी का जन्म आरंभरीति से नहीं होगा। इसलिये ब्रह्मकारणवाद में आरंभदृष्टि व्यर्थ है ॥७॥

परिणाम का स्वरूप बताते हैं ताकि वह भी ब्रह्म-प्रसंग के लिये उपयोगी नहीं यह स्पष्ट हो—

अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य

परिणामिता ।

स्यात् क्षीरं दधि मृत् कुम्भः सुवर्णं कुण्डलं यथा ॥८॥

एक ही वस्तु पहली अवस्था छोड़कर अन्य अवस्था ग्रहण करे—इसका नाम है परिणाम वाला, बदलने वाला होना। जैसे—दूध दही होता है, मिट्टी घड़ा होती है, सोना कुण्डल होता है।

कपिल, पतंजलि आदि परिणामवादी हैं। कार्य से कारण सर्वथा तो अलग वे नहीं मानते लेकिन कारण की अवस्था का अलग होना उन्हें स्वीकार है। कारण की बदली अवस्था कार्य है। दूध की ही अलग अवस्था दही, मिट्टी की अलग अवस्था घड़ा, सोने की अलग अवस्था गहना है। अवस्थान्तरण क्या हुआ? पहली अवस्था में वस्तु से जो व्यवहार कर सकते थे, वह अब दूसरी अवस्था वाली वस्तु से नहीं कर सकते। दूध से खीर बनाने का व्यवहार हो सकता था पर दही से खीर नहीं बन सकती। आरंभ दृष्टि से यह दृष्टि कुछ सूक्ष्म है। बहुत से आचार्य परिणामवाद स्वीकार कर लेते हैं। इसमें कारणभूत वस्तु बनी रहती है, उसकी अवस्था दूसरी हो जाती है। इसके अनुसार संभावना है कि परमात्मा बना रहता है, उसकी अवस्थान्तर हो जाती है जगत्। अन्य रूप से प्रतीत होना अवस्थान्तर है। किंतु फिर उसमें अब 'परमात्मा' व्यवहार की योग्यता नहीं रहेगी! आतंकवादी से यह व्यवहार नहीं कर सकते कि वह परमात्मा है तो उसकी बात मान लो। परिणामवाद और विवर्तवाद में अन्तर है। वेदों में कारण समझाने के प्रायः जो दृष्टांत हैं वे परिणामवाद के भी अनुकूल पड़ जाते हैं।

परिणामवादियों का कहना है कि परमात्मा ने जगत् उत्पन्न किया। यह अमान्य है क्योंकि परमात्मा अपरिणामी है, बदलना उस का स्वभाव नहीं है। यदि वह परिणत होकर जगत् बने तो जैसे दही बने में 'दूध' इस व्यवहार की योग्यता नहीं वैसे उसमें अब 'परमात्मा' इस व्यवहार की योग्यता नहीं रहे। जैसे मिट्टी से हाथ धोते हैं, वही जब घड़ा बन गयी तो उससे हाथ नहीं धो सकते, ऐसे संसार बन चुके को परमात्मा नहीं कह-समझ सकते। किसी एक काल में कोई एक व्यवहार-योग्यता ही रहती है। अतः संसार बन जाए तो परमेश्वर भी बन्धनकारी ही होगा, मोक्षप्रद नहीं। सांख्य व योगी तो परमेश्वर को यों जगत्कारण मानते नहीं, प्रकृति को ही मानते हैं, लेकिन अन्य कुछ विचारकों ने ईश्वर का परिणाम जगत् है ऐसी कल्पना की है जो इसीलिये ठीक नहीं कि परमेश्वर विकारी है नहीं, एवं हो तो परमेश्वर ही नहीं रह जायेगा ॥८॥

आरंभवाद कार्य-कारण वस्तुओं को भिन्न कहता है, परिणामवाद वस्तु तो अभिन्न स्वीकारकर अवस्था का भेद कहता है, दोनों से विलक्षण है विवर्तवाद जो प्रतीति का ही भेद कहता है—

अवस्थान्तरभानं तु विवर्तो रज्जुसर्पवत् ।

निरंशोऽप्यस्त्यसौ व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् ॥९॥

अन्य अवस्था की प्रतीति 'विवर्त' है जैसे रस्सी-भान के बजाय साँप-भान। यह निरवयव वस्तु में भी होता है क्योंकि आकाश में तल, मलिनता आदि की कल्पना होती है।

अवस्थान्तर होती नहीं, केवल प्रतीत होती है—यह विवर्तवाद है। यहाँ यह जरूरी नहीं कि पहले रस्सी-भान हो! तात्पर्य है कि प्रमाभान का विषय कारण और भ्रमभान का विषय कार्य है। श्रुति ने इसीलिये 'विकार' या कार्य को 'वाचारम्भण' और 'मिट्टी' या कारण को सत्य बताया है। लौकिक प्रमा का विषय मिट्टी है, भ्रम का विषय घटादि हैं, इतने मात्र से मिट्टी की अन्य अवस्था का भान होना मिट्टी का घड़ा बन जाना है—यह विवर्तवादी का तात्पर्य है। क्योंकि अवस्थान्तर 'है' जिसका भान हो यह स्वीकार नहीं, वह 'नहीं है' जिसका भान है यह भी स्वीकार नहीं इसलिये अवस्थान्तर को मिथ्या कहा जाता है।

अवस्थान्तर 'है' इसलिये नहीं कि कारण से पृथक् कुछ नहीं है, मिट्टी के अलावा घड़ा कुछ नहीं मिलता। अवस्थान्तर 'नहीं है' इसलिये नहीं कि 'है'—ऐसी प्रतीति होती है। अतः मिथ्या अवस्थान्तरण विवर्तता है। भान को विवर्त इसलिये कहा कि घटभान के अतिरिक्त घट कोई अवस्था भी नहीं है। यद्यपि यों भान से स्वतंत्र मिट्टी भी नहीं है तथापि ब्रह्म स्वयम्प्रकाश होने से वह परमार्थ सत् है जो भान पर निर्भर नहीं जबकि जगत् भान-सापेक्ष ही है। इसलिये विवर्तवाद में ज्ञानसाकारता का प्रसंग नहीं जो बौद्धों की कल्पना में आता है; विवर्तवादी के लिये मिथ्या अवस्थान्तर है जिसका भान है, विज्ञानवादी को बिना अवस्थान्तर के उसका भान है।

विवर्तवादी होने से हम लोग कहते हैं कि परमात्मा जगत् के आकार का प्रतीत होता है, है नहीं। क्यों नहीं मानते कि परमात्मा जगत् के आकार का हो गया? मूल कारण है कि परमात्मा निरंश है इसलिये वह परिणामी कारण नहीं हो सकता। जैसे तिल में खली और तेल दो अंश हैं, दूध में मक्खन और छाछ दो अंश हैं, ऐसे अगर परमात्मा में अंश होते तब तो मान लेते जगत् को उसका परिणाम। परंतु उसमें अंश नहीं हैं अतः उसमें से जगत् निकल आये तिलों से तेल की तरह यह संभव नहीं। यद्यपि रज्जु, सीप आदि सावयवों में सर्प, चाँदी आदि का विवर्त है तथापि निरंश आकाश में भी तल, मलिनता आदि का विवर्त दीखने से विवर्ती होने के लिये सांश होना अनिवार्य नहीं। विवर्त कारण निरंश भी हो सकता है। आकाश को बिना टुकड़े का सब मानते हैं। उसका कोई रूप तो है नहीं पर उल्टी कड़ाही-सा दीखता है। आकाश जेठ में धूमिल दीखता है जबकि आकाश मैला तो नहीं हो सकता। कड़ाही जैसा, नीला आदि दीखने पर भी आकाश में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह परिणामी कारण नहीं है, पर रूपवाला प्रतीत होता है। प्रतीत होते समय भी वह नीरूप ही है। तेल-खली की तरह तल, नीलिमा आदि से अलग कोई आकाश वस्तु रह जाये इत्यादि संभावना नहीं, बिना हुए उनकी प्रतीतिमात्र है। इसी प्रकार परमात्मा में न राम-रूप की सफाई, न रावण-रूप की गन्दगी आयी। परमात्मा जैसा है वैसा ही बना रहा।

सचमुच में बिना बने वैसा दीखना विवर्त होना कहलाता है। पत्थर को तराशने पर हनुमान् जी बने गये, पर पत्थर तो रहा ही! उसके रहते हुए ही हनुमान् जी दीख रहे हैं जैसे रस्सी रहते हुए ही साँप दीखता है, आकाश बिना रंग का रहते हुए ही रंगवाला या आकारवाला दीखता है। परमात्मा जगत्-रूप में दीखते हुए भी, सच्चिदानन्द बना ही रहता है। इसी को कहते हैं 'अतत्त्वतः अन्यथाप्रथा' बिना बदले दूसरी तरह प्रतीत हो जाना। इसलिये वसिष्ठजी ने बतलाया कि जैसे शिला के ऊपर रेखायें, उपरेखायें बना लीं तो मूर्तियाँ बन गयीं, उसी प्रकार आनन्द की मानो ठोस शिला-से ब्रह्म में माया द्वारा त्रिलोकी बन गई। जैसे पत्थर तो पत्थर ही बना रहा वैसे ब्रह्म भी ब्रह्म ही बना रहा ॥६॥

उपपादित विवर्तवाद को प्रसङ्ग में लागू करते हैं—

ततो निरंश आनन्दे विवर्तो जगदिष्यताम्।

मायाशक्तिः कल्पिका स्याद् ऐन्द्रजालिकशक्तिवत् ॥१०॥

इसलिये यही स्वीकारा जाये कि निरंश आनन्द में जगत् विवर्त ही है। बाजीगर की शक्ति जैसी माया-शक्ति यह कल्पना करने वाली है।

परमेश्वर चूँकि निरवयव है, निरंश है, आनंदरूप है इसलिये अन्य कोई कारणता संभव नहीं, वह विवर्तोपादान हो यही मानना संभव है। यह बात, श्वेतकेतु को समझायी तो एकाएक उसकी समझ में नहीं आयी। पूछा, परमात्मा हमें क्यों नहीं नजर आता? तब पिता ने लोटा भर पानी में नमक की डली डाल दी। अगले दिन श्वेतकेतु को बुलाया, कहा 'लोटा

देखो, नमक की डली निकालो।' श्वेतकेतु को वह मिली नहीं। पिता ने कहा 'लोटे के पानी को चख।' चखने पर पाया कि नमकीन स्वाद है, सारा पानी नमकीन है। पिता ने कहा 'जैसे इस पानी में नमक सब जगह है जबकि दीखता नहीं, इसी प्रकार परमात्मा सब चीजों में है, लेकिन अशुद्ध बुद्धि वाले को नजर नहीं आता।' आचार्य शंकर लिखते हैं कि शास्त्र और गुरु के उपदेश से जिस मन में संस्कार हो गया है उस मन से तो पता लग जाता है, अशुद्ध बुद्धि वाले को पता नहीं लगता। शुद्ध बुद्धि वाले को संस्कार है कि परमात्मा सद्रूप है। जो भी संसार में चीज दीखती है, उसमें है-पना है। जिस चीज को भी ग्रहण करो वहाँ है-रूप से परमात्मा का ग्रहण होता है। अतः जो सदभिन्न आनंदरूप ब्रह्म है, उसमें जगत् विवर्त है यह मान्य है। विवर्त होने से परमात्मा जैसा है वैसा बना ही रहा पर नाम-रूप वाला प्रतीत होने लग गया।

नमक की तो दो अवस्थाएँ हो सकती हैं—ठोस और घुली, किंतु ब्रह्म में अवस्थाएँ भी नहीं हैं। उसमें जगत् की कल्पना हुई कैसे? कैसे वह शिव नाम-रूप वाला हो गया? इसके उत्तर में कहा 'कल्पिका माया शक्तिः स्याद्'। इस कल्पना को कराने वाली मायाशक्ति है। यह माया शक्ति शिव को नाम-रूप से युक्त दिखला देती है। यह शक्ति कैसी है? जैसे बाजीगर में अनेक चीजें दिखाने की शक्ति होती है। वह नजर नहीं आती है पर जब खेल दिखाता है तब कार्य देखने से मानी जाती है। इसलिये आचार्य शंकर ने लिखा है कि बुद्धिमान् ही इसे कार्यों से अनुमान द्वारा समझते हैं। जादूगर जब कोई चमत्कार कर देता है तब मानना पड़ता है कि उसमें शक्ति है। ऐसे ही शिव की शक्ति दिखाई नहीं देती, पर जगत् है इससे मानना पड़ता है कि इसे उत्पन्न करने की शक्ति उसमें है। यह हमेशा अनुमेय ही रहेगी। शक्ति का सदैव अनुमान ही होगा, अनुभव नहीं होगा। बाजीगर की तरह शिव में यह जगत् दिखाने की शक्ति है, जिसकी बुद्धि ठीक है वही उसको समझ सकता है। कल्पतरुकार ने लिखा है 'स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत्' अर्थात् आचार्य शंकर ने बतलाया है कि अपनी शक्ति से जैसे नट खेल दिखलाता है वैसे ही शिव सारा खेल दिखला रहा है। फिर भी यह बिलकुल ऐन्द्रजालिक की तरह नहीं है। वह खेल तब दिखाता है जब कोई और खेल देखने वाला हो। खेल दिखाने में उसका कोई प्रयोजन होता है। पर यहाँ देखने वाला भी शिव स्वयं ही है यह अंतर है। महादेव का यह स्वभाव है। रस्सी का स्वभाव ही है कि मंद अंधकार में साँप की तरह दीखे। उसका ऐसा कोई प्रयोजन नहीं है कि कोई डरे। इसी प्रकार परमात्मा अज्ञात रहते जगत् के रूप में दीखता है यह स्वभाव है। ११०॥

परमेश्वर शक्ति से जगद्रूप विवर्त करता है तो शक्ति से सद्वितीय हो जायेगा? इस समस्या का समाधान करते हैं—

शक्तिः शक्तात् पृथङ्नास्ति तद्वद्दृष्टेर्न चाभिदा ।
प्रतिबन्धस्य दृष्टत्वाच्छक्त्यभावे तु कस्य सः ॥११॥

शक्ति शक्तिमान् से अलग नहीं है क्योंकि ऐसा ही सर्वत्र देखा गया है कि शक्तिवाले में ही शक्ति होती है। ऐसा भी नहीं कि शक्तिमान् से शक्ति सर्वथा एक हो क्योंकि प्रतिबन्ध भी अनुभवसिद्ध है। शक्ति न हो तो प्रतिबंध किसका होगा!

पूछने वाले का भाव है कि शक्ति और शिव का भेद मानने से द्वैत स्वीकार हो जायेगा। उत्तर का अभिप्राय है कि शिव से अलग, स्वतंत्र सत्ता-स्फूर्ति वाली शक्ति होती तो अवश्य द्वैत होता किंतु वह अलग है नहीं कि द्वैत संभव हो। शक्तिमान् से स्वतंत्र न होने पर भी शक्ति का शक्तिमान् से अलग उल्लेख इसलिये कि शक्तिमान् जब शक्ति का प्रयोग करता है तभी कार्य होता है, सदा नहीं एवं प्रतिबंधक, रुकावट आने पर शक्तिमान् रहते हुए भी कार्य नहीं हो पाता। शक्तिमान् तो यथावत् रहता है, पर उसकी शक्ति पर ही रुकावट काम करती है। अतः शक्ति को सर्वथा शक्तिमान् से एक ही नहीं कह सकते। अत्यंत भिन्न नहीं क्योंकि शक्तिमान् में ही नियमतः मिलती है, अन्यत्र नहीं। शक्तिमान् से अलग शक्ति कभी नहीं मिलती अतः उसे शक्तिमान् से पृथक्, स्वतन्त्र नहीं मान सकते। प्रतिबन्धक उस पर कारगर हो जाता है इसलिये सर्वथा अभिन्न नहीं मान सकते। अतः आचार्य शंकर ने कहा है 'भिन्नाऽप्यभिन्नाप्युभयात्मिका न' वह न भिन्न है, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न वरन् 'महाद्भुताऽनिर्वचनीय-रूपा' अत्यन्त अद्भुत, अनिर्वचनीय-स्वरूप है। १११।

शक्ति इन्द्रियगम्य होती नहीं तो उसका प्रतिबंध अर्थात् उसकी रुकावट कैसे समझें? इसका उत्तर देते हैं—

शक्तेः कार्यानुमेयत्वाद् अकार्यं प्रतिबन्धनम्।

ज्वलतोऽग्नेरदाहे स्याद् मन्त्रादिप्रतिबन्धता। ११२।।

कार्य से अनुमानगम्य होने से कार्य न होने पर प्रतिबन्ध समझा जाता है जैसे जलती आग से दाह न हो तो मन्त्रादि से अग्नि प्रतिबद्ध है यह मानते हैं।

शक्ति अतीन्द्रिय पदार्थ है, इंद्रियों से उसका पता नहीं लग सकता। जैसे शरीर को दुबला या मोटा देखने से खाने की शक्ति का पता नहीं लगता, केवल कार्य से ही पता लगता है। स्वयं अपने को भी अपनी शक्ति का पता नहीं लगता। दस मील चलने पर ही पता लगता है कि 'चल सकता हूँ'। इसलिये उसे प्रतिबद्ध तब मानना पड़ता है जब वह अपना काम न कर सके। दृष्टान्त है : आग जोरसे जल रही है पर गलाने-पकाने का काम नहीं कर रही है। ऊँचाई पर दबाव कम होने से आग की शक्ति प्रतिबद्ध हो जाती है। प्रतिबन्ध मंत्र से भी होता है। अग्नि को मंत्र से बाँध देते हैं तो बच्चे भी ऐसी अग्नि पर पाँव से चल सकते हैं। तुम्हारी शक्ति को तुम्हारा राग भी प्रतिबद्ध कर देता है। अपने विकार अपनी शक्ति को प्रतिबद्ध करते हैं। युद्ध प्रारम्भ होने से पहले भीष्म पितामह से पूछा गया कि किसमें कितनी ताकत है। उन्होंने कहा 'मैं वृद्ध हूँ लेकिन सवेरे से शाम तक पूरे जोर से लड़ूँ तो अठारह अक्षौहिणी सेना मैं अकेला मार सकता हूँ। द्रोणाचार्य तीन दिन में सब

को मार सकते हैं।' कर्ण को उन्होंने अर्धरथी बताया। कर्ण को कहा 'हम दोनों के गुरु परशुराम ही हैं। तुमने गुरु से शिक्षा लेने से पहले अपने को ब्राह्मण बताया। तभी परशुराम ने अस्त्रविद्या सिखा दी।' एक दिन गुरुजी कर्ण की जाँघ पर सिर रखकर सो रहे थे, एक भौर ने कर्ण को जाँघ पर काटा, खून निकला पर कर्ण स्थिर रहा ताकि गुरु की नींद में कोई व्यवधान न हो। गुरु ने जगकर यह देखा तो समझ लिया कि तीन काल में भी कर्ण ब्राह्मण नहीं हो सकता। उन्होंने कहा 'तू क्षत्रिय है। तूने झूठ बोला। अतः जब तू ब्राह्मण का कार्य करेगा, तेरी विद्या ठीक रहेगी। क्षत्रियरूप में विद्या काम नहीं आयेगी। अतः युद्ध के मैदान में विद्या की शक्ति प्रतिबद्ध रहेगी।' यह बात भीष्म पितामह को मालूम थी। तात्पर्य है कि प्रतिबंध की अन्यथाऽनुपपत्ति शक्तिसद्भाव में प्रमाण है। १२॥

लोक में अनुमान, अर्थापत्ति से शक्ति मान्य है एवं परमेश्वर की मायारूप शक्ति का शास्त्र से पता चलता है यह कहते हैं—

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मुनयोऽविदन् ।

परास्य शक्तिर्विविधा क्रियाज्ञानबलात्मिका ॥१३॥

स्वप्रकाश परमेश्वर की अपनी शक्ति मुनियों ने जानी जो अपने-अपने कार्यभूत शरीरों से अत्यधिक ढकी है। ब्रह्म की क्रिया-ज्ञान-इच्छारूप विविध पराशक्ति वेदोक्त है।

जन्म का कारण क्या? अनेक कल्पनायें उपस्थित होती हैं। श्वेताश्वतर उपनिषत् के प्रारंभ में कारणविचार कथित है। समय से चीज पैदा होती है ऐसा कालवादी कहते हैं। जितने समय सृष्टि रहती है उतने समय तक प्रलय रहेगा। समय का पता तो सूर्य-चंद्र से ही लगता है, उनके परिवर्तन से ही लगता है। महाप्रलय में सूर्य-चंद्र नहीं हैं, परिवर्तन है ही नहीं तो समय कैसे बीतेगा? ज्योतिषी लोग काल को कारण मानते हैं। कुछ लोग यदृच्छा या अकस्मात् हो जाने को कारण मानते हैं। सभी मुनियों ने, मननशील लोगों ने बहुत-सी चीजों पर विचार किया पर कोई कारण संगत नहीं लगा। तब उन्होंने कारण जानने के लिये ध्यान किया जिससे उन्हें परमात्मदेव की शक्ति का साक्षात्कार हुआ (श्वे. १.३)। देव में आत्मशक्ति है जो हमेशा छिपी रहती है, निगूढ है। कैसे छिपी है? हमारे जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर हैं, उन्हीं से छिपी है। जाग्रत्काल में विषयों से ढकी है, नाम-रूप से ढकी है। जैसे कपड़े पर बनी डिजाइनों के कारण कपड़ा दीखता ही नहीं है ऐसे शक्ति के प्रति गुणभूत उसके कार्यों से छिपी शक्ति नहीं दीखती। स्वप्न में बाहर के पदार्थ तो नहीं हैं लेकिन मन ही तरह-तरह की वृत्तियाँ बना लेता है तो स्वप्न में मन के द्वारा ढकी है। गहरी नींद में कुछ नहीं जानते, उस समय अज्ञान के द्वारा ढकी है। इन तीनों से शक्ति ढकी है। मुनियों ने उसका साक्षात्कार किया। मनन के बगैर निगूढ वस्तु समझ नहीं आती। जगत् का एकमात्र उपादान कारण ब्रह्म ही है। ब्रह्म अद्वितीय है अतः न तो आरम्भ कारणवाद से सृष्टि हो सकती है, न परिणाम कारणवाद से। इसलिये अद्वितीय ब्रह्म केवल अज्ञान से ही जगत् बन

[प्र. १३ श्लो. १३]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १३८३

सकता है। वह अज्ञान ही उस आत्मदेव की शक्ति है एवं वह अपने ही कार्यों से छिपा है जैसे गहना, सोने का कार्य है पर गहना देखते समय सोने पर ध्यान नहीं जाता। इसलिये इसको देवात्मशक्ति कहते हैं।

श्वेताश्वतर के छठे अध्याय में (मं. ८) कहा है 'अस्य परा शक्ति विविधा'। उस परमात्मा की पराशक्ति विविध है। 'पर' कहते हैं जो श्रेष्ठ होता है उसे। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों को उत्पन्न कर देती है, इससे बड़ी शक्ति और क्या हो सकती है! ऐसा कार्य बनाती है जो अनादिकाल से अनन्तकाल तक चलता रहे इसलिये इसको 'पराशक्ति' कहा। सारे जगत् के एकमात्र कारण ब्रह्म की यह शक्ति अनेक प्रकार की है। और इसका अंत आने वाला नहीं है। पुरानी चीजें भूलते जाओगे, नई चीजें देखते जाओगे। वह नटराज सदैव नवीन सृष्टि करता रहेगा। यह जाननेवाले को नई चीज देखकर कभी घबराहट नहीं होती। जो इसको परमात्मा का नृत्य नहीं समझते उन्हें लगता है 'जो हमने बचपन में देखा है वही ठीक है'। किन्तु महादेव की शक्ति अनंत प्रकार की है, हमेशा नये ढंग से प्रकट होती ही रहेगी। शक्तियों को जानने के हमारे साधन सीमित हैं इसलिये उनका वर्गीकरण कर दिया—श्रुति ने कहा 'ज्ञान, बल, क्रिया'।

एक है क्रियाशक्ति अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था में ले जाने वाली। दूसरी है ज्ञानशक्ति जिससे कोई अवस्थान्तरण किये बिना जो चीज़ जैसी है, वैसा जानते हैं। क्रिया दो प्रकार की है—परिणाम और परिस्पन्द। एक क्रिया में चीज़ अपने स्वरूप से रहते हुए ही बदलती दीखती है। जैसे हम यहीं बैठे हैं, फिर बाहर बैठ गये, पर हम तो वैसे ही रहे, क्रिया हो गई। वह परिस्पन्दरूप क्रिया है। बचपन में बिना दाढ़ी-मूंछ वाले थे, फिर दाढ़ी आ गयी। यह हम में ही परिवर्तन परिणामरूप क्रिया है। जो चीज़ जैसी है उसे वैसा ही अनावृत करना ज्ञान अर्थात् प्रमा है। क्रिया में प्रवृत्ति कब होती है? जब तुम्हारे मन में इच्छा करने वाली इच्छा-शक्ति है। हमारे पास तीन ही साधन हैं, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन जो इच्छा के लिये साधन है। इसके अलावा हमारे पास और कुछ नहीं है। परमात्मा अनन्तरूप है, हमारे साधन सीमित हैं। अतः हमें परमात्मा सीमित लग सकता है। ये तीन शक्तियाँ हमें परमात्मा में भी प्रतीत होती हैं। महाप्रलय में एकमात्र शिव ही था। उसमें इच्छा आई। ऋग्वेद कहता है, 'उसने कामना की 'मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ'।' इच्छा ही सृष्टि का बीज है॥ १३॥

श्रुति-उदाहरण समाप्त कर स्मृति-उदाहरण भी उपस्थित करते हैं—

इति वेदवचः प्राह वसिष्ठश्च तथाऽब्रवीत् ।

सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ॥

ययोऽल्लसति शक्त्याऽसौ प्रकाशमधिगच्छति ॥ १४ ॥

पूर्वोक्त ढंग से वेदवचनों ने मायाशक्ति बतायी। महर्षि वसिष्ठ ने (उत्पत्ति.१००) भी

ऐसा समझाया है 'सदा सर्वथा पूर्ण अद्वितीय परब्रह्म समग्र शक्ति से सम्पन्न है जिससे वह विवर्तित होता है तो यह शक्ति प्रकट होती है।'

वेद में ऋषियों ने परमेश्वर की मायारूप शक्ति कही है। यद्यपि वेद स्वतः प्रमाण है, उसे अपनी प्रामाणिकता के लिये किसी अन्य प्रमाण की जरूरत नहीं है, तथापि समझने के लिये अधिकारी में विशेष शक्ति चाहिये। वेद अत्यन्त विस्तृत है। वेद विभिन्न दृष्टियों से विचारों को कहता है। वैदिक शब्दों के विभिन्न अर्थ भी हैं। सबको समझना, याद रखना कठिन है। अतः ऋषियों ने श्रुतियों के विषयों को एकत्रित किया जिससे वेद समझना हमारे लिये सरल हो गया। श्रुतियों का अर्थ स्मृति से सिद्ध नहीं होता, उनका अर्थ समझने में स्मृतियों से सहायता ली जाती है। इसलिये यहाँ कहा कि महर्षि वसिष्ठ, जो ऋग्वेद के दस में से एक मंडल के द्रष्टा हैं, उन्होंने भी यही बात कही। जैसा वेद ने कहा है, वैसी ही बात उन्होंने कही है। योगवासिष्ठ के उत्पत्ति प्रकरण के सौवें सर्ग के पाँचवें श्लोक का पूर्वार्ध 'सर्वशक्ति' इत्यादि है। उत्तरार्ध है 'न तदस्ति न तस्मिन् यद् विद्यते विततात्मनि।' वसिष्ठ जी ने कहा है कि ब्रह्म के दो रूप हैं—पर और अपर। अज्ञान में हमें जो रूप उपस्थित होता है वह अपर है, ईश्वररूप है। अज्ञान में रहते हुए हम ईश्वर को ही समझ सकते हैं। जब ईश्वर को ठीक जैसा है वैसा जानते हैं, तब जो रूप जानते हैं वह परब्रह्म है। ब्रह्म और ईश्वर दो नहीं हैं। अज्ञान में ब्रह्म ईश्वररूप से दीखता है, अज्ञान हटने पर जो रूप दीखता है, वह परब्रह्म है। जो परमात्मा का दर्शन होता है, वह माया के पर्दे में से होता है, मायारूप पर्दे से वह ढका रहता है, किंतु ब्रह्म वही है। माया का धूँधट रहते अपर ब्रह्म है, धूँधट हट गया तो परब्रह्म है। ब्रह्म कैसा है? 'सर्वशक्ति' सारी शक्तियों वाला है। जिस चीज़ की हम कल्पना भी नहीं कर सकते वह सब भी कर लेता है। विराट्-रूप का परिच्छिन्न दृष्टि वाले को दर्शन संगत नहीं लेकिन भगवान् ऐसा भी कर देते हैं। यह सब सर्वशक्ति माया के द्वारा हो जाता है। इसीलिये आदि काल से 'परमात्मा साकार या निराकार है' यह विवाद है।

ब्रह्म 'नित्य है।' काल को वह पैदा करता है अतः समय से पहले और बाद में भी है। हमारे मन में, देश, काल, कार्य-कारणभाव—ये तीन निश्चित आयाम हैं। मन किसी चीज़ को समझेगा तो ये प्रश्न होंगे ही 'कहाँ? कब? और इसका कारण क्या है?' इन तीन आधारों पर हम सोचते हैं। ये तीनों परमात्मा ने ही पैदा किये। अतः वह देश, काल, कार्य-कारण-भाव से रहित होकर रहता है, उसे इनमें नहीं बाँध सकते। इसलिये वह नित्य है। वह 'आपूर्णम्' पूरी तरह पूरा है। 'अद्वयम्', उसके जैसा दूसरा नहीं है। उसमें न कोई भेद है न उसका कैसा भी अभाव है। सभी भेदों से रहित, उसका पारमार्थिक रूप है। सर्वशक्ति उसका व्यावहारिक रूप है। माया-विशिष्ट हो गया। ईश्वररूप और निर्माय हो गया उसका पारमार्थिक रूप।

माया शक्ति के द्वारा ब्रह्म उल्लास को प्राप्त करता है। जैसे समुद्र अपने से निकले चन्द्रमा को पूर्ण देखता है तो प्रेम से बड़ी लहरें उठाता है मानो खिल-खिला कर हँस रहा हो, इसी प्रकार परमात्मा अपनी माया शक्ति से उल्लास को प्राप्त होता है। लहर समुद्र का

[प्र. १३ श्लो. १७]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १३८५

पानी ही है फिर भी वह समुद्र से अलग दीखती है। ऐसे ही माया शक्ति से बिना अलग हुऐ ही दीखने वाला जीव और संसार है। यह माया शक्ति से हुआ उल्लास है। इस उल्लास के होने पर माया शक्ति का पता लगता है, शक्ति अभिव्यक्त, प्रकट हो जाती है। महाप्रलय में परमात्मा की इस अनन्त शक्ति का पता नहीं लगता, जब सृष्टि होती है तब पता लगता है। जब तुम गहरी नींद में हो तब तुममें कोई भी इन्द्रिय-शक्ति नहीं है। जैसे ही उठते हो, सारी शक्तियाँ आ जाती हैं। इसी प्रकार महाप्रलय में कोई शक्ति प्रकट नहीं है। जब सृष्टि काल हुआ तभी सारी शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। सृष्टि होने पर ही कारण की शक्ति प्रकट होती है। जहाँ जो भी हो रहा है, उसे करने वाली परमात्मा की ही शक्ति है। वेदान्त-साधना में सभी अनुभवों में उसकी इस शक्ति को ही देखने का प्रयत्न करना है। इसीलिये सृष्टिकाल में परमात्मा की यह अनन्त शक्ति व्यक्त हो जाती है। हमारे राग-द्वेष इस साधना में बाधक हैं। हमें जो रूप, व्यक्ति, अच्छा लगता है उसे परमेश्वर का किया है स्वीकार सकते हैं पर रावणरूप में वही परमेश्वर है—यह स्वीकार नहीं होता! अभ्यास से, 'सभी चीज़ें परमात्मा का उल्लास है' यह स्वीकार होगा ॥ १४ ॥

शक्ति की अभिव्यक्ति वसिष्ठवचनों से स्पष्ट करते हैं—

चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम! शरीरेषूपलभ्यते ॥ १५ ॥

स्पन्दशक्तिश्च वातेषु दाढ्यशक्तिस्तथोपले ।

द्रवशक्तिस्तथाम्भःसु दाहशक्तिस्तथाऽनले ॥ १६ ॥

शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि ।

यथाऽण्डेऽन्तर्महासर्पो जगदस्ति तथाऽऽत्मनि ॥ १७ ॥

हे राम! शरीरों में ब्रह्म की चिच्छक्ति (ज्ञानशक्ति) उपलब्ध होती है, वायुओं में स्पन्दशक्ति (क्रियाशक्ति) तथा पत्थर में मज्जबूती की शक्ति मिलती है। जलों में बहने की शक्ति एवं आग में जलाने की शक्ति है ॥ १५-१६ ॥ आकाश में खालीपन की शक्ति, नष्ट होने वाले पदार्थ में नाश की शक्ति उपलब्ध है। अण्डे में महान् साँप की तरह आत्मा में जगत् है ॥ १७ ॥

(वासिष्ठ उत्पत्तिप्रकरण सर्ग १०० श्लो. ७ आदि का यहाँ संग्रह है। 'शरीरेष्वभिदृश्यते', 'जडशक्तिस्तथोपले', 'तेजःशक्तिस्तथाऽनले'—ये वहाँ पाठ हैं। 'नाशशक्तिर्विनाशेषु' यों नौवें श्लोक में तृतीय पाद है। 'यथाऽण्डे' आदि अर्धाली वहाँ नहीं है।)

स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में उपलब्ध चेतना-शक्ति हमेशा प्रकट है। लोक-लोकान्तर का या अपने मन का भी हमें न पूरा ज्ञान है, न किसी पर नियन्त्रण है। चेतना की सामर्थ्य निरन्तर उपलब्ध है, मिलती है शरीरों में; जाग्रत् में स्थूल शरीर में एवं स्वप्न में सूक्ष्म शरीर में चेतन मिलेगा। चेतनता के व्यवहार का हेतु ब्रह्म की ही शक्ति है। इस पर दृष्टि केन्द्रित रखने के लिये अभ्यास चाहिये। किसी चीज़ को जानो तो, याद करो कि परमात्मा की ज्ञान-शक्ति ही जान रही है। वेदान्त साधना में यही कठिनाई आती है कि बात तो समझ में आ जाती

है पर वह सदैव व्यवहार में रहे, यह नहीं हो पाता। प्रयासपूर्वक वैसा किया जाये तब साधना अपना काम करेगी। जो ईंट-पत्थर हैं, शरीर नहीं हैं, उनमें ब्रह्म की सत्ता तो प्रकाश को प्राप्त होती है, पर ज्ञान, चेतन नहीं होता है। बन्धन-मोक्ष चेतन में ही सम्भव हैं। मोक्ष-शास्त्र में चेतन का ही अधिकार है क्योंकि बन्धन का अनुभव उसी को है। जड़ चीज़ न बद्ध है न मुक्त होगी। शरीर में चेतन शक्ति का विकास हुआ है, वहाँ द्रष्टा है, देखने वाला है बाकी चीज़ों में दृश्यभाव है, वे देखी जाती हैं। इस तरह दृश्य और द्रष्टा, दोनों उसी ब्रह्म का विलास है। क्योंकि वह अनन्त है, इसलिये अनंत प्रकार के शरीरों का निर्माण करता है। जैसे शुद्ध ब्रह्मा-विष्णु के शरीर हैं वैसे लता, घास आदि के अशुद्ध शरीर हैं। उनमें चेतन का इतना ही विकास है कि वे सन्तति पैदा कर लेते हैं जब कि ब्रह्मा-विष्णु सारी सृष्टि को बना सकते हैं।

जहाँ वायु है वहाँ स्पन्दशक्ति है अर्थात् हिलना डुलना सम्भव है। शरीर में भी हिलना-डुलना करने वाली वायु ही है। भोजन को पचाकर शरीर के सब भागों में पहुँचाना प्राण-वायु का काम है। वाक् या मन भी स्पन्दन करता है तो प्राण की आवश्यकता रहती है। प्राणायाम के द्वारा प्राणों का निरोध करते हैं तो मन अपने आप निरुद्ध हो जायेगा। अगर मन का स्पन्दन खत्म हो जायेगा तो प्राण की गति पर भी उसका असर आ जाता है। प्राण वाले हिस्से में कुछ प्रतीति नहीं है। गहरी नींद में प्राण तो चलता रहता है पर होश (चेतनशक्ति) नहीं रहती। प्राण के बिना मन वृत्ति नहीं बना सकता। वृत्ति बनाने के लिये स्पन्द शक्ति की ज़रूरत पड़ेगी जो प्राण से आयेगी। इसलिये कहा कि वायु में स्पन्दशक्ति है। माया की अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं। 'यह मेरी शक्ति है' ऐसा हमें भ्रम है। हम मन से भी जो जानते हैं, वह परमेश्वर की मायाशक्ति से ही। पत्थर के अन्दर दाढ्य-शक्ति है, दाढ्य अर्थात् भारीपन, दृढ़ता, मज़बूती। दृढ़ता के रूप में भी शिव की मायाशक्ति का ही प्राकट्य है। अपने शरीर में हड्डियों में वज़न सहने की शक्ति भी परमेश्वर की माया की ही है। जल में बहने की शक्ति भी उसीकी है। तरल पदार्थों में तरलता शिव की ही शक्ति है और अग्नि में उसीकी जलाने की शक्ति है। इस प्रकार चार महाभूतों का ग्रहण हो गया। इसी प्रकार आकाश सब चीज़ों के हिलने-डुलने को सम्भव करता है। आकाश इसके लिये खाली जगह देता है। खाली जगह का अपना विशेष महत्त्व है। आकाश में प्रकट भी शिव की ही शक्ति है। पंचमहाभूत तरीका या साधन बनते हैं शिवकी शक्ति को जानने के लिये। उस शक्ति के सम्बन्ध से तुमको शिव का अनुभव होना चाहिये।

हर चीज़ परिवर्तित होने वाली अतः नश्वर है। आरम्भवादी होने से नैयायिक वस्तुओं को कम-से-कम तीन क्षण रहने वाला कहते हैं; उनके अनुसार चीज़ पैदा होगी, रहेगी तभी नष्ट होगी अतः नाशक्षण-पर्यन्त उसे रहना उचित है। परिणामवादी होने से पतंजलि आदि 'सर्वे भावाःक्षणपरिणामिनः, ऋते चितिशक्तेः' मानते हैं। परिणाम के अनुसार वस्तु वही रहती है, उसी में परिणाम, बदलाव आते रहते हैं अतः उत्पत्ति के बाद स्थिति भी पूर्वावस्था का नाश

[प्र. १३ श्लो. १८]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १३८७

ही है। सौ का नोट वैसा ही रहे पर उसकी कीमत घट जाती है तो उसका नाश ही है। ऐसे ही उत्पन्न होते ही सबका नाश प्रारम्भ हो जाता है। ऐसे नश्वर सभी पदार्थों में शिवकी ही नाशशक्ति काम कर रही है। हर नाश में इसलिये शिवका स्मरण होना चाहिये। नाशशक्ति का प्रभाव प्रत्यक्ष ही है। पाँचों महाभूतों में व उनके कार्यों में नाशशक्ति लगातार काम कर रही है।

परमात्मा में सारा जगत्, इसे रचने की शक्ति वैसे ही निहित है जैसे अण्डे में साँप। अण्डा फोड़ो तो तरल पदार्थ के अलावा कुछ नज़र नहीं आता किन्तु बड़े-से-बड़ा विषधर साँप उसी में छिपा है। इसी तरह प्रलय में कुछ न मिलने पर भी सभी कुछ परमेश्वर में निहित है, वहीं से प्रकट होता है। आत्मा में जगत् छिपा रहकर सृष्टिकाल में व्यक्त हो जाता है। संसार से भयभीत ही परमार्थ का जिज्ञासु बनता है। सिर पर अंगारा पड़ जाये तो उसे हटाने की छटपटाहट जैसे संसार-बंधन से छूटने की उतावल वाला ही तीव्र मुमुक्षा से सम्पन्न है। जगत् की भीषणता सूचित करने के लिये इसे साँप से उपमित किया।। १५-१७।।

अण्डे जैसा दूसरा दृष्टांत देते हैं। अण्डे वाला वासिष्ठ में नहीं, बीज वाला वहीं (श्लोक. ११) का है—

फलपत्रलतापुष्पशाखाविटपमूलवान् ।

ननु बीजे यथावृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ।। १८ ।।

फल, पत्ते, लता, फूल, डाल, प्रशाखा और तने से युक्त वृक्ष जैसे बीज में रहता ही है वैसे ब्रह्म में यह जगत् है। (वासिष्ठ में 'वृक्षबीजे' है, 'ननु' नहीं है।)

श्वेतकेतु को समझाने के लिये पिता उद्दालक ने उससे कहा, 'इस वटवृक्ष का फल लाओ। उसके बीज में तुम्हें कुछ नहीं दीख रहा, पर उसीमें यह सारा वृक्ष है। यह श्रद्धा करने से पता लगता है। बीज होगा तभी वृक्ष होगा, खाद, पानी, मिट्टी से ही नहीं। ऐसे ही आत्मा से ही यह सारा जगत् निकलता है।' उसी तरह यहाँ बताया कि जैसे बीज में वृक्ष है ऐसे ही जगत् ब्रह्म में स्थित है। फल, फूल, पत्ते भिन्न हैं पर एक ही बीज से उत्पन्न हैं। ऐसे ही एक परमात्मा अनेकविध सृष्टि करता है। परमात्मा का अनन्त रूप से प्रकट होने का स्वभाव है, क्योंकि वह अनन्त है। तुम्हारे लिये संसार बहुत बड़ा है पर परमेश्वर के लिये नहीं! जैसे आँख खुलते ही सारा संसार सामने है, आँख बन्द होते ही कुछ नहीं है, ऐसे समस्त ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति-नाश ईश्वर के लिये अयत्नसिद्ध हैं। तना, जड़ें, फल, पुष्प, शाखा, लता, सब एक ही बीज में हैं। फल खाने के कामका, फूल सुगन्ध सूँघने के कामका, पत्ते पहनने के काम के, लकड़ी जलाने के काम की इत्यादि सब अंग भिन्न-भिन्न काम में आते हैं लेकिन सभी बीज से ही प्रकट होते हैं। परमात्मा से भी विभिन्न चीज़ें, विभिन्न उपयोग के लिये पैदा हुई अतः ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण जगत् ब्रह्मरूप है भले ही इसके विभिन्न उपयोग हैं।। १८।।

सारी शक्तियाँ एक-साथ अभिव्यक्त न होना युक्तिसंगत दिखाते हैं—

क्वचित् काश्चित् कदाचिच्च तस्माद् उद्यन्ति शक्तयः ।

देशकालविचित्रत्वात् क्षमातलादिव शालयः ॥ १६ ॥

परमेश्वर से कहीं कोई कभी शक्तियाँ प्रकट होती हैं क्योंकि देश-काल विचित्र हैं जैसे भूतल से विभिन्न पौधे कालादिभेदानुसार उगते हैं। (वासिष्ठ में यह श्लो. २१ है, थोड़ा पाठांतर है।)

किसी देश में कोई शक्ति प्रकट होती है। देश एक-जैसे नहीं हैं। हिमालय में बर्फ ही बर्फ है। मारवाड़ में रेफ्रिजरेटर में से एक टुकड़ा बर्फ निकलते ही पिघलने लगता है। बर्फ कहीं-कहीं होती है, कहीं नहीं। कहीं उसकी ठंडी शक्ति प्रकट है, कहीं गर्म शक्ति प्रकट है। काल का अन्तर भी प्रकट होने पर असर डालता है। अतः एक-साथ सारी शक्तियाँ प्रकट नहीं होती हैं। कार्यों की इकट्ठी अभिव्यक्ति संभव नहीं है। वर्तमान युग है यंत्र-शक्तियों का, प्राचीन युग था मंत्रशक्तियों का। कोई मानस युग था जब मन से ही सब काम हो जाते थे। अलग-अलग समय में अलग-अलग शक्तियाँ प्रकट होती हैं। किसी देश में, किसी काल में कोई-कोई शक्ति प्रकट होती है। एक-साथ सब शक्तियाँ प्रकट नहीं होतीं। उस शिव से शक्तियाँ उदित होती हैं अर्थात् पैदा नहीं होती हैं, तुम्हारे सामने आती हैं जिससे उनका उदय मानते हो। साधारण लोग कहेंगे कि चलते-फिरते दूरभाषयन्त्र (मोबाइल फोन) बन गये लेकिन वेदान्ती कहेगा कि ये सदैव थे, अब केवल प्रकट हो गये हैं। यह वैसे ही है जैसे पृथ्वी से अलग-अलग अनाज होता है। बाड़मेर में तुम चावल के बीज डाल दो, पानी दो, तो भी पौधा पैदा नहीं होगा क्योंकि देश का भेद है। बंगाल में बाजरा नहीं होगा। पृथ्वी तो एक ही है। इसी प्रकार काल का भेद : सर्दी में चावल नहीं होगा, वही बीज बरसात में फल दे देगा। मनुष्य चाहता है, 'जब हमारी इच्छा हो तब शक्ति प्रकट हो', पर वह तो शिव से प्रकट होती है। व्यक्ति निरन्तर परमेश्वर की सृष्टि को बदलने की सोचता है जो कभी हो पाता नहीं। जीव का काम है, साक्षिभाव से आनंद लेना। परेशान इसलिये है कि वह भी ईश्वर की तरह करना चाहता है पर शक्तियाँ केवल ईश्वर की हैं ॥ १६ ॥

मिथ्या जगत् केवल कल्पनारूप है यह समझाने के लिये वसिष्ठवचन (वासिष्ठ उत्प. १०० श्लो. १४-१५) देते हैं—

स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितमहावपुः ।

यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥ २० ॥

हे राम! सदा प्रकाशमान अपरिच्छिन्न स्वरूप वाला वह व्यापक आत्मा जब तनिक मनन-शक्ति धारण करता है तब 'मन' कहलाता है।

आत्मा सब जगह एक जैसा है, सर्वव्यापक है। कोई ऐसा देश, काल, वस्तु नहीं है

[प्र. १३ श्लो. २०]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १३८९

जिसमें वह उदय हुआ न रहे। हमेशा प्रकट रहता है। देश, काल, वस्तु के परिच्छेदों से रहित है। यही उसका वपु अर्थात् स्वरूप है।

इसीलिये कहा है 'ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म सर्वावस्थासु निर्मलम्'; परब्रह्म ज्ञानमात्ररूप है। घटज्ञान, पटज्ञान आदि विभिन्न रूपों में भासने पर भी उसका निज स्वरूप केवल ज्ञान है। भाव का हो या अभाव का, ज्ञान में अंतर नहीं। ज्ञानात्मक होने से सर्वज्ञ है। जाग्रदादि, सृष्टि आदि में प्रतीत होते हुए भी सबके स्पर्श से रहित अतः निर्मल रहता है। ऐसा आत्मा 'मननी' शक्ति धारण करने से मन कहा जाता है। स्वयं को एवं अन्य को समझने की सामर्थ्य मननी शक्ति है। उसमें भेद, परिच्छिन्नता रहने से यह माया का परिणाम है। ज्ञानरूप आत्मा है लेकिन 'स्वयं को' जानने पर ज्ञाता-ज्ञेय का अंतर प्रतीत होने से मन का अस्तित्व आ जाता है। यही किसी भी चीज़ को प्रकाशित करने की शक्ति है। इसी से अद्वितीय में सद्द्वितीयता भासती है। द्वितीय या दूसरा समझने के लिये पहला-तीसरा आदि समझना ज़रूरी है क्योंकि किसी और की अपेक्षा से ही दूसरापन पता चल सकता है। आत्मा स्वयमेव दूसरा नहीं, मनरूप मननीशक्ति धारण करने से उसमें दूसरापन प्रकट होता है। मन भी जाना ही जाता है अतः वास्तव में ज्ञान से अतिरिक्त नहीं लेकिन इस रहस्य को न समझने तक उसे स्वतंत्र मानते हैं तो उसकी अपेक्षा से आत्मा द्वितीय हो जाता है एवं मन स्वयं परिच्छिन्न है अतः अन्य अनात्मा भी द्वितीय हो जाते हैं। स्वप्रकाशस्वरूप के लिये मन नहीं है, स्वयं को एवं अन्यो को—यों विषय तथा जानने के लिये जो आत्मशक्ति उदय होती है वह मन है। इससे कम ही जाना जा सकता है इसलिये 'मनाक्' (तनिक) कहा। मन बहुत ज़्यादा नहीं जान सकता, सर्वज्ञ तो आत्मा ही रहता है॥ २०॥

कल्पनारूप जगत् कैसे कल्पित होता है यह वासिष्ठ (वहीं श्लो. ४३) द्वारा कहते हैं—

आदौ मनस्तदनु बन्धविमोक्षदृष्टी

पश्चात् प्रपञ्चरचना भुवनाभिधाना॥

इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठाम्

आख्यायिका सुभग! बालजनोदितेव॥ २१॥

हे सौभाग्यवान् राम! पहले मन हुआ, तत्पश्चात् बंधन और मोक्ष के अनुभव आये, फिर प्रपंच की रचना हुई जो भुवन कही जाती है। यों प्रारम्भ होने वाली यह स्थिति वैसे ही सबको स्वीकार हो गयी है जैसे बालक के लिये सुनायी कहानी!

सबसे पहले आत्मा की माया के कारण मन की तरह प्रतीति हुई अर्थात् मनन करना प्रतीत हुआ। जब 'मैं' ऐसा जाना तब 'दूसरे हैं' इसलिये 'मुझे सीमित करते हैं, बन्धन में डालते हैं।' दूसरे की कल्पना बन्धन में डालने वाली है, उसीसे परतन्त्रता आई। फिर इच्छा हुई कि इस बन्धन से मुक्त कैसे होऊँ?

वस्तुतः हुआ कुछ नहीं! जो बन्धन तीन काल में नहीं है, उससे छूटने के लिये लोग साधना करते हैं। अपने को एवं अपने से दूसरे को जानना—यही मन है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसमें अपना या दूसरा कुछ है नहीं। दूसरे को जाना तो बंधन हो गया। यह सब उल्लास है, अर्थात् खेल है। जो तीन काल में नहीं उसकी प्रतीति करा देना ही माया की विशेषता है। इसी से प्रतीति है कि हम बंधन में हैं, हम हमेशा के लिये मुक्त हो जायेंगे। जब बंधन और मोक्ष आया, तब प्रपंच की रचना हो जाती है। 'पंच' मायने पाँच। पाँच महाभूत, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इत्यादि सारे प्रपंच की रचना हो गई। इसी को भुवन कहते हैं, लोक कहते हैं। बना कुछ नहीं फिर भी प्रतीति होने लगा। प्रतीतिवश सब मान बैठे कि संसार है जबकि है नहीं। यह वैसा ही है जैसे बालक को कहानी सुनाओ तो उसे लगता है कि ऐसी ही वस्तुस्थिति है। जैसे बालकों को कहानी में वास्तविकता-बुद्धि हो जाती है इसी प्रकार 'तुम बन्धन में हो, साधना करो, मुक्त होगे' यह सुन-समझकर इसमें वास्तविकता-बुद्धि होती है॥ २१॥

वासिष्ठ उत्पत्ति-प्रकरण में एक सौ एकवें सर्ग में धाय की कथा का प्रसंग है, उसे सूचित करते हैं—

बालस्य हि विनोदाय धात्री वक्ति शुभां कथाम् ।

क्वचित् सन्ति महाबाहो राजपुत्रास्त्रयः शुभाः ॥ २२ ॥

द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भ एव न च स्थितः ।

वसन्ति ते धर्मयुक्ता अत्यन्ताऽसति पत्तने ॥ २३ ॥

स्वकीयाच्छून्यनगराद् निर्गत्य विमलाशयाः ।

गच्छन्तो गगने वृक्षान् ददृशुः फलशालिनः ॥ २४ ॥

भविष्यन्नगरे तत्र राजपुत्रास्त्रयोऽपि ते ।

सुखमद्य स्थिताः पुत्र मृगयाव्यवहारिणः ॥ २५ ॥

बालक के मनोरंजन के लिये धाय ने सुन्दर कहानी सुनायी—हे महाबाहो! किसी जगह तीन सुन्दर योग्य राजकुमार रहते हैं॥ २२॥

(उनमें से) दो पैदा नहीं हो पाये और एक तो गर्भ में ही नहीं टिक पाया! जो नगर न कभी था, न है, न होगा, वहाँ वे धर्मपरायण हुए रहते हैं॥ २३॥

अपने निस्तत्त्व नगर से निकल कर जाते हुए निर्मल चित्त वाले उन कुमारों ने आकाश में फलों से लदे वृक्ष देखे॥ २४॥

वे तीनों राजकुमार शिकार खेलते हुए आज वहाँ रहते हैं जो नगर भविष्य में बनेगा॥ २५॥

भले ही स्तनन्धय बालक ये बातें सुनकर इन्हें घटना के रूप में मानकर प्रसन्न हो जाये किंतु बातें केवल अनर्गल हैं, असंभव हैं। पैदा न हुए और गर्भ में ही न आये बालकों का चरित्र सुनाने जैसा संसारवर्णन, इसमें समर्थ शक्ति का वर्णन है। आकाश में पेड़ कहाँ! फिर

[प्र. १३ श्लो. २८]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १३११

भी उन्हें फलों से लदा देखा! जो बसा ही नहीं उस नगर में वे आज से ही रहते हैं! सारी ही बातें बेमेल हैं, असंगत हैं। इसी तरह आकाश से वायु का जन्म किसी युक्ति से समर्थन के योग्य नहीं। बच्चे को जैसे कहानी वैसे बड़ों को संसार-कथा, सृष्टि-आदि प्रसंग भले ही सच लगें, मनमानी युक्तियाँ भी वे सोच लें किंतु वस्तुदृष्टि आते ही पता चलता है कि ये सारी चर्चाएँ अर्थहीन हैं। एक सीमा तक ही इन बातों में सार प्रतीत होता है, उससे आगे नहीं ॥ २२-२५ ॥

उक्त कथा से बालक का सन्तोष दिखाते हैं—

धात्र्येति कथिता राम! बालकाख्यायिका शुभा ।

निश्चयं स ययौ बालो निर्विचारणया धिया ॥ २६ ॥

हे राम! राजकुमारों की यह शुभ कथा ध्याने यों सुनायी कि विचारहीन अपनी बुद्धि से उस बालक को निश्चय हो गया (कि ऐसा ही हुआ)।

कथा शुभ इसलिये कि बालक का मन बहल गया। शक्ति आदि का वर्णन भी शुभ इसलिये कि बन्धन-मोक्ष उपपन्न हो जाते हैं, सत्कर्म में प्रवृत्ति से अभ्युदय और अंतर्मुखता से निःश्रेयस सम्भव हो जाता है। बालक की तरह मोहग्रस्त प्राणी विचार नहीं कर सकता अतः संसार-चर्चा से इसे वास्तविक मानता ही है ॥ २६ ॥

उदाहरण से प्रकृत में निर्णय बताते हैं—

इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् ।

बालकाख्यायिकेवेत्थम् अवस्थितिमुपागता ॥ २७ ॥

बालकों की कहानी जैसी, यह संसार-रचना उन्हें लगती है कि 'अवश्य है ही' जिनके मन से विचार विलुप्त है।

विवेकी के लिये संसार न है न इसका होना युक्ति-प्रमाण से समर्थित है। मनगढ़न्त उक्त कहानी जैसा जगत् के जन्मादिका वर्णन है, इसमें विभिन्न व्यवस्थाओं को स्वीकारना है। अविवेकी को ही यह सब वैसे सच्चा लगता है जैसे छोटे बच्चे को वह कहानी ॥ २७ ॥

वासिष्ठ-प्रसंग का संक्षेप सुनाकर प्रसंग आगे बढ़ाते हैं—

इत्यादिभिरुपाख्यानैर्मायाशक्तेश्च विस्तरम् ।

वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिर्निरूप्यते ॥ २८ ॥

इस एवं ऐसी अन्य कहानियों से मायाशक्ति का विस्तार वसिष्ठ जी ने कहा है। वही शक्ति यहाँ समझायी जा रही है।

राम जी को अज्ञात तत्त्व हृदयंगम करने के लिये वसिष्ठ जी ने असंख्य कथाओं का सहारा लिया। समझाना प्रधानतः यही है कि संसार में कुछ भी युक्तिसंगत नहीं है। माया स्वयम् असंगत होने से इसका फैलाव भी इसी तरह का है। वेद ने गंभीर ढंग से तथा

वसिष्ठ-व्यासादि ने सरल ढंग से यह तथ्य प्रकाशित किया है। अनिर्वचनीय माया का विस्तार अनिर्वचनीय ही प्रपञ्च है। प्रमाण एवं युक्ति के समर्थन के बिना ही प्रपञ्च हमें सत्य ही लगता है अतः इसरूप में बनी शक्ति भी वास्तविक लगती है। यह पारमेश्वरी शक्ति का ही महान् अद्भुत प्रभाव है ॥ २८ ॥

निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा ।

स्फोटाङ्गारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते ॥ २९ ॥

यह शक्ति अपने कार्य से एवं आश्रय से अलग है। चिन्गारी या चट-चट ऐसी आवाज़ तथा अंगारा—ये (कार्य और आश्रय तो) देखे जाते हैं, वहाँ शक्ति (केवल) अनुमान से समझी जाती है।

मायाशक्ति अपने कार्य से भिन्न है, जिसको यह पैदा करती है, उससे भी अलग है, और जिस आश्रय में है उससे भी भिन्न है। मायाशक्ति परमात्मदेव में है लेकिन परमात्मा से भिन्न है; क्योंकि मोक्षअवस्था में परमात्मा रह जाता है, यह शक्ति नहीं रहती। इसलिये आश्रय से अलग है। इसका जो कार्य संसार है इससे भी अलग है क्योंकि महाप्रलय में माया तो रह जाती है पर इसका कार्य नहीं रहता। इस तरह शक्ति अपने कार्य से भी अलग है और आश्रय से भी अलग है, जहाँ रहती है तथा जिसको पैदा करती है, दोनों से अलग है। विलक्षण अर्थात् इसका स्वभाव, दोनों से पृथक् है अतः उनसे भिन्न है। लौकिक भी शक्ति में यही देखा जाता है। चिन्गारियाँ दिखाई देती हैं, चट-चट आवाज़ कर चिन्गारियाँ निकलती हैं। आवाज़ हमें सुनाई देती है, चिन्गारियाँ दीखती हैं; और अंगारा भी दिखाई देता है। अंगारे की शक्ति नहीं दिखाई देती, उसका अनुमान ही करते हैं। स्फोट हो गया कार्य, अंगारा है आश्रय जिसमें वह रहती है। शक्ति दोनों से भिन्न है। चिन्गारी और आवाज़ न रहे तो भी शक्ति रहती है तभी और चिन्गारियाँ निकलती हैं। अंगारा प्रत्यक्ष है जबकि शक्ति अप्रत्यक्ष है, जलने से पहले कोयले में शक्ति तो है पर वह अंगारा नहीं है, इसलिये अंगारे से भी शक्ति भिन्न है। इसी प्रकार तत्त्वसाक्षात्कार से ब्रह्म का पता लगता है और ब्रह्म के अज्ञानकाल में जगत् दीखता है। अज्ञानकाल में जगत् दीखा, ज्ञानकाल में ब्रह्म का पता चला पर माया शक्ति दोनों से अलग है। ज्ञान हो जाये तो जगत् नहीं रहता, जगत् दीखे तो ब्रह्म प्रतीत नहीं होता। स्वभाव स्थायी होता है। यदि हर समय चट-चट करेगा तो अंगारे का वह स्वभाव होगा। तुममें चलने की शक्ति है, चाहो तो चलो या नहीं चलो। इसी तरह, परमशिव सब समय सृष्टि नहीं करता, उसमें शक्ति है सृष्टि बनाने की। अंगारे की शक्ति का अनुमान किया जाता है। अंगारा चट-चट करेगा तभी शक्ति का पता लगेगा। अंगारे में वह आश्रित रहती है, स्फोट में वह कार्यरूप से रहती है।

माया शक्ति का आश्रय तो परमेश्वर, जगत् उसका कार्य, इनसे पृथक् शक्ति है, जो अनुमेय ही है ॥ २९ ॥

दृष्टान्तान्तर दिखाते हैं—

पृथुबुध्नोदराकारो घटः कार्योऽत्र मृत्तिका
शब्दादिभिः पञ्चगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्विधा ॥ ३० ॥

मोटे गोल पेट-से आकार वाला घड़ा कार्य और शब्द आदि पाँच गुणों से युक्त मिट्टी उसमें कारण है (जो शक्ति का आश्रय है)। शक्ति तो वैसी (कार्यरूप या पंचगुणोपेत) नहीं है।

मोटा, गोल पेट घड़े का स्वरूप है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द गुणों से युक्त मिट्टी घड़े में कारण है। हर मिट्टी में हर समय घड़ा है नहीं, अतः उसे मिट्टी का स्वरूप नहीं कह सकते। मिट्टी से पैदा होता है इसलिये मिट्टी में उसे पैदा करने की शक्ति माननी पड़ती है। इसलिये शक्ति कार्य से भी और आश्रय से भी भिन्न है। आश्रय मिट्टी में शक्ति आश्रित हुई रहती है और घड़े में कार्यरूप से रहती है। कारण में रहती जरूर है पर है कारण से भिन्न। कार्य को भी पैदा करती है पर है कार्य से भिन्न क्योंकि जब कार्य नहीं रहता, तब भी रहती है। जब घड़ा नहीं है तब भी मिट्टी में घड़ा बनने की शक्ति तो है ही। इसी प्रकार कार्य हो गया जगत्, कारण है परमेश्वर, दोनों से यह शक्ति भिन्न है। परमेश्वर में रहती है और जगत् को पैदा करती है ॥ ३० ॥

‘शक्ति वैसी नहीं’-यह स्पष्ट करते हैं—

न पृथ्वादिर्न शब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा ।
अत एव ह्यचिन्त्यैषा न निर्वचनमर्हति ॥ ३१ ॥

शक्ति में मोटा पेट आदि कार्यधर्म भी नहीं और शब्दादि कारणधर्म भी नहीं (अतः वह दोनों से विलक्षण है)। वह जैसी हो वैसे रहे। इसलिए वह चिन्तन के अयोग्य है, उसको सद्-असद् आदि रूप से परिभाषित नहीं कर सकते।

शक्ति में घड़े का मोटापा नहीं है, मिट्टी में रहने वाले शब्दादि भी नहीं हैं। न कार्य के और न कारण के गुण शक्ति में हैं। अतः इसे न कार्य से भिन्न कह सकते हैं, न कारण से भिन्न कह सकते हैं। शक्ति में न रूप-रंग है, न आकार है, इसलिये वह इन दोनों से भिन्न है, विलक्षण है। जिस समय शक्ति है, उस समय किसी प्रमाण का विषय नहीं। जब नहीं रह गयी, कार्यरूप में परिणत हो गई तब ‘यह थी’ ऐसा अनुमान कर सकते हो किंतु तब वह है नहीं। अतः अचिन्त्य है, इसका विचार कर ही नहीं सकते। मिट्टी तो वैसी ही बनी रही पर जो घट पैदा हो गया उसे पैदा करने की शक्ति समाप्त हो गयी इसलिये कारण से वह अभिन्न नहीं। और कार्य पैदा होने से पहले है अतः कार्य से अभिन्न नहीं है। किसी भी रूप में इसका निर्वचन नहीं कर सकते। कारण से कार्य हुआ इसलिये शक्ति माननी पड़ती है। कारण तो वह है जो सब समय रहता है। कार्य वह है जो कभी रहे, कभी न रहे। इस प्रकार शक्ति अचिन्त्य, अनिर्वाच्य है ॥ ३१ ॥

कारण से भिन्न होने पर भी कारण की तरह स्पष्ट न प्रतीत होने में कारण बताते हैं कि वह छिपी रहती है—

कार्योत्पत्तेः पुरा शक्तिर्निगूढा मृधवस्थिता ।

कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत् ॥ ३२ ॥

(घट आदि) कार्य की उत्पत्ति से पहले शक्ति मिट्टी (अर्थात् कारण) में छिपी रहती है। कुम्हार आदिकी सहायता से वह विकार (अर्थात् कार्य) का आकार ग्रहण कर लेती है।

घड़ा बनने से पहले कार्य उत्पन्न करने की शक्ति मिट्टी में निगूढ है, अव्यक्त है। कुम्हार आदि की सहायता से उस शक्ति का विकास हो गया, घड़े के आकार में शक्ति बन गई। पहले छिपी थी, कुम्हार की मदद से प्रकट हो गई लेकिन घड़े-रूप में। कुम्हार के अलावा चक्का डंडा, पानी, आदि अन्य कारण भी चाहिये, किन्तु यदि मिट्टी नहीं है तो सारे साधन घड़ा नहीं बना सकते! अतः मिट्टी में ही घड़ा बनने की शक्ति माननी पड़ती है। सारी मिट्टियाँ घड़ा बनाने योग्य नहीं होतीं। कारणावस्था में छिपी होने से पृथक् पहचान नहीं, कार्यावस्था में क्योंकि उसने अपना आकार ही बदल लिया, कार्य का आकार धारण कर लिया, इसलिये शक्ति की पृथक् पहचान नहीं—इसलिये देखते तो कार्य व कारण हैं किन्तु स्वीकारनी शक्ति भी पड़ती है ॥ ३२ ॥

घड़ा मिट्टी की तरह शक्ति का कार्य है यह समझाना प्रारम्भ करते हैं—

पृथुत्वादिविकारं तं स्पर्शादिं चापि मृत्तिकाम् ।

एकीकृत्य घटं प्राहुर्विचारविकला जनाः ॥ ३३ ॥

मोटा पेट आदि पूर्वोक्त परिवर्तन, स्पर्श आदि गुण एवं मिट्टी, इन्हें एकमेककर 'घड़ा' वे कहते हैं जो लोग विचार में प्रवृत्त नहीं हैं।

व्यवहार में घड़े का रूप केवल विकार तो नहीं, मिट्टी, मिट्टी के गुण और जो कुम्हारादि ने आकार का परिवर्तन किया वह— इन तीनों को मिला-जुलाकर 'घड़ा' समझा जाता है। उसे मिट्टी से सर्वथा अलग बना हुआ कोई अन्य पदार्थ नहीं समझा जाता। घड़े में मिट्टी—यों साधारण लोग, मिट्टी में घड़ा—यों दार्शनिक लोग भले ही कहने में मिट्टी—घड़े के अन्तर का उल्लेख कर दें लेकिन घड़े के स्वरूप में ही मिट्टी सब को स्वीकार है, मिट्टी से स्वतन्त्र घड़ा कोई नहीं मानता। विचारविकल अर्थात् अविवेकी यों मानते हैं— ऐसा इसलिये कहा कि घड़े का मोटा पेट आदि रूप अलग, जलाहरणादि विकार अर्थात् कार्य अलग, कड़ा स्पर्श आदि वाच्य अलग और मिट्टीरूप कारण अलग—ये सभी पृथक्-पृथक् समझ आने पर भी घड़ा देखते हुए यह भेद भूलकर इन्हें एकमेक कर लेते हैं। विभिन्नों को अभिन्न समझना अविवेक ही है। ('पृथुत्वादिविकारान्तम्' ऐसा छपा पाठ अनुचित है यह अच्युतराय ने बताया है) ॥ ३३ ॥

[प्र. १३ श्लो. ३५]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १३९५

‘घड़ा’ ऐसा व्यवहार अविचार-रमणीय ही क्यों है यह स्पष्ट करते हैं—

कुलालव्यापृतः पूर्वो यावानंशः स नो घटः ।

पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे युक्ता हि कुम्भता ॥ ३४ ॥

कुम्हार ने जो कुछ किया उससे पहले का सारा भाग ‘घड़ा’ नहीं है। कुम्हार की क्रियायें पूरी होने पर (वही अंश) मोटा पेट आदि वाला हो तभी घड़ारूपता संगत है।

कुम्हार ने जो कुछ किया उससे पहले मिट्टी ही थी, वह घड़ा कही-समझी नहीं जा सकती। कुम्हार काम करता है तभी वह मिट्टी ऐसा आकार धारण करती है जिसे घड़ा कहा जाये। ऐसे ही सुनार के प्रयास से गहना-आकार ग्रहण करने वाला है सोना। विचार से सोना-गहना पृथक् होने पर भी अविवेक से इन्हें एकमेक समझा जाता है। मिट्टी कुम्हार-कार्य नहीं, घड़ा ही उसका कार्य है, फिर भी घड़ा समझते आकार विशेष में स्थित मिट्टी को हैं अतः अविवेक है। इसी से कार्य का मिथ्यात्व सिद्ध है ॥ ३४ ॥

घट वास्तविक सत्य नहीं, यही व्यक्त करते हैं—

स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात् ।

नाऽप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायाम् अनवेक्षणात् ॥ ३५ ॥

कार्यभूत घड़ा मिट्टी से भिन्न नहीं क्योंकि मिट्टी से अलग होने पर उपलब्ध नहीं होता। और घड़ा मिट्टी से अभिन्न भी नहीं क्योंकि पहले, जब तक मिट्टी पिण्ड की स्थिति में है तब तक घड़ा दीखता नहीं।

जिसको घड़ा कहते हो, वह मिट्टी से कोई अलग चीज़ हो ऐसा तो है नहीं। घड़े का गोल आकार मिट्टी के बिना दीखता नहीं। कच्चा घड़ा पानी में डाल दो तो गल जायेगा। मिट्टी वहाँ भी रही पर जो कुम्हार ने बनाया वह बना नहीं रहा। अतः उसको मिट्टी से भिन्न भी कहना पड़ेगा। किन्तु मिट्टी से अलग होकर वह आकार दीखता नहीं। जो चीज़ जिसके बिना नहीं रहती वह उसका ही रूप होती है— इस नियम से मिट्टी से घड़ा भिन्न भी नहीं है क्योंकि मिट्टी के रहते भी दीखता नहीं। इस तरह अलग नहीं कह सकते, अभिन्न नहीं कह सकते। कुम्हार के काम करने से पहले मिट्टी पिण्डदशा में थी, उस समय उसके अन्दर घड़ा नहीं दीख रहा था। मिट्टी अलग होकर घड़ा नहीं दीखता इसलिये भिन्न भी नहीं है, अभिन्न भी नहीं है। विचार करो, क्या तुम्हें कोई चीज़ बिना ज्ञान के प्रतीत होती है? अतः ज्ञान से अलग कोई चीज़ नहीं है। परन्तु घटज्ञान-काल में पट नहीं, पटज्ञान-काल में घट नहीं, इसलिये ज्ञान से अभिन्न भी नहीं कह सकते। ज्ञान ही ब्रह्म है। इसलिये ज्ञानरूप ब्रह्म में यह शक्ति माननी पड़ती है जिस से सब चीज़ें पैदा होती हैं। बिना ज्ञान के कोई चीज़ मिलती नहीं। माया इस शक्ति को ही कहते हैं ॥ ३५ ॥

पूर्वोक्त विचार से घड़ा भी अनिर्वचनीय ही सिद्ध हुआ अतः उसका कारण अनिर्वचनीय माया होना उचित है यह निर्णय बताते हैं—

अतोऽनिर्वचनीयोऽयं शक्तिवत् तेन शक्तिजः ।

अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता व्यक्तत्वे घटनामभूत् ॥ ३६ ॥

जैसे मिट्टी में घड़ा बनने की शक्ति मिट्टी से भिन्न भी नहीं अभिन्न भी नहीं, विलक्षण है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् उत्पन्न करने की शक्ति ब्रह्म से भिन्न भी नहीं अभिन्न भी नहीं ।

घड़ा बन गया तो पता लगा कि शक्ति थी, घड़े को देख कर शक्ति का अनुमान होता है । इसी प्रकार जगत् को देखकर माया का अनुमान होता है । ब्रह्म तो शब्द से सिद्ध है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह वेदवाक्य से सिद्ध है । ब्रह्म का हमें कोई अनुभव नहीं है । सजातीय विजातीय आदि सारे भेदों से रहित ब्रह्म वेद प्रमाण से ही पता लगता है । यह जगत् दीखता है । शास्त्र बताता है कि यह उस ब्रह्म से पैदा हुआ इसलिये मानना पड़ता है कि ब्रह्म में जगत् उत्पन्न करने की शक्ति अर्थात् माया है । शक्ति और कार्य दोनों अनिर्वचनीय होने पर भी जिस समय महाप्रलय है, उस समय कुछ भी व्यक्त नहीं है, जिस समय जगत् है तभी कह सकते हैं कि महाप्रलय में सृष्टि उत्पन्न करने की शक्ति थी, नहीं होती तो पैदा कैसे हुआ ? माया अज्ञानरूप है । संसार को देखकर पता लगता है कि हमें ब्रह्म का अज्ञान है । जब अप्रकट है तब उसे शक्ति कहते हैं, जब प्रकट है तब उसे घड़ा कहते हैं । मिट्टी-घड़ा आदि में कारण-कार्य दोनों प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणसिद्ध और उनमें कार्यकारणता समझना भी लौकिक आधार पर ही सम्भव है । जगत्-ब्रह्म में स्थिति है कि न ब्रह्म प्रत्यक्षादिसिद्ध है, न यह कि वह जगत्कारण है । ब्रह्म और उसकी जगत्कारणता शास्त्र से ही पता चल सकती है । संसार की चीज़ें जन्म-नाश वाली मिलने से, सावयव होने से, आदि विचार-पूर्वक समस्त जगत् जन्म-नाश वाला निर्णीत होता है । यहाँ तक अनुमान कार्य करता है । वेद शिव को जगत् का एकमात्र कारण कहता है । लोकसिद्ध नियम के आधारपर ब्रह्म में जगत् बनने की शक्ति समझी जाती है जिसका अनुवाद शास्त्र भी कर देता है । शक्तिसम्पन्न ब्रह्म को 'ईश्वर' कहते हैं । माया से युक्त ही जगत्कारण होने से ईश्वर है । जगत्, इसकी सृष्टि आदि के आधार पर अनुमान से जो पता लगेगा, जिसमें 'ईश्वर' शब्द की शक्ति का ग्रहण करेंगे, वह माया-विशिष्ट है । अतः जगत्काल में, व्यवहारदशा में ब्रह्म ईश्वर ही कहा-समझा जायेगा । ब्रह्म-ईश्वर पृथक् नहीं हैं ! ब्रह्म ही मायायुक्त समझा जाता ईश्वर है । ब्रह्म में किसी तरह का बदलाव, सम्बन्ध-वियोग आदि नहीं, माया से भी उसका कोई सम्पर्क नहीं ! हम कार्य की अपेक्षा से समझते हैं अतः मायायुक्त पता लगता है, वास्तव में वह स्वरूपमात्र में स्थित है । शक्ति-कार्य में अव्यक्तता का अन्तर है, हैं दोनों मिथ्या ॥ ३६ ॥

पहले व्यक्त, प्रकट न रहकर बाद में प्रकट होने वाले को लोक में 'माया' नहीं कहते तो ईश्वरशक्ति क्यों माया कही जाये ? उसके उत्तर में समझाते हैं कि लोक में भी माया कही ही जाती है—

[प्र. १३ श्लो. ३९]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १३९७

ऐन्द्रजालिकनिष्ठाऽपि माया न व्यज्यते पुरा ।
 पश्चाद् गन्धर्वसेनाऽदिरूपेण व्यक्तिमाप्नुयात् ॥ ३७ ॥
 एवं मायामयत्वेन विकारस्यानृतात्मताम् ।
 विकाराधारमृद्वस्तुसत्यत्वं चाऽब्रवीच्छ्रुतिः ॥ ३८ ॥

जादूगर में स्थित माया भी (वह खेल दिखाये इससे) पहले व्यक्ति नहीं रहती, (जब वह खेल दिखाने का निश्चय करे उसके) बाद में गन्धर्वों की सेना आदि के रूप में व्यक्त होती है (३७) इसी तरह (का होने से) कार्य क्योंकि मायामय है इसलिये श्रुति ने उसे झूठ बताया तथा उसका आधार जो मिट्टी आदि कारण वस्तु उसे सत्य बताया ।

लोक में कार्य जैसे अप्रकट रहकर प्रकट होता है ऐसे ही जादूगर की माया भी । हमेशा तो उसका खेल दीखता नहीं रहता, रास्ते चलते बाजीगर को देखकर पता भी नहीं चलता कि यह मायावी है । नगर, सेना आदि जो कुछ वह दिखाता है सब उसीमें छिपा है, उसके संकल्पानुसार सभी व्यक्त हुआ दीखता है । जैसे ऐन्द्रजालिक (बाजीगर) अपने खेल का, अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है वैसे ईश्वर भी प्रपंच का एकमात्र कारण है ॥ ३७-३८ ॥

परमेश्वर की शक्ति माया बतायी जिसका विस्तार होने से प्रपंच भी मायिक अतः झूठा कहा । उसे झूठा बताने वाली प्रसिद्ध श्रुति छान्दोग्य (६.४.१) में है 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्', उसका उल्लेख करते हैं—

वाङ्मिण्पाद्यं नाममात्रं विकारो नास्य सत्यता ।
 स्पर्शादिगुणयुक्ता तु सत्या केवलमृत्तिका ॥ ३९ ॥

कार्य वाणी-सम्पाद्य होने से नाम ही है, इसकी सत्यता नहीं । स्पर्श आदि गुणों से युक्त (अतः) सत्य तो मिट्टी ही है ।

श्रुति ने कहा कि वाणी से ही घट की सिद्धि होती है । वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि यह सारा प्रपंच शब्द का ही प्राकट्य है । वाणी से उच्चारण करते हो 'घट' यह नाम, बस इतनी ही घट की सत्यता है, इसकी वास्तविक सत्यता नहीं है । जो चीज़ सत्य होती है वह हमेशा 'है' के साथ जुड़ी रहती है । संसार की चीज़ें तो 'नहीं है' के साथ मिलती हैं : बेटा पैदा होने से पहले अनादि काल से और मरने के बाद अनन्त काल तक नहीं है । फिर मध्यकाल में सौ साल तक जो बेटा दीखा उसे तुम सत्य कैसे मानते हो? सच्ची तो कारणरूप मिट्टी है । मिट्टी के अपने स्वतंत्र रूपादि गुण हैं । घड़े के स्वतंत्र कोई गुण आदि नहीं हैं, मिट्टी के ही स्पर्श आदि को घड़े का गुण मान लेते हैं । मिट्टी के स्पर्शादि इसलिये सत्य हैं कि घड़े से पूर्व और बाद में भी रहेंगे । विचारक जगत् की नश्वरता तो मानते हैं, इसे हमेशा रहने वाला कोई दार्शनिक नहीं मानता । जिस रूप में उपस्थित है उसी रूप में रहेगा ऐसा कोई नहीं मानता । जो मीमांसक जगत् को नित्य मानते हैं, वे भी हर चीज़ पैदा

और समाप्त होती है इसलिये उन्हें अनित्य मानते हैं। जो अनित्य होता है वह मिथ्या होता है, इस बात को अन्य लोग नहीं समझ पाते। अनित्यता से मिथ्या सिद्ध होवे इसलिये श्रुति ने कहा कि कहनेभर का होने से कार्य सत्य नहीं। जो हमेशा रहने वाला है वह सत्य है, आने-जाने वाला मिथ्या है। मिथ्या सत्य से ही आया है, इसलिये सत्य में मिथ्या की शक्ति है जिसे माया कहते हैं।। ३६।।

शक्ति और उसका कार्य मिथ्या तथा शक्ति का आधार सत्य समझने में हेतु बताते हैं—

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्वधयोर्द्वयोः ।

पर्यायः कालभेदेन तृतीयस्त्वनुगच्छति ।। ४० ।।

व्यक्त अव्यक्त और उनका आधार—इन तीनों में पहले दोनों समयानुसार क्रम से होते हैं जबकि तीसरा निरन्तर बना रहता है।

मिट्टीरूप आधार, व्यक्त घड़ा, और व्यक्त होने से पहले अव्यक्त—ये तीन हो गये। एक प्रकट होने वाला कार्य, दूसरा अप्रकट रहने वाली शक्ति, तीसरा हमेशा एक-जैसा रहने वाला कारण। व्यक्त और अव्यक्त परिवर्तित होता रहता है। व्यक्तकाल में कार्य और अव्यक्तकाल में शक्ति है, कालभेद से ये आते-जाते हैं। घड़ा बनने से पहले अव्यक्त है। कुम्हार के काम के बाद व्यक्त है। व्यक्त-अव्यक्त एक-एक करके आते हैं।

मिट्टी पहले और बाद में, सभी समय है। शक्ति और कार्य कभी-कभी हैं इसलिये इन्हें अनृत, मिथ्या कहते हैं। मिट्टी एकरूप अतः सत्य है। कार्य पहले अव्यक्त है, फिर व्यक्त और फिर अव्यक्त हो जाता है। भगवान् ने कहा है 'अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत, अव्यक्तनिधनानि'—सारे भूत पहले अव्यक्त, बीच में व्यक्त, फिर अव्यक्त हो जाते हैं। यह कार्यमात्र का नियम है। यही कालभेद 'पर्यायता' अर्थात् क्रमभाविता है। तीनों कालों में एक-जैसा रहने वाला तो कारण ही है। अव्यक्त से व्यक्त और फिर अव्यक्त होने वाला विकार असत्य है। संसार में सभी को कार्य अव्यक्त और व्यक्त मानना ही पड़ता है। सभी चीजें जन्म-मरण वाली हैं। परन्तु वे कहते हैं कि जिस काल में व्यक्त है, तब कार्य सचमुच में है। वेदान्ती कहता है पैदा होने वाला, मरणधर्मा असत् है क्योंकि वह विनाशिता को असत्यता में हेतु कहता है।। ४०।।

कार्य असत्य है इसे अनेक हेतुओं से सिद्ध करते हैं—

निस्तत्त्वं भासमानं च व्यक्तम् उत्पत्तिनाशभाक् ।

तदुत्पत्तौ तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते नृभिः ।। ४१ ।।

व्यक्त कहलाता कार्य स्वरूप से असत् रहकर प्रतीयमान है एवं उत्पत्ति-विनाश वाला है। उसकी उत्पत्ति होने पर लोग वाणी से उसके नाम का व्यवहार करते हैं।

संसार वास्तविकता से रहित है, सत्तारहित है। जैसे रस्सी में साँप दीखते काल में भी

[प्र. १३ श्लो. ४१]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १३९९

वहाँ सर्प नहीं है वैसे दीखते काल में भी घट में वास्तविकता नहीं है। बिना वास्तविकता हुए भी प्रतीति होती है। घड़ा सचमुच में है नहीं, पर प्रतीत होता है। सभी व्यक्त चीज़ें ऐसी ही हैं। इसीलिये वेदान्त में व्यक्त पदार्थों का ज्यादा विचार नहीं है। अन्य दार्शनिक व्यक्त के बारे में अधिक विचार करते हैं। वेदांती कहता है कि व्यक्त तो निस्तत्त्व है इसलिये उसकी सत्ता का निर्णय करने का प्रयत्न मत करो। यह माया का खेल है, 'क्या है'—यह कह नहीं सकते किन्तु 'भासमानं च' प्रतीत होता है। व्यक्त उत्पन्न हुआ है और नष्ट होता है।

भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा। वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः।।' (वैत.६) पहले-पीछे न होने वाला मध्य में भी नहीं हो सकता है। तथ्यहीन जैसा है पर लगता तथ्यवान् है, इसी से लोग भ्रम में पड़ते हैं। व्यक्त वास्तविक लगने से हम सारा प्रयत्न उसपर केन्द्रित रखते हैं। क्योंकि है वह अवास्तविक इसलिये हमारा श्रम, सामर्थ्य तो क्षीण होते हैं लेकिन उपलब्धि कुछ हो नहीं पाती, हाथ में रह कुछ नहीं जाता। निस्तत्त्व होकर भी भासमान होने वाला मिथ्या कहलाता है।

कार्यमिथ्यात्व में एक हेतु निस्तत्त्व होते हुए भासमानता अर्थात् दृश्यता, दूसरा—जन्मनाशशीलता। सभी व्यक्त पदार्थों में ये विशेषतायें हैं अतः सब कार्य मिथ्या हैं। मिथ्या व्यवहार-योग्य होता है, इसमें एक मुख्य कारण है कि उसका नाम पड़ जाता है। यह तीसरा कारण है मिथ्यात्व में। जब चीज़ उत्पन्न, व्यक्त होती है, तब लोग वाणी के द्वारा उसका नाम रख लेते हैं। पैदा होने से पहले उसका नाम नहीं है। नष्ट होने के बाद भी नाम बना रहेगा। यही बन्धन में डालता है। नाम-रूप में से नाम ज्यादा बन्धन का कारण है। नाम वाणी से पैदा हुआ, उसका व्यवहार वाणी से ही होता है। जैसे संसार के बन्धन में नाम डालता है, वैसे ही संसार से छुड़ने वाला भी हो जाता है। त्रेता में दशरथ के घर राम नाम का बेटा हुआ। उनका नाम लोगों को आज भी तारता है। शब्दों के द्वारा उनके चरित्र का वर्णन कर आज भी मार्गदर्शन कराता है। संसार की चीज़ों का ग़लत प्रयोग बन्धन का कारण है, उचित ढंग से उपयोग मोक्ष का कारण है। बन्धन-मोक्ष दोनों ही नाम-रूप की मर्यादा में हैं। बन्धन-मोक्ष ये भी नाम हैं। शुद्ध चेतन एक जैसा सदैव है। बन्धन वास्तविक नहीं है, यदि होता तो मोक्ष भी वास्तविक होता। भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि परमार्थ दृष्टि से निरोध (बन्धन), उत्पत्ति, बद्ध, साधक, मुमुक्षु, मुक्त—ये सब हैं ही नहीं! जैसे गड़े काँटे को हाथ में पकड़े काँटे से निकालना पड़ता है वैसे अज्ञान के काँटे को ज्ञान के काँटे से निकालना पड़ता है। यदि निकालने वाला काँटा भी गड़ा रह गया तो वह भी नासूर करेगा, जैसा पहले वाले ने किया। यदि मोक्ष की वास्तविकता पर जोर दोगे, तो बन्धन की वास्तविकता स्वयं आ जायेगी॥ ४१॥

नाम पड़ने से व्यवहार्यता होने के कारण श्रुति ने कार्यों को 'वाचारम्भण' अर्थात् वाणी के सहारे ही होने वाला कहा यह बताते हैं—

व्यक्ते नष्टेऽपि नामैतद् नृवक्त्रेष्वनुवर्तते ।
तेन नाम्ना निरूप्यत्वाद् व्यक्तं तद्रूपमुच्यते ॥ ४२ ॥

व्यक्त रहते एवं नष्ट होने पर भी यह नाम लोगों के मुँहपर बना रहता है इसलिये नामद्वारा निरूपणीय होने के कारण व्यक्त अर्थात् कार्य को नामात्मक कहा गया है।

जब चीज़ व्यक्त हो गई, उससे पहले उसका नाम नहीं है। चीज़ तो नष्ट हो गई लेकिन उसका नाम मनुष्यों के मुख में रहता ही है। यहाँ 'नृवक्त्रेषु' से देवता, गन्धर्व इत्यादि के मुख भी ले लेने चाहिये। अर्थात् जो-जो शब्द का प्रयोग करने में समर्थ हैं, वे सभी यहाँ नृ शब्द से कह दिये। जो भी शब्द का प्रयोग करने वाले हैं, उनके अन्दर वह नाम बना रहता है। व्यक्त कार्य वाणी के द्वारा नाम से व्यवहृत किया जाता है। वाणी से ही कार्य का निरूपण होता है। वाणी से जिसका व्यवहार करते हो वह व्यक्त रूप ही है। शिव का वाणी से व्यवहार कर नहीं सकते। श्रुति बार-बार कहती है कि वह मन और वाणी का विषय नहीं है क्योंकि कोई शब्द उसे कहने में समर्थ नहीं है। शब्द से जब कहने का प्रयत्न करते हैं तब विरुद्ध बातें कहनी पड़ती हैं! जैसे, ईशावास्य में कहा 'अनेजत्' वह हिलता भी नहीं है, फिर भी 'मनसो जवीयः' मन से भी तेज़ चलता है! दोनों विरुद्ध बातें हैं। व्यवहार अज्ञान का ही कार्य होगा। नाम से व्यवहार हो जाता है रूप के नष्ट होने के बाद भी, इस दृष्टि से नाम को रूप की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है। राम का नाम हजारों सालों से कल्याण कर रहा है और करता रहेगा। नाम श्रेष्ठ होने से वेद में वही उसका रूप कह दिया गया है।। ४२।।

तीनों हेतु बता चुके, अब अनुमान के ढंग से कहते हैं—

निस्तत्त्वत्वाद् विनाशित्वाद् वाचारम्भणनामतः ।

व्यक्तस्य न तु तद्रूपं सत्यं किञ्चिद् मृदादिवत् ।। ४३।।

व्यक्त अर्थात् कार्य का वह (अर्थात् कहा जा सकने वाला) रूप कुछ भी सत्य नहीं है क्योंकि तत्त्वहीन है, विनाशी है और वाणी के सहारे रहने वाला अर्थात् नाममात्र है। (जो निस्तत्त्वादि नहीं होता वही सत्य होता है) जैसे मिट्टी आदि।

अनुमान बनेगा—घटादि कार्य असत्य है क्योंकि १) निस्तत्त्व है, २) विनाशी है और ३) वाणी पर ही निर्भर है; जो असत्य नहीं होता वह निस्तत्त्वादि भी नहीं होता जैसे घटादि का उपादान मिट्टी आदि। तत्त्व वह होता है जो प्रमाणसिद्ध होकर एकरस ही रहे। घट आदि कार्य तो विभिन्न परिवर्तनों वाला एवं प्रमाणसिद्ध नहीं; प्रमाण मिट्टी ही सिद्ध कर पाते हैं, घट नहीं। आँख आदि से मिट्टी ही दीखती है, उससे स्वतन्त्र घड़ा कोई वस्तु मिलती नहीं। अवयव ऊपर-नीचे कर देने से तत्त्वान्तर नहीं बन जाता। इसी प्रकार सत्य नश्वर नहीं होता, सत् का, सत्ता का व्यभिचारी नहीं होता। कार्य सभी सद्ब्यभिचारी हैं, जन्म से पूर्व और ध्वंस के बाद सत्सम्बद्ध नहीं हैं। तीसरा हेतु है नामाश्रित ही होना। प्रमाण से नहीं वरन् वाङ्मात्र से, नाममात्र से व्यवहार्य होना कार्य का स्वरूप है।

कार्य उत्पन्न होने पर नाम पड़ता है फिर उसके ध्वंस के बाद भी कुछ समय तक चलता रहता है। हमेशा तो नहीं पर तारतम्यसे दीर्घ काल तक बना रहता है। रूप का जीवन

[प्र. १३ श्लो. ४५]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १४०१

स्वल्पतर है, नाम उससे ज्यादा टिकाऊ है। रूप पहले अव्यक्त रहा, कार्यजन्म के समय व्यक्त हुआ, तदनन्तर नाम व्यक्त हुआ—यह लोकसिद्ध क्रम है। किंतु घड़े का जो कुछ भी परिचय संभव है वह शब्दात्मक ही है; 'घड़ा बनाओ' ऐसा कुम्हार से कहते हैं, 'घड़ा बन गया' यह जब वह बताता है तब जाकर जिसे 'घड़ा' कहते हैं उसे उठा लाते हैं, कालान्तर में 'घड़ा फूट गया' यह कहते हैं। वस्तु लगातार मिट्टी रही, पहले उसे 'घड़ा' नहीं कहते थे, बीच में कुछ काल कहा, फिर नहीं कहते; इस तरह घड़ा कहलाती चीज़ का 'घड़ा' शब्द ही परिचय है अतः इस शब्द के सहारे ही उसकी वर्तमानता स्वीकार्य होने से वह शब्दनिर्भर या वाचारम्भण (वागालम्बन) है। वाणी द्वारा नाम पड़कर व्यवहार्य होना कार्य का वैशिष्ट्य है। घटादि 'असत्य' है अर्थात् वास्तव में सत्य नहीं। व्यवहार-निर्वाह के लिये भले ही उसमें सत्यता है लेकिन परमार्थतः नहीं। त्रिकाल में वह अबाध्य हो ऐसी बात नहीं। सचमुच में सच्चा, और झूठ-मूठ में सच्चा, इस अन्तर को वेदान्ती ही स्पष्ट करता है ॥ ४३ ॥

कार्य असत्य है यह समझा चुके, अब स्पष्ट करते हैं कि कार्य का अधिष्ठानरूप मिट्टी सत्य है—

व्यक्तकाले ततःपूर्वम् ऊर्ध्वमप्येकरूपभाक् ।

सतत्त्वम् अविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते ॥ ४४ ॥

व्यक्त होने वाले कार्यों के समय, उससे पहले और व्यक्त न रह जाने के बाद, सभी समय एक-समान रहने वाली मिट्टीरूप वस्तु वास्तविक रूप वाली, अविनाशी और सत्य कहलाती है।

घड़ा आदि व्यक्त होने से पहले, उसके बाद तथा कार्य समाप्त होने के अनन्तर भी मिट्टी स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आया अतः वह तत्त्व वाली है। और वह नष्ट होने वाली नहीं है। सृष्टि होने से पहले ब्रह्म था, महाप्रलय में भी ब्रह्म ही रह जायेगा। बीच में भी हर चीज़ सत् से अनुविद्ध मिलती है। व्यक्त होने से पहले, व्यक्त के नष्ट होने पर तथा मध्य में भी रहने से सद्रूप ब्रह्म ही वास्तविक है, सत्य है, पारमार्थिक है ॥ ४४ ॥

कार्य असत्य है तो उसके अधिष्ठान अर्थात् कारण को जानते ही निवृत्त, प्रतीति का अविषय क्यों नहीं हो जाता? यह प्रश्न उठाते हैं—

व्यक्तं घटो विकारश्चेत्येतैर्नामभिरीरितः ।

अर्थश्चेदनृतः कस्माद् न मृद्वो धे निवर्तते ॥ ४५ ॥

'व्यक्त' 'घट' 'विकार' आदि नामों से कहा जाने वाला कार्यरूप पदार्थ यदि झूठा है तो मिट्टी आदि कारण के ज्ञान से मिट क्यों नहीं जाता?

कार्यमात्र को कारण पर अध्यस्त बताया जैसे रस्सी आदि पर साँप आदि अध्यस्त अर्थात् भ्रमसिद्ध होते हैं। प्रश्न उठता है कि रस्सी देख लेने पर साँप समाप्त हो जाता है, दीखना ही बंद हो जाता है, 'नहीं है' ऐसा उसके बारे में अनुभव हो जाता है; इसी तरह

मिट्टी, धागा, सोना आदि देखने से घड़ा, कपड़ा गहना आदि भी समाप्त हो जाने चाहिये, उनका अनुभव 'है' की जगह 'ये कार्य नहीं हैं' ऐसा होना चाहिये जबकि परिस्थिति ऐसी है नहीं, कारण जानते हुए भी कार्य दीखता ही है, व्यवहार में आता रहता ही है। संसार रस्सी में साँप की तरह हो तो परमेश्वर जानने के साथ ही मिट जाना चाहिये। कार्य के व्यक्त, विकार आदि सामान्य नाम हैं, घट उदाहरण के लिये बताया गया है। यह प्रश्न वेदान्ती के सामने हमेशा आता है कि मिट्टी, सोना आदि जानने के बावजूद घड़ा, गहना आदि व्यवहार निर्बाध है तो इन्हें मिथ्या कैसे समझें? ॥ ४५ ॥

उक्त प्रश्न के उत्तर में सिद्धान्ती समझाता है कि 'निवृत्ति' मायने क्या? प्रतीयमानता को ही सत्यता मानकर प्रश्न है जबकि सत्य का मतलब अबाध्यता, नित्यता, स्वतन्त्रता है। अधिष्ठानज्ञान से कार्य बाध्य ही है अतः प्रतीतिमात्र से वह सत्य नहीं रह जाता—

निवृत्त एव यस्मात् ते तत्सत्यत्वमतिर्गता ।

ईदृङ्निवृत्तिरेवाऽत्र बोधजा न त्वभासनम् ॥ ४६ ॥

(कारण-ज्ञान से कार्य) मिटता ही है क्योंकि तुम्हें (जो उसके अधिष्ठानभूत कारण को जानते हो) उसकी सत्यता का निश्चय नहीं रह जाता। वेदान्तों में ज्ञान से होने वाली ऐसी ही निवृत्ति स्वीकार है, भान न होनारूप निवृत्ति विवक्षित नहीं।

हमारा संस्कार है कि जो प्रतीत है, वह है। 'प्रतीत होने वाला सचमुच में नहीं है'—यह निश्चय ही प्रतीयमान की निवृत्ति है। वेदान्त में ज्ञान से होने वाली यही निवृत्ति है। ज्ञान, अज्ञान को हटा देता है। प्रतीति न होना यहाँ निवृत्ति नहीं है।

जब तक 'प्रतीत होना ही सत्य होना है'—यह मानते हैं तब तक अधिष्ठानज्ञान से लाभ समझ नहीं आता। वेदान्तों में इसीलिये व्यावहारिक सत्यता पृथक् बतायी गई। कार्य व्यवहारयोग्य है यह तो मान्य ही है। अज्ञानदशा में 'वही अबाध्य है, वास्तविक है' ऐसा लगता है, ज्ञानदशा में यह भ्रम दूर हो जाता है, नाम-रूप-कर्म का व्यवहारोपयोग हटे यह न जरूरी है, न शास्त्र का अभिप्राय है। अधिष्ठानबोध से जब तक अध्यस्त का बाध न हो तब तक अधिष्ठान ही सत्य है इस निश्चय को दृढ़ करने का अभ्यास करना चाहिये। इसीलिये 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' यों एव-कार का वेद ने प्रयोग किया। दृढ़ अपरोक्ष से ही यह संभव है कि कार्य-प्रतीति होती रहने पर भी निश्चय रहे कि वह असत्य है ॥ ४६ ॥

झूठा जानकर भी प्रतीत होता रहे ऐसा दृष्टान्त दिखाते हैं—

पुमानधोमुखो नीरे भातोऽप्यस्ति न वस्तुतः ।

तटस्थमर्त्यवत् तस्मिन्नैवास्था कस्यचित् क्वचित् ॥ ४७ ॥

तालाब, नदी आदि के किनारे खड़ा आदमी जल में डूबा दीखता है, उसका मुख जलमें नीचा, गहरायी में, दीखता है, फिर भी सभी समझते हैं कि वह वास्तव में है नहीं, कभी कहीं किसी को वह वैसा सत्य नहीं लगता जैसा किनारे खड़ा आदमी।

[प्र. १३ श्लो. ४८]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १४०३

तालाब के किनारे का आदमी जल में उलटा दिखाई देता है। दीखने पर भी निश्चय है कि सचमुच में वहाँ नहीं है, मैं जैसा सच्चा हूँ वैसा पानी में दीखने वाला आदमी सच्चा नहीं है। इसी प्रकार, शिव जैसा सच्चा है, वैसा सच्चा अहंकार में प्रतिबिम्बित होने वाला शिव नहीं है। जब तक 'अहम्' है तब तक अहंकार में प्रतीति होती रहेगी परन्तु उसमें प्रतीत होता रूप वैसा सच्चा नहीं है जैसा मैं हूँ। पानी में आदमी दीख रहा है पर उसमें तुम्हें कोई आस्था, विश्वास नहीं होता है। उसको सच्चा कोई नहीं मानता। जब समझ दृढ़ हो जाती है कि जिनसे व्यवहार हो रहा है वे विषय हैं नहीं, तब उनसे राग-द्वेषरूप बन्धन समाप्त हो जाता है यह विशेष है, व्यवहार-लोप विशेष नहीं है। पूर्व जन्मों के हों या वर्तमान के, किसी कर्म से या उसके फल से मुझ आत्मा का कोई वास्तव सम्बन्ध नहीं। अतः शास्त्र कहता है कि तत्त्वज्ञ से कोई घोर पाप भी हो जाये तो भी उसके चेहरे पर छाया नहीं आती, मुख मलिन नहीं होता। कारण यही है कि वह स्वयं को उससे असम्बद्ध जानता है। ऐसे ही किसी पुण्य से उसे उल्लास नहीं हो सकता। दृश्य-सम्बन्ध से राहित्य का दृढ़ निश्चय ही सार्थक है, यह भाव है।। ४७।।

प्रश्न होता है कि आरोपित को असत्य जानने से ही क्या पुरुषार्थ-लाभ हो जाता है, क्या प्रतीति रुकना ज़रूरी नहीं? उत्तर है—

ईदृग्बोधे पुमर्थत्वं मतमद्वैतवादिनाम्।

मृद्रूपस्याऽपरित्यागाद् विवर्तत्वं घटे स्थितम्।। ४८।।

कार्य के मिथ्यात्व का साक्षात्कार होने से आनन्दरूप पुरुषार्थ की सिद्धि अद्वैतवादियों को स्वीकार है। घड़ा क्योंकि मिट्टीरूपता छोड़ता नहीं इसलिये अवश्य वह विवर्त है।

अद्वैत सिद्धान्त में अपरिच्छिन्न आत्मा सत्य है, कार्य-कारण प्रपञ्च मिथ्या है अतः प्रपञ्च का बाध ही सम्भव है, निवृत्ति नहीं। सत्य को दूर कर सकते हैं। झूठ को झूठा जान ही सकते हैं, दूर नहीं कर सकते। चाहे बाह्य प्रपञ्च हो, चाहे मन आदि आन्तर प्रपञ्च हो या उससे सम्बन्ध हो, उसे मिथ्या जानना ही इसका हटना है, इसके अलावा इसे हटाना संभव नहीं। आनन्द सत्य होने से मिथ्या आवरण हटते ही अनावृत हो जाता है अतः मिथ्यात्व-साक्षात्कार पुरुषार्थसम्पादक है। कार्यादि प्रपञ्च मिथ्या जानने वाला साक्षी ही एकमात्र आनन्दरूप आत्मा सत्य है।

इसके अलावा सब प्रतीत होने वाला मिथ्या है। जिसे प्रतीति हो रही है, वही एकमात्र सत्य है। शरीर और मन को लेकर ही सारे दुःखों का निरूपण होता है। शरीर-मन से सम्बन्ध नहीं रहा तो उसमें होने वाले दुःखों से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्यगात्मा प्रिय होने से वहाँ आनन्दरूपता है।

वह प्रत्यक्स्वरूप सत्य है अतः निर्विकार रहते हुए भी प्रपञ्च का कारण है क्योंकि प्रपञ्च विवर्त है, परिणाम नहीं। मिट्टी यथावत् रहती है, घट की प्रतीति आती-जाती है अतः घड़ा मिट्टी का विवर्त है। इसीसे छान्दोग्य श्रुति ने रज्जुसर्प को उदाहरण न बनाकर मिट्टी-वर्तन आदि को दृष्टान्त बनाया है। ये दृष्टान्त साधारण आदमी को परिणामवाद के लगते हैं।

वह सोचता है कि मिट्टी से घड़ा बना तो दोनों ही सच हैं। यहाँ विवेक कर बताया कि घड़ा बनने से पहले नहीं था, मिट्टी थी। घड़ा न होने पर भी मिट्टी है। घड़ा मिट्टी के समान सत्य नहीं है। अतः यह रज्जु-सर्प की तरह ही विवर्त का दृष्टांत है, परिणामवाद के अनुकूल नहीं है। जैसे बाह्य संसार मिथ्या प्रतीत है वैसे 'मैं संसारी' यह प्रतीति, पानी में पड़ी अपनी छाया देखने के समान है। वह छाया उल्टी दीखती है पर ऊपर देखने पर सीधा खड़ा आदमी दीखता है। उसे देखकर व्यक्ति समझ जाता है कि सीधा खड़ा सच्चा और जल में दीखने वाला प्रतीतिमात्र है। जब हम अपने को देखते हैं तब अहंकार में पड़ा, रागद्वेष वाला अपना रूप दिखाई देता है, उसे ही अपना रूप मानते हैं। जब श्रुति को देखते हैं तब 'तुम नित्य शुद्ध मुक्त स्वभाव वाले हो' पता लगता है। शंका होती है कि 'मैं अपने को कामी, क्रोधी, लोभी, देख रहा हूँ?' विचार करते हैं, 'ऐसा मैं कब बनता हूँ? जब अहंकार में आता हूँ। नींद में मैं ऐसा नहीं हूँ। जब मन में अपने को देखता हूँ तब ये विकार मुझमें दीखते हैं।' जब यह निश्चय हो जाता है, तब मन में विकार वाला देखते हुए भी जानते हैं कि 'ये मेरा सच्चा रूप नहीं हैं'। इस प्रकार का ज्ञान ही मुक्ति का स्वरूप है। जैसे मिट्टी यथावत् रहते हुए भी घट-रूप में दीखती है वैसे ही ज्ञानस्वरूप साक्षिस्वरूप मैं निर्विकार रहते हुए ही मन में संसारी दीखता हूँ॥ ४८॥

प्रश्न उठता है कि मिट्टी-रूप रहते हुए भी घड़े को मिट्टी का परिणाम क्यों न माना जाये? परिणाम का लक्षण है 'सचमुच में दूसरा हो जाना'। और विवर्त का लक्षण है 'बिना अपना वास्तविक स्वरूप बदले हुए, अन्य रूप में दीखना'। आत्मा भी पहले ब्रह्म था, अब जीव बन गया—यही क्यों न समझें? इसका उत्तर देते हैं—

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत्तत्क्षीररूपवत्।

मृत्सुवर्णे निवर्तते घटकण्डलयोर्न हि॥ ४९॥

परिणाम होने पर वह (कारण) अपना पहले का रूप छोड़ता है जैसे (दही बनने पर) दूध रूप (छूट जाता है)। घड़ा या कुण्डल बनने पर भी मिट्टी या सोनारूप छूटते नहीं (अतः घड़ा आदि परिणाम नहीं, विवर्त हैं)।

परिणाम अर्थात् बदलना। कारण में कोई परिवर्तन आये तब परिणाम कहा जाता है किंतु इसमें कारण का जो स्वरूप था वह न रहकर नया स्वरूप प्रकट होता है। इसमें प्रसिद्ध दृष्टान्त है दूध का दही बन जाना। दही परिणाम है, दही-दशा में दूध उस स्वरूप से नहीं जिस स्वरूप से वह पहले, कारणदशा में था। पिछला रूप छोड़ना—यह परिणाम में देखा जाता है किंतु घड़ा, गहना आदि बनने पर भी मिट्टी, सोना आदि अपने स्वरूप से यथावत् बने रहते हैं। दही बन चुकने पर 'दूध है' ऐसा व्यवहार नहीं, 'दूध नहीं रहा' ऐसा व्यवहार होता है। किंतु घड़ा बनने पर 'मिट्टी नहीं है' ऐसा व्यवहार नहीं वरन् 'मिट्टी है' यही व्यवहार होता है। कारण का स्वरूप रहते कार्य का व्यवहार हो जाये तो विवर्त ही कह सकते हैं, परिणाम नहीं। विवर्त में कारण पूर्वरूप को छोड़ता नहीं है। मिट्टी और सोना, घट और

[प्र. १३ श्लो. ५१]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १४०५

कुण्डल बनने पर निवृत्त नहीं होते अर्थात् मूल पदार्थ यथावत् रहता है इसलिये घड़ा आदि विवर्त ही है, जीव भी विवर्त-विधया ही कर्ता आदि 'बनता' है ॥ ४६ ॥

प्रश्नोत्तर से समझाते हैं कि घड़ा आदि स्थल पर कारण अविकृत है—

घटे भग्ने न मृद्भावः कपालानामवेक्षणात् ।

मैवं चूर्णेऽस्ति मृद्रूपं स्वर्णरूपं त्वतिस्फुटम् ॥ ५० ॥

प्रश्न होता है कि—घड़ा फूटने पर मिट्टी-स्वरूप नहीं मिलता क्योंकि ठीकरे दीखते हैं? उत्तर है कि—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि ठीकरों का चूरा करने पर मिट्टीरूप है ही। किंच, गहना न रहने पर सोनारूप बना ही रहता है—यह तो अत्यन्त स्पष्ट है।

तार्किक आदि दार्शनिक घड़े का कारण 'कपाल' को कहते हैं क्योंकि घड़े से ठीक पूर्व कपाल-दशा ही दीखती है और प्रायः घड़ा फूटे तो ठीकरा-रूप कपाल ही बचते हैं। किंतु सांख्यादि कहते हैं कि कारण मिट्टी ही है, कपाल तो एक अवान्तर अवस्था है। अतः समझा दिया कि घड़ा फूटने पर ठीकरे ही नहीं रहते, यदि भारी वजन पड़कर टूटे तो घड़ा चूर-चूर हो जाता है। इस तरह मिट्टीरूप बना रहना सिद्ध होता है। गहना-सोने के उदाहरण में तो और भी साफ है कि सोना जैसे का तैसा ही रहता है। इसलिये कार्यों को विवर्त ही समझना संगत है ॥ ५० ॥

शंका होती है कि क्या मिट्टी-वर्तन आदि की तरह सर्वत्र विवर्त स्वीकार है? यदि हाँ तो क्या दूध का विवर्त ही दही भी है? यद्यपि सिद्धान्ती का परम मत अजातवाद तथा उपायरूप से विवर्तवाद प्रसिद्ध होने से दूध-दही में भी विवर्त मानना संगत है तथापि एकाएक स्थूल बुद्धि वाला समझ नहीं सकेगा यह मानकर 'विवर्तवाद की पूर्वभूमि परिणामवाद है' ऐसी साम्प्रदायिक उक्ति का अनुसरण कर वहाँ परिणाम का अभ्युपगम कर समाधान देते हैं—

क्षीरादौ परिणामोऽस्तु पुनस्तद्भाववर्जनात् ।

एतावता मृदादीनां दृष्टान्तत्वं न हीयते ॥ ५१ ॥

दूध आदि से दही आदि बनने के स्थलों में परिणाम भले ही हो क्योंकि दही-नाश से पुनः दूधरूप बनना दुर्लभ है किंतु इतने-मात्र से मिट्टी आदि विवर्त में दृष्टान्त बने इसमें कोई रुकावट नहीं आती।

जैसे आधुनिक लोग समझाते हैं, जहाँ केवल अवयव-विन्यास में परिवर्तन है उस स्थल पर पदार्थ वही रहता है, जहाँ रासायनिक परिवर्तन है वहाँ पदार्थ नया होता है, इसी तरह जहाँ कार्य से पहले, कार्यकाल में, कार्यनाश होने पर कारण का अस्तित्व एक-सा रहे वहाँ विवर्त, तथा जहाँ कारण का स्वरूपतः व्यवहार न रहे वहाँ परिणाम मान सकते हैं ऐसा यहाँ समझा रहे हैं। इसे 'अतत्त्वतः अन्यथाभाव' विवर्त का तथा 'सतत्त्वतः अन्यथाभाव' परिणाम का लक्षण बताकर प्राचीनों ने समझाया है। दूध-दही स्थल में परिणाम मान लेने से सर्वत्र

वह मान्य नहीं अतः मिट्टी-घड़ा आदि श्रौत दृष्टान्त विवर्त के ही रहते हैं। जो दृष्टान्त उपनिषद् ने दिये उनमें कोई क्षति नहीं आती। परिणाम को 'अस्तु' कह कर भी विवर्त अन्ततः सिद्ध करना ही है। सद्ब्रह्म का यह प्रपञ्च विवर्त है, क्योंकि सद् ब्रह्म एक-सा बना रहता है, सद्रूप ब्रह्म में ही जगत् की प्रतीति है। लय-प्रक्रिया के द्वारा चिन्तन करते हैं तो सद्ब्रह्म ही रह जाता है। दूध से दही स्थल में तत्त्वतः अन्यथाभाव भले ही मान लो क्योंकि फिर दूध मिलता नहीं, लेकिन मिट्टी तो फिर मिल जाती है अतः मिट्टी सोने आदि दृष्टान्त विवर्त के रह ही जाते हैं। क्योंकि मिट्टी आदि दृष्टान्त साधारण आदमी स्पष्टतः नहीं समझता, इसलिये आचार्यों ने विवर्त का स्पष्ट भान जहाँ होता है वे उदाहरण दिये—साँप से चाँदी बनने का या रस्सी से साँप बनने का ॥५१॥

वैशेषिक पूछ सकता है कि वेदान्ती यदि किन्हीं स्थलों पर परिणाम स्वीकार सकता है तो कहीं-कहीं आरम्भ भी क्यों नहीं मान लेता? बल्कि आरम्भवाद में कारण का बना रहना विवर्तवाद के अनुकूल है। जैसे रस्सी यथावत् रहते साँप बनता है ऐसे परमाणु आदि कारण यथावत् रहते द्व्यणुक या घट आदि कार्य बनते हैं। इसलिये आरम्भ को मान्यता क्यों नहीं? इसका जवाब देते हैं—

आरम्भवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत् ।

रूपस्पर्शादयः प्रोक्ताः कार्यकारणयोः पृथक् ॥ ५२ ॥

आरम्भवादी के मत में घट आदि कार्यवस्तु में कारण-द्रव्य दोगुणा हो जाना चाहिये। कार्य और कारण के रूप स्पर्श आदि (उनके मत में) अलग बताये जाते हैं।

आरम्भवाद के अनुसार कारण यथावत् रहकर कार्य नामक अभिनव वस्तु उत्पन्न होती है जिसके रूप स्पर्शादि नये ही बनते हैं। फलतः घड़े का अपना वज्रन होगा और घड़ा जिस कारणभूत मिट्टी (या कपाल) में रहेगा उसका अपना वज्रन होगा; इस प्रकार दो गुणा वज्रन हो जायेगा। ऐसे ही अन्य गुणों में समझना चाहिये। कार्य-कारण में सर्वथा भेद मानने पर यह दोष अनिवार्य है। वेदान्त में तो है सिर्फ कारण, कार्य की प्रतीतिमात्र है अतः यह समस्या नहीं। परिणामवादी के मत में कारण ही कार्यरूप से उपलब्ध है अतः दो वस्तुएँ नहीं। आरम्भवाद में ही उक्त असंगत स्थिति बनने से वह मत हेय है। कार्य-कारण के गुण अलग-अलग होते हैं यह उनकी मान्यता है जिससे यह समस्या है। कारण के गुण कार्य के गुणों को पैदा करते हैं यह मानना उनकी गलती है। विवर्तवाद में तो, कारण के गुण कार्य में प्रतीत ही होते हैं, होते नहीं, इसलिये दोगुणा होना संभव नहीं। हम कहते हैं कि रस्सी का यह-पना सर्प में प्रतीत हो गया। सर्प में नया यह-पना नहीं आता। अतः आरम्भवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता। परिणामवाद पर गम्भीर चिन्तन करें तो विवर्तवाद स्वयम् हृदयंगत हो जायेगा इसलिये सर्वज्ञात्म महामुनि आदि ने विवर्तवाद की पूर्वभूमि के रूप में इसे अनुमति प्रदान की है ॥ ५२ ॥

मिट्टी आदि विवर्तानुसारी दृष्टान्त श्रुतिप्रोक्त हैं यह सूचित करते हैं—

मृत्सुवर्णम् अयश्चेति दृष्टान्तत्रयमारुणिः ।

प्राहातो वासयेत् कार्यानृतत्वं सर्ववस्तुषु ॥ ५३ ॥

महर्षि आरुणि ने मिट्टी, सोना, लोहा—ये तीन दृष्टान्त सुनाये। अतः कार्य का मिथ्यात्व सभी वस्तुओं में समझे रखना चाहिये।

छान्दोग्योपनिषत् के छठे अध्याय में प्रसंग आया कि अरुण के पुत्र उद्दालक महर्षि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाया कि जगत् पैदा होने से पूर्व एक सद् ब्रह्म ही था, उसी से तेज आदि क्रम से सारा संसार बना। सत् से सब बनने के कारण वस्तुतः सब सद्रूप है, नाम-रूप अवास्तविक है। इसमें उन्होंने मिट्टी, सोना और लोहा—ये तीन दृष्टान्त दिये। ‘यथा सौम्य! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥’ (६.१.४) अर्थात् जो कुछ मिट्टी से बना वह सभी एक मिट्टी का ढेला समझने से पता चल जाता है क्योंकि बनने वाले कार्य कहने-भर को हैं, मिट्टी ही सच्ची है। इसी प्रकार स्वर्णपिण्ड, लोहपिण्ड के ज्ञान से सोने या लोहे के कार्य समझ आते हैं। कारण ही सत्य अतः वही जानने से सब पता चल जाता है, कार्य असत्य हैं अतः उन्हें जानने का प्रयास निरर्थक है। जो है वही जाना जायेगा, जो है ही नहीं वह जानेंगे भी कैसे! मिट्टी आदि दृष्टान्त इसमें हैं कि एक सन्मात्र सत्य है, कार्यभूत सारा प्रपञ्च मिथ्या है। इस रीति से विचार करते हुए वासना, दृढ संस्कार बना लेना चाहिये ताकि कार्य पर दृष्टि पड़ते ही याद आये कि वह मिथ्या है। इससे उसपर आदर नहीं रहेगा राग-द्वेष का बंधनजाल नहीं बनेगा। मनुष्य का मन अभ्यास आदि से पड़ी वासनाओं के अनुसार ही सोचता है, अच्छा हो या बुरा हो। ‘वास’ का मतलब है कि जब सावधानी से नहीं सोच रहे तब भी उसकी ‘गन्ध’ आती रहे अर्थात् वह भावना कायम रहे। विचार-पूर्वक दृढनिश्चय करना चाहिये कि सारी वस्तुओं में सद्ब्रह्म ही एक-जैसा है, चीजें प्रतीतिमात्र हैं अनृत हैं। वासना बनने से सदैव कार्य अनृत ही लगता है। यह प्रपञ्च-मिथ्यात्व हृदय में बसाया जाता है, तब अन्तःकरण में संसारोन्मुख प्रवृत्ति कम होती जाती है। मन में पहले से संस्कार है कि सत्य आकर्षक है, प्रभावी है। जिसे मिथ्या जानते हैं उसका आकर्षण भी दुर्बल होता है, उससे वैराग्य स्वाभाविक हो जाता है। दृश्य को सत्य समझने की वासना वाला ही जगत् की सत्यता को पकड़ता है। जिसके मन में जगत्-सत्य की वासना कम है, वह जगत् की सत्यता का आग्रह नहीं रखता। संस्कार डालने से ही धीरे-धीरे यह भाव दृढ होता है क्योंकि जगन्मिथ्यात्व समझना अद्वैतबोध के लिये आवश्यक है इसलिये कहा कि साधक को इसके अनुरूप वासना बना लेनी चाहिये ॥ ५३ ॥

कार्य मिथ्या है यह समझना क्या लाभ देता है यह स्पष्ट करते हैं—

कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चाऽपि सोऽवदत् ।

सत्यज्ञानेऽनृतज्ञानं

कथमत्रोपपद्यते ॥ ५४ ॥

समृत्कस्य विकारस्य कार्यता लोकदृष्टितः ।

वास्तवोऽत्र मृदंशोऽस्य बोधः कारणबोधतः ॥ ५५ ॥

उद्दालक ने यह भी कहा कि कारण के ज्ञान से कार्यों का पता लग जाता है। इस पर प्रश्न होगा कि सत्य का ज्ञान होने पर झूठ का पता लगना युक्तिसंगत कैसे है? (५४) मिट्टी समेत विकार की कार्यरूपता अविचारशीलों में ही प्रसिद्ध है, वहाँ जो मिट्टीरूप वास्तविक भाग है उसका पता कारण के ज्ञान से लगता ही है।

श्वेतकेतु से पिता ने पूछा 'क्या तू वह बात सीखकर आया है, जिस को जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है? सब कुछ सुना, सोचा, देखा हो जाता है?' उसने कहा 'नहीं।' अर्थात् कारण जो परमात्मा है उसे जानने से सारा कार्य जान लिया जाता है। कारण-ज्ञान से कार्य का ज्ञान—यह उद्दालक ने कहा है। आप कह रहे हैं कि कारण सत्य है। सच्ची चीज़ को जानने से झूठी चीज़ अर्थात् कार्य का ज्ञान कैसे होगा? यह दो-तरफ़ी समस्या है। सब कुछ जानना मायने क्या? मैं जानता हूँ कि यह नीम का पेड़ है। इसके असंख्य गुण-कार्य-धर्म-प्रभाव मुझे मालूम नहीं। नये-नये गुणादि पता लगते रहते हैं, पुराने भ्रम टूटते रहते हैं, अतः सारे गुणादि किसी को एक-साथ ठीक-ठीक मालूम हों यह सम्भव भी नहीं। पर इसका यह मतलब भी नहीं कि मैं नीम को नहीं जानता! किंच नीम के बारे में झूठ-मूठ की बातें पता होना नीम की जानकारी नहीं है। यदि कार्य झूठा है तो उसे जानना कोई ज्ञान कहा नहीं जा सकता और सत्य है तो कोई व्यक्ति सारे कार्यों का ज्ञाता हो नहीं सकता।

समाधान है कि कार्य की लौकिक सत्यता है, अविचारशील समझते हैं कि वह कुछ है। कार्य में सत्य केवल कारण है। मृन्मय पदार्थों में सत्य केवल कारणभूत मिट्टी ही रहती है, घड़े आदि का उसपर आरोप होता रहता है। जैसे पत्थर यथावत् रहते विष्णु भगवान् की मूर्ति बन जाती है वैसे सद्ब्रह्म यथावत् रहते जगत् बन गया है। प्रामाणिक तो कारण ही रहा, कार्य लोकदृष्टि से प्रसिद्ध हो गया। प्रमाणसिद्ध होने से कारण वास्तविक है अतः उसे जानने से कार्य में भी जो सत्यांश वह जान ही लिया गया। बाकी हिस्सा है ही झूठा अतः जानने, प्रमाण से विषय करने योग्य ही नहीं है। अतः सच्चिदानन्द जो वास्तविक भाग उसे जानने से सर्वज्ञता सिद्ध है, बाकी भाग है ही माया अतः जानने लायक नहीं, प्रमाण के अयोग्य ही है, उसे जानने से कोई मतलब ही नहीं।

कार्य मिथ्या जानने का लाभ यह है कि उसे जानने की इच्छा निवृत्त हो जाती है, सत्य का ज्ञान ही सर्वज्ञता-हेतु समझ आ जाता है ॥ ५४-५५ ॥

सत्य की तरह झूठ समझना व्यर्थ है यही कहते हैं—

अनृतांशो न बोद्धव्यस्तद्वोधाऽनुपयोगतः ।

तत्त्वज्ञानं पुमर्थं स्याद् नाऽनृतांशावबोधनम् ॥ ५६ ॥

झूठा अंश जानने योग्य नहीं क्योंकि (मुमुक्षु को) उसे जानने का कोई उपयोग नहीं है। अबाध्य वस्तु का ज्ञान सप्रयोजन होता है, कार्यरूप बाध्य, मिथ्या का ज्ञान निरर्थक है। कार्य में जो झूठा अंश है जैसे सोने में खोट, उसकी मीमांसा से कोई मतलब नहीं, मतलब तो सोने से है। झूठा अंश जानने लायक है ही नहीं। उसको जानना 'ज्ञान' नहीं है। उससे किसी प्रयोजन की सिद्धि भी नहीं। यह रहस्य उसके लिये है जिसको अनृतांश से वैराग्य है। आचार्य शंकर कहते हैं 'वैराग्यस्य फलं बोधः'। वैराग्य होने पर ही बोध होता है। यदि वैराग्य नहीं है तो सत्यका बोध अनुपयोगी है। वैराग्य के बिना यह बात बैठीगी भी नहीं। हमें मोक्ष से मतलब है, वह कारणज्ञान से होगा, इसलिये कार्यज्ञान हमारे लिये अनुपयोगी है। कारण अर्थात् जो चीज़ नहीं बदलने वाली है उसका ज्ञान ही पुरुषार्थ है। आत्मवस्तु का ज्ञान ही उसके लिये सार्थक है जिस मनुष्य का प्रयोजन मोक्ष ही है। जिसमें वैराग्य और मुमुक्षा पूर्ण है, उसी के लिये यह विद्या है। जिसको वैराग्य नहीं, वैराग्य होने पर भी यदि परमात्मा को नहीं चाहता है, मुमुक्षु नहीं है, तब भी आत्मज्ञान में अधिकारी नहीं जैसे बौद्ध या जो ईश्वर को नहीं मानने वाले, उन लोगों का उद्देश्य परमात्मप्राप्ति नहीं। जगत् की तृष्णा से निवृत्ति, दुःख से निवृत्ति ही उन्हें पर्याप्त लगती है। वैराग्य हो और परमात्मा को पाने की इच्छा हो तभी मोक्ष पुरुषार्थ है। वैराग्य होने के बाद साधक श्रवण मनन निदिध्यासन की साधना में प्रवृत्त होता है परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिये। केवल वैराग्य से दुःख-निवृत्ति तो हो जाती है पर परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती ॥ ५६ ॥

श्रुति ने जो एकविज्ञान से सर्वविज्ञान कहा तथा उसे जिस ढंग से समझाया उसमें असंगति का प्रश्न उठाकर उत्तर देते हैं—

तर्हि कारणविज्ञानात् कार्यज्ञानमितीरिते ।

मृद्वोधाद् मृत्तिका बुद्धेत्युक्तं स्यात् कोऽत्र विस्मयः ॥ ५७ ॥

सत्यं कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः ।

विस्मयो माऽस्त्विहाऽज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते ॥ ५८ ॥

आप जैसा समझा रहे हैं वैसा मानें तो 'कारण को जानने से कार्य पता चल जाते हैं' यह कहने पर तात्पर्य निकला 'मिट्टी के ज्ञान से मिट्टी समझ आती है;' किन्तु इस बात में आश्चर्य क्या (कि वेद ने प्रतिपादित किया)? (५७) ठीक है, आश्चर्य उसके लिये नहीं जो जानता है कि कार्यों में सत्य भाग कारण-स्वरूप ही है, फिर भी अज्ञानी को उक्त बात से आश्चर्य हो इसे कैसे मना करें!

पिता ने अविनीत पठित पुत्र से पूछा था कि 'क्या तू वह समझ आया जिसे समझने से सब समझ लिया जाता है?' पुत्र ने ऐसे तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञता जतायी जिसको जानना सर्वज्ञता का हेतु है। तब पिता ने उपदेश दिया। आपात दृष्टि से पिता की बात आश्चर्यकारी है क्योंकि सब को जानने के लिये एक को जानना पर्याप्त हो यह संभव नहीं

लगता। सिद्धान्ती की व्याख्या से तो जिसे जाना उसी का ज्ञान होता है, बाकी को जानने लायक ही नहीं समझना है—यह स्थिति बनी। पिता की बात की आश्चर्यरूपता ही समाप्त हो जाती है यदि इतना ही उनका भाव मानें कि कारणज्ञान है या नहीं। इस पर सिद्धान्ती का उत्तर है कि वास्तविक अर्थ भले ही आश्चर्यजनक न लगे पर वह अर्थ न समझने तक तो वाक्य से आश्चर्य होगा ही। किंच कार्यमिथ्यात्व भी अत्यन्त आश्चर्य ही है जो इस कथन से व्यक्त है अतः श्रुति बताये इस योग्य तो यह बात अवश्य है॥ ५७-५८॥

अज्ञानी विस्मित होगा यही समझाते हैं—

आरम्भी परिणामी च लौकिकश्चैककारणे ।

ज्ञाते सर्वमतिं श्रुत्वा प्राप्नुवन्त्येव विस्मयम् ॥ ५९ ॥

आरंभवादी, परिणामवादी और साधारण अविचारशील, तीनों ही 'कारणरूप एक को जानने पर सब समझ आता है' सुनकर चकित होते ही हैं।

आरम्भी अर्थात् कारण से नये कार्य की शुरुआत मानने वाला। आरम्भवादी के तात्पर्य से आरम्भी-शब्द रखा है। ऐसे ही परिणामी है। शास्त्रीय प्रक्रियाओं से अनभिज्ञ लौकिक व्यवहार पर ही सोचने वाला लौकिक है। आरम्भवाद में माना गया है कि समवायी असमवायी और निमित्त—ये तीन कारण होते हैं जिनसे नवीन कार्य बनता है जो इन तीनों से भिन्न होता है। 'समवाय' नामक एक सम्बन्ध वे मानते हैं जिससे कार्य जहाँ रहे वह समवायी कारण कहलाता है। महाभूत, दिक्, काल, आत्मा और मन—ये आठ द्रव्य ही समवायी कारण हो सकते हैं ऐसी उनकी मान्यता है। इसलिये घड़े का समवायी कारण वे 'कपाल' अर्थात् घट से ठीक पूर्व जिस स्थिति में मिट्टी होती है उसे बताते हैं। कार्यजन्म में हेतु जो कारणस्थ गुणादि वे 'असमवायी कारण' हैं। समवायी से बहिर्भूत दण्ड चक्र कुम्हार आदि निमित्त कारण हैं। इन तीनों से सर्वथा अलग, जो अब तक था नहीं ऐसा नया कार्य उत्पन्न होता है—यह आरम्भवाद का मत है। वह जब कारण-ज्ञान से सर्वज्ञता सुनता है तो उसे आश्चर्य होगा कि जो अभी हैं ही नहीं वे नयी चीज़ें कैसे पता चलती होंगी! दूसरा मत है परिणामवाद जिसमें कारण ही नये-नये रूप धारण करता रहता है। परिणामवादी को भी आश्चर्य होगा कि सारे रूपान्तर कैसे जान लिये गये, जो वर्तमान में हैं ही नहीं। लौकिक यद्यपि इन मतों पर आग्रही नहीं तथापि दोनों मतों को विभिन्न स्थलों पर मानता है, पुत्र मकान आदि नये बनते हैं ऐसा भी समझता है, जो बीज में निहित है वही अंकुरण आदि से प्रकट होता है ऐसा भी समझता है। दोनों हालतों में उसे होता आश्चर्य ही है कि नयी चीज़ें, सभी सम्भव कार्य कैसे पता लगते होंगे! कारणज्ञान से सब कार्यों का ज्ञान तीनों के लिये आश्चर्यहेतु है॥ ५९॥

शंका होती है कि श्रुति ने जैसा कहा वैसा ही मानें, कोई अलौकिक साक्षात्कार हो जाता होगा जिससे हर-एक कार्य के बारे में पता चलता होगा यही क्यों न मानें? सिद्धान्ती जैसी व्याख्या कर रहा है उससे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? इसका समाधान करते हैं—

अद्वैतेऽभिमुखी कर्तुम् एवाऽत्रैकस्य बोधतः ।

सर्वबोधः श्रुतौ नैव नानात्वस्य विवक्षया ॥ ६० ॥

अद्वैत की ओर सावधान करनेके लिये ही श्रुति में एक के ज्ञान से सबका ज्ञान बताया है, विभिन्न कार्यों का भिन्न-भिन्न कर ज्ञान होगा यह बताने के लिये नहीं।

श्वेतकेतु ब्रह्मज्ञान के प्रति उत्सुक बने इस प्रयोजन से उक्त प्रतिज्ञा है, न कि कार्यों के बारे में सरलता से जानकारी पाने का कोई उपाय बताना श्रुति का उद्देश्य है। शिष्य ब्रह्मज्ञानार्थ प्रवृत्त होवे, इसलिये एकविज्ञान का महत्त्व कहा है। शास्त्रीय भाषा में इसको 'अर्थवाद' कहते हैं। 'अर्थ' मायने प्रयोजन-विशेष से 'वाद' अर्थात् कही बात। इसलिये जो कहा गया उसमें तात्पर्य नहीं हुआ करता। विधि में प्रवृत्त करने के लिये प्रायः अर्थवाद होते हैं। कहीं कहा है 'अमुक यज्ञ करने से सभी कर्म सम्पन्न हो जाते हैं' वहाँ यह आशय नहीं है कि और कुछ करो मत वरन् इतना ही तात्पर्य है कि वह यज्ञ करो। 'पढ़ोगे नहीं तो, बर्तन माँजोगे!' इसका तात्पर्य यही है कि पढ़ाई की तारीफ है, अर्थवाद है। विधिबोधित कर्म में प्रवृत्त कराने के लिये जो उसकी प्रशंसा की जाती है, उसे अर्थवाद कहते हैं। श्रुति ने जो कहा कि 'एक को जानने से सब जान लिया जाता है' इसका आशय यह नहीं है कि सब जानेंगे वरन् आशय है कि अद्वितीय कारण को जानकर संसार-बन्धन से छूट जाओ, अद्वैत की तरफ लगाना प्रयोजन है। अनेक चीज़ों के ज्ञान को बतलाने के तात्पर्य से नहीं कहा है। सारे मिथ्या नाम-रूपों का तुम्हें ज्ञान हो जायेगा यह श्रुति का तात्पर्य नहीं है ॥ ६० ॥

श्रुति का पूर्वोक्त ही अभिप्राय है इसमें चिह्न दिखाते हुए दृष्टान्त की संगति बताते हैं—

एकमृत्पिण्डविज्ञानात् सर्वमृन्मयधीर्यथा ।

तथैकब्रह्मबोधेन जगद्वृद्धिर्विभाव्यताम् ॥ ६१ ॥

मिट्टी के एक पिण्ड के अनुभव से जैसे सारे मृद्विकारों की वास्तविकता समझ आ जाती है वैसे एक ब्रह्म के बोध से जगत् की सचाई पता चलायी जाये।

वेद ने स्वयम् अभिप्राय स्पष्ट किया : मिट्टी के एक ढेले की जानकारी से मृत्कार्यमात्र का ज्ञान होता है—यह कहने पर समझ आ जाता है कि श्रुति यह नहीं कह रही कि सारे बर्तन, उन्हें बनाने के तरीके, उनके उपयोग आदि मालूम चलेंगे वरन् सब मृत्कार्यों में वास्तविक चीज़ जो मिट्टी है वह पता चलेगा इतना ही अर्थ है। इसी तरह एक ब्रह्म जान लेने से जगत् की सभी चीज़ों की वास्तविकता पता चलेगी। सत्, है—यही सारे नाम-रूप-कर्म की सचायी है, उसे जानने से सारा जगत् ज्ञात हो जाता है क्योंकि सत् ही सर्वत्र वास्तविक है। सारी मिथ्या चीज़ों के ज्ञान में वेद का तात्पर्य ही नहीं है। जैसे, रस्सी जान ली तो सर्प-जलधारा आदि सब समझ आ गये वैसे ब्रह्मज्ञान से सब जान लिया जाता है। मृत्-ज्ञान, स्वर्णज्ञान आदि दृष्टान्त ही लिंग, चिह्न हैं जिनसे स्पष्ट है कि विभिन्न नाम-रूपों के ज्ञान अभिप्रेत नहीं ॥ ६१ ॥

ब्रह्मज्ञान से जगत् का ज्ञान तब समझ आये जब ब्रह्म और जगत् के स्वरूप पता हों
अतः उनके स्वरूप बताते हुए पहले ब्रह्म का स्वरूप व्यक्त करते हैं—

सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म नामरूपात्मकं जगत् ।

तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥ ६२ ॥

ब्रह्म का स्वरूप है सत्, चित्, सुख । जगत् का स्वरूप है नाम, रूप । नृसिंहोत्तरतापनीय
(७) में सुना जाता है कि ब्रह्म का लक्षण सत्-चित्-आनन्द है ।

पहले ब्रह्म के स्वरूप को बतलाते हैं 'सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म' । सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है ।
जगत् नाम-रूपात्मक है । हर नीम के पेड़ को जानो तभी तुम नीम के पेड़ को जानोगे यह
नहीं कह सकते वरन् नीम के सारे पेड़ों में जो मौजूद है नीमपना, उसको जानने से नीम के
पेड़ को जान लिया । लोक में सब में अनुस्यूत को जो जान लेता है, उसी को 'जानने वाला'
कहते हैं । इसी प्रकार संसार में पाँच चीज़ें मिलती हैं—१) नाम, २) रूप, ३) है, ४) ज्ञान, ५)
सुख । जो कोई पदार्थ उपलब्ध होगा वह किसी नाम वाला, रूपवाला, है से सम्बद्ध, ज्ञान
से सम्बद्ध और किसी-न-किसी तरह सुख से सम्बद्ध । इनमें है (सत्), ज्ञान (चित्) और सुख
(आनन्द) ये ब्रह्म का ही स्वभाव है । नाम और रूप जगत् का स्वभाव है । रूप का मतलब
सिर्फ आँखों से दीखने वाला ही नहीं, जिससे भी वस्तु का निरूपण, पहचान हो सके उसे
इस प्रसंग में 'रूप' कहा जाता है । जैसे, गर्मी से अग्नि का पता लग जाता है तो गर्मी आग
का 'रूप' है । नाम और रूप ये जगत् हैं । नृसिंहोत्तरतापनीय श्रुति इसमें प्रमाण है । उसमें
यह बताया है कि सत्-चित्-सुख-रूप ब्रह्म है । यह अथर्ववेद की उपनिषद् है, इसमें कहा
है 'ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दमात्रम्' जो कुछ प्रतीत होता है उसकी वास्तविकता सच्चिदानन्द
है । 'मात्रम्' से बताया कि इसके अतिरिक्त सब मिथ्या है । कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो बिना
है के, बिना ज्ञान के और बिना प्रियता के हो । प्रियता से आनन्द का पता चलता है, आनन्द
ही प्रिय है । ब्रह्म के बारे में सही जानकारी वेद से ही प्राप्त होगी । अतीन्द्रिय वस्तु होने से
उसको इन्द्रियों से जानना संभव नहीं । न पहले कभी वह इन्द्रियों से जाना गया, न भविष्य
में कभी उनसे जाना जायेगा । जो इन्द्रियों से न ग्रहण हो ऐसे के बारे में अनुमान भी संभव
नहीं क्योंकि व्याप्ति-ग्रहण नहीं हो पाता । अतः वचन ही अतीन्द्रिय वस्तुओं में प्रमाण है ।
लौकिक वचन भी ऐन्द्रियादि अनुभवों पर निर्भर होने से ब्रह्म में प्रमाण होना सम्भव नहीं,
केवल अपौरुषेय वेद ही उसमें प्रमाण है । विचार करो, कौन-सी चीज़ है जो कभी अनुभव
में नहीं आती? वह है अनुभव करने वाला 'मैं' । अतः श्रुति ने कहा कि जानने वाले को कौन
जाने! जानने वाला स्वयं अतीन्द्रिय ही है । इसीलिये आत्मा के बारे में वेदातिरिक्त कोई प्रमाण
सम्भव नहीं । श्रुति आत्मा को सच्चिदानन्द कह रही है । इसका अनुभव सर्वदा है क्योंकि
घड़ा-कपड़ा जो अनुभव में आता है वह इन तीन के साथ ही आता है । 'है' से सम्बद्ध न
हो तो घड़ा अनुभव में नहीं आ सकता! केवल है, केवल ज्ञान, केवल आनन्द हमें अभी पता
नहीं चलता पर विषयों से सम्बद्ध रूप में इन्हें अवश्य जानते हैं । शुद्ध न समझ पाने से इनका

मिश्रित रूप जानकर भी इनके बारे में अनभिज्ञ ही रहते हैं। मैं हूँ, जानने वाला हूँ, प्रिय हूँ—यों जानते परमात्मा को हैं लेकिन 'मैं' के परिच्छिन्नरूप से सम्बद्ध को ही जानते हैं, आँख-नाक आदि द्वारा जानने वाले को ही जानते हैं। इतना ही ब्रह्म के बारे में भ्रम है। ज्ञानादि-स्वरूप ही प्रत्यग्भाव है—यह बोध नहीं है। इसी के लिये श्रुति आवश्यक है। इस प्रकार, जिसके ज्ञान से सर्वज्ञता है वह सच्चिदानन्द ब्रह्म है एवं 'सर्वज्ञता' में 'सर्व' का मतलब है—नाम-रूप। नाम-रूप आरोपित ही हैं, उनकी वास्तविकता ब्रह्म है—यही उनके बारे में ठीक जानकारी है ॥ ६२ ॥

ब्रह्म का उक्त स्वरूप एक-आध जगह नहीं, सारी शाखाओं में कहा है यह अन्य श्रुतियों के संग्रह से प्रकट करते हैं—

सद्रूपम् आरुणिः प्राह प्रज्ञानं ब्रह्म बहुचः ।

सनत्कुमार आनन्दम् एवमन्यत्र गम्यताम् ॥ ६३ ॥

आरुणि ने ब्रह्म को सद्रूप बताया है, ऐतरेय शाखीय ऋग्वेदी उस ब्रह्म को प्रज्ञान कहते हैं। सनत्कुमार ने सामवेद में उसे आनन्द बताया है। अन्य शाखाओं में भी इसी तरह समझ लेना चाहिये।

साम-वेद में कहा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'। प्रकट होने से पहले यह सब सत् ही था। ब्रह्म का सद्रूप से वहाँ निरूपण किया। इसी प्रकार से बहुच शाखा वालों ने अर्थात् ऋग्वेदी लोगों ने बतलाया 'प्रज्ञानं ब्रह्म' ज्ञान ही ब्रह्म है। सद्रूप बतला दिया सामवेद में, ज्ञानरूप बतला दिया ऋग्वेद में। नारद जब सनत्कुमार के पास ब्रह्म का आदेश लेने के लिये गये तब कहा 'अनेक शास्त्र समझ लिये पर मेरा शोक नहीं गया। परमात्मज्ञान का लक्षण है कि शोक नहीं रहता। अतः मुझे परमात्मा समझाइए ताकि शोक मिटे।' सनत्कुमार ने बतलाया कि आनन्द ही ब्रह्म है। सद्रूप से उद्दालक ने कहा, चेतनरूप से ऋग्वेद में कहा, सनत्कुमारों ने आनन्दरूप से बतलाया। सत्, चित् तो लोग सरलता से समझ लेते हैं क्योंकि हर चीज़ 'है', और हम उसको जानते हैं। लेकिन आनन्दरूप हर चीज़ कैसे है? सनत्कुमार ने समझाया कि 'यो वै भूमा तत् सुखम्।' जो सभी परिच्छेदों से रहित है वही सुख है। इसलिये अनन्त और आनन्द दोनों एक ही बात हैं। अन्य स्थलों पर जैसे कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय में कहा 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म'। वहाँ आनन्द नहीं, अनन्त कहा, हैं दोनों एक ही चीज़। जो भी चीज़ सीमा वाली है वह दुःखी करती है। बिना सीमा के होने वाली सुखी करती है। इस प्रकार सर्वत्र सच्चिदानन्द की ब्रह्मरूपता बतलाई। जगत् केवल नामरूप ही है ॥ ६३ ॥

सत् चित् और आनन्द ब्रह्म का रूप बतलाया, अब नाम-रूप को बतलाते हैं—

विचित्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामानि तिष्ठति ।

अहं व्याकरवाणीमे नामरूपेइति श्रुतेः ॥ ६४ ॥

‘सब रूपों को सोचकर, सब के नाम बनाकर रहता है।’ ‘मैं इन नाम-रूपों को प्रकट करूँ। आदि श्रुतियों से (जगत् नाम-रूपात्मक ही है)। (कल्याणपीयूष नामक पंचदशीटीका के अनुसार ‘विचित्य’ ऐसा ही प्रथम पद का पाठ है। सूचित श्रुति के अनुसार वह उचित भी है। अर्थ में भेद नहीं तथापि कहीं ‘विचिन्त्य’ पाठ मुद्रित है।)

वेद में मन्त्र है ‘आदित्यवर्ण तमसस्तु पारे सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः। नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते धाता पुरस्ताद् यमुदाजहार’ (महावाक्योप. तै.३.१२.७) माया से अतीत ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ ने मायावृत्ति से सारे रूप सोचकर (बनाकर), उनके नाम बनाकर उन्हें बोलते हुए रहना शुरू किया। छान्दोग्योपनिषत् (६.३.२) में कहा है ‘अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि’ इस जीवरूप से उपाधि के अनुसार प्रवेश कर नाम और रूपको प्रकट करूँ। और भी ऐसे प्रसंग हैं जिन सबसे निर्णय होता है कि माया से जगत् के रूप अर्थात् नाम-रूप की ही सृष्टि हुई। सच्चिदानन्द नित्यसिद्ध हैं, उत्पन्न होने वाले नाम-रूप ही हैं। प्रपञ्च में उपलब्ध पाँच में से ये दोनों मायिक अतः मिथ्या हैं।। ६४।।

इसी भाव को बृहदारण्यक (१.४.७.) से समर्थित करते हैं—

अव्याकृतं पुरा सृष्टेरुर्ध्वं व्याक्रियते द्विधा।

अचिन्त्यशक्तिर्मयिषा ब्रह्मण्यव्याकृताऽभिधा।। ६५।।

सृष्टि से पूर्व अव्यक्त था जो दो तरह से व्यक्त हुआ। ब्रह्म में यह विचार से परे की शक्ति है जिसे अव्याकृत कहते हैं।

जो अन्दर है उसे जैसे बाहर फैंका जाये वैसे माया में जो अव्यक्त, अप्रकट है वह जब व्यक्त, प्रकट होता है तब ‘सृष्टि’ कहते हैं। सृष्टि किसी नई चीज़ का उत्पादन नहीं है, जो छिपा है उसी को प्रकट किया जाता है। सृष्टि के बारे में यह वैदिक मान्यता है। अन्य मत वाले ‘नई चीज़ बनी’ इस प्रकार आरम्भवाद को मानते हैं। पहले अप्रकट था, फिर प्रकट हो गया, पहले अव्यक्त था फिर व्यक्त हो गया—इतना ही हम स्वीकारते हैं। संसार प्रकट दो प्रकार से हुआ, एक, नाम और दूसरा, रूप। अव्यक्त को ही माया कहते हैं। यह अचिन्त्य शक्ति है, इसके बारे में कुछ भी सोचा नहीं जा सकता। इसमें भी श्रुति समर्थक है। ‘तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत’ यह सब अव्यक्त था, नाम-रूप इन दो तरह से यह बँटा। ये दोनों ही प्रकट हुए। ये दोनों परमात्मा के बनाये हुए हैं। अव्यक्त के व्यक्त होने से पहले ‘कैसा है’ यह कुछ नहीं कहा जा सकता। माया ब्रह्म में ही रहती है। इसीको अव्याकृत कहते हैं। इसी तरह ब्रह्म में सारा जगत् अव्यक्त रहता है। अव्यक्त को ही माया कहते हैं। क्या कैसा प्रकट होगा—यह कभी नहीं कह सकते। कभी भी दो सूर्य-उदय एक जैसे नहीं होते किन्तु होता सूर्य उदय ही है। इसी प्रकार जो प्रकट होगा वह सदरूप होगा। यह सूर्य की तरह निश्चित है। प्रकट ‘है’-रूप से होगा, उसका ज्ञान भी होगा। इस प्रकार प्रत्येक नाम-रूप को मायात्मक और उसकी वास्तविकता को सच्चिदानन्दात्मक देखने का अभ्यास करते हुए प्रपञ्च से आस्था हटानी चाहिये।। ६५।।

जगत् के आकार में उपस्थित होती माया ही है इसे व्यक्त करते हैं—

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा ।

मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम् ॥ ६६ ॥

निर्विकार परमात्मा में आश्रय-विषयभाव से स्थित माया अनेक तरह से बदलती है। प्रकृति को माया और मायाधीश को महेश्वर जानना चाहिये।

ब्रह्म किसी भी प्रकार के विकार से रहित है। अनन्त सृष्टि उत्पन्न करने पर भी उसमें कोई विकार नहीं आता। माया ब्रह्म में मायिक सम्बन्ध से ही रहती है। माया सच में ब्रह्म में रहती हो यह नहीं कह सकते, सर्वथा नहीं रहती—यह भी नहीं कह सकते! माया विकार को प्राप्त करते हुए भी ब्रह्म को विकृत नहीं करती। माया सब चीजों को व्यक्तरूप से पैदा करती है। ब्रह्म के साथ उसका अपना सम्बन्ध भी अव्यक्त ही है। वहाँ रहते यह अनेक प्रकार के विकारों में, कार्याकारों में परिणत होती रहती है। हमारे सामने पांचभौतिक ही व्यक्त होगा। पंचभूतों से ही उत्पन्न हमारी इन्द्रियों का विषय होगा।

ब्रह्म में रहते हुए भी उसे विकृत नहीं करती यह कैसे? इसमें उपनिषद् का मन्त्र प्रमाण है 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद्' माया को प्रकृति समझो। अनेक प्रकार से प्रकट होती है इसलिये इसको 'प्रकृति' कहते हैं। कई आचार्यों ने सरलता से समझने के लिये माया को उपादान कारण और ब्रह्म को निमित्त कारण कह दिया है। यह तरीका समझने में सरल है पर वेद के अनुसार तो ब्रह्म ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। यदि ब्रह्म केवल निमित्त कारण होता, तो हमें जगत् में सत् की व्याप्ति नहीं मिलती। उपादान कारण ही कार्य में अनुविद्ध मिलता है। मिट्टी तो सब बर्तनों में मिलती है, परन्तु कुम्हार नहीं मिलता! 'मायिनं' माया का आश्रय महेश्वर है। माया उन्हीं को आश्रय करके रहती है। वह आश्रय भी है और उसका नियामक, नियंत्रण करने वाला भी है। इस मंत्र में दो 'तु'-शब्द हैं, मायान्तु, मायिनं तु। दो तुकार बताते हैं कि माया यद्यपि ब्रह्म के आश्रय में है, तथापि उससे एक भी नहीं है, अलग भी नहीं है। भेद रहे और भेद नहीं रहे यह सम्भव नहीं अतः भिन्न और अभिन्न दोनों से उसे विलक्षण ही कहना पड़ेगा। परमेश्वर परमार्थ सत्य है। इस प्रकार दोनों में विलक्षणता स्फुट है ॥ ६६ ॥

सच्चिदानन्द-नामरूप इन पाँचों को प्रथम कार्य में घटाकर दिखाते हैं—

आद्यो विकार आकाशः सोऽस्ति भात्यपि च प्रियः ।

अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत्त्वम् ॥ ६७ ॥

माया उपाधि वाले ब्रह्म से प्रकट होने वाला पहला कार्य आकाश है। वह है, भासमान है, प्रिय भी है। खाली जगह उसका 'रूप' है, (आकाश यह 'नाम' है)। इनमें से रूप (और नाम) मिथ्या हैं, पहले तीन मिथ्या नहीं हैं।

प्रकृति सारे रूपों में बनती है। सबसे पहला विकार, कार्य आकाश है। 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' यह श्रुति आत्मा से आकाश की उत्पत्ति बतलाती है। आकाश में ब्रह्म की तीनों विशेषताओं की प्रतीति है; 'अस्ति' है, 'भाति' आकाश का ज्ञान है और वह प्रिय है। इन तीनों चीज़ों की प्रतीति वस्तुतः ब्रह्म की प्रतीति है। घड़े के जो रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श हैं, वे तो मिट्टी के हैं। आकार घड़े का अपना है। पाँच गुण तो घड़े के फूटने पर भी रहेंगे। पर आकार नहीं रहेगा। घड़े का धर्म सदैव रहने वाला नहीं है, मिट्टी का धर्म हमेशा रहेगा। इसी तरह अस्ति भाति प्रिय—ये तो हमेशा रहेंगे। आकाश का अपना रूप जो अवकाश, खाली जगह, वह मिथ्या है। वह रूप और आकाश यह नाम मिट जाते हैं, लेकिन सच्चिदानन्द मिथ्या नहीं है, सदा रहेगा ॥ ६७ ॥

आकाश का अपना रूप मिथ्या कैसे है, यह समझाते हैं—

न व्यक्तेः पूर्वमस्त्येव न पश्चाच्चाऽपि नाशतः ।

आदावन्ते च यद् नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा ॥ ६८ ॥

अभिव्यक्ति से पूर्व और नाश के बाद आकाश का रूप नहीं होता। आदि और अन्त में जो नहीं होता, वर्तमान में भी वह वैसा ही अर्थात् नहीं ही है।

जब तक आकाश प्रकट नहीं हुआ, तब तक वह नहीं है और नष्ट होने के बाद भी नहीं है। व्यक्त होने से पहले अव्यक्त, नाश के बाद फिर अव्यक्त शुरू में नहीं, अन्त में नहीं, तो दीखते समय भी सच्चा नहीं है। गौडपादाचार्य कहते हैं कि जो व्यक्त होने से पहले एवं नाश के बाद नहीं होता वह वर्तमान में भी नहीं है। प्रतीत है, पर वास्तविक नहीं है। जितने माया के विकार हैं, वे प्रकट होने के पहले नहीं थे, नष्ट होने के बाद नहीं रहते अतः दीखते समय भी सचमुच में नहीं हैं। इस प्रकार नाम-रूप मिथ्या हैं इसमें अनित्यत्व स्पष्ट हेतु है ॥ ६८ ॥

पूर्वोक्त अभिप्राय भगवान् श्री कृष्ण के वचनसे भी समर्थित करते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येवेत्याह कृष्णोऽर्जुनं प्रति ॥ ६९ ॥

श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि सब भूतों का आदि अव्यक्त है, बीच में वे व्यक्त रहते हैं, समाप्ति उनकी अव्यक्त ही है।

गीता के (२.२८) श्लोक के अन्तिम चरण में अन्तर कर बाकी श्लोक उद्धरणरूप है। 'भूत' से आकाशादि और इनके विकार सभी समझने चाहिये। ये जब तक व्यक्त, प्रकट नहीं थे तब तक अव्यक्त थे अतः 'अव्यक्तादि' हैं। बीच में ये व्यक्त हो जाते हैं। अन्त में सब अव्यक्त में ही नष्ट हो जाते हैं, पुनः अव्यक्त हो जाते हैं। आदि-अन्त में अव्यक्त होने से निश्चित है कि मध्य में प्रतीत व्यक्त अवस्था असत्य है। भगवान् ने व्यक्त को दुःखनिमित्त होने के अयोग्य कहा है। मिथ्या वस्तु दुःख के अयोग्य होती है अतः दुःख के अयोग्य होने से मिथ्यात्व बताया—यह तात्पर्य है ॥ ६९ ॥

स्थापित सिद्धान्त को अनुभव से पुष्ट करते हैं—

मृदत् ते सच्चिदानन्दा अनुगच्छन्ति सर्वथा ।

निराकाशे सदादीनाम् अनुभूतिर्निजात्मनि ॥ ७० ॥

घड़े आदि में मिट्टी की तरह सच्चिदानन्द (आकाश में) हमेशा अनुस्यूत हैं एवं जो आकाशहीन निजात्मतत्त्व है वहाँ सच्चिदानन्द अनुभूयमान हैं ही।

जैसे मिट्टी के धर्म मिट्टी के सब कार्यों में बने रहते हैं, वैसे ही जो ब्रह्म का सच्चिदानन्द रूप है वह आकाश में एवं सारी चीजों में अनुगत रहेगा। पानी है, उसका ज्ञान और उससे आनन्द भी है। ऐसा ही मिट्टी आदि में। जिस समय ये रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श वाले पदार्थ नहीं थे, तब भी सच्चिदानन्द तो था ही। रूपादि के नाश के बाद भी सच्चिदानन्द तो रहेगा ही। मिट्टी के बर्तनों में मिट्टी के समान ये तो सर्वत्र प्रकट ही हैं। प्रश्न है कि हमको जब आकाश दीखता है, तब हम कहते हैं 'आकाश है'। कुछ होगा तभी सच्चिदानन्द होगा। आकाश आदि प्रकट होने वाले सब नहीं हों, उस समय सच्चिदानन्द कहाँ है? उत्तर दिया 'निराकाशे'। जब आकाश नहीं है, तब भी मैं हूँ! मैं चेतन हूँ, प्रिय हूँ। इस प्रकार, अपने आत्मस्वरूप में यह सच्चिदानन्द रहता ही है। आकाशादि न होने पर भी सच्चिदानन्द है तभी दोनों पृथक् और सत् के व्यभिचारी होनेसे आकाशादि मिथ्या निर्णय होते हैं ॥ ७० ॥

नाम-रूप निवृत्त होने पर सद्ब्रह्म का रहना स्पष्ट करते हैं—

अवकाशे विस्मृतेऽथ तत्र किं भाति ते वद ।

शून्यमेवेति चेदस्तु नाम तादृग्विभाति हि ॥ ७१ ॥

'खाली जगह' (अर्थात् आकाश का निजी रूप) न प्रतीत होने पर वहाँ तुम्हें क्या भासता है? बताओ। यदि कहो 'शून्य ही भासता है', तो ठीक है, वैसे अर्थात् 'शून्य'-नाम वाला कुछ तो भासता होगा!

'खाली जगह' का न होना कहाँ प्रतीत होगा, कब प्रतीत होगा? अभाव के किसी देश-काल में ही प्रतीत हो सकने से उसे 'खाली जगह' से अलग समझना पड़ेगा। घटाभाव जैसे भूतल आदि कहीं प्रतीत होता है वैसे 'जगह का अभाव' भी कहीं ही प्रतीत हो सकता है। एवं च भले ही 'शून्य' नाम से कहें पर उसका आधार तो सद्रूप और ज्ञानसम्बद्ध ही निश्चित होगा। 'अवकाशाभाव कहाँ है?' इस का जो भी उत्तर दिया जाये वह सद्रूप वस्तु ही होगी। इतना ही नहीं, 'खाली जगह नहीं है' यह किसी को ही पता चलेगा अतः उससे अन्य ज्ञाता, चेतन भी सिद्ध है। इस तरह देश-काल-चेतन-इंद्रियाँ आदि अनन्त वस्तुओं को 'शून्य' कहा जाये तो कोई हानि नहीं! 'हि' शब्द से बताया कि अवकाश अर्थात् खाली जगह का न होना अभाव होने से किसी भाव पर ही आश्रित होगा यह लोक में सभी समझ सकते हैं ॥ ७१ ॥

भले ही 'शून्य' से कुछ कहा जाये, इससे ब्रह्म के बारे में क्या पता चला? इसका उत्तर देते हैं—

तादृक्त्वादेव तत्सत्त्वम् औदासीन्येन तत्सुखम् ।
आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत् तद् निजं सुखम् ॥ ७२ ॥

'वैसा' होने से ही उसकी सत्ता है, क्योंकि उसके प्रति उदासीनता रहती है इसलिये वह सुख है। जो न अनुकूल व न प्रतिकूल हो वह आत्मरूप सुख होता है।

'वैसा' अर्थात्, 'जहाँ खाली जगह नहीं है' ऐसा; अवकाश के अभाव के विशेष्य (अधिकरण) रूप से प्रतीत होता है अतः चाहे कहो 'शून्य' फिर भी होगा वह सत् क्योंकि घटाभाव आदि सब अभावों का विशेष्य भूतल आदि सत् ही देखा गया है। इतना ही नहीं, 'शून्य'-शब्द से कहा जाता है इस तरह का होने से भी सत् है क्योंकि शब्द-वाच्य वस्तु सत् देखी जाती है। 'शून्य'रूप से सही, पर भासता है अतः वह चित् (ज्ञान) है। वह सत्-चित् वस्तु सुख भी है क्योंकि उसके प्रति उदासीनता (तटस्थता) रहती है। जो अनुकूल-प्रतिकूल दोनों नहीं वही निज आत्मरूप सुख या आनन्द माना गया है ॥ ७२ ॥

स्वरूप वह कहलाता है जिसे न पकड़ा जा सके, न छोड़ा जा सके। सब चीज़ें आकाश में लीन होंगी, वह भी जब लीन होगा तब स्वरूप ही रह जायेगा, प्रत्यक् पदार्थ ही रह जायेगा जो अनुकूल-प्रतिकूल न कहा जा सकने से आनन्दस्वरूप है। यही समझाते हैं—

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात् प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः ।
द्वयाऽभावे निजानन्दो निजदुःखं न तु क्वचित् ॥ ७३ ॥

अनुकूलता होने पर हर्ष का निश्चय तथा प्रतिकूलता होने पर दुःख का निश्चय होता है। ये दोनों न हों तब निजस्वरूप आनन्द रहता है। निजस्वरूप दुःख कहीं प्रसिद्ध नहीं।

जब कोई चीज़ अनुकूल होती है तब जो अनुभव होता है वह हर्ष है। जब हर्ष होता है तब आदमी धर्म का अतिक्रमण करता है। उसको आनन्द नहीं कह सकते। अपना जो स्वरूपानन्द है, इससे धर्म-अतिक्रमण नहीं होता। अनुकूलता के भाव से धर्म का अतिक्रमण होता है। कुछ अनुकूल है का मतलब या शरीर या इन्द्रियों के या मन के सुख का हेतु है। इन सब उपाधियों को जब तुमने लीन कर लिया, तब ऐसा कोई है नहीं जिसके अनुकूल कुछ होवे इसलिये हर्ष असम्भव है। इसी प्रकार किसी उपाधि के लिये ही कुछ प्रतिकूल होता है। किसी-न-किसी उपाधि की दृष्टि से कुछ भी प्रतिकूल प्रतीत होता है जिससे दुःख होता है। जो स्वरूप है उसमें न अनुकूलता है, न प्रतिकूलता है अतः इन भावों से रहित निजानन्द है। अनुकूलता-प्रतिकूलता से रहित आनन्द ही क्यों कहते हैं, दुःख भी क्यों नहीं? जब कोई चीज़ प्रतिकूल नहीं होती, तब दुःख का अनुभव नहीं है। जैसे शरीर स्वस्थ है तो उसमें अनुकूलता-प्रतिकूलता के भाव नहीं रहेंगे। स्वाभाविक स्थिति कभी दुःखात्मक नहीं होती, दुःख सदा किसी हेतु से होता एवं वह हेतु उपाधिदृष्टि से प्रतिकूल होता है। सारी उपाधियों

[प्र. १३ श्लो. ७४]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १४१९

को जब लीन कर लिया, तब आत्मा का जो सहजभाव उसी को यहाँ 'आनन्द' कह रहे हैं। सहज भाव कभी दुःख नहीं होता। इसलिये दुःख में कभी निजरूपता की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ७३ ॥

निज स्वरूप सदा ही आनन्द है तो हमेशा हर्ष क्यों नहीं, शोक क्यों होता है? उत्तर है कि मन ही हर्ष को ग्रहण करता है, वह अनित्य है अर्थात् उसकी सुखाकारता अनित्य है इसलिये सदा हर्ष नहीं और विपरीत आकार होने पर दुःख भी होता है। यही बताते हैं—

निजानन्दे स्थिरे हर्षशोकयोर्व्यत्ययः क्षणात् ।

मनसःक्षणिकत्वेन तयोर्मनसतेष्यताम् ॥ ७४ ॥

निज आनन्द अचल रहते भी हर्ष और शोक क्षणमात्र में समाप्त हो जाते हैं क्योंकि मन, मनोवृत्ति क्षणिक है। हर्ष-शोक मानस हैं (न कि निज आत्मरूप) यह समझना चाहिये।

निजानन्द स्थिर है, वहाँ हर्ष-शोक नहीं हैं, वह सदैव आनन्दरूप है, फिर उस आनन्द से हर्ष का अनुभव क्यों नहीं होता? निजानन्द तो नित्य है, लेकिन उस निजानन्द में जो मन स्थिर होने पर हर्ष होता है वह क्षणभर को टिकता है तो क्षणभर को ही आनन्द या प्रियता को पकड़ पाता है किन्तु क्षणभर में मन बदल जाता है। चंचलता के कारण मन में हर्ष हमेशा नहीं रहता। मन क्षण-क्षण में बदलने वाली चीज़ है। अतः हर्ष-शोक मन में क्षणिक ही हो सकते हैं। स्वरूप तो स्थायी आनन्द है। लीन अवस्था में स्वरूपभूत आनन्द का भान होता है। जब समाधि से उठते हैं, तब भी स्मरण होता है 'मैं बड़े आनन्द में था'। वह हमेशा क्यों नहीं रहता है? मन क्षणिक होने से वह फिर विषयों में चला जाता है इसलिये स्वरूप सुख का भान कायम नहीं रहता। हर्ष-शोक मन में होने वाले हैं। स्वरूपानन्द को इनसे अलग समझना ज़रूरी है ॥ ७४ ॥

श्लोक ६७ में आकाश में सच्चिदानन्द कहे थे। अन्वय-व्यतिरेक से सच्चिदानन्द की अनुगति बताकर 'शून्य' में तीनों की अनुस्यूतता दृष्टान्त के रूप में कही। अब आकाशादि में वही बताते हैं—

आकाशोऽप्येवमानन्दः सत्ताभाने तु सम्मते ।

वाय्वादिदेहपर्यन्तं वस्तुष्वेवं विभाव्यताम् ॥ ७५ ॥

जैसे निजात्मा में वैसे आकाश में भी आनन्द है। सत्ता और भान तो उसमें सर्वसम्मत हैं। वायु से शरीर तक वस्तुओं में इसी तरह विचार किया जाये।

सारी उपाधियाँ न रहने पर निजानन्द ही रहता है यह सबका अनुभव है। वह आनन्द आकाश में भी स्वरूपतः है ही। आकाश अपने स्वरूप से दुःखरूप कभी नहीं। जैसे आत्मा में दुःख औपाधिक वैसे आकाश भी उपाधिवश ही दुःख होता है। आकाश है और उसका भान है—यह तो वादियों को भी स्वीकृत है। इसलिये उसमें सच्चिदानन्द तीनों का अन्वय सुलभ है। ऐसे ही वायु आदि सब महाभूतों में और उनसे बनी सब चीज़ों में, यहाँ तक कि अपने शरीर में इनका अनुगम समझना चाहिये, यह संस्कार दृढ़ कर लेना चाहिये ॥ ७५ ॥

आकाश का निजी रूप अवकाश श्लो. ६७ में बता चुके। अब अन्यो के रूप बताते हैं—

गतिस्पर्शो वायुरूपं वह्नेर्दाहप्रकाशने ।

जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः ॥ ७६ ॥

वायु के 'रूप' हैं गति और स्पर्श। वह्नि के 'रूप' हैं जलाना और प्रकाशित करना। जल का 'रूप' द्रवता (बहने की योग्यता) तथा भूमि का कठोरता हैं।

सच्चिदानन्द आत्मा से सर्वत्र प्राप्त हैं। भूतों के अपने निजी गुण अवकाश, गति आदि हैं। वायु में शब्द तो आकाश से प्राप्त विशेषता है, उसकी अपनी विशेषता गति-स्पर्श ही हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर कार्यों में अपनी विशेषताओं के अतिरिक्त कारणों की भी विशेषतायें मिल जाती हैं। मूलकारण सच्चिदानन्द है, उसी से सर्वत्र सत् आदि तीनों उपलब्ध होते हैं। जल का स्वयं का धर्म तरलता है और पृथ्वी का है ठोसपना। ये सभी भासते हैं, प्रिय हैं इसलिये कि उनमें सच्चिदानन्द भी हैं ॥ ७६ ॥

श्लोक २ में आकाश से स्वदेह-पर्यन्त जगत् की परीक्षा प्रारंभ की थी अतः यहाँ भी शरीर तक बताते हैं—

असाधारण आकार ओषध्यन्नवपुःष्वपि ।

एवं विभाव्यं मनसा तत्तद्रूपं यथोचितम् ॥ ७७ ॥

पूर्वोक्त रीति से ओषधि, अन्न और शरीर में भी उनके असाधारण आकार जो उनके अलग-अलग 'रूप' वे अपने मन से विचारपूर्वक समझ लेने चाहिये।

तैत्तिरीयोपनिषत् में पंचभूतों की उत्पत्ति के बाद 'पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः।' (२.१) यों शरीर तक की उत्पत्ति कही है। जौ-चावल आदि ओषधि हैं। 'अदनाहं तथाऽन्नं च' (तै.वा.२.१.१६७) वार्तिक के अनुसार खाने योग्य लाप्सी-भात आदि अन्न हैं तथा पुरुष अर्थात् स्थूल देह। इनमें भी कुछ अपने रूप हैं, कुछ इनमें कारणगुण दीखते हैं, सच्चिदानन्द तो इन सबमें भी मिलते ही हैं। इनके अपने धर्म स्वयं समझने चाहिये जैसे भूमि से पैदा होना, प्राण-धारण करना ओषधियों का रूप, शरीर को पुष्ट करना अन्न का रूप, सूक्ष्म शरीर के द्वारा चेतनता अभिव्यक्त करना शरीर का रूप है। ये माया और तद्विकारों से आये हैं, ओषधि आदि में जो सच्चिदानन्द वे अधिष्ठान से आये हैं ॥ ७७ ॥

निष्कर्ष बताते हैं—

अनेकधा विभिन्नेषु नामरूपेषु चैकधा ।

तिष्ठन्ति सच्चिदानन्दा विसंवादो न कस्यचित् ॥ ७८ ॥

अनेक प्रकार से अलग-अलग नामों व रूपों में सच्चिदानन्द एक ही प्रकार से रहते हैं इसमें किसी का मतभेद नहीं है।

[प्र. १३ श्लो. ७९]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १४२१

नाम-रूपों में अनन्त वैविध्य है। ध्यान से देखें तो सर्वथा एक-सी कोई दो चीजें संसार में उपलब्ध नहीं। लेकिन नाम-रूप का चाहे जितना भेद हो, सर्वत्र सत्-चित्-आनन्द एक-समान स्थित हैं। सभी 'है'-बुद्धि का विषय बनते हैं, भासते हैं और स्वरूप से प्रिय हैं। सच्चिदानन्दरूपता सभी नाम-रूपों में निर्विवाद है। आनन्द में आपाततः वैमत्य है लेकिन उदासीनतारूप सुख जो श्लोक ७३ में बताया, उस अभिप्राय से कोई मतभेद नहीं। सर्वत्र किसी-न-किसी अपेक्षा से ही दुःख-हर्ष होते हैं, अन्यथा स्वरूपमात्र की दृष्टि से तटस्थता ही रहती है।। ७८।।

प्रपंच की पंचरूपता बता कर नाम-रूप के मिथ्यात्व को दृढ़ करते हैं—

निस्तत्त्वे नाम-रूपे द्वे जन्म-नाशयुते च ते।

बुद्ध्या ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत्।। ७९।।

विवेकपूर्ण बुद्धि से देखो कि वास्तविकता से हीन, उत्पत्ति-विनाश वाले नाम-रूप दोनों ब्रह्म में वैसे ही हैं जैसे समुद्र में बुद्बुदे आदि।

तत्त्व अर्थात् सत्यता, त्रिकाल में बाधित न होना, एक-समान रहना; यह नाम-रूपों में नहीं है। इनका इसीलिये 'ये ऐसे ही हैं' ऐसा निश्चय संभव नहीं। अतः नाम-रूप प्रतीत होने पर भी वस्तुतः हैं नहीं। जन्म से पूर्व, नाश के बाद 'है' से असम्बद्ध होने से है से नित्य सम्बन्ध वाले नहीं अतः मिथ्या हैं। मिथ्या का आरोप सत्य पर ही सम्भव होने से एकमात्र सद्रूप ब्रह्म पर ही नाम-रूप कल्पित हैं। विचार पूर्वक इस बात का निर्णय करना आवश्यक है। जैसे समुद्र में वास्तविक वस्तु केवल जल है जबकि दीखती लहरें भी हैं, बुद्बुदे और झाग भी दीखते हैं इसी प्रकार ज्ञानी यह समझता है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म में अनन्त नाम-रूप दीख ही रहे हैं; उनकी अपनी कुछ भी वास्तविकता नहीं है। इसलिये कहा है

‘मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः।

उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमाः।।’

समुद्र में जल की तरह मुझ में, आत्मतत्त्व में अखण्ड सुख है, उसीका सागर मैं हूँ जिसमें प्रतीत होती खण्डरूप उपाधियाँ वास्तविक नहीं हैं। घड़ा, कमरा आदि से जैसे आकाश बँटा लगता है, होता नहीं, वैसे उपाधियों से मुझमें खण्ड प्रतीत ही हैं, सचमुच नहीं। मन आदि से अपना परिच्छेद, अपनी सीमितता को वास्तविक समझना बन्धन है। मनमें मैं नहीं, मुझमें मन है, भ्रमवश मुझपर अध्यस्त है अतः मुझ अखण्ड को परिच्छिन्न बना सकता ही नहीं। समुद्र में हवा से लहरों की तरह मुझमें माया के कारण अनन्त विश्व लहरों जैसे उत्पन्न और नष्ट हो रहे हैं। उस अधिष्ठान अपने सत्यस्वरूप का दृढ़ निश्चय कल्याण का एकमात्र हेतु है।। ७९।।

अधिष्ठान-दर्शनका प्रभाव बताते हैं—

सच्चिदानन्दरूपेऽस्मिन् पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते।

स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः।। ८०।।

सच्चिदानन्द इस पूर्ण ब्रह्म का दर्शन कर लेने पर धीरे-धीरे खुद ही साधक नाम-रूपकी अवज्ञा करने लगता है।

स्वरूप की वास्तविकता का यथाशास्त्र पुनः पुनः विचारपूर्वक निश्चय बनाना आवश्यक है कि मैं केवल अखण्ड आनन्द हूँ। मुझ में अनन्त सृष्टियाँ पैदा और लीन हो रही हैं। पूर्ण ब्रह्म, अर्थात् सारी उपाधियों से रहित ब्रह्म का जितना ध्यान करोगे उतना ही नामरूप की अवज्ञा होने लग जायेगी। वे तुम्हें सच्चे प्रतीत नहीं होंगे। यदि सोचो कि नाम-रूप को भूलने का प्रयत्न सफल होगा तो कठिन है क्योंकि वे अनन्त हैं। इसलिये लयप्रक्रिया द्वारा आकाश तक पहुँच कर आकाश की विस्मृति करने पर सच्चिदानन्द ही बचता है, जितना-जितना उसका वीक्षण करते हैं, बुद्धि को उसपर स्थिर करते हैं, उतना-उतना अपने आप ही नाम-रूपों की अवज्ञा होने लग जाती है क्योंकि पता रहता है कि सच्ची चीज़ तो केवल ब्रह्म ही है। मन फिर उसीमें धीरे-धीरे स्थिर होता है। बुद्धि से विचार, निश्चय तो जल्दी हो जाता है पर वह संस्कारों में आ जाये तब संसार की अवज्ञा होने लगती है। अभी तो शरीर को प्रधानता देते हैं, उसमें ब्रह्म गौण दीखता है। यही ब्रह्म की अवज्ञा है। अब उल्टा करना है, ब्रह्म प्रधान और नाम-रूप को गौण जानना है। जैसे ब्रिटिश काल में चलने वाले पचास हजार के नोट की अब कोई कीमत नहीं है भले ही दीख रहा है, इसी प्रकार जब बुद्धि ने निश्चय कर लिया कि नाम-रूप दीखने पर भी निस्तत्त्व हैं तब उनकी अवज्ञा होगी। इसका संस्कार दृढ़ होना ज़रूरी है तभी साधक संसार को निस्तत्त्व ही देखेगा। यह शनैः शनैः होता है॥ ८०॥

द्वैत की अवज्ञा और ब्रह्मज्ञान की दृढ़ता अन्योन्याश्रित है, एक-दूसरे के सहारे होते हैं इसलिये साधना में अद्वैत-ज्ञान के प्रयास के साथ ही द्वैत-तिरस्कार का प्रयास भी कर्तव्य बताते हैं—

यावद् यावद् अवज्ञा स्यात् तावत् तावत् तदीक्षणम्।

यावद् यावद् वीक्ष्यते तत् तावत् तावदुभे त्यजेत्॥ ८१॥

जितनी-जितनी नाम-रूप की अवज्ञा होगी उतना-उतना ब्रह्म का दर्शन टिकेगा एवं जितना-जितना ब्रह्म देखा जायेगा उतना-उतना साधक नाम-रूप छोड़ सकेगा।

जितनी तुम नाम-रूप की अवज्ञा करोगे, उतना अपने सच्चिदानन्द रूप की वृत्ति बनेगी। द्वैत की अवज्ञा से ही अद्वितीय में स्थिति होती है। जैसे श्रवण-मनन साधक का कर्तव्य है, वैसे ही नाम-रूप की अवज्ञा अर्थात् वहाँ से मनको हटाना भी अद्वैत की स्थिति के लिये आवश्यक है। सर्वकर्मत्याग की बात इसी लिये आती है। कर्म अपेक्षा करता है नाम-रूप पर ध्यान देने की। चाहे लौकिक हो या शास्त्रीय कर्म हो, वह करने में नाम-रूप पर ध्यान देना पड़ता है। अतः नाम-रूप की अवज्ञा के लिये शास्त्रों ने बतलाया कि कर्ममात्र का त्याग हो। जैसे श्रवण-मनन कर्तव्य है वैसे ही नाम-रूप की अवज्ञा भी। जितना-जितना तुम निजानन्द का अनुभव करते हो उतना-उतना ही इन दोनों की प्रधानता घटती जाती है। अन्योन्याश्रित होने से दोनों साधन साथ-साथ करने पड़ते हैं—नाम-रूप की अवज्ञा और सच्चिदानन्द का

[प्र. १३ श्लो. ८३]

ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्द प्रकरण १४२३

निश्चय। श्रवण-मनन में सच्चिदानन्द का निश्चय प्रधान है तथा लय-प्रक्रिया में नाम-रूप की अवज्ञा प्रधान है॥ ८१॥

दोनों उपायों के अभ्यास का फल बताते हैं—

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान्।

जीवन्नेव भवेद् मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा॥ ८२॥

उक्त अभ्यास से विद्या हृदय में प्रतिष्ठित हो चुकने पर यह पुरुष जीवित रहते ही मुक्त होता है, शरीर चाहे जैसे रहे।

नाम-रूप की विस्मृति और सच्चिदानन्द की वृत्ति स्थिर करना इस उभयविध अभ्यास से विद्या अर्थात् ज्ञान मन में अच्छी तरह से वासित हो जाता है, स्थिर हो जाता है तो साधक पुरुष जीवित रहते हुए ही मुक्ति का अनुभव करता है। नाम-रूपों की प्रतीति होना जीवन है किन्तु उनका वास्तविक रूप से प्रतीत होना बन्धन का लक्षण है। 'कल्पित हैं' इस रूप से प्रतीत हों तो उसे मुक्ति का लक्षण कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का शरीर जैसी ईश्वरेच्छा वैसा रहता है, उसे स्वयं शरीर की चिन्ता नहीं रहती है। वह प्रारब्ध से ही चलता रहता है, उसका कोई आग्रह नहीं रहता है॥ ८२॥

'तदभ्यासेन' (श्लो. ८२) कहा, अभ्यास का स्वरूप बताते हैं—

तच्चिन्तनं तत्कथनम् अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।

एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥ ८३॥

परमेश्वर का चिन्तन, कथन, परस्पर उसके बारे में समझना—इस तरह एक वस्तु के प्रति तत्परता को समझदार 'ब्रह्माभ्यास' जानते हैं।

चिन्तन अर्थात् बार-बार प्रमाण-तर्क-स्वानुभव से विचार करना। एकमात्र सत् ही जगत् का अधिष्ठान होने से 'है'-प्रतीति वास्तव में अधिष्ठान ब्रह्म की प्रतीति है—इस निर्णय पर पहुँचना और स्थिर रहना जैसे हो वैसा विचार 'तच्चिन्तन' है। कथन भी तत्त्व के बारे में ही किया जाये। प्रपंचकी निवृत्ति शिवरूप है अतः नाम-रूप के कथन को छोड़कर इससे रहित का ही कथन भी कर्तव्य है। जगत् तीनों कालों में है नहीं, इसलिये इसके बारे में कुछ भी सोचना सर्वथा निरर्थक है। सपने में देखे का जैसे जाग्रत् में कोई बुद्धिमान् विचार नहीं करता वैसे ब्रह्मसत्यता समझने वाला नाम-रूपका विचार न करे। मिथ्या पर ध्यान देना व्यर्थ जानकर जगत् की उपेक्षा ही योग्य है। उपनिषदों में इसी लिये साधक को अकेला रहने को कहा। यदि दो जने भी साथ रहेंगे तो नाम-रूप की चर्चा होगी ही। सौभाग्य से दोनों सावधान हों तब तो परस्पर चिन्तन याद दिलायेंगे अन्यथा बहिर्मुखता अवश्यम्भावी है। साथी को तत्त्व के बारे में प्रबोधित करे, अन्य कोई हो तो तत्त्वकथन करे—यह साधक के लिए नियम है, ऐसा करता रहा तो उसे एक तत्त्व के प्रति तत्पर समझा जायेगा जो तत्परता ब्रह्मनिष्ठा में उपयोगी है। अतः इसे ब्रह्माभ्यास कहा। नाम-रूप में मन न लगने दे और ब्रह्म में उसे स्थिर करे इसी के चिन्तनादि उपाय हैं। द्वैत-संस्कार अनादि काल से एकत्र हैं अतः

ब्रह्माभ्यास भी पर्याप्त करें तभी अनिष्ट संस्कार धूमिल, निष्प्रभावी होंगे। जानने-मात्र से यह काम नहीं होता, अभ्यास से उसे दृढ करना पड़ता है॥ ८३॥

ब्रह्माभ्यास का धैर्यपूर्वक अनुष्ठान कराने के लिये कहते हैं—

वासनाऽनेककालीना दीर्घकालं निरन्तरम्।

सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते॥ ८४॥

लम्बे समय तक लगातार आदरपूर्वक ब्रह्माभ्यास की आवृत्ति करने पर अनेक कालों में एकत्र द्वैतवासना पूरी तरह समाप्त हो जाती है।

नामरूप की वासना अनादिकाल से है। इसलिये ब्रह्मज्ञान का अभ्यास भी दीर्घकाल तक होना चाहिये। जब तक मर न जायें तथा जब तक नींद न आ जाये तब तक ब्रह्म-विचार करते रहना ही श्रेयस्कर है। विचार आदर-पूर्वक करे अर्थात् इस निश्चय से कि यही ठीक है, तब विद्या दृढभूमि हो जाती है। तभी अनादिकाल की वासना भी निवृत्त हो जाती है। सच्चिदानन्द के संस्कार इतने दृढ हो जाते हैं कि नाम-रूप के संस्कार सर्वथा गौण हो जाते हैं तथा फिर सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। ('अनेककालीना' की जगह 'दीर्घकालीना' ऐसा मोडक का पाठ है। 'अनेक काल' अर्थात् विभिन्न पूर्व जन्मों के विविध युग आदि)॥ ८४॥

एकरूप ब्रह्म से अनेकरस सृष्टि उपपन्न करते हैं—

मृच्छक्तिवद् ब्रह्मशक्तिरनेकाननृतान् सृजेत्।

यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्चाऽत्र निदर्शनम्॥ ८५॥

एकरस मिट्टी की शक्ति जैसे विविध बर्तन बनाती है वैसे ब्रह्मशक्ति अनेक मिथ्या कार्य बनाती है। अथवा जैसे जीव की निद्रा स्वप्न बना देती है वैसे ब्रह्म की माया से संसार समझना चाहिये।

ब्रह्म ही जगत् का एकमात्र कारण है। एक ब्रह्म ही इस अनेक आकार के जगत् की मिथ्या सृष्टि करता है। जैसे मिट्टी से अनेक आकार बन जाते हैं वैसे ब्रह्म से संसार बनता है। जैसे मिट्टी में बर्तनों को पैदा करने की शक्ति है ऐसे ही ब्रह्म में अनन्त नाम-रूपों के आकार में प्रकाशित होने की शक्ति है, हैं वे सारे अनृत। शक्ति मिथ्या है, यह दीर्घ कालीन विचार से ही स्थिर हो पाता है। रस्सी में भय देने वाला सर्प या आकर्षण करने वाली माला, दोनों ही मिथ्या हैं। सच्चिदानन्द में प्रियता या अप्रियता दीख रही है जबकि जिनमें दीख रही है, वस्तुतः वे पदार्थ हैं ही नहीं। एक ब्रह्म ही सबका कारण है, कोई दूसरा कारण नहीं है। मिट्टी-वर्तनों के दृष्टान्त से प्रायः प्रतीत होता है कि कार्य वास्तविक है, कार्य के रूप में कारण वस्तुतः है। यह भ्रम दूर करने के लिये दूसरा दृष्टान्त दिया : जीवगत निद्रा स्वप्न दिखाती है, अच्छा भी, बुरा भी; उठने पर सपनों में सत्यता की भावना नहीं रहती है। वह अनृत था यह हमारा निश्चय हो जाता है। वैसे ही अज्ञान की निद्रा में जो कुछ भी दीख रहा है, वह झूठा है॥ ८५॥

दृष्टान्त का विस्तार करते हैं—

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वप्नकारिणी ।
ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ॥ ८६ ॥

जैसे निद्रारूप शक्ति जीव में ऐसे सपने बना देती है जो घटित होने संभव नहीं, वैसे ब्रह्म में सृष्टि-स्थिति-संहार करने वाली यह माया स्थित है।

निद्रा जीव से सर्वथा अलग कुछ नहीं है। निद्रा शक्ति ऐसे स्वप्न को बनाती है जिसकी सम्भावना ही नहीं है, दुर्घट है जैसे मृत व्यक्ति का स्वप्न में दिखाई देना। निद्रा की शक्ति है कि असंभव को भी घटा हुआ दिखा देती है। इसी प्रकार ब्रह्म में स्थित माया शक्ति असम्भव सृष्टि, स्थिति और प्रलय की प्रतीति कराने वाली है। जगत् की सृष्टि आदि असम्भव हैं, विचार से सिद्ध होते नहीं।

विचार की किरण आते ही सृष्टि ही सिद्ध नहीं होती, तो स्थिति और अन्त क्या सिद्ध होंगे! जब तक माया का आवरण है, तब तक यह सम्भव ही नहीं लगता कि सृष्टि नहीं हुई। भगवान् ने गीता में कहा 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः'। इसका अभिप्राय यही निकलता है कि किसी चीज़ की सृष्टि संभव नहीं है। सृष्टि का मतलब, जो पहले नहीं था वह अब है। भगवान् ने कहा कि जो चीज़ पहले नहीं थी वह हो जाये यह कभी हो ही नहीं सकता। सृष्टि ही नहीं हो सकती, इसलिये संहार भी असम्भव है। फिर भी माया इन सबकी प्रतीति करा देती है ॥ ८६ ॥

सपने में असंभव का दर्शन स्पष्ट करते हैं—

स्वप्ने वियद्गतिं पश्येत् स्वमूर्धच्छेदनं यथा ।
मुहूर्ते वत्सरौघं च मृतपुत्रादिकं पुनः ॥ ८७ ॥

सपने में आकाश-गमन, अपनी मूर्धा का कटना, मुहूर्तभर के काल में अनेक वर्ष बीतना, मरा पुत्र देखना आदि असंभव बातें देखी जाना सम्भव है।

स्वप्न में व्यक्ति स्वयं को आकाश में चलते देखता है। आकाश में चलना असम्भव है परन्तु स्वप्न में प्रतीति होती है। तलवार से अपना ही सिर काट लिया—यह देखना सम्भव ही नहीं है फिर भी यह स्वप्न में दीख जाता है। पाँच मिनट के स्वप्न में पच्चीस वर्ष बीत गये ऐसा प्रतीत होता है। मरा पुत्र भी देखने में आ जाता है। ये सब असम्भव बातें हैं किन्तु स्वप्न में अनुभव में आ जाती हैं ॥ ८७ ॥

सपने में दुर्घट भी संभव होना समझाते हैं—

इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा ।
यथा यथेक्ष्यते यद् यत् तत् तद् युक्तं तथा तथा ॥ ८८ ॥

यह संगत, यह संगत नहीं—ऐसी व्यवस्था सपने में निर्णीत नहीं होती। जो-जो जैसा-जैसा दीखता है वह-वह वैसा-वैसा ही वहाँ संगत होता है।

यह ठीक है, यह ठीक नहीं है—ऐसी व्यवस्था स्वप्न में दुर्लभ है। जिसको जला दिया, वह वहाँ बोलता है! इसी तरह माया ने भी जो बनाया उसमें 'यह युक्त है, यह अयुक्त है' ऐसी व्यवस्था नहीं बनती। जो नकल करके डाक्टरेट पाये उसे भी राष्ट्रपति पुरस्कार मिल जाता है और योग्य अन्वेषक को कुछ नहीं मिलता! अनुचित भी उचित हो जाये—संसार में यह विचित्रता है। जैसे स्वप्न में वैसे जाग्रत् में भी व्यवस्था नहीं बनती। जैसा-जैसा दीखता है, वैसा ही युक्त मानना पड़ेगा। प्रायः जाग्रत् में मनुष्य व्यवस्था बनाने में लगा रहता है किंतु अन्त में पता लगता है कि यह तो माया से बना है, इसमें युक्त-अयुक्त का विचार हो ही नहीं सकता। यहाँ जैसी प्रतीति होती है, वही ठीक है॥ ८८॥

सपने का वैचित्र्य बताकर दार्ष्टान्त सूचित करते हैं—

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा।

मायाशक्तेरचिन्त्योऽयं महिमेति किमद्भुतम्॥ ८९॥

जब (जीवगत) निद्रानामक शक्ति की ऐसी महिमा है तब (ईश्वर की) माया-शक्ति की यह अचिन्त्य महिमा हो इसमें क्या आश्चर्य!

निद्रा शक्ति की ऐसी महिमा देखी जाती है कि अयुक्त चीज़ों को दिखला देती है तो ब्रह्म की माया शक्ति में असम्भव चीज़ों को दिखला देने की शक्ति में क्या शंका करोगे? हर जीव अपनी निद्रा शक्ति को देखता ही है। परमेश्वर की माया शक्ति भी ऐसे ही असम्भव चीज़ों को दिखलाती रहती है। माया की यह अचिन्त्य महिमा है। न्यूटन के सारे विचारों को सिद्धान्तों को आइन्स्टाइन ने काट दिया, ग़लत साबित कर दिया। आगे आइन्स्टाइन की बातों को भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि 'ऐसा ही है और आगे भी रहेगा'। आधुनिक विज्ञान भी मानता है कि कुछ भी निश्चित-रूप से नहीं कहा जा सकता। यह रोग इसी दवा से ठीक हो ही जायेगा—यह नहीं कहा जा सकता। 'इतने प्रतिशत को लाभ होगा' ऐसी संभावना ही समझ आती है। कोई भी चीज़ इस संसार में व्यवस्थित नहीं है, निश्चित नहीं है। इसलिये माया शक्ति अचिन्त्य है। अतः माया जो दिखावे, देखते जाओ वह सब मिथ्या है, खेल है। यह जगत् प्रतीतिमात्र है, इसमें वास्तविकता नहीं है। वह तो केवल सच्चिदानन्द है। परमेश्वर की माया शक्ति की महिमा अचिन्त्य है, इसका विचार कर नहीं सकते। जीव की ही निद्रा इतना बड़ा आश्चर्य करती है तो यह ब्रह्म की माया संसार खड़ा करे इसमें कुछ भी अद्भुत नहीं है। अतः परमेश्वर की माया को केवल देखते जाओ, उसको विचारो नहीं। यह अभ्यास कर्तव्य है॥ ८९॥

निष्प्रयत्न ब्रह्म में स्थित माया जगत्कारण है यह भी दृष्टान्त से बताते हैं—

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत्।

ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान् कल्पयत्यसौ॥ ९०॥

सोते पुरुष में (स्थित) नींद अनेक प्रकार के सपने जैसे पैदा करती है वैसे निर्विकार ब्रह्म में माया विकार कल्पित कराती है।

जो सोया हुआ पुरुष है उस में निद्रा अनेक प्रकार के स्वप्नों का निर्माण करती है। दस स्वप्न आते हैं एक ही रात में, सभी भिन्न-भिन्न होते हैं, उनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं। लोग सोचते हैं कि इतनी प्रकार की सृष्टि क्यों? विचार करो, तुम्हारे सपने इतने प्रकार के कैसे हैं? जैसे स्वप्न निद्रा करती है वैसे जो ब्रह्म सारे विकारों से रहित है उसमें माया शक्ति अनन्त विकारों की कल्पना कर लेती है। निद्रा का दृष्टान्त हर जीव को माया शक्ति को स्पष्ट कर देता है। स्वप्न में 'क्यों' का प्रश्न नहीं है। वहाँ तो बनाने वाले तुम हो फिर भी 'क्यों' के जवाब में कहोगे 'कुछ पता नहीं।' ऐसे ही जो निर्विकार ब्रह्म है उसमें माया अनन्त कल्पनाओं को कर लेती है॥ ६०॥

माया से उत्पादित पदार्थ बताते हैं—

खानिलाग्निजलोर्व्यण्डलोकप्राणिशिलादिकाः ।

विकारा प्राणिधीष्वन्तश्चिच्छायाप्रतिबिम्बिता ॥ ६१॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ब्रह्माण्ड, लोक, प्राणी, पत्थर आदि विकार (मायाकार्य हैं)। प्राणियों की बुद्धि के अंदर चेतन की छाया प्रतिबिम्बित होती है।

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, पंचमहाभूतों से ब्रह्माण्ड, उसमें सात ऊपर के सात नीचे के लोक, उनमें अनेक प्रकार के प्राणी एवं शिला आदि सारे विकार हैं। यद्यपि यह सारी सृष्टि पांचभौतिक है तथापि इनमें कोई चेतन है कोई जड़ है। पंचमहाभूत का एक विकार अंतःकरण है, उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है। जैसे बालू का विकार काँच या दर्पण है, सूर्य का उसमें प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, बाकी मिट्टी में नहीं पड़ता; वैसे बाकी भी पांच-भौतिक होने पर भी अन्तःकरण ऐसा विकार है जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ जाता है जो चेतन की तरह प्रतीत होता है। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब काँच में लगता है पर है नहीं, इसी प्रकार अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब पड़ने से लगता है 'यह चेतन है' जबकि वस्तुतः चेतन तो सर्वव्यापक, आनन्दरूप है। अन्तःकरण में पड़ा प्रतिबिम्ब सुखी दुःखी परिच्छिन्न है इसलिये सचमुच में चेतन नहीं है, केवल प्रतीत होता है। प्राणियों के अंतःकरण के अन्दर चेतन की छाया प्रतिबिम्बित हो जाती है, जहाँ अन्तःकरण नहीं है वहाँ चेतन का प्रतिबिम्ब नहीं है अतः जड़ता है॥ ६१॥

जड़ हो या चेतन, ब्रह्म सर्वत्र समान है—

चेतनाचेतनेष्वेषु सच्चिदानन्दलक्षणम् ।

समानं ब्रह्म भिद्येते नामरूपे पृथक् पृथक् ॥ ६२॥

इन चेतनों व अचेतनों में सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म समान है, नाम-रूप अलग-अलग बँटे हैं। चाहे चेतन हो चाहे अचेतन, दोनों में सच्चिदानन्द ब्रह्म एक-जैसा है इसलिये जैसे 'मैं

हूँ की प्रतीति है वैसे 'घड़ा है' की प्रतीति है। जड़-चेतन यह चेतन ब्रह्म के द्वारा किया गया भेद नहीं है। वह तो सभी का एक-जैसा उपादान कारण है। इनके नाम और रूप अलग-अलग हैं। चेतन का नाम और रूप अलग, जड़ के अलग हैं। जहाँ चेतन का प्रतिबिम्ब नहीं है, उसे जड़ कहा। नाम-रूपों का ही भेद होता चला जाता है, सच्चिदानन्द तो सब जगह एक-जैसे रहेंगे ॥ ६२ ॥

ब्रह्म से नाम और रूप, दोनों का सम्बन्ध कैसा है, यह बताते हैं—

ब्रह्मण्येते नामरूपे पटे चित्रमिव स्थिते ।

उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दधीर्भवेत् ॥ ६३ ॥

ये नाम-रूप ब्रह्म में वैसे स्थित हैं जैसे कपड़े पर चित्र। नाम-रूप दोनों की उपेक्षा करने से सच्चिदानन्द का ज्ञान हो जाता है।

जैसे कपड़े के ऊपर रंग से तुम चित्र बना देते हो वैसे ब्रह्मपर संसार है। कपड़ा एक-जैसा रहता है, उस पर राम भी, रावण भी बना दिये जाते हैं। दोनों के नाम-रूप अलग हैं। जबकि दोनों का अधिष्ठान कपड़ा दोनों में एक है। रंगों के कारण राम और रावण दीख रहे हैं, कपड़े में भेद नहीं। चित्र में बनी धोती दीखती है जो चित्र के आधारभूत कपड़े से भिन्न लगती है! कपड़ा भी कपड़े-जैसा दीखता है। चित्रगत धोती असली धोती नहीं है। इसी प्रकार संसार में जो चेतन दीख रहे हैं वे चेतन हैं नहीं, चेतन—जैसे दीख रहे हैं। जो चेतन संसार में दीख रहा है, वह परिच्छिन्न, सुखी, दुःखी, है जबकि वस्तुतः चेतन व्यापक और आनन्दरूप है। जैसे कपड़े पर चित्र उसी प्रकार ब्रह्मरूप कपड़े के ऊपर नाम-रूप बने हैं। जहाँ अन्तःकरण है, वहाँ चेतन वैसे प्रतीत होता है जैसे कपड़े में कपड़ा दीख जाता है; ब्रह्म भी चेतन है और जीव भी चेतनरूप है। परन्तु जीव सचमुच में चेतन नहीं है, वह अन्तःकरण में केवल प्रतिबिम्बित चेतन है। बाकी सब नाम-रूप ब्रह्म में हैं। सारी कल्पनाओं का अधिष्ठान ब्रह्म ही है। जैसे राम-रावण में आधारभूत कपड़ा एक-जैसा ही है इसी प्रकार जितने नाम-रूप हैं, सबका अधिष्ठान सच्चिदानन्द ब्रह्म एक ही है। यदि चित्रों से मन को हटा लो तो वहाँ कपड़ा ठीक से दीखेगा। अच्छे चित्रों के आकर्षण के कारण असली कपड़ा नहीं दीख पाता। अच्छा व्यापारी कपड़े को ही देखता है इसलिये वह ठगा नहीं जाता। रंगों को धूप, पानी से बचाने पर जैसे घटिया कपड़ा देर तक चलेगा वैसे ही माया को विवेक से बचाने पर संसार ठीक चलता रहता है! यदि विवेक कर लिया तो नाम-रूप की तरफ ध्यान नहीं जाकर सच्चिदानन्द स्पष्ट हो जायेगा। कल्पित नाम-रूप के त्याग से ही ब्रह्म की अवगति हो सकती है। उन्हीं में हमारा मन फँसता है, सभी कामों को ये राग-द्वेष ही बिगाड़ने वाले हैं। सारी चिन्ताएँ, उलझनें आदि नाम-रूप को लेकर ही हैं। नाम-रूप को त्याग दो तो पर ब्रह्म ही है। विवेक से ही यह त्याग होगा। अतः विवेकजन्य वैराग्य को ही मोक्ष की इच्छा वाले के लिये उपयोगी बताया है। दुःख से होने वाला वैराग्य इसके लिये पर्याप्त उपादेय नहीं है क्योंकि दुःख का कारण हटते ही वैराग्य भी हट सकता है। ऐसा प्रायः देखने में भी आता है। पर विवेक से जो वैराग्य होगा, वह कभी हट नहीं सकता।

विवेकजन्य वैराग्य से ही नाम-रूप की उपेक्षा होगी। दुःख से वैराग्य में हम एक नाम-रूप हटाकर दूसरा नाम-रूप लाना चाहते हैं, विवेक में नाम-रूपमात्र से वैराग्य होता है। विवेक क्या है? नित्य और अनित्य को पृथक् समझना। सच्चिदानन्द नित्य है। नाम-रूप अनित्य हैं, परिवर्तनशील हैं। परन्तु जो भी नाम या रूप, वे हैं अर्थात् सद्रूपता नहीं बदलती, है-रूपता नित्य है। नाम-रूप की जितनी उपेक्षा होती है उतनी ही सच्चिदानन्द-बुद्धि स्पष्ट व स्थिर होती है॥ ६३॥

दृश्य की उपेक्षा-पूर्वक द्रष्टा को समझने में दृष्टान्त देते हैं—

जलस्थेऽधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेऽप्युपेक्ष्य तम् ।

तीरस्थ एव देहे स्वे तात्पर्यं स्याद् यथा तथा ॥ ६४ ॥

नीचे की ओर मुँह वाला अपना शरीर जल में स्थित दीखने पर भी उसकी उपेक्षा कर किनारे पर स्थित ही अपने शरीर में जैसे तात्पर्य होता है वैसे (नाम-रूप की उपेक्षा से ब्रह्म में तात्पर्य रखना चाहिये।)

जिस प्रकार अपना शरीर जल में सिर नीचा पैर ऊपर वाला दीखता है पर तुम उसकी उपेक्षा ही करते हो, इसी प्रकार सब नाम-रूप दीखते हुए भी उनकी उपेक्षा करते रहो। जो शरीर सीधा है, ऊपर सिर वाला है, उसी में तुम्हें तात्पर्य लगता है कि 'वास्तव में मैं यह हूँ'; ऐसे ही जानना है कि मैं हमेशा ही हूँ, बाकी जो दीखता है, वह हमेशा नहीं है। पहले बच्चा था, अब बुढ़ा हो गया या एक शरीर से दूसरे शरीर में चला गया पर 'हूँ' तो ज़रूर। कभी भी यह बोध नहीं होता कि 'मैं नहीं हूँ'। है एक-जैसा रहता है। मैं जानने वाला नहीं रहता जैसे गहरी नींद में, पर ज्ञानरूप हमेशा रहता हूँ। गहरी नींद से उठने पर भी स्मरण नहीं होता कि 'मैं नहीं था' वरन् यही होता है 'मैंने कुछ नहीं जाना।' मैं अपने आप को कभी अच्छा न लगूँ ऐसा नहीं पर संसार की चीज़ें कभी अच्छी तो कभी बुरी लगती हैं। इसलिये जवान शरीर, बुढ़ा शरीर देखने पर भी उसकी उपेक्षा और सच्चिदानन्द जो मेरा रूप है उसी में तात्पर्य रखना है कि वही मेरा वास्तविक रूप है॥ ६४॥

मिथ्या की उपेक्षणीयता में और दृष्टान्त देते हैं—

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत् ।

सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वद् उपेक्षा नामरूपयोः ॥ ६५ ॥

हज़ारों की तादाद में मनोराज्य होने पर भी सब हमेशा उसकी उपेक्षा ही करते हैं, ऐसे ही विवेकी नाम-रूप की उपेक्षा करे।

मनोराज्य अर्थात् जब मन तरह-तरह की बातें सोचता है कि 'ऐसा हो जाता तो अच्छा था'। कल्पना या दिवास्वप्न मनोराज्य है। मनोराज्य के दौरान मन में वैसा लगने पर भी जानकार उसकी उपेक्षा करते हैं, यदि कोई उसे सच्चा माने तो पागल कहलाता है। समझदार लोग मनोराज्य की उपेक्षा ही करते हैं। मनोराज्य एक जैसा नहीं रहता वरन् हज़ारों तरह

१४३० पञ्चदशी

बदलता रहता है। जैसे मनोराज्य की उपेक्षा करते हो, वैसे ही नाम-रूप की उपेक्षा करो। मनोराज्य होना बन्द नहीं होगा पर स्वस्थ आदमी उसकी उपेक्षा करता है। जो नहीं कर पाता वह पागल हो जाता है। इसी प्रकार नाम-रूप दीखना बन्द नहीं होंगे, जो उपेक्षा करता है वह स्वस्थ रहता है, अर्थात् आत्मज्ञानी हो जाता है।। ६५।।

संसार मनोराज्य-सा है यह समझाते हैं—

क्षणे क्षणे मनोराज्यं भवत्येवान्यथाऽन्यथा।

गतं गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो बहिस्तथा।। ६६।।

क्षण-क्षण में मनोराज्य अलग-अलग तरह के होते ही रहते हैं। जो-जो मनोराज्य बीत जाये वह फिर नहीं होता। इसी तरह बाह्य व्यवहार भी है।

मनोराज्य क्षण-क्षण में बदलता रहता है, और-और प्रकार का होता रहता है। जो मनोराज्य चला गया, ठीक वैसा वह फिर नहीं आता। इसी प्रकार नामरूप बदलते रहते हैं। जहाँ चीज एक जैसी लगती है वहाँ भी काल का सम्बन्ध तो बदलता ही रहता है। क्षण-क्षण में चीज़ बदल रही है। आदमी कभी शांत है, फिर महान् उत्तेजित है या उल्टा भी होता है। बाहर का व्यवहार नाम-रूप से वैसा ही है जैसा मनोराज्य है। जो चीज़ जैसी है उसको वैसा ही देखना—यह तो है ज्ञान। उसमें कुछ परिवर्तन करना व्यवहार है। ज्ञान से जो हो उसमें परिवर्तन का प्रयत्न न हो तो व्यवहार नहीं है। परिवर्तन चाहना मनोराज्य है। जो चला गया वह फिर हो नहीं सकता पर आदमी इसी का प्रयत्न करता रहता है। इसी में सारा समय चला जाता है। इसलिये हम शान्ति और आनन्द से नहीं रह पाते। नाम-रूप का बाध करते रहें तभी शांति है।। ६६।।

व्यवहार की मनोराज्य-समानता ही व्यक्त करते हैं—

न बाल्ये यौवनं लभ्यं यौवने स्थाविरे तथा।

मृतः पिता पुनर्नास्ति नायात्येव गतं दिनम्।। ६७।।

बचपन में जवानी नहीं मिल सकती, न वह बुढ़ापे में ही मिल सकती है। मर चुका पिता फिर रहता नहीं, बीता दिन लौटता नहीं।

बालक अवस्था में जवानी नहीं है। जवानी में बालक की तरह आदमी होना चाहता है! जब बुढ़ा हो गया तब जवानी पुनः नहीं हो सकती। पिता मर गया। पुत्र मनोराज्य बनाता है 'पिता जी होते तो ऐसा करता।' पर उन्हें पुनः होना ही नहीं है। आदमी सोचता रहता है 'पहले जो था वह ठीक था।' लेकिन जो दिन बीत गया वह वापिस आने वाला नहीं है। हम बीते दिनों को ही सोचते रहते हैं, उनको लाने का प्रयत्न करते रहते हैं इसीलिये हम नाम-रूप की उपेक्षा नहीं कर पाते। जो नाम-रूप दीख रहा है उसके अलावा अन्य नाम-रूप सोचने से ही व्यवहार होता है। जब तुम विद्यमान को बदलना चाहते हो तभी व्यवहार होता है। जो मनोराज्य बीत गया वह लौटता नहीं। इसी प्रकार समझकर जो नाम-रूप दीखता

जाये उसकी उपेक्षा करते जाओ। ऐसा करने से सच्चिदानन्दरूप स्थिर होता जाता है। जैसे मनोराज्य व्यक्ति दिनभर बनाता रहता है लेकिन 'वह व्यावहारिक नहीं है, इसलिये सत्य नहीं है' इस निश्चय से मनोराज्य बनने पर भी उसको पकड़कर रखता नहीं, इसी प्रकार जो जगत् के पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं ये भी पारमार्थिक नहीं हैं, जैसे मनोराज्य व्यावहारिक नहीं है। अतः उनको पकड़ रखने का प्रयत्न, उनपर ध्यान देना व्यर्थ है। पिता मरनेके बाद, वापिस होगा नहीं। जवानी वापिस आयेगी नहीं। जो चीज़ एक क्षण पहले चली गई वह फिर वापिस आयेगी नहीं। उसको वापिस लानेका प्रयत्न व्यर्थ है॥ ६७॥

जगत् के मिथ्यात्व के वर्णन का उपसंहार करते हैं—

मनोराज्याद् विशेषः कः क्षणध्वंसिनि लौकिके।

अतोऽस्मिन् भासमानेऽपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत्॥ ६८॥

मनोराज्य से क्षणभर में नष्ट होने वाले सांसारिक पदार्थ में क्या अन्तर है! इसलिये प्रतीत होते भी इस संसार के बारे में यह निश्चय छोड़ना उचित है कि यह सत्य है।

व्यावहारिक, या लौकिक अर्थात् लोक में जिससे काम चलता है। इसके लिये चीज़ हो, यह ज़रूरी नहीं। जैसे पाँच सौ रुपये का काम कागज़ के टुकड़े से चलता है। 'रूपा' मतलब चाँदी। कागज़ में अणुमात्र भी चाँदी नहीं है। फिर भी व्यवहार करता है पाँच सौ रुपये का इसलिये वह लौकिक हुआ। लोक में जो सिद्ध है वह लौकिक। लौकिक पदार्थ हर क्षण में नष्ट होते रहते हैं। जिस क्षण से चीज़ बनी उसी क्षण से नष्ट होना शुरू हो जाती है, पर पता नहीं लगता है। मनोराज्य भी हर क्षण बदलते रहते हैं। एक क्षण में एक मनोराज्य बनेगा। लौकिक पदार्थों के समान मनोराज्य भी क्षणध्वंसी हैं। इस तरह व्यावहारिक में मनोराज्य से कोई विशेषता नहीं। जब मनोराज्य पर तुम ध्यान नहीं देते तो लौकिक के ऊपर क्यों देते हो? लौकिक व्यावहारिक पदार्थों की प्रतीति होने पर भी 'ये सच्चे हैं' यह बुद्धि छोड़ देनी चाहिये। सत्य उसे कहते हैं जो चीज़ जैसी प्रमाण से निर्णीत है वैसी ही बनी रहे। पर संसार में हर चीज़ बदल रही है। अतः यह मिथ्या है, इसे सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्य का लक्षण है—जिस चीज़ का जिस रूप से निश्चय हो उसी रूप में रहे, निश्चय होने के बाद बदले नहीं। ऐसी संसार की कोई चीज़ नहीं है। अतः वह सत्य है यह भ्रम छोड़ देना चाहिये॥ ६८॥

नाम-रूप की उपेक्षा का लाभ बताते हैं—

उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिन्तने।

नटवत् कृत्रिमास्थायां निर्वहत्येव लौकिकम्॥ ६९॥

लौकिक की उपेक्षा कर देने पर ब्रह्म-चिन्तन में बुद्धि बिना विघ्न के लगी रहती है। नाटक में पात्र बना जैसे बनावटी आग्रह रखता है वैसा रखने से भी लोकव्यवहार का निर्वाह हो ही जाता है।

नाम-रूप के मिथ्यात्व को समझने का फल होगा कि उसकी उपेक्षा सहज हो जायेगी। दीखता रहने पर भी उसपर आस्था न होने से, 'यह सत्य है' ऐसा निश्चय न होने से उन्हें बदलने आदि का विचार समाप्त हो जाता है। इसलिये जो सच्चिदानन्दरूप है, उसका चिन्तन निर्विघ्न होता है। विघ्न डालने वाले नाम-रूप हैं। नाम-रूप की उपेक्षा जितनी करोगे, ब्रह्मचिन्तन उतना निर्विघ्न होगा। फिर व्यवहार कैसे होगा? 'नटवत्'। जैसे जो लड़का नाटक में राधा बना है, वह अभिनय लड़की की तरह करता है पर जानता है 'मैं लड़का हूँ'। इसी प्रकार मैं मनुष्य के शरीर में हूँ तो मनुष्य की तरह आचरण करता हूँ। जैसे नट जो कर रहा है, उसमें उसकी आस्था नहीं है, 'मैं ऐसा हूँ' ऐसा निश्चय नहीं है, भले ही कृत्रिम, बनावटी आस्था है; वैसे ही विवेकी जानता है 'मैं मनुष्य नहीं हूँ, मनुष्य शरीर का आचरण करने पर भी। कल मुझे शेर का शरीर मिल सकता है। आज ब्राह्मण, कल क्षत्रिय का अभिनय मिल सकता है।' शरीर-मन जैसा आचरण करते हुए भी उसमें आस्था नहीं रखता है। जानता है 'मनुष्य शरीर में जब तक हूँ तब तक वैसा आचरण करता हूँ पर मैं मनुष्य नहीं हूँ, मुझे उसका नाटक ही करना है।' इस कृत्रिम आस्था से जो लौकिक काम हैं, उनका निर्वाह हो जाता है। व्यवहार के कामों में ज्ञानी का कोई आग्रह नहीं है, आस्था है कि 'मैं सच्चिदानन्द हूँ। अन्तःकरण में भी सच्चिदानन्दरूप हूँ, वह जिस घट को विषय कर रहा है, वह भी सच्चिदानन्दरूप है।' इस तरह तत्त्वज्ञान से व्यवहार-विरोध नहीं होता।। ६६।।

ब्रह्मनिष्ठ को व्यवहार से अन्तर नहीं पड़ता, इसे दृष्टान्त से समझाते हैं—

प्रवहत्यपि नीरेऽधः स्थिरा प्रौढशिला यथा ।

नामरूपाऽन्यथात्वेऽपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ।। १०० ।।

पानी बहता रहने पर भी बड़ी चट्टान जैसे स्थिर रहती है वैसे नाम-रूप बदलने पर भी कूटस्थ ब्रह्म अपरिवर्तित रहता है।

सारा व्यवहार मन से होता है, शुद्ध आत्मा से तो कोई व्यवहार है नहीं। आँख भी देखती नहीं क्योंकि मेरे बिना नहीं देख सकती। मैं भी देखने वाला नहीं, क्योंकि बिना आँख के देखता नहीं। इस प्रकार न आँख, न मैं देखने वाले हैं। मैं और आँख दोनों एक हों तब देखने वाले बनते हैं। दोनों एक तो हो सकते नहीं। एक हो न सकें और एक की तरह काम करें, इसी को अध्यास कहते हैं। जो दो एक नहीं हो सकते, फिर भी एक हो जायें, यही अविद्या का कार्य है। ब्राह्मण कौन है? ब्राह्मणी में ब्राह्मण पिता से पैदा हुआ ब्राह्मण है। गुण होने से ब्राह्मण नहीं होता। गुण किसके? शरीरों में ब्राह्मण का कोई गुण एक-जैसा मिलेगा नहीं। किसी एक निश्चित गुण के आधार पर किसी को ब्राह्मण नहीं कह सकते। गुण से ब्राह्मण कहने वाले गुण मन के बताने लगते हैं। सूक्ष्म शरीर का धर्म जो शांति, प्रज्ञा आदि उससे यदि ब्राह्मण मानो तो क्या सूक्ष्म शरीर पैदा होता है? सूक्ष्म शरीर पैदा होता है यह मान सकते नहीं। पैदा होता है स्थूल शरीर। इसमें गुण कुछ भी आ जाते हैं, बदल जाते हैं। लोग गीता का श्लोक सुना देते हैं कि गुण और कर्म से वर्णन बने हैं। पर वहाँ भगवान् ने कहा है, 'मैंने बनाया है।' भगवान् ने विधान किया है कि ब्राह्मण क्या गुण वाले और क्या कर्म

करे। यदि गुण-कर्म से निर्णय होता तो 'मैंने उत्पन्न किया' कहने की ज़रूरत ही नहीं थी। भगवान् ने जन्म दिया। क्या गुण अपने में लाऊँ, क्या कर्म करूँ—यह भी भगवान् ने कहा। जैसे मैं आँख से एक होकर देखने वाला, वैसे ही शरीर से एक होने वाला ब्राह्मण हूँ। शरीर जड़, मैं चेतन, दोनों एक होंगे अध्यास से ही। सारे अध्यास मन में प्रतीत होते हैं।

चाहे लौकिक हो या शास्त्रीय, व्यवहार होंगे सभी अध्यास से। 'मैं ब्राह्मण हूँ' यों शरीर से एक होकर ही शास्त्रीय व्यवहार होंगे। अन्तःकरण से एक होकर ही सारे व्यवहार होते हैं। कुछ व्यवहार अन्तःकरण से एक होकर नहीं भी होते जैसे सोते समय व्यक्ति खरटे लेता है। यह प्राणों का व्यवहार है। अन्तःकरण तो ले नहीं रहा। उसको खुरटि लेने का पता ही नहीं होता। जिन व्यवहारों में नाम-रूप की प्रतीति है उन व्यवहारों में ही उन की उपेक्षा है। जहाँ केवल प्राण आदि का व्यवहार है वहाँ उपेक्षा करने की भी ज़रूरत नहीं है। अन्तःकरण में आने के बाद बन्धन और मोक्ष का प्रश्न होता है। इसलिये व्यवहार से आत्मस्थिति डिगे—ऐसा नहीं। जोर से पानी बह रहा हो तो भी उसके नीचे भारी शिला स्थिर ही रहती है। ऐसे ही बुद्धि का, नाम-रूप का व्यवहार होता रहे फिर भी विद्वान् की निर्विकारता यथावत् रहती है। व्यवहार तभी करेगी जब उपाधि-आत्मा का अन्योन्याध्यास हो किन्तु विद्वान् का अध्यास नट की तरह कृत्रिम है। अतः वेदान्त में अज्ञान भी माना और बाधित अज्ञान भी माना। उसी को 'अविद्यागन्ध, अविद्या-छाया, अविद्यालेश' आदि कहा है। जैसे ऊनी कपड़ों में रखी फिनाइल की गोली कुछ समय बाद समाप्त हो जाती है पर उसकी गन्ध रहती है ऐसे ही जिस अन्तःकरण में अविद्या से 'मैं' का अध्यास था, उस अविद्या की निवृत्ति के बाद भी कुछ समय तक मन-बुद्धि में 'मैं' का अध्यास चलता रहता है क्योंकि अविद्या का संस्कार है, वासना है। नाम-रूप को देख बुद्धि रही है पर आत्मा के द्वारा ही। किन्तु आत्मा को उसमें अध्यास न होकर अध्यास की अनुवृत्तिमात्र है, संस्कारमात्र है। तब नाम-रूप बदलते रहें, कूटस्थ ब्रह्म बिना बदले ही रहता है। ज्ञानी व्यवहार करता है पर उसमें कुछ विकार होता नहीं। जैसे बहता जल शिला को हिलाता नहीं है वैसे व्यवहार ज्ञानी में कोई परिवर्तन नहीं लाते। नटवत् व्यवहार करते हुए भी वह अपने स्वरूप में स्थित रहता है। कूट अर्थात् खोट में वह निर्विकार रूप से स्थित रहता है इसलिये उसे कहा कूटस्थ ब्रह्म। वह किसी भी प्रकार से परिवर्तित नहीं होता।। १००।।

ब्रह्म में जगद्भान में उदाहरण देते हैं—

निश्छिद्रे दर्पणे भाति वस्तुगर्भं बृहद् वियत्।

सच्चिद्वने तथा नानाजगद्गर्भमिदं वियत्।। १०१।।

वस्तुएँ गर्भ में धारण किया व्यापक आकाश जैसे बिना छेद वाले दर्पण में भासता है वैसे सद्ब्रह्म-चिद्ब्रह्म में अनेक जगत् गर्भ में रखने वाला यह आकाश प्रतीत होता है।

ब्रह्म के अन्दर नाम-रूप का भान कैसे होगा? जीवन् मुक्त में व्यवहार की शंका जब तक वह अनुभव नहीं होता तब तक हटती नहीं। इसलिये आचार्य शंकर इतने ग्रन्थों में कहीं

१४३४ पञ्चदशी

यह नहीं कहते कि 'यह मैं कहता हूँ।' लेकिन ब्रह्मसूत्रों में जहाँ जीवन्मुक्त का विचार आया है, वहाँ उन्होंने कहा है कि किसी के अनुभव का अपलाप कैसे किया जा सकता है! वहाँ प्राचीन आचार्यों ने माना है कि भाष्यकार अपना अनुभव कह रहे हैं। अखण्ड ब्रह्म में खण्ड वाले जगत् के भान में उदाहरण दिया : प्रायः कहीं छेद होता है तब छेद में से पदार्थ भीतर घुसता है। लेकिन काँच में कोई छेद नहीं, फिर भी उसमें सारा आकाश दिखाई देता है! यह कैसे? और उस आकाश में सूर्य, चंद्र, तारे, बादल आदि हैं ही, ऐसा आकाश काँच में कैसे घुस गया? जैसे बिना छिद्र के अन्दर घुसना सम्भव नहीं पर सारी चीज़ों को लेकर आकाश घुस ही गया ऐसे ही बिना अज्ञान के अध्यास सम्भव नहीं फिर भी ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होने के बाद भी नाम-रूप की प्रतीति है। जैसे काँच में सचमुच में आकाश नहीं, वैसे 'सचमुच' इस तरह से मुक्त में कोई व्यवहार नहीं। सारे व्यवहार करते हुए प्रतीत होता है, लेकिन वस्तुतः व्यवहार नहीं कर रहा है॥ १०१॥

अध्यास बगैर अधिष्ठानज्ञान के नहीं होता अतः सदा नाम-रूप का भान ब्रह्मभान से व्याप्त ही है यह स्पष्ट करते हैं—

अदृष्ट्वा दर्पणं नैव तदन्तःस्थेक्षणं तथा ।

अमत्वा सच्चिदानन्दं नामरूपमतिः कुतः॥ १०२॥

दर्पण देखे बिना उसमें स्थित का जैसे दर्शन संभव नहीं वैसे सच्चिदानन्द के भान के बिना नाम-रूप का ज्ञान कैसे संभव है!

यह नहीं कह सकते कि हमें सिर्फ नाम-रूप या केवल व्यवहार ही दीखता है क्योंकि बिना सच्चिदानन्द देखे व्यवहार, नाम-रूप का दर्शन संभव नहीं। जैसे काँच बिना देखे प्रतिबिम्ब नहीं दीख सकता वैसे सच्चिदानन्द देखे बगैर नाम-रूप नहीं दीख सकता। काँच अत्यन्त स्वच्छ हो तो जैसे एकाएक प्रतीत नहीं होता, केवल प्रतिबिम्ब ही दीखता है और इसलिये वह 'प्रतिबिम्ब है' यों पता न चलकर बिम्बभूत वस्तु है ऐसा लगता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द अतिस्वच्छ होने से हम उसकी उपेक्षा कर नाम-रूप को ही वस्तु माने हुए हैं। बिना अधिष्ठानबोध के अध्यास कभी नहीं अनुभव किया जाता, असावधानीवश हम उससे बेखबर भले ही रहें॥ १०२॥

अध्यासदशा में सच्चिदानन्द के प्रति जागरूक होने का ढंग बताते हैं—

प्रथमं सच्चिदानन्दे भासमानेऽथ तावता ।

बुद्धिं नियम्य नैवोर्ध्वं धारयेद् नामरूपयोः॥ १०३॥

प्रारम्भ में सच्चिदानन्द भासने पर उतने पर ही बुद्धि रोककर आगे नाम-रूप की बुद्धि न बनने दे।

इदं तारूप से रस्सी देखे बिना साँप नहीं दीख सकता। घोर अन्धकार में साँप नहीं

दीखता, मन्दान्धकार में ही दीखता है। 'सामने पड़ा हुआ' रूप से कौन दीख रहा है? सामने पड़ी रस्सी ही। ऐसा होने पर भी रस्सी की पहचान नहीं होने से वहाँ साँप दीख गया। इसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म पहले प्रतीत होगा तब उसमें कल्पित दूसरी चीज़ें प्रतीत होंगी। 'यह है' अनुभव तो रस्सी को बतला रहा है, और 'साँप' अनुभव कल्पित का है। इसी प्रकार 'घड़ा है' यह प्रतीति होती है। 'है' की प्रतीति तो सच्ची है, वह बदलती नहीं। तुम्हारे संस्कारों से तुम्हें घड़ा दीख रहा है। पहले है ग्रहण होगा, तब घड़ा पता चलेगा। सच्चिदानन्दरूप का पहले भान होता है। अविचार से यह पता नहीं लगता किन्तु विवेकपूर्ण अभ्यास से समझ आता है कि पहले सच्चिदानन्द भासता है तब नाम-रूप। जब सच्चिदानन्द की प्रतीति हो तब उसमें ही बुद्धि को स्थिर कर लेना चाहिये। यों है-बुद्धि स्थिर हो जायेगी तो नामरूप नहीं दीखेंगे। 'यह क्या है?' यों बहिर्मुखी जिज्ञासा होती है तब बुद्धि अस्थिर होती है, तब तुम्हारा संस्कार जगता है और नाम-रूप प्रतीत होते हैं। सच्चिदानन्द का पहले भान हो, वहीं बुद्धि को नियमित कर लो तो नाम-रूपात्मक प्रपञ्च की कल्पना ही नहीं होगी, मिथ्या ज्ञान पैदा ही नहीं होगा। साधक के लिये यह अभ्यास बताया। १०३॥

निष्कर्ष व्यक्त करते हैं—

एवं च निर्जगद् ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम्।

अद्वैतानन्द एतस्मिन् विश्राम्यन्तु जनाश्चिरम्॥ १०४॥

इस प्रकार निश्चित हुआ कि सच्चिदानन्दरूप लक्षण वाला ब्रह्म जगद्-रहित है। लोगों को चाहिये कि इस अद्वैत आनन्दरूप ब्रह्म में चिरकाल के लिये विश्राम करें।

साधक जब ऐसा अभ्यास करता है तब नाम-रूप से रहित ब्रह्म में स्थिति होती है। अद्वैतानन्द अनुभव का प्रकार बतलाया। बीच में जीवन्मुक्त का, व्यवहार का प्रसंग आ गया। इसका यह अर्थ न समझ लेना कि व्यवहार को होने दो! शिला की तरह प्रौढता तब होगी जब तुम्हारी बुद्धि सच्चिदानन्द में सुस्थिर हो जायेगी। तभी फिर व्यवहार से अन्तर नहीं पड़ेगा। लेकिन निष्ठा होने तक नाम-रूप वाले जगत् से रहित जो ब्रह्म है सच्चिदानन्द लक्षण वाला, उसमें दीर्घकाल तक विश्राम करना ही श्रेयस्कर है। शिलावत् प्रौढता होने के बाद भले ही व्यवहार कुछ भी चलता रहे। दीर्घकाल तक यों स्थिरता का अभ्यास करना पड़ेगा। यही अद्वैतानन्द है॥ १०४॥

अध्याय समाप्त करते हैं—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयोऽध्याय ईरितः।

अद्वैतानन्द एव स्याज्जगन्मिथ्यात्वचिन्तया॥ १०५॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचिते ब्रह्मानन्देऽद्वैतानन्दो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

‘ब्रह्मानन्द’ नामक (पंचाध्यायात्मक) ग्रन्थ में यह तीसरा अध्याय बताया ‘अद्वैतानन्द’ जगत् के मिथ्यात्व के विचार से यही उपलब्ध हो जाता है।

जो ब्रह्मानन्द के पाँच अध्याय हैं इनमें यह तीसरा अध्याय है। योगानन्द, आत्मानन्द के बाद यह अद्वैतानन्द है। अद्वैतानन्द कब रहता है? जब जगत् का बार-बार मिथ्यारूप से चिन्तन करें तब अद्वैतानन्द में स्थिति होती है। पंचदशी के अन्तिम पाँच प्रकरण मिलाकर ‘ब्रह्मानन्द’ नामक एक खण्ड ही है। इनमें पहला था ‘योगानन्द’ जहाँ द्वैत सर्वथा न रहने वाली समाधि में आनन्द का वर्णन किया। उस स्थिति में निर्विशेष ब्रह्मका आनन्द भासता है। योग सबसे सध नहीं पाता, इसमें प्रारब्ध बड़ा हेतु है। ‘जीवन्मुक्तिविवेक’ नामक ग्रंथ में विद्यारण्य स्वामी ने ही बताया है कि तीव्र प्रारब्ध समाधि से भी प्रबल है अतः व्युत्थान का हेतु हो जाता है। प्रश्न होता है कि प्रारब्ध-भोगकाल में भी ब्रह्मानन्द का अनुभव कैसे हो? भले ही तत्त्वज्ञान एवं उसकी निष्ठा के लिये समाधि अनिवार्य हो पर हर साधक अधिकतम काल समाहित रहे यह दुर्लभ है। उसके लिये आनन्द-स्थिति का क्या उपाय? दूसरे प्रकरण ‘आत्मानन्द’ में इसका उत्तर दिया जहाँ आत्मा की परम प्रियता के आधार पर निरन्तर आनन्दभान रहना संभव बताया। जैसे दस बच्चों में भी बैठे अपने पुत्र पर ही प्रेमवश दृष्टि जाती रहती है वैसे सांसारिक व्यवहार में भी निजस्वरूप पर दृष्टि जाती रहे तो आनन्द भासता रह सकता है। अनात्मा, गौणात्मा, मिथ्यात्मा—सभी से अधिक प्रिय प्रत्यगात्मा को ही वेद ब्रह्म बताता है, जगज्जन्मादि का कारण बताता है। व्यापक होने से वही आनन्द है। उसकी परम प्रियता याद रखकर पुनः पुनः उस स्वरूप से प्रफुल्लित रहना भी सम्भव है। जगत्प्रतीति-काल में भी आत्मानन्द का अनुभव सम्भव है। किन्तु इसमें अद्वैत का आनन्द नहीं! अद्वैतानन्द नामक तीसरे प्रकरण में उसका उपाय बताया कि नाम-रूप का मिथ्यात्व जानकर प्रत्यगात्मा में उन्हें लीन करने से अद्वैत भासता रहता है। सच्चिदानन्द जो प्रत्यक्स्वरूप वही अधिष्ठान है जिसके भान के बिना द्वैत भास ही नहीं सकता अतः उस प्राथमिक अधिष्ठान-भान में स्थिति का ‘अद्वैतानन्द’ में विस्तार किया ॥ १०५ ॥

॥ तेरहवाँ प्रकरण समाप्त ॥

चौदहवाँ

ब्रह्मानन्द में विद्यानन्द प्रकरण

निष्प्रपञ्च ब्रह्म के आनन्द को तीन प्रकरणों से बता चुके, आगे दो प्रकरणों से वृत्ति से होने वाले आनन्द का वर्णन है। अद्वैतानन्द में नाम-रूप के लय तक वृत्ति होने पर भी अधिष्ठान-भान वृत्ति के अधीन नहीं है। अपना स्वरूप स्वतः सिद्ध होने से वृत्तिनिर्भर नहीं है। अध्यस्त-लय के अलावा वृत्ति का उपयोग नहीं क्योंकि अधिष्ठान स्वयं भानरूप से उपस्थित ही है। मिथ्या-गौणादि में प्रियबुद्धि हटाने में श्रम है, आत्मा की प्रियता वस्तुस्थिति ही है उसके लिये वृत्ति चाहिये नहीं। स्वरूपसुख का अनुभव पा चुका व्यक्ति ही वृत्तिसुखों में अधिकृत समझना चाहिये अतः प्रकरणों का क्रम भी संगत है।

चौदहवें प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं—

योगेनात्मविवेकेन द्वैतमिथ्यात्वचिन्तया ।

ब्रह्मानन्दं पश्यतोऽथ विद्यानन्दो निरूप्यते ॥ १॥

योग, आत्मा का विवेक एवं द्वैतमिथ्यात्व का विचार—इन उपायों से ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाले के लिये अब विद्यानन्द का निरूपण किया जाता है।

पूर्व के तीन प्रकरणों में कहे उपायों से ब्रह्मानन्द का आस्वादन किये हुए को विद्यानन्द की उपलब्धि सम्भव है। निर्विकल्प समाधि एक उपाय है। गौण और मिथ्या आत्माओं से मुख्य आत्मा को सर्वथा पृथक् कर समझना अर्थात् विवेक दूसरा उपाय है। नाम-रूपात्मक द्वैत प्रपञ्च वास्तविक नहीं मिथ्या है यह दृढता रखना ब्रह्मानन्द-लाभ का तीसरा उपाय है। 'मिथ' कहते हैं पुराण को। अंग्रेजी भाषा में भी यह शब्द है। पुराण में जो बात कही जा रही है, वह बात शाश्वत सत्य है परन्तु जिस कथा के मध्यम से कही जा रही है, वह सत्य नहीं है। हरिश्चन्द्र की कथा का प्रतिपाद्य जो सत्य की धर्मरूपता, वह शाश्वत सत्य है। दो चीजें जहाँ मिलती हैं, एक क्षणिक और दूसरी शाश्वत वही मिथ्या है। 'यह साँप है' में 'यह है' सत्य और 'साँप' भाग झूठा है। घड़ा असत्य भले ही हो, 'है' सत्य, इसलिये घड़े का ज्ञान मिथ्या कहा जाता है। मिथ्या का अभिप्राय असत् से नहीं। मिथ्या का अर्थ असत् मानकर ही अधिकतम प्रश्न उठते हैं किन्तु मिथ्या प्रतीत होता है, असत् प्रतीत नहीं होता—यह दोनों में स्पष्ट फर्क है। द्वैत का जो अधिष्ठान सच्चिदानन्द उसका बार-बार विचार करने से भी आनन्द-आविर्भाव होता है। ये तीन तरीके बतलाये उस ब्रह्मानन्द के साक्षात्कार के लिये। जो

इन तीन तरीकों से ब्रह्मानन्द को देखता है वही वृत्ति से होने वाले विद्यानन्द का आस्वादन कर सकता है। इस विद्यानन्द का निरूपण चौदहवें प्रकरण में होगा ॥ १॥

विद्यानन्द का स्वरूप बताते हैं—

विषयानन्दवद् विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपकः ।

दुःखाभावादिरूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः ॥ २॥

विषयानन्द की तरह विद्यानन्द बुद्धिवृत्तिरूप है। दुःख का अभाव आदि रूप से यह चार तरह का बताया गया है।

विषयानन्द का स्वरूप बुद्धि की वृत्ति है। जिसने कभी रसगुल्ला नहीं खाया उसे उसमें प्रियता नहीं तो उसे रसगुल्ले का आनन्द भी नहीं आता। जिसने खाया है उसे रसगुल्ला नहीं होनेपर भी मुँह में पानी आता है अतः विषयानन्द बुद्धिवृत्तिरूप है। यदि ध्यान कहीं और है तो मुँह में रसगुल्ला डालने पर भी आनन्द नहीं आयेगा। वृत्ति है तो आनन्द है, अन्यथा नहीं। विद्या का आनन्द, ब्रह्मज्ञान का आनन्द भी वृत्तिरूप है। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में आनन्दमय कोष का वर्णन किया : 'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।' आनन्दमय कोष का सिर है प्रिय। हमें चीज़ अच्छी लगती है, यह प्रियता है, इसे सिरकी तरह कहा। वस्तु प्रिय हो और सम्मुख आ जाये तो जो सुख होता है वह 'मोद' तथा प्रिय की उपलब्धि हो जाये, हाथ में आ जाये तो 'प्रमोद'—ये दोनों दाँयें-बाँये हिस्से हैं। आनन्द अर्थात् सुखसामान्य धड़ की तरह तथा ब्रह्म पूँछ-सा अधिष्ठान है। ब्रह्म यद्यपि आनन्दस्वरूप है तथापि वृत्तियों में होने वाला आनन्द अलग-अलग है। प्रतिष्ठा कहा आनन्द तो अधिष्ठान अर्थात् आत्मस्वरूप है। विषयों की तरह शिवविषयक प्रिय आदि वृत्तियाँ बनने लगे तो आनन्दमय-स्तर पर ब्रह्मानन्द सुलभ है। ज्ञान-की वृत्ति बने तो ज्ञान का आनन्द होगा। स्वरूपभूत तो आनन्द एकरूप है पर वृत्तिरूप चार तरह का है ॥ २॥

दुःखाभाव आदि जो चार प्रकार हैं उस आनन्द के, उन्हें बताते हैं—

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योऽहमित्यसौ ।

प्राप्तप्राप्योऽहमित्येव चातुर्विध्यम् उदाहृतम् ॥ ३॥

दुःख न होना, कामनाओं की पूर्ति, 'मेरे कर्तव्य पूरे हो गये' यह भाव तथा 'पाने योग्य सब पा चुका' यह भाव—ये चार प्रकार हैं।

पतिविरह में दुःखी पत्नी को सूचना मिले कि पति देव आ रहे हैं तो दुःखाभाव होता है। उनके मिलने की तैयारी में जो सुख वह प्रिय है। पति आ गये तो जिस पति की कामना थी वह प्राप्त हो गया अतः कामनापूर्ति है। पति मिलने से 'अब मैं कृतकृत्य हो गयी।' यह धारणा बनती है। अर्थात् इसे प्रमोद समझ सकते हैं। जो प्राप्त करने लायक था वह प्राप्त हो गया यह चौथी मनःस्थिति है। इस प्रकार प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्द की जो

अवस्थायें हैं इन्हें यहाँ चार प्रकार से बताया गया। जितने दुःख वे सारे अनात्मा के हैं। अज्ञानी सोचते हैं कि चीजों के अभाव से दुःख होता है। चीज़ अनात्मा ही होगी, माया का कार्य होगी अतः दुःख का ही कारण होगी। न मिलने पर भी और फिर मिलकर चली जाने पर दुःख का कारण होगी। अनात्मा तो दुःख का ही कारण है। जिसने उस आत्मज्ञान को प्राप्त कर लिया, वह जानता है कि दुःख का कारण जो अनात्मा उसका मुझ आत्मा से स्पर्श ही नहीं है। आत्मज्ञानी का लक्षण ही है कि उसे कभी दुःख नहीं होता, 'तरति शोकम् आत्मवित्'। सारे दुःख मिट गये—इसका जो सुख होता है वह एक तरह का वृत्तिसुख है। जब वृत्ति बनती है कि 'अनादि काल से जिस-जिस अनात्मा ने हमें दुःख दिया था उस सबसे मैं छूट गया' तब यह पहले प्रकार का विद्यानन्द है। यह एक वृत्तिरूप ज्ञान है।

दूसरा है 'कामाप्तिः' अनादि काल से मैं सुख ढूँढ रहा था। कोई चीज़ कामना का विषय नहीं है। अनादि काल से काम्य आनन्द मुझे प्राप्त हो गया, मैं आनन्दस्वरूप हो गया—यह समझ 'कामाप्ति' या कामनापूर्ति-रूप सुख है। फिर तीसरा है जब अनुभव होता है 'अब मेरा कोई कृत्य नहीं रहा। कुछ भी करने को नहीं रहा। लड़की के हाथ पीले हो गये मैं कृतकृत्य हो गया। गंगा नहा लिया।' कृतकृत्यता का भी एक विशेष सुख होता है। इसी प्रकार चौथा है प्राप्तप्राप्यता का, 'जो प्राप्त करने लायक था वह सब पा लिया' यह निश्चय। प्रारम्भ में विषयों को प्राप्य समझता था। वेद ने बताया कि 'एक चीज़ है जिसका अनुभव कर लोगे तो सब कुछ तुम्हारे अनुभव में आया हो जायेगा।' यही श्वेतकेतु को आरुणि ने कहा था। क्योंकि उस चीज़ को मैंने जान लिया जिस को जानने से सब कुछ जान लिया गया होता है इसलिये सभी प्राप्तव्यों की प्राप्ति हो गयी। यह भी जब वृत्ति का आकार हो तभी इस चौथे आनन्द का लाभ होता है।

ये चार तरह के धीवृत्तिरूप आनन्द हैं। इस प्रकार, चार प्रकार के सुख विद्यानन्द हैं। जो आनन्द सारी कामनाओं द्वारा कामित था, उस स्वरूप से स्थिति हो जाने पर ये चारों आनन्द सुलभ हैं। फिर कुछ करने को रह नहीं जाता। कामना से ही व्यक्ति कुछ भी करता है। अतः निष्काम कर्म का मतलब भी परमात्मा की कामना से किया कर्म है। जब एकमात्र परमेश्वर-कामना से कर्म करें तब वे निष्काम कहलाते हैं। जब परमात्मा प्राप्त हो गया तब कुछ करना शेष रहा ही नहीं अतः कृतकृत्य हो जाता है। नाम-रूपात्मक सारे प्रपंच को बाधित कर दिया तब कृतकृत्यता का अनुभव होता है। इन चार प्रकारों का आनन्द विद्यानन्द प्रकरण में बतलायेंगे : श्लोक १८ से दूसरा, श्लोक ३७ से तीसरा, श्लोक ५८ से चौथा बताया जायेगा ॥ ३॥

दुःखाभाव समझाने के लिये निवृत्त होने वाला दुःख पहले बताते हैं—

ऐहिकं चामुष्मिकं चेत्येवं दुःखं द्विधेरितम् ।

निवृत्तिमैहिकस्याह बृहदारण्यकं वचः ॥ ४॥

दुःख दो तरह का बताया जाता है—इहलोक और परलोक का। बृहदारण्यक का वचन इहलोक के दुःख की निवृत्ति बताता है।

दुःख दो प्रकार का कहा गया है। एक है 'ऐहिक' यहाँ होने वाला, मनुष्यलोक में होने वाला। यहाँ जब तक हम जीवित हैं तब तक जो दुःख होता है वह ऐहिक, 'इह' मायने इस देश और इस काल में होने वाला दुःख है। भूत और भविष्य काल का दुःख अनुभव नहीं होता, उसकी या स्मृति होती है या कल्पना होती है। दुःख का अनुभव वर्तमान काल में ही होता है। प्रारब्ध को ही यहाँ का 'वर्तमान' काल समझ लेना चाहिये। प्रारब्ध काल में होने वाला ऐहिक है।

जब तक मृत्यु लोक में हैं, प्रारब्ध भोग है, तब तक के सारे दुःखों को ऐहिक कह दिया। यहाँ से जाने के बाद अन्य देश-काल में जो अनुभव होगा वह आमुष्मिक है। प्रारब्ध-भोग यहीं भोगकर समाप्त हो जाता है। पहले के संचित कर्म एवं इस जन्म में सम्पन्न होने वाले आगामी कर्म, दोनों को मिलाकर भावी जन्मों के प्रारब्ध बनते हैं अतः उनसे होने वाले दुःख आमुष्मिक होंगे। आमुष्मिक भोगों में आगे आने वाले सारे जन्मों के भोग गिन लिये। आमुष्मिक से केवल कोई एक काल नहीं वरन् सारा भावी भोग का काल कहा। इनमें से ऐहिक दुःखभोगों की निवृत्ति आत्मविज्ञान से हो जाती है—यह बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्दर बतलाया गया है॥ ४॥

बृहदारण्यक का वह वाक्य सुनाते हैं—

आत्मानं चेद् विजानीयाद् अयम् अस्मीति पूरुषः ।

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरम् अनुसंज्वरेत् ॥ ५ ॥

‘यह पुरुष मैं हूँ’ यों यदि आत्मा का अनुभव कर ले तो क्या चाहते हुए, किसकी कामना पूरी करने के लिये शरीर के पीछे दुःखी होवे!

बृहदारण्यक ४.४.१२ के इस मंत्र का सातवें प्रकरण में अत्यन्त विस्तार से व्याख्यान कर चुके हैं। जैसे सरकण्डे में एक बारीक डोरी होती है, उसे निकालने में बहुत सावधानी चाहिये। धैर्य न रखें तो बीच में ही टूट जाती है एवं बाकी डोरी निकल नहीं पाती। इसी प्रकार आत्मतत्त्व भी ऐसा ही सूक्ष्म है। उपनिषद् में कहा है कि वह अणु से भी अणुतर है। यहाँ मूँज-समान स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीर हैं। धीरे-धीरे पदार्थ-विवेक करना पड़ता है। त्वम्-पद का अर्थ, देहत्रय-विशिष्ट चेतन है। जब कहते हैं ‘तुम आना’ तब तीनों शरीर लेकर आते हो, वही ‘तुम’ का मतलब होता है। पदार्थ-शोधन का मतलब है कि तीनों शरीरों में, जो अनुगत चेतन है, तीनों देहों को हटा करके उसे ही ‘मैं’ अनुभव करना। सोने को शुद्ध करना मतलब सोने के अलावा अन्य सभी चीज़ें हटायी जायें। इसी तरह चेतन से भिन्न जितनी चीज़ें स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर, उन्हें जब हटा दिया जाये तब पदार्थ-शोधन होता है जो धैर्य से करना पड़ता है। ‘शरीर मैं नहीं हूँ’ ऐसा सोचते हैं, इसीको लोग मान लेते हैं

कि पदार्थ-शोधन हो गया! स्थूल शरीर में होने वाले सारे अनुभवों में 'मैं' की प्रतीति न रह जाये, तब स्थूल शरीर से त्वम् को हटाया है। धीरे-धीरे अभ्यास करें तभी यह दृढ होता है। वेदान्त की साधना में इसीलिये कठिनाई आती है कि इसमें वात समझना सरल है जबकि उसे अनुभवारूढ करना अतिदुर्लभ है। सूक्ष्म शरीर अर्थात् प्रधानरूप से मन-प्राण जिनमें प्रकट होती है ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति। इनसे भी मैं अलग हूँ। सूक्ष्म शरीर से अपने को अलग करना और भी धैर्य से होगा। मन में होने वाला अनुभव जब मैं के साथ एक न रह जाये तब तक इसे मजबूत करना पड़ता है। मन में दुःख है—यह तो रह जायेगा, 'मैं दुःखी हूँ'—यह अनुभव नहीं रहेगा। इसी प्रकार 'प्राण क्रिया कर रहा है, पर मैं क्रिया नहीं कर रहा। प्राण मेरे कारण कर रहा है। पर मैं कर्ता नहीं बन जाता।' सूक्ष्म शरीर से अलग कर लिया तो भी कारण शरीर, अविद्या रह गई, संस्कार रह गये। प्रायः जब हम पदार्थ-शोधन करते हैं, तब लय का अनुभव होने लगता है। जनेऊ संस्कार के समय लड़के को तीन दिन अकेले कमरे में रखा जाता है। वेदानुसार आचार्य के गर्भ में तीन दिन रहना पड़ता है ताकि कोई बारह की चीज़ व्यवधान करने वाली न रहे। ऐसे में दो-तीन घंटे तो मन में विचार आयेगा, फिर धीरे-धीरे नींद आ जायेगी। बाह्य विषय का सम्बन्ध न होने पर पदार्थ-शोधन से भी निद्रा आती है।

गौडपादाचार्य ने सावधान किया 'लये सम्बोधयेत् चित्तम्' कि साधक निद्रा में न जाये, फिर पदार्थ-शोधन को करने लग जाये। पदार्थों को याद करने से ही सम्बोधन या जगना होगा। सम्बोधन करते हैं तो विषयों के संस्कार उठते हैं जिससे वह विक्षिप्त हो जाता है। 'विक्षिप्तं शमयेत् पुनः'। जब विषय याद आने लगे तब मन को पुनः शान्त करे, विषय हटावे। ऐसा करते-करते न लय रह जाता है न विक्षेप रह जाता है। लेकिन उस समय उसके सारे संस्कार अज्ञान में रह जाते हैं। 'सकषायं विजानीयात्' यह जो संस्कार वाली अविद्या है इसी से वे फिर-फिर बाहर निकल आते हैं। इसलिये स्थूल सूक्ष्म से पदार्थ-शोधन के बाद, जो कारण शरीर है, जिसमें सारे संस्कार पड़े हैं, उसे हटाने के लिये बार-बार ब्रह्माकार वृत्ति दुहरानी पड़ती है। इसको ब्रह्माकार वृत्ति बनाना नहीं समझ लेना! यह तो केवल चिन्तनरूप है। जब पदार्थ-शोधन पूरा हो जाता है, तब संस्कार वाली अविद्या भी उपाधि-रूप से नहीं रह जाती और समभाव की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् ने गीता में कहा है 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'। सम एक ही है, ब्रह्म, बाकी सब विषम हैं। 'समप्राप्तं न चालयेत्' जब तीनों शरीरों से अपने को अलग कर लिया तब उस भाव को फिर मिलाने का प्रयत्न न करे, प्रारब्ध कर्म से विचलित न हो जाये इसके प्रति भी सजग रहे। यह पदार्थ-शोधन यदि धैर्यपूर्वक नहीं किया जाता है, तो बीच में छूट जाता है। इस समस्थिति की प्राप्ति अत्यंत-दुर्लभ है। इसलिये 'चेद्' (यदि) कहा।

प्रकृति से सर्वथा अलग किया जो पुरुष वही मैं हूँ। हम लोग सोचते हैं कि अच्छी प्रकृति रखकर हम प्रकृति से अलग हो जायेंगे किंतु गीता में कहा कि सत्त्व गुण भी सुख के प्रति आसक्ति को लाता है। सोने का पिंजड़ा भी पिंजड़ा ही है। चाहे रजोगुण, चाहे

१४४२ पञ्चदशी

सत्त्वगुण अवच्छेद बने, दोनों ही उपाधियाँ हैं अतः छोड़नी पड़ती हैं। इसलिये भगवान् ने अर्जुन को कहा 'त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' वेद तुम्हें जहाँ तक ले जायेगा वह सब त्रिगुणात्मक सृष्टि ही है। तीनों गुणों से सर्वथा रहित, मेरा वास्तविक स्वरूप है। ऐसा यदि कोई साक्षात् और दृढ अनुभव कर लेता है तो फिर वह किस चीज़ की इच्छा करेगा! इच्छा शरीर या मन के लिये ही होती है। शरीर-मन से अपने को अब अलग जान लिया तब 'कस्य कामाय' कौन भोक्ता बचा? इधर, कामना को लेकर ही स्थूल-सूक्ष्म शरीर दुःखी होते थे, जिससे हम दुःखी होते थे। जब शरीरों से तादात्म्य हट गया तब न किसी चीज़ की इच्छा है न भोक्ता बचा है। स्थूल-सूक्ष्म शरीर में तो ज्वर रहेगा, पर मैं ज्वर वाला नहीं होऊँगा ॥ ५ ॥

आत्मा को शोक होना समझाने के लिये आत्मा के प्रतीयमान भेद बताते हैं—

जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः।

चित्तादात्म्यात् त्रिभिर्देहैर्जीवः सन् भोक्तृतां व्रजेत् ॥ ६ ॥

आत्मा दो तरह का बताया गया है—जीवात्मा और परमात्मा। तीन शरीरों से चेतन के अभेदाध्यासवश आत्मा जीव हुआ भोक्तापना पा जाता है।

भोक्ता कैसे होता है? आत्मा दो प्रकार का है—एक जीवात्मा, दूसरा परमात्मा। जीवात्मा बनता है क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों से तादात्म्य अर्थात् अभेद का अध्यास, भ्रम कर लेता है। आत्मा का स्वरूप तो चेतन है पर जब इन तीन शरीरों से तादात्म्य सम्बन्ध होता है, तब स्वयं को जीव अर्थात् कर्ता-भोक्ता समझता है। ज्ञान होने के बाद भी प्रारब्धक्षय पर्यन्त देहों से सम्बन्ध तो है ही, पर तादात्म्य नहीं है, 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं है। अतः जीवभाव नहीं है। मालूम तो है कि अब तक हम इन तीनों शरीरों से काम चला रहे थे इन्हें मैं समझते हुए; अब हमने अपने को इनसे अलग कर लिया, अब हमारा इनसे तादात्म्य सम्बन्ध नहीं रह गया, इसी से सुखी-दुःखी नहीं होते। चेतन आत्मा का तीनों देहों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है, तभी वह भोक्ता बनता है, अन्यथा वह भोक्ता नहीं है। तब कौन काम चलाता है? चलाने वाला तो प्रारब्ध ही है! इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'प्रारब्धाय समर्पितं मम तनुः' मेरे स्थूल-सूक्ष्म शरीर अब प्रारब्ध को समर्पित हैं। तादात्म्य सम्बन्ध से ही भोक्ता बनता है, सम्बन्धमात्र से भोक्ता नहीं होता। इस तादात्म्य सम्बन्ध वाले को ही जीवात्मा कहते हैं ॥ ६ ॥

जीव के बाद ईश्वर बताते हैं—

परात्मा सच्चिदानन्दस्तादात्म्यं नामरूपयोः।

गत्वा भोग्यत्वमापन्नस्तद्विवेके तु नोभयम् ॥ ७ ॥

सच्चिदानन्दरूप परमात्मा नाम-रूप से तादात्म्य पाकर भोग्य हो जाता है। शरीरत्रय एवं नाम-रूप—इन दोनों से भेद जान लेने पर न भोक्ता है न भोग्य है।

परमात्मा सच्चिदानन्दरूप है। हिंदी में सत् को 'है' कहते हैं। चित्, जानना और आनंद अर्थात् प्रिय-मोद-प्रमोद-रूपों से अनुभव होना। यह परमात्मा का स्वरूप है। उसका नाम और रूप से तादात्म्य है इसलिये हमें 'घड़ा है' आदि दीखते हैं। 'घड़ा' और 'है' हमें दो चीजें नहीं लगतीं जैसे शरीर को ठंड लगी। मुझे ठंड लगी—ये दो अनुभव नहीं लगते हैं क्योंकि तादात्म्य है। ऐसे ही नाम-रूप के साथ क्योंकि तादात्म्य है सच्चिदानन्द का इसलिये 'घड़ा है' दो नहीं लगते। ऐसे ही ज्ञान और नाम-रूप अलग प्रतीत नहीं होते। इसी प्रकार सुख का अनुभव भी हमें तादात्म्य सम्बन्ध से विषयों में ही होता है। 'रसगुल्ला खाया, मज़ा आया', वह 'मज़ा' हमें रसगुल्ले से अलग नहीं दीखता 'मज़ा आया', 'मैं मज़े में हूँ' एक ही बात लगती है। जैसे शरीरों से एक हुआ जीव है, वैसे नाम-रूपों से एक समझा गया परमात्मा है। वही भोग्य हो गया, भोग के योग्य हो गया। शरीरों से एक होकर भोगने वाला जीव हो गया, और नाम-रूपों से एक होकर भोगा जाने वाला प्रपंच हो गया। घड़ा है तभी भोग्य है। 'है' के सम्बन्ध से रहित हो तो भोग्य नहीं होगा। अतः तीनों शरीरों से सच्चिदानन्द को अलग कर लिया तो भोक्तापना नहीं रहा तथा नाम-रूप से सच्चिदानन्द को अलग कर दिया तो भोग्य नहीं रहा। न भोक्ता रहा, न भोग्य रहा तो इच्छा कौन और किसकी करे! तत्पदार्थ-शोधन से इच्छा का विषय कुछ नहीं बचा एवं जब देहत्रय से विवेक हो गया तब भोक्ता कोई नहीं बचा।। ७।।

संक्षेप में कहा ही समझाकर बताते हैं—

भोग्यमिच्छन् भोक्तुरर्थं शरीरमनुसंज्वरेत्।

ज्वरास्त्रिषु शरीरेषु स्थिता न त्वात्मनो ज्वराः।। ८।।

भोक्ता के लिए भोग्य चाहते हुए शरीर के ज्वरों से स्वयं ज्वरान्वित होता है। ज्वर तीनों शरीरों में रहते हैं, आत्मा का तो कोई ज्वर नहीं।

ऐहिक और आमुष्मिक दो तरह के दुःख हैं। दुःख तब होता है जब कोई भोगने वाला हो, और कोई चीज़ हो जिसके कारण दुःख हो। भोक्ता और भोग्य हों तभी भोग संभव है। विचार करने पर भोक्ता सिद्ध नहीं होता, यह आत्मानन्द प्रकरण में बतलाया और भोग्य सिद्ध नहीं होता यह अद्वैतानन्द प्रकरण में बताया। परमात्मा के साथ नाम-रूप का तादात्म्य होवे, तब कोई भोग्य पदार्थ होवे, और स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों के साथ उसका तादात्म्य होवे तब कोई भोक्ता जीव होवे। एक सच्चिदानन्द परमात्मा में ही तीन देहों के सम्बन्ध से भोक्ता और नाम-रूप के सम्बन्ध से भोग्य बनते हैं। जब जीवात्मा और परमात्मा का विवेक करके, सिद्ध हो गया कि सच्चिदानन्द इनसे स्वतंत्र है तब दोनों ही नहीं रहे तो दुःख होवे कैसे!

किसी-न-किसी भोग्य पदार्थ की इच्छा होगी, तब शरीर के पीछे मनुष्य ज्वर को प्राप्त करेगा और किसी-न-किसी भोक्ता के लिये करेगा। कोई भोक्ता नहीं होवे, तो कोई प्रयत्न नहीं करेगा क्योंकि किसी भोक्ता के लिये ही भोग की इच्छा होती है। तीनों शरीरों के पीछे उनकी

आवश्यकता या कामना के कारण परिश्रम करने वाले हम बन जाते हैं। शरीर को भूख लगी तो बाजार हम जाते हैं। शरीर के पीछे हम अपने को दुःखी कर लेते हैं। तीनों शरीरों में ज्वर है, दुःख है; उनके पीछे हम परेशान हैं। कारण शरीर का ज्वर है कि उस अविद्या में सारे संस्कार हैं जो स्थूल, सूक्ष्म शरीरों को प्रवृत्त करते हैं। ज्वरों का मूल है इसलिये उसे भी ज्वर कहा। आत्मा में तो कोई ज्वर है नहीं। वह बेकार इनके पीछे परेशान है।। ८।।

शरीरों के ज्वर ही बताते हैं—

व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः ।

कामक्रोधादयः सूक्ष्मे द्वयोर्बीजं तु कारणे ।। ९।।

धातुओं का असन्तुलन होने पर प्रकट व्याधियों से स्थूल शरीर में ज्वर हैं, कामना-क्रोध आदि सूक्ष्म शरीर में ज्वर हैं तथा दोनों ज्वरों के बीज कारण शरीर में हैं।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि वात, पित्त, कफ, ये तीनों धातु उचित काम करते हैं तो मनुष्य स्वस्थ रहता है। जब ये विषम हो जाते हैं, कम या ज्यादा हो जाते हैं तब व्याधि या बीमारी आती है। तीनों धातु स्थूल देह में हैं। आजकल लोग समझते हैं कि बीमारी बाहर से आती है। आयुर्वेद कहता है कि बीमारी बाहर से तभी आपको होगी जब आप में पहले से धातु विषम हैं। धातु रहते हैं स्थूल देह में, इसलिये विषमता भी स्थूल देह में होगी। जो सूक्ष्म शरीर है—मन और प्राण, इसमें होने वाले जो रोग अर्थात् दुःख हैं कामना क्रोध, आदि। कामना अलग है और शरीर आदि की आवश्यकता अलग है। भूख लगने पर खाने के पदार्थों की आवश्यकता है, कामना नहीं है। कामना है जब विशिष्ट चीज़ ही खाने को चाहिये अन्यथा असंतोष हो गया। 'विशिष्ट चीज़ ही मिले'—यह कामना है, और 'भूख मिटे' यह आवश्यकता है। भूखे को चने मिल जायें या मालपूआ मिल जाये, दोनों के प्रति आग्रह या अनाग्रह नहीं होता है। इसी से वह आवश्यकता है। जैसे ही 'अमुक चीज़ ही मिले' आया, वह कामना हो जाती है। काम, क्रोध आदि मन में होंगे, शरीर में नहीं। शरीर में उनके असर प्रकट ज़रूर होंगे पर ये रोग मन के हैं। जैसे मनके रोग से शरीर पर असर आता है वैसे शरीर के रोग से मन में भी असर आता है। बुखार हो गया तो अध्ययन में मन नहीं लगेगा। शरीर के रोग का मन पर और मन के रोग का शरीर पर असर होगा, पर हैं दोनों के रोग अलग। कारण में कोई रोग सीधा तो नहीं रहेगा लेकिन शरीरों के ज्वरों के बीज अविद्या में संस्कारों के रूप में रहेंगे। स्थूल स्तर के दुःख भी संस्कारानुरूप हैं और संस्कार स्थायी होने से सुषुप्ति में रहेंगे ही इसलिये उन्हें अविद्या में स्वीकारा। काम-क्रोधादि रोगों के बीज संस्कार हैं यह स्पष्ट ही है। आधुनिक यन्त्रों के संस्कार नहीं थे तो इनकी कामना भी नहीं होती थी। 'बीज' से कर्मों का भी संग्रह समझना चाहिये, वे भी रोगों के प्रति कारण हैं। (कल्याणपीयूष-व्याख्या में 'कारणम्' पाठ है। अविद्यारूप कारण ही दोनों शरीरों के रोगों का बीज है—यह भाव है)।। ९।।

ज्वर बताकर अब 'अनुसंज्वरेत्' आदि श्रुति समझाते हैं—

अद्वैतानन्दमार्गेण परात्मनि विवेचिते ।

अपश्यन् वास्तवं भोग्यं किं नामेच्छेत् परात्मवित् ॥ १० ॥

'अद्वैतानन्द' प्रकरण में बताये तरीके से परात्मा का विवेक हो चुकने पर किसी भी भोग को वास्तविक न देखता हुआ परात्मा का ज्ञाता क्या चाहे!

अद्वैतानन्द प्रकरण के अन्दर यह वतलाया था कि एक सच्चिदानन्द परमात्मा में मिथ्या नाम-रूप तादात्म्य को प्राप्त करके, सच्चे प्रतीत होते हैं। उस प्रकरण में समझाये मार्ग से, परात्मा को जब नाम-रूप से अलग करके जान लिया, नाम-रूप 'सचमुच में है' तो रह नहीं गये। अतः वास्तव भोग कुछ भी नहीं रह गया। पदार्थ दीखते तो हैं पर वास्तव में हैं नहीं। सच्चिदानन्द के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होकर हमें 'भोग्य है, भोग्य का ज्ञान हो रहा है, भोग्य प्रिय है' यह प्रतीति होती है, इसीलिये उनकी इच्छा भी होती है। जब पता लग गया कि नाम-रूप वास्तविक हैं नहीं तब दीखने पर भी उनकी इच्छा होगी नहीं। सचमुच में भोग्य है—इस बात को फिर नहीं देखता अतः निष्काम बन जाता है। जिसने अद्वैतानन्द के द्वारा नाम-रूप से सच्चिदानन्द को अलग करके, परमात्मा के स्वरूप को जान लिया वह फिर कैसे इच्छा कर सकता है? भोग्य तब इच्छा का विषय नहीं रहता ॥ १० ॥

भोक्ता इच्छा करता है भोग्य पाने के लिये। उक्त विवेक से भोग्य नहीं रहा तो किसकी इच्छा करे! अब रहा भोक्ता, उसे भी कैसे समाप्त किया जाये यह बताते हैं—

आत्मानन्दोक्तरीत्याऽस्मिन् जीवात्मन्यवधारिते ।

भोक्ता नैवास्ति कोऽप्यत्र शरीरे तु ज्वरःकुतः ॥ ११ ॥

'आत्मानन्द' प्रकरण में कहे ढंग से इस जीवात्मा की असंग-कूटस्थ-चिद्रूपता का निश्चय हो जाने पर इस संघात में कोई भी भोक्ता ही नहीं तो ज्वर कैसे हो!

आत्मानन्द प्रकरण में आत्मा की ही प्रियतमता सिद्ध की थी, मिथ्यात्मा और गौणात्मा को मुख्य आत्मा से अलग समझाया था। जब ये निश्चितरूप से अलग कर लिये गये, तब जीवात्मा का स्वरूप सच्चिदानन्द अवधारित, निर्धारित हो गया, उसका निश्चित ज्ञान हो गया। असंग कूटस्थ चैतन्य ही उसका स्वरूप है। सत्य भोक्तृत्व असंभव होने से इहलोक में कहीं भी भोक्ता है ही नहीं, तो शरीर में दुःख ही कैसे होगा! दुःख तो आत्मा के सम्बन्ध से ही प्रतीत होता है और उस तादात्म्य सम्बन्ध का बाध हो चुका। इस तरह जब भोक्ता नहीं, भोग्य नहीं तब इह लोक में होने वाले दुःख भी नहीं हो सकते। जो बृहदारण्यक में कहा कि 'आत्मज्ञान होने पर, किस भोग की इच्छा के लिये, किस भोक्ता के लिये शरीर के पीछे दुःखी हो!' उसमें ऐहिक दुःख असंभव हो जाते हैं यह समझाया ॥ ११ ॥

अब परलोक के ज्वर बताते हैं—

पुण्यपापद्वये चिन्ता दुःखमामुष्मिकं भवेत् ।
प्रथमाध्याय एवोक्तं चिन्ता नैनं तपेदिति ॥ १२ ॥

पुण्य-पाप इन दो के बारे में चिन्ता पारलौकिक ज्वर है। (ब्रह्मानन्द के) पहले अध्याय में ही बताया था कि तत्त्वज्ञ को चिन्ता नहीं सताती। (पंचदशी प्र. ११ श्लो. ५-६)।

आगे आने वाला दुःख अर्थात् 'मैंने यह पुण्य क्यों नहीं किया, यह पाप मैंने क्यों कर लिया?' इस प्रकार परलोक की चिन्ता। पुण्य न करने से सुलभ भोग से वंचित रहा इसका पश्चात्ताप एवं पाप कर लेने से भावी दुःख का भय—ये यहाँ ज्वर या दुःख हैं। प्रथम अध्याय अर्थात् योगानन्द प्रकरण में बतलाया था कि ज्ञानी को कभी यह चिन्ता नहीं होती कि 'मैंने पाप क्यों किया और पुण्य क्यों नहीं किया'। प्रकरण ११ श्लोक ५ से ही यह प्रसंग स्पष्ट किया जा चुका है। विषय सुख में सुख-दृष्टि नहीं रहती, दुःख-भोग सम्भव नहीं दीखता इसलिये विद्वान् चिन्तामुक्त ही रह सकता है ॥ १२ ॥

ज्ञान से संचित कर्म नष्ट हो गये अतः उनकी चिन्ता न हो, प्रारब्ध विवेक से कट गये इसलिये उनकी भी चिन्ता न हो, आगामी अर्थात् ज्ञान के बाद होते कर्मों की चिन्ता क्यों नहीं होती?

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपाम् अश्लेषणं तथा ।
वेदनाद् ऊर्ध्वम् आगामिकर्मणोऽश्लेषणं बुधे ॥ १३ ॥

जैसे प्रत्यक्षदृष्ट कमल के पत्ते से जल चिपकता नहीं वैसे आत्मज्ञान के बाद तत्त्वज्ञ से आगामी कर्म का भी सम्बन्ध नहीं होता।

वेद ने (छां ४.१४) स्पष्ट किया है कि कमल के पत्ते पर जैसे पानी ठहरता ही नहीं इसी प्रकार जब ज्ञानी से पाप-पुण्य होते हुए दीखते हैं उसी समय वह पुण्य और पाप वाला नहीं है। अज्ञान रहने तक तो शरीर-मन के पुण्य-पाप से वह अपने को पुण्य-पाप वाला मानता था। अब जीवन-क्रम में पाप-पुण्य दीखते हैं, लेकिन 'यह मेरा पाप या पुण्य है' इसका अगले क्षण ही बाध हो जाता है कि 'यह शरीर में हुआ, मुझ से सम्बन्ध नहीं।' अतः जैसे पानी कमल के पत्ते पर गिरा और लुढ़क गया, वैसे ही पुण्य-पाप हुए और अपने से असंबद्ध हो गये। इस दृष्टान्त से किये जाते कर्म ही विद्वान् से असम्बद्ध हैं तो पुण्य-पाप का असम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। जब दृढ ज्ञान हो गया उसके बाद आगामी कर्मों का ज्ञानी में कोई श्लेष अर्थात् चिपकाव नहीं होता। 'यह कर्म मुझ से हो गया' ऐसा बोध उसे नहीं रहता। प्रतीत हुआ और खत्म हो गया, इतना ही होता है ॥ १३ ॥

संचित कर्म ज्ञान से नष्ट हो चुकने से उनके प्रति भी निश्चिन्तता बताते हैं—

इषीकातृणतूलस्य वह्निदाहः क्षणाद् यथा ।
तथा सञ्चितकर्माऽस्य दग्धं भवति वेदनात् ॥ १४ ॥

सरकण्डे की डोरी जैसे क्षणभर में जल जाती है वैसे विद्वान् के संचित कर्म ज्ञान से जल जाते हैं।

सरकण्डे में जो पतला तृण निकलता है, वह रूई की तरह अत्यन्त हलका होता है। अग्नि के साथ सम्बन्ध होते ही वह क्षणभर में जल जाता है। वैसे ही आत्मज्ञान होते ही सभी संचित कर्म जल जाते हैं। श्रुति स्वयं कहती है कि विद्वान् के सारे पाप वैसे ही जल जाते हैं जैसे आग में पड़ी सरकण्डे की डोरी। इसलिये संचित कर्म भी नहीं रहे कि उनसे चिंतित बने। इस प्रकार आमुष्मिक ज्वर नहीं बचता यह स्पष्ट है ॥ १४ ॥

इसे भगवान् श्रीकृष्ण के वाक्य से (गी. ४.३७) भी समर्थित करते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥ १५ ॥

अर्जुन! जैसे तेज आग ईंधन को राख बना देती है वैसे ज्ञानरूप अग्नि सारे कर्म समाप्त कर देती है।

जिस प्रकार लकड़ियों के ढेर को ज़ोर से प्रदीप्त अग्नि भस्म कर देती है इसी प्रकार आत्मज्ञान की अग्नि जितने संचित कर्म हैं उन्हें भस्म कर देती है तथा आगामी कर्मों को उत्पन्न नहीं होने देती। उपनिषद् और गीता के प्रमाण से निश्चित है कि कोई कर्म ज्ञानी को भोगना नहीं है जिसकी उसे चिन्ता होवे कि 'आगे क्या होगा!' ॥ १५ ॥

भोक्ता असिद्ध होने से ज्वर नहीं यह बताकर अब कहते हैं कि कर्ता न होने से भी ज्ञानी को ज्वर नहीं हुआ करते—

यस्य नाऽहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

हत्वापि स इमाल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥ १६ ॥

जिसका आत्मा अहंकार से एकमेक नहीं है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह इन प्राणियों को मारकर भी मारने वाला नहीं होता (अतः) बँधता नहीं।

भगवान् ने कहा कि 'मैं करने वाला हूँ' ऐसा जिसका भाव नहीं है उसका कोई कर्मबंधन नहीं होता। भगवान् ने कहा है, किसी भी क्रिया में पाँच कारण होते हैं १) अधिष्ठान अर्थात् शरीर, २) कर्ता अर्थात् करने वाला, मायने अहंकारात्मिका वृत्ति, ३) ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के साथ करने के साधन, कर्मेन्द्रियाँ, ४) इनके लिये किया जाने वाला प्रयत्न, चेष्टा और, ५) दैव अर्थात् ईश्वरेच्छा। ये पाँचों कर्म करते हैं, परन्तु जो ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति वाला अहंकार है, वह अपने को ही करने वाला मानता है। जिसने आत्मस्वरूप को समझ लिया उसे स्पष्ट है कि ये पाँच कारण हैं, इनमें एक अहम् अर्थात् कर्ता है। अहम् स्वरूप से जड है, प्रतिबिम्ब ग्रहण करने से आत्मा के साथ सम्बन्ध वाला हो कर उसमें कर्तृत्व की प्रतीति है। अन्तःकरण जड है, उसकी वृत्ति अहंकार भी जड है अतः जड स्वयं कुछ कर नहीं सकता। जड से किसी अन्य के द्वारा प्रवृत्त होकर कर्म करवाया तो जा सकता है परन्तु

उसकी स्वतः प्रवृत्ति नहीं बनती। चेतन स्वरूप से अकर्ता है। इसलिये उसमें भी किसी प्रकार की क्रिया की सम्भावना ही नहीं है। न जड़ और न चेतन कर्म कर सकता है। फिर करने वाला कौन? अहंकार में प्रतिबिम्बरूप से पड़ा जो चेतन वह अपने सम्बन्ध से अहंकार को करने वाला बना देता है।

सामान्यतः वह प्रतिबिम्ब कुछ करने वाला नहीं होता है तो अन्तःकरण में पड़ा प्रतिबिम्ब कैसे कर्ता हो गया? इसमें लौकिक दृष्टान्त है कि जहाँ सूर्य की रोशनी नहीं पहुँचती वहाँ दर्पणों की सहायता से उसे पहुँचाया जाता है। उस जगह के अंधेरे के नाश का कर्ता प्रतिबिम्ब ही कहा जा सकता है, बिम्ब का तो वहाँ प्रवेश नहीं। अथवा योगवासिष्ठ का दृष्टान्त है : सूर्य घास को नहीं जलाता, वह तो पोषक है। सूर्यकान्त या उन्नतोदर काँच (कॉनवेक्स लेंस) रात्री में घास जला नहीं सकता। दोनों स्वयं जो कार्य नहीं कर सकते वह दोनों के मिलने से हो जाता है, मणि में से गुजरने वाला सूर्य-प्रकाश घास को जलाता है! इसी प्रकार अहंकार में प्रतिबिम्बित चेतन कर्ता है, खाली न चेतन न वृत्ति कर्ता है। अतः कर्ता में न अहंकार की वृत्ति करने वाली है, न चेतन। प्रतिबिम्ब के आध्यासिक सम्बन्ध के कारण कर्तृत्व है। इस बात को विद्वान् ने जान लिया कि कोई भी सच्चा कर्ता नहीं है। प्रतीति तो होती है 'मैं करने वाला हूँ' लेकिन जिसका यह भाव, निश्चय, पदार्थ-शोधन के द्वारा निकल गया है वह अकर्ता ही रहता है। अकर्तृत्व का प्रभाव है 'यस्य बुद्धिर्न लिप्यते' 'यह कर्म मैंने किया, इसका फल मुझे मिलेगा' यह भावना फल के प्रति आसक्ति या लेप है। बन्धन करने वाली दो चीज़ें हैं, फलासक्ति और कर्तृत्वाभिमान। जिसने स्वरूप-ज्ञान को प्राप्त किया उसमें कर्तृत्वभाव नहीं। कर्तापना रहेगा अन्तःकरणस्थित प्रतिबिम्ब में, बिम्ब में नहीं, और विद्वान् जानता है 'मैं बिम्बरूप हूँ' इसलिये वह करने वाला नहीं। फल की इच्छा तब होवे जब शरीरों के साथ अध्यास होवे। जिसने अपने साक्षिरूप को जान लिया, वह जानता है 'मैं भोक्ता हूँ ही नहीं' इसलिये फलासक्ति भी रहती नहीं। कर्ता-भोक्तापना ही बन्धन के प्रति कारण है। साक्षिरूप में स्थित होने पर ये दोनों नहीं रहते। यदि वह सारे संसार के सारे प्राणियों को मार डाले, लेकिन 'मैंने मारा' यह भाव, अभिमान उसमें हो ही नहीं तो 'न हन्ति' वह मारने वाला नहीं और आसक्ति न होने से हनन कर्म का कोई फल भी उसको बन्धन में डालता नहीं। 'न निबध्यते' अतः उसके लिये आगामी कर्म भी फल पैदा करने वाले बनते ही नहीं ॥ १६ ॥

ऋग्वेद की कौषीतकी उपनिषद् (३.१) से भी विद्वान् का अकर्तृत्व समझाते हैं—

मातापित्रोर्वधः स्तेयं भ्रूणहत्याऽन्यद् ईदृशम् ।

न मुक्तिं नाशयेत् पापं मुखकान्तिर्न नश्यति ॥ १७ ॥

माता-पिता की हत्या, (स्वर्णादि की) चोरी, गर्भविनाश एवं अन्य भी ऐसे पाप मुक्ति नष्ट नहीं करते (अतः विद्वान् के) मुखकी कान्ति समाप्त नहीं होती।

कौषीतकी उपनिषद् में कहा कि माता आदि की हत्या करे तो भी विद्वान् को किंचित्

भी ग्लानि संभव नहीं। परशुराम ने माँ को मार दिया था। ऐसे ही कोई चाहे पिता को मार दे, किसी अन्य के धन को चुरा ले; ये सभी प्रसिद्ध पाप हैं। पाँच बड़े पापों में गर्भपात द्वारा हत्या करना भी गिनाया। ये सब करके भी विद्वान् को पाप की प्राप्ति नहीं, इससे उसके मुख पर कोई कालिमा आती नहीं। ज्ञान के द्वारा जो अज्ञान नष्ट हो गया है वह इन कर्मों के द्वारा पुनः कार्यकारी हो सके, ऐसा नहीं है। शुभ कर्म से अन्तःकरण शुद्ध हुआ, यह तो ठीक है, पर शुद्ध अन्तःकरण से प्राप्त ज्ञान को अशुभ कर्म हटा सके—यह नहीं हो सकता। अज्ञान एक बार नष्ट हो गया तो अब उत्पन्न नहीं होता। मुख पर जो कान्ति, कमनीयता होती है, वह शांतिजन्य है। चिन्ताग्रस्त मुख पर कमनीयता नहीं होती है। पाप कर्म से चिन्ता होती है। जो साक्षिरूप में स्थित है, उसे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। उसे कहीं जाना ही नहीं है! विद्वान् के प्राण चलना बंद होने पर भी जाते कहीं नहीं अतः शांति, प्रसन्नता हटती नहीं है, मुख पर कमनीयता बनी रहती है। इस प्रकार इहलोक-परलोक के दोनों दुःख ज्ञानी को होते नहीं। ज्ञान के आनन्द के चार प्रकारों में से एक बताया दुःखाभाव॥ १७॥

दूसरा प्रकार कामाप्ति, कामनाओं की पूर्ति हो जाना कहा था (श्लो.३)। अब उसे श्लोक ३६ तक समझाते हैं—

दुःखाभाववदेवास्य सर्वकामाप्तिरीरिता।

सर्वान् कामान् असावाप्त्वा ह्यमृतोऽभवदित्यतः॥ १८॥

विद्वान् को जैसे दुःख नहीं रहता वैसे यह भी वेद ने बताया कि उसकी सारी कामनाएँ पूरी हो चुकती हैं। 'सारी कामनाएँ पूरी कर अमृत हुआ' ऐसा (ऐतरेय उपनिषद् में जो) कहा उससे पता चलता है (कि विद्वान् को यह भी फल उपलब्ध है)।

जैसे दुःखाभाव ज्ञानी का बताया वैसे ही वेद ने कहा है कि उसकी सारी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। अतः कहा गया है कि आत्मा की कामना कर ली तो सारी कामनायें पूर्ण हो गईं। आत्मा ही सर्वरूप है। अतः आत्मा की प्राप्ति ही सारे संसार की प्राप्ति है। यह ऋग्वेद के ऐतरेय उपनिषद् में बतलाया है। सारी कामनाओं की पूर्ति के लिये ऋग्वेद का प्रमाण दे दिया॥ १८॥

सारी कामनाओं का पूरा होना ही विभिन्न दृष्टान्तों से दिखाते हैं—

जक्षन् क्रीडन् रतिं प्राप्तः स्त्रीभिर्यानिस्तथेतरेः।

शरीरं न स्मरेत् प्राणः कर्मणा जीवयेदमुम्॥ १९॥

खाते, खेलते, स्त्रियों से, यानों से तथा अन्यो से आनंद पाया (विद्वान्) शरीर याद नहीं रखता। कर्मों से प्राण इसे जिलाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् (८.१२.३) में कहा है 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः। स तत्र पर्येति—जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनस्मरन् इदं शरीरम्'। परम ज्योति अर्थात् परमात्मा प्राप्त होने से साधक वही रह

जाता है जो वह वास्तव में है, आरोपित अभिमान छूट चुकते हैं। अतः वही पुरुष उत्तम है। तब उसका जीवन आनन्दमग्न ही रहता है क्योंकि सब लोगों को दीखते इस शरीर को वह याद भी नहीं रखता, इससे तादात्म्य सर्वथा समाप्त हो चुकता है। शरीराभिमान तो कामना-पूर्ति से दुःख भी पाते हैं लेकिन इसे आनन्द ही होता है, दुःख नहीं। आनन्द इसका स्वभाव है, वह स्थिर रहता है यह भाव है। खाते, खेलते, भोग करते इसका आनन्द हटता नहीं। जहाँ-कहीं भोग है वहाँ साक्षिरूप मैं ही प्रकाशक हूँ—यह जानने से वह सारी कामनाएँ पूरी कर लेता है। साक्षी मैं अभिन्न हूँ—यह उसका अनुभव है। उपाधियाँ चाहे जो हों, सर्वज्ञ साक्षी स्वयं को जानता है। इस तरह सारी उपाधियों से सारी कामनाएँ पूरी हुई पाता है। साक्षी के लिये सारी ही उपाधियाँ कल्पित हैं, किसी एक में कोई विशेष नहीं। खाते, खेलते, स्त्रियों से रति करते भी वह शरीरतादात्म्य से रहित है। जानता है कि खेल में हारने और जीतने वाली उपाधियों का साक्षी एक ही है। जहाँ पहले तादात्म्य था, उस शरीर का भी जो प्रतिबिम्ब चेतन है वह मैं हूँ नहीं। बिम्ब चेतन साक्षी ही हूँ। रोल्स रायस, शेवर्लेट गाड़ियाँ मेरी न होते हुए भी उनका आनन्द भी मैं ही ले रहा हूँ। ब्रह्मसूत्रों में शंका उठाई कि सबका साक्षी है तो सबके दुखों का भी साक्षी होगा? अतः कहा कि शरीर का स्मरण आयेगा तब दुःख होगा। साक्षिभाव में स्थित होने पर क्योंकि सुख तो आनन्द का प्रतिबिम्ब है, इसलिये वह अनुभव में आ जायेगा। परन्तु दुःख आत्मा का स्वरूप है नहीं। आनन्द ही उसका स्वरूप है। अतः साक्षिभाव में स्थित हुआ सभी कामनाओं का जो सुख है, उसको प्राप्त कर लेता है, दुःख प्राप्त नहीं करता। साक्षिभाव से करता है, भोक्ता बनकर नहीं। भोक्ता बनने के लिये शरीर का स्मरण करना पड़ेगा। जब शरीर का स्मरण करता नहीं तो चलता कैसे है? शरीर के सारे कार्यों को प्राण ही सम्पन्न कर लेता है। परमेश्वर ने जब सृष्टि की तब प्राण को अपना सर्वाधिकारी नियुक्त किया जैसे राजा सेनापति को नियुक्त करता है। प्राण को निमित्त कारण चाहिये, जो है प्रारब्ध कर्म। इस शरीरादि का काम चलाने के लिये प्राण नियुक्त हो गया। प्राण जड़ नहीं वरन् ईश्वराधिष्ठित समझना चाहिये। परमेश्वर द्वारा संकल्पित जो कर्म इस जन्म में इस शरीर में भोगे जाने हैं उन्हीं कर्मों के अनुसार प्राण इस शरीर को जीवित रखता है, इसके सारे कार्य कर लेता है ॥ १६ ॥

ऋग्वेद, सामवेद बताकर अब यजुर्वेद से विद्वान् की सर्वकामाप्ति प्रकट करते हैं—

सर्वान् कामान् सहाऽऽप्नोति नान्यवज्जन्मकर्मभिः ।

वर्तन्ते श्रोत्रिये भोगा युगपत् क्रमवर्जिताः ॥ २० ॥

विद्वान् सारी कामनाएँ एक-साथ पूरी कर लेता है अज्ञानियों की तरह जन्मों और कर्मों की अपेक्षा से टुकड़ों में नहीं करता। वेदज्ञ विद्वान् में भोग एक-साथ होते हैं, उनमें क्रम नहीं रहता।

सारी कामनाओं को अर्थात् काम्य पदार्थों, अनुभवों को इकट्ठे ही प्राप्त कर लेता है। अज्ञानी लोगों की कामनाओं की पूर्ति क्रम से होती है, एक काल में कुछ, दूसरे काल में कुछ और मिलेगा। साक्षिभाव प्राप्त होने के बाद ऐसा नहीं होगा। साथ ही साथ सबका भोग

हो जाता है। जैसे देहादि उपाधियों का भेद नहीं वैसे ही कालिक उपाधि का भी भेद नहीं रहता है। सब कालों की जितनी कामनायें हैं, सभी पूर्ण हो जाती हैं। भूत, वर्तमान, भविष्य यह कालों का क्रम साक्षी के लिये नहीं है। जब भगवान् ने अपना विश्वरूप दिखलाया, तब अर्जुन से कहा कि भूत भविष्य जो देखना चाहे देख ले। काल का परिच्छेद परमेश्वर के लिये नहीं है। साक्षी के लिये भी कालभेद नहीं है। अज्ञानी जीवों के लिये कालक्रम है। जैसे हम दरवाजे पर खड़े हैं। सामने से एक मोटर गुजर गई, कुछ समय बाद दूसरी मोटर सामने है, और थोड़े समय बाद तीसरी मोटर आयेगी। हमारे लिये पहली मोटर गुजरने के बाद भूत हो गई, जो सामने दूसरी है वह वर्तमान और तीसरी आने वाली भविष्य हो गई। पर जो व्यक्ति सत्तरवीं मंजिल पर खड़ा है उसे तीनों एक-साथ दिखाई देंगी, उसके लिये वे भूत, वर्तमान, भविष्य नहीं हैं, तीनों वर्तमान हैं। हम क्योंकि एक शरीर में स्थित मन की दृष्टि से देखते हैं इसलिये हमारे लिये क्रम है। जो इस शरीर से अपरिच्छिन्न साक्षी परमेश्वर है, उसके लिये सब एक ही है। इसलिये अज्ञानी भी यद्यपि विभिन्न कर्मों से विभिन्न जन्मों में अनन्त काल में सारी कामनाएँ पूरी कर सकते हैं तथापि एक-साथ नहीं जबकि विद्वान् एक-साथ करता है अतः तृप्ति होती है। क्रम से इच्छा पूरी होने पर भी वह तृप्ति सम्भव नहीं।

तैत्तिरीय में सर्वकामादि समझाने के लिये मानुष, गन्धर्व, देव आदि अनेक आनन्दों का उल्लेख है जो सौ-सौ गुणा अधिक हैं। सभी की उपलब्धि उसे कही जो श्रोत्रिय आदि सद्गुणों वाला 'अकामहत' है, कामना का जिसपर आघात नहीं पड़ा है। पंचदशी में यहाँ 'अकामहत' कहा नहीं, पर समझ लेना चाहिये। श्रोत्रियता, वेदज्ञता वेदरहस्यज्ञता प्रधान है, अश्रोत्रिय को यों युगपत् सर्वकामावाप्ति सम्भव नहीं। 'सकलान् कामान् सह'—इस श्रुतिभाग का युगपत् कहकर संग्रह किया। मानुष आनन्द के बाद गन्धर्वानन्द फिर देवादि-आनन्द मिलें ऐसा क्रम विद्वान् के लिये नहीं, एक-साथ सभी आनन्द उपलब्ध रहते हैं। जैसे रस्सी मिलने से जो कुछ उसपर अध्यस्त वह सभी मिल गया वैसे ब्रह्म मिलने से सारा संसार मिल जाता है। अज्ञानी तो एक-एक कर्म से एक-एक जन्म में अलग-अलग भोग प्राप्त करता है, ज्ञानी पर ऐसी कोई रुकावट नहीं ॥ २० ॥

आनन्दमीमांसा तैत्तिरीय (२.८) एवं बृहदारण्यक (४.३.३३) दोनों उपनिषदों में आयी है। वेद से अतिरिक्त कहीं आनन्द का माप प्रसिद्ध नहीं एवं यहाँ दशमलव-प्रणालीका भी प्रचीनतम उपयोग वेद में ही सुलभ है। सुख का कम-ज्यादा होना तो सबको अनुभव है, उसी का वर्गीकरण मीमांसा में निर्धारित है। उस प्रसंग का आवश्यक भाग संक्षेप में सुनाते हैं—

युवा रूपी च विद्यावान् नीरोगो दृढचित्तवान् ।

सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन् ॥ २१ ॥

सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नस्तृप्तभूमिपः ।

यमानन्दमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ॥ २२ ॥

जवान, रूपवान्, विद्वान्, स्वस्थ, प्रौढमनस्क, सेनासम्पन्न, धनपूर्ण सारी पृथ्वी का पालन करता हुआ, मनुष्योचित सब भोगों से युक्त, सन्तुष्ट राजा जो आनन्द पाता है, ब्रह्मज्ञानी भी उसी का भोग करता है।

आनन्द भोगने के लिये जवानी आवश्यक है, वृद्धावस्था में विशेष सुख भोगा नहीं जा पाता। सुरूप व्यक्ति साथियों को आकृष्ट करता है, समान रुचि वाले एकत्र हों तब सुख भोगा जाता है, अकेले भी सुखभोग संभव नहीं। साहित्य, संगीत, कला आदि सूक्ष्म आनन्द भोगने के लिये विद्यावान् होना अनिवार्य है, मूर्ख या अशिक्षित के भी सुखोपाय सीमित हो जाते हैं। रोगी से भी सुख नहीं भोगा जाता, रुग्ण तो विद्वान् भी सुखी नहीं हो पाता। चित्त में दृढता प्रौढता चाहिये, स्थिरनिश्चयी ही सुखी हो सकता है। गीता में (४.४०) भी कहा 'न सुखं संशयात्मनः' इह-पर लोक कहीं उसे सुख नहीं मिलता जो संशयालु हो। राजा निर्भय हुआ तभी सुख भोग सकता है जब सेना से युक्त हो। सैन्यबल से हीन राजा आतंकियों से, दुश्मनों से त्रस्त ही रहेगा, उन्हें जैसे-तैसे खुश रखेगा तो स्वयं कैसे आनन्द भोग सकेगा! उसका देश धन-धान्य से सम्पन्न होना चाहिये, दरिद्र भी आनन्द भोगने में असमर्थ होता है। जो राजा सुव्यवस्था से प्रजा का पालन करे उसी के प्रति जनता का सद्भाव, आदर होता है एवं वही प्रसन्न रहता है। जिस राजा की प्रजा असन्तुष्ट, राजा से क्षुब्ध रहे, वह राजा निरन्तर शंकाग्रस्त अतः दुःखी ही रहेगा। 'सब मेरा बुरा चाहते हैं' यों समझने वाला व्यक्ति आनन्द में रहे यह सम्भव नहीं। मनुष्य प्रसन्न हो इसके लिये उसे विश्वास होना चाहिये कि अन्यो की उसके प्रति अच्छी भावना, अच्छी राय है। सम्पन्न प्रजा भी सुखी होने से वहाँ का राजा सुखभोग में हिचकिचायेगा भी नहीं। पालन करने से वह कर्तव्य-निर्वाह के प्रति भी निश्चिन्त रहता है। ऐसे राजा का आनन्द 'एक' मानुष आनन्द कहलाता है, वह आनन्द मापने की एक इकाई है। यह सारा आनन्द निष्काम ब्रह्मवेत्ता को है। मानुष भोगों की अन्तिम सीमा उसे प्राप्त है। विषय-निरपेक्षता के कारण ही तृप्ति, आनन्द मिलता है; निरपेक्षता चाहे प्राप्ति से हो, चाहे आकर्षण न होने से हो। विशाल तृष्णा वालेके पास चाहे जो हो पर वह रहता हमेशा दरिद्र है। विषय-कामना ही दरिद्रता है। कामना यदि विषयलाभ से मिटी तो और यदि निष्कामता से मिटी तो, दोनों स्थितियों में आनन्द समान है।। २१-२२।।

विषयसंपन्न व विषय-रहित दोनों के आनन्द की समानता उपपन्न करते हैं—

मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा ।

भोगाद् निष्कामतैकस्य परस्याऽपि विवेकतः ।। २३ ।।

मनुष्यलोक के भोगों की दोनों को कामना नहीं अतः दोनों की तृप्ति समान है। एक की निष्कामता भोग के कारण है, दूसरे की विवेक से है, यह अन्तर होने पर भी कामना न होना समान है।

विषय-अभिलाषा ही अतृप्ति का हेतु है, अभिलाषा भोग से हटे या विवेक से, हटते ही आनन्द स्वाभाविक होता है। भोग यद्यपि वास्तविक निष्कामता नहीं देता, विवेक स्थायी निष्कामता प्रदान करता है, तथापि तत्काल तो कामना न होना समान ही है, यह तात्पर्य है। भोग से निष्कामता का मतलब यह नहीं कि निष्कामता-प्राप्ति में उसे उपाय मान रहे हैं! भोग-काल में उस वस्तु की कामना मिटनारूप निष्कामता के अभिप्राय से समानता बतायी। किंच श्रुति में राजा भी विद्यावान् ग्रहण किया (श्लो. २१) अतः विवेक-पूर्वक भोग करने से उसे निष्कामता प्राप्त हो तो भी विवेकज होने से ही वास्तविक होगी ॥ २३ ॥

विद्वान् विवेक से निष्काम होता है यह कहा, इसे ही वैदिक स्थल बताकर स्पष्ट करते हैं—

श्रोत्रियत्वाद् वेदशास्त्रैर्भोगदोषान् अवेक्षते ।

राजा बृहद्रथो दोषांस्तान् गाथाभिरुदाहरत् ॥ २४ ॥

श्रोत्रिय अर्थात् वेदाध्येता होने से वह वेद-शास्त्रों के सहारे भोगों के दोषों का आलोचन करता है। राजा बृहद्रथने गाथाओं द्वारा वे दोष प्रकट किये हैं।

तत्त्वज्ञ को सभी विषयों का आनन्द एक-साथ इसलिये सुलभ बताया कि वह उनसे विरक्त है। वैराग्य इसलिये कि वह उनमें दोष देख पाता है। वह भी इसलिये कि उसने वेद शास्त्र समझे हैं जहाँ विषयभोगों के दोष बताये गये हैं। सबसे बड़ा दोष तो अनित्यता है। भोग कुछ करके मिलते हैं अतः अस्थिर हैं। अनित्य विषय वस्तुतः सुखहेतु हो नहीं सकता। विवेकी इस अनित्यता के दर्शन से हर तरफ से विरक्त हो जाता है। बिना किये मिलने वाला केवल अपना आत्मस्वरूप है, वही नित्य है। वेदों में अनेक जगह भोगदोष वर्णित हैं। एक स्थल है मैत्रायणी उपनिषत् (प्रथम प्रपाठक)। वहाँ बताया है कि बृहद्रथ नामक राजा ने संसार को अशाश्वत समझकर वैराग्यवान् हो राज्य पुत्र को सौंपकर वनको प्रस्थान किया। वहाँ तपस्या करता रहा। उसे शाकायन्य मुनि का सानिध्य मिला, उसने उनसे आत्मजिज्ञासा व्यक्त की। उन्होंने उसे भोग माँगने को कहा तो राजा ने उनके चरण छूकर अनेक गाथाएँ सुनायीं जिनमें विषयदोष स्पष्ट किये कि क्यों विवेकी के लिये भोग अनर्थकर हैं। गाथाओं में बार-बार 'किं कामोपभोगैः' से उनकी व्यर्थता बतायी है। योगवासिष्ठ में भी अत्यन्त विस्तार से विषयों की परीक्षा-पूर्वक उनके दोष बताये गये हैं। वेद एवं अन्य सच्छास्त्रों का ज्ञाता अतएव विषयभोगों से विरत हो यही स्वाभाविक है। दोषदर्शी भोग नहीं कर सकता। चैद्यों को हर साग में दोष दीखेगा अतः उन्हें साग लेने बाज़ार भेजो तो नीम के पत्ते ही लेकर लौटेंगे! अतः शास्त्रादि का ज्ञान वैराग्य प्रदान कर असीम आनन्द का हेतु हो जाता है ॥ २४ ॥

विवेकी में भोग-कामना नहीं हो पाती इसे उपपन्न करते हैं—

देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषान् अनेकशः ।

शुना वान्ते पायसे नो कामस्तद्वद् विवेकिनः ॥ २५ ॥

(राजा ने मैत्रायणी में) अनेकों दोष शरीर, मन और भोग्यों में बताये हैं। जैसे कुत्ते द्वारा खाकर मुख से निकाल दी खीर के प्रति सत्पुरुष को कामना संभव नहीं वैसे विवेकी को, सदोष शरीर-मन के उपयोग से सदोष विषय भोगने की कामना संभव नहीं।

शरीर के दोष जैसे इत्र लगाने पर भी शरीर-दुर्गन्ध स्थायीरूप से नहीं जाती। पदार्थ खाने पर भी दुर्गन्ध वाली विष्ठा बनेगी। चित्त, मन अन्तःकरण के भी ऐसे ही दोष हैं। एक तो, मन का भरोसा नहीं। रामकृष्ण परमहंस ने कहा है कि 'मेरा शरीर जल जाये राख हो जाये, तभी मुझे अच्छा महात्मा कहना क्योंकि मनका कोई भरोसा नहीं।'

जैसे कुत्ते द्वारा वमन की गई खीर कभी खाने का विचार नहीं आता, कामना नहीं होती, इसी प्रकार भोगों के दोषों को जानने वाले को भोग्य-पदार्थों की कामना नहीं होती ॥ २५ ॥

श्रोत्रिय को राजा के समान ही नहीं, अधिक सुख उपलब्ध है यह स्पष्ट करते हैं—

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसञ्चये।

दुःखमासीद् भाविनाशादतिभीरनुवर्तते ॥ २६ ॥

नोभयं श्रोत्रियस्यातस्तदानन्दोऽधिकोऽन्यतः।

गन्धर्वानन्द आशास्ति राज्ञो, नास्ति विवेकिनः ॥ २७ ॥

भोगों के प्रति निष्कामता समान होने पर भी राजा को साधन एकत्र करने में दुःख उठाना पड़ा और भविष्य में साधनों के नाश से डर भी बना रहता है। श्रोत्रिय को दुःख व भय दोनों नहीं अतः उसका आनन्द राजा के आनन्द से अधिक है। राजा को तो गंधर्वानन्द की आशा भी सताती है जब कि विवेकी को वह भी नहीं।

राजा ने भोग पाकर उनसे तृप्ति यदि पा ली तो भी विवेकी से उसका सुख कम ही रहेगा क्योंकि पहले तो भोग पाने में श्रम किया और बाद में 'भोग नष्ट न हो जाये' इसके भय से त्रस्त रहेगा। किंच गंधर्वानन्द आदि आनन्द भोगे नहीं अतः उनसे भी आकृष्ट राजा तो बना रहेगा जबकि विवेकी ने न साधन एकत्र किये अतः न उनकी हानि का भय है और न गंधर्वादि उत्तरोत्तर आनन्द का कोई आकर्षण है। राजा को पहले दुःख था, पर विवेकी को वह दुःख नहीं उठाना पड़ा। राजा की निष्कामता दुःख करके है, ज्ञानी की बिना उस दुःख के है। इसलिये ज्ञानी का आनन्द श्रेष्ठ है। राजा को 'यह आगे नष्ट हो जायेगा' यों भविष्य में दुःख की सम्भावना है, श्रोत्रिय को ऐसा भी नहीं है; उसे भूत दुःख भी नहीं, भावी दुःख भी नहीं। निष्कामता भी विवेकज होने से स्थायी हो गई है, वह चली जायेगी—यह नहीं हो सकता। अतः भोग से तृप्ति और विवेक से तृप्ति इनमें विवेक से तृप्ति ही श्रेष्ठ है। मानुषानन्द से गन्धर्वानन्द सौगुणा ज्यादा है अतः राजा को गन्धर्वानन्द की इच्छा रहती है। मानुषानन्द तो प्राप्त होने से उसके प्रति अनिच्छा है पर अप्राप्त की इच्छा होती है। श्रोत्रिय को उसकी भी इच्छा नहीं है। चाहिये ही नहीं इसलिये मानुषानन्द, गन्धर्वानन्द आदि एक जैसे ही प्राप्त हैं ॥ २६-२७ ॥

प्रसंगवश गंधर्वों का भेद सूचित करते हैं—

अस्मिन् कल्पे मनुष्यः सन् पुण्यपाकविशेषतः ।

गन्धर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगन्धर्व उच्यते ॥ २८ ॥

पूर्वकल्पे कृतात् पुण्यात् कल्पादावेव चेद् भवेत् ।

गन्धर्वत्वं तादृशोऽत्र देवगन्धर्व उच्यते ॥ २९ ॥

इस कल्प में मनुष्य रहकर पुण्य के खास परिपाक से गंधर्वभाव को पाने वाला 'मर्त्यगन्धर्व' कहलाता है। पूर्व कल्प में किये गये पुण्य से कल्प्रारम्भ में ही यदि गंधर्वभाव पाये तो वैसे को 'देवगन्धर्व' कहते हैं।

मनुष्यगन्धर्वों के आनन्द से सौ गुणा देवगन्धर्वों का आनन्द बताया है अतः दोनों का अंतर समझाया। तैत्तिरीय में यही क्रम है। विवक्षा ब्रह्म की आनन्दरूपता की होने से क्रमभेद अकिञ्चित्कर है। देवगन्धर्व इसलिये श्रेष्ठ कि समग्र कल्प तक वैसा आनन्द लेंगे जबकि मनुष्यगन्धर्व या मर्त्यगन्धर्व तो यहाँ साधन कर जब वहाँ पहुँचेंगे तभी से शुरू कर कर्मफल पूरा होने तक वहाँ का आनन्द भोगेंगे ॥ २८-२९ ॥

तैत्तिरीय में देवगन्धर्वों से सौ गुणा 'पितृणां चिरलोकलोकानाम्' आनन्द बताया। बृहदारण्यक में 'पितृणां जितलोकानाम्' कहा है। तदनन्तर 'आजन्म देव' और 'कर्मदेव' बताकर 'देवों' का उल्लेख है। बृहदारण्यक में 'कर्मदेव' और 'आजानदेव' इस क्रम में दो का ही संग्रह है। इनका भी उल्लेख करते हैं—

अग्निष्वात्तादयो लोके पितरश्चिरवासिनः ।

कल्पादावेव देवत्वं गता आजानदेवताः ॥ ३० ॥

अस्मिन् कल्पेऽश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत् पदम् ।

अवाप्याजानदेवैर्याः पूज्यास्ताः कर्मदेवताः ॥ ३१ ॥

'अग्निष्वात्त' आदि पितर हैं जो पितृलोक में चिरकाल तक रहते हैं। कल्पप्रारम्भ में ही जो देव बने वे 'आजान देवता' हैं। इस कल्प में अश्वमेध आदि कर्म कर महान् पद पाकर आजान देवताओं से सम्मानित होने वाले कर्मदेव हैं। उन्हें विशेष इसलिये कहा कि वहाँ पहुँचने पर वहाँ स्थित देव भी इनका सम्मान करते हैं ॥ ३०-३१ ॥

पूर्वोक्त से अधिक आनन्द बताते हैं—

यमाऽग्निमुख्या देवाः स्युर्जाताविन्द्रबृहस्पती ।

प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ॥ ३२ ॥

यम, अग्नि आदि देव हैं। इन्द्र और बृहस्पति प्रसिद्ध ही हैं। प्रजापति अर्थात् विराट् और ब्रह्मा मायने सूत्रात्मा ।

तैत्तिरीय में कर्मदेवों के आनन्द के बाद सौ-सौ गुणा आनन्द इनके बताये हैं—देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति, ब्रह्मा । बृहदारण्यक में देवादि छोड़कर आजानदेवों के बाद इनका उल्लेख है—प्रजापति लोक, ब्रह्मलोक । पूर्व में कर्मदेवों का आनन्द कहा था । उससे सौ गुणा है देवों का । देवों में यम, अग्नि आदि प्रसिद्धों का संग्रह है । उनसे सौ गुणा अधिक उनके राजा इन्द्र का आनन्द है, उससे सौ गुणा देवगुरु बृहस्पतिका, उससे सौ गुणा प्रजापति का तथा उससे सौ गुणा सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ का । भोगी को तो साधन कर ये आनन्द पाकर इनसे तृप्ति हो सकती है, विवेकी को इन सभी से वैराग्य है क्योंकि इनमें अनित्यत्वादि सभी दोष समान हैं, अतः उसे इन सबसे प्राप्त तृप्ति स्वतःसिद्ध है ॥ ३२ ॥

शमादि-सम्पन्न ब्रह्मवेत्ता को उपलब्ध ब्रह्मानन्द इन सभी तारतम्ययुक्त आनन्दों से अधिक है यह प्रतिपादन करते हैं—

सार्वभौमादिसूत्रान्ता उत्तरोत्तरकामिनः ।

अवाङ्मनसगम्योऽयम् आत्मानन्दस्ततः परः ॥ ३३ ॥

सार्वभौम राजा से लेकर सूत्रात्मा तक सभी अगले-अगले आनन्द की कामना रखते हैं । वाणी-मन का अगोचर यह आत्मानन्द इसीलिये इन सबसे अधिक है ।

वृत्ति-आनन्दों में तारतम्य होता है, स्वरूप में नहीं । राजा आदि क्योंकि भोक्ता हैं अतः उपलब्ध से बेहतर चाहेंगे ही जिससे वे कामनाग्रस्त होने से परमानन्द में मग्न नहीं रह सकते । आत्मरूप आनन्द अद्वितीय है, इसमें स्थित विद्वान् विषयों से विरक्त भी है अतः उसको अन्य कुछ चाहिये नहीं एवं पूर्ण आनन्द में मग्न है जिससे स्पष्ट ही उसे पूर्वोक्त सबसे ज्यादा सुख है । बाकी आनन्द 'सौ गुणा' आदि तरह से कहे-समझे जा सकते हैं, ब्रह्मानन्द न कहा न समझा जा सकता है । इसीलिये बृहदारण्यक में इसे 'परम आनन्द' कहा । यद्यपि इसे इन सबसे परे बताया तथापि वह केवल उसके महत्त्व-द्योतन के लिये क्योंकि उसकी परमता इनकी अपेक्षा से नहीं वरन् स्वाभाविक है, सापेक्ष नहीं पूर्ण है ॥ ३३ ॥

श्रोत्रिय विवेकी को उक्त सभी आनन्द प्राप्त ही हैं यह बताते हैं—

तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियो यतः ।

निःस्पृहस्तेन सर्वेषामानन्दाः सन्ति तस्य ते ॥ ३४ ॥

विभिन्न दोषों के कारण सभी काम्य सुखों के प्रति क्योंकि श्रोत्रिय इच्छुक नहीं इसलिये सभी के वे आनन्द उसे हैं ही ।

श्रोत्रिय अर्थात् वेदज्ञ विचारपूर्वक सभी भोगों को सदोष जानता है अतः किसी काम्य को नहीं चाहता जिससे उसे वही सुख है जो उपायों से पाकर उन्हें भोगकर तृप्त हुए राजादि-सूत्रान्त को है । भोगों से निःस्पृह एवं उनकी वास्तविकता जानने से वह उस अपार सुख का अधिकारी है । अज्ञानवश निःस्पृहता से सुखोल्लेख संभव नहीं जबकि ज्ञानपूर्वक निःस्पृहता से सुख भासता है । विषय जानते नहीं अतः उसे चाहते नहीं तो उस विषय का सुख प्रतीत नहीं होता जबकि समझ-बूझकर नहीं चाहते तो स्पष्ट भान होता है । श्रोत्रिय

जानकार है इसलिये उसे वे सब आनन्द साफ अनुभव होते हैं। वास्तव में उसे इन सब से इतना अधिक आनन्द भासता है कि इनका वहाँ अन्तर्भाव ही हो जाता है ॥ ३४ ॥

चार प्रकार के वृत्त्यानन्द (विद्यानन्द) में दूसरा जो कामाप्ति उसे युक्ति-समर्थित किया कि निष्कामता से सर्वानन्दलाभ है। अन्य भी ढंग से कामप्राप्ति कहते हैं—

सर्वकामाप्तिरेषोक्ता यद्वा साक्षिचिदात्मना ।

स्वदेहवत् सर्वदेहेष्वपि भोगान् अवेक्षते ॥ ३५ ॥

सारी कामनाओं की पूर्ति अब तक बतायी। अथवा (सर्वकामाप्ति यों समझी जा सकती है—) साक्षी चैतन्यरूप से अपने देह की तरह सभी शरीरों में भोगों का अनुभव करता है।

विषय-वास्तविकता समझ-बूझकर उससे वैराग्य के कारण उसका सुख विद्वान् को उपलब्ध बताया। अब विकल्प कर रहे हैं कि विद्वान् स्वयं को साक्षी जानता है। जैसे एक विवेकी देह का वह साक्षी वैसे ही त्रिलोकी के सब देहों का साक्षी है क्योंकि साक्ष्य देहों में ही भेद है, साक्षी में नहीं। एक देह में जैसे सुखवृत्ति तो मन में ही रहती है, साक्षिरूप आत्मा केवल उसका अवेक्षण, प्रकाशन, दर्शन करता है वैसे अन्य देहों में भी सुखवृत्ति मनों में बनती है जिसका अवेक्षण यही साक्षी करता है। इसलिये सारी कामनाएँ सुलभ हैं। आभास से स्वतंत्र साक्षी में ही आत्मबुद्धि (मैं-निश्चय) हो तभी यह सब उपाधियों में अवेक्षण संभव है। स्थूलमति तो प्रतिबुद्धि साक्षी भी विभिन्न मानता है! उपाधिभेद से निवृत्त होने के लिये ही साक्षी समझना जरूरी, यदि वहाँ भी भेद रहा तो स्वल्प ही लाभ है किंतु एकाएक स्वीकार नहीं होता कि साक्षी अभिन्न ही है। विवेकदार्ढ्य से जब समझ आये तब 'कहीं भी किसी भी उपाधि में होते सुख का मैं साक्षी ही दर्शन कर रहा हूँ' यह बोध रहने से सर्वकामाप्ति सिद्ध हो जाती है। सभी कुछ साक्षिचैतन्य का विषय है, चाहे ज्ञातरूप से हो या अज्ञातरूप से। अतः अज्ञात उपाधियों की सुखवृत्तियाँ भी अज्ञातरूप से सभी को भासती ही हैं। ब्रह्मसूत्रों में जैमिनि के अनुसार (४.४.५) अपहृतपाप्मत्वादि की तरह सत्यसंकल्पादि भी प्राप्त होते हैं जबकि औदुलोमि के मत में (सूत्र ६) चिन्मात्ररूपता रहती है, औपाधिक धर्म नहीं किन्तु बादरायण ने (सूत्र ७) माना है कि व्यवहार की दृष्टि से जैमिनिमत और परमार्थ की दृष्टि से औदुलोमिमत दोनों संगत हैं। यद्यपि वह प्रसंग उपासनाफल का है तथापि तात्पर्य है कि मुक्त को व्यवहारदृष्टि से राजादि-सूत्रात्मपर्यन्त सब विषयसुख उपलब्ध है एवं परमार्थदृष्टि से भूमानन्द है ही ॥ ३५ ॥

'सबका साक्षी मैं' जानने से ही उक्त लाभ है, न जानने तक नहीं, यह सप्रमाण समझाते हैं—

अज्ञस्याऽप्येतद् अस्त्येव न तु तृप्तिरबोधतः ।

यो वेद सोऽश्नुते सर्वान् कामान् इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥ ३६ ॥

अज्ञानी का भी सर्वानन्दसाक्षित्व है ही किंतु अज्ञानवश उसे तृप्ति नहीं। श्रुति ने बताया है कि जो जानता है वही सब कामनाएँ भोग पाता है।

अज्ञानी भी वास्तविकरूप में साक्षी है अतः सर्वत्र आनन्द उसी से प्रकाशित है लेकिन ज्ञान न होने से उस प्रकाशमात्र से वह तृप्त नहीं होता। जो जौहरी नहीं वह यदि विश्वस्त जौहरी से बहुमूल्य रत्न खरीदे तो भी स्वयं उन्हें देखना ही चाहता है! पुड़िया में बन्द रखे रहने से उसे तृप्ति नहीं होती, भले ही देखकर उनका गुण-दोष कुछ भी न समझ पाये। वस्तु अपनी हो पर हमें पता न हो कि मेरी है तो हमें सुख नहीं होता। इसी प्रकार साक्षी अज्ञानी भी वैसा ही है जैसा ज्ञानी किन्तु उसे मालूम न होने से उसे तृप्ति होना संभव नहीं।

इसमें तैत्तिरीयोपनिषत् प्रमाण है जो कहती है 'यो वेद निहितं गुहायां सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह' (तै.२.१) ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्त है किन्तु उसे जो बुद्धिसाक्षी जानता है उसी की सारी कामनाएँ एक-साथ पूरी होती हैं। पूर्ववर्णित बादरायणमत में अत एव जैमिनिमत को व्यवहार-भूमि पर स्वीकार था, तभी 'सर्वान् कामान्' सार्थक होता है। विद्वान् की सारी इच्छाएँ पूरी होती ही हैं। जैमिनि सोपाधि सुख पारमार्थिक मानते हैं उतना ही उनके मत में दोष है, व्यावहारिक मानना श्रुतिसम्मत है। औदुलोमि सर्वथा निषेध करते हैं, वह भी शास्त्र एवं विद्वदनुभव से विरुद्ध है। इसलिये पारमार्थिक-व्यावहारिक स्तरों पर दोनों स्वीकार हैं। सर्वकामाप्ति होने पर भी 'जगद्व्यापार' अर्थात् ईश्वरकृत्य विद्वान् नहीं करता क्योंकि वे उपाधिप्रधान हैं न कि साक्षिप्रधान। ईश्वर अज्ञान से सर्वथा रहित ही है जबकि विद्वान् अज्ञानी रहकर उसे मिटा चुका है। विद्वान् ने ज्ञान पाया उससे बहुत पूर्व ईश्वर जगद्व्यापार करता रहा है, वह उसी का अधिकारक्षेत्र है, विद्वान् का नहीं। कामप्राप्ति तक ईश्वरभाव संभव है अतः जीवनकाल में वही स्वीकार है। सूत्रों में ये बातें उपासकों के प्रसंग में कहीं तथापि यथोचित रूप से ज्ञानियों में समझ लेनी चाहिये ॥ ३६ ॥

सारी कामनाओं की पूर्ति १) निष्कामता से एवं २) साक्षिभाव से बता चुके। अब तीसरे ढंग से कहते हैं—

यद्वा सर्वात्मतां स्वस्य साम्ना गायति सर्वदा ।

अहमन्नं तथाऽन्नादश्चेति साम ह्यधीयते ॥ ३७ ॥

अथवा साम द्वारा हमेशा अपनी सर्वात्मता गाता रहता है। 'मैं अन्न और अन्नाद हूँ' ऐसा साम वेद में पढ़ा जाता है।

सुखी व्यक्ति सुखानुभव से प्रसन्नतापूर्वक गाता है। विद्वान् को प्रतीत होता है कि 'पहले अत्यंत परिच्छिन्न था, अब सर्वव्यापक, सारी सृष्टि को जान रहा हूँ' इसलिये उल्लास से उसके मुख से गान निकलता है। द्रष्टा-दृश्य दोनों को वह निज साक्षिरूप में आरोपित देखकर प्रसन्न होता है। 'अन्न अर्थात् दृश्य एवं अन्नाद अर्थात् द्रष्टा, दोनों मुझ पर कल्पित हैं' इस अद्भुत अनुभूति का आनन्द 'साम' के रूप में व्यक्त होता है। जैसे विभिन्न दर्पणों में अपने मुख के विभिन्न आकार देखने से सुख होता है वैसे ज्ञानी सर्वत्र स्वयं को देखकर प्रफुल्लित होता है। इससे वह सारे संसार की समता भी अनुभव करता है। मुक्तका यह ज्ञान तैत्तिरीय में (३.१०.५-६) प्रसिद्ध है 'अहमन्नम् ..अहमन्नादः ...अहं श्लोककृत्...अहमस्मि प्रथमजा ऋता ३ स्य' इत्यादि। इसमें अपनी सर्वरूपता का उल्लेख है ॥ ३७ ॥

विद्यानन्द के बाकी प्रकार पूर्व में कहे जा चुके हैं यह याद दिलाते हैं—

दुःखाभावश्च कामाप्तिरुभे ह्येवं निरूपिते ।

कृतकृत्यत्वमन्यच्च प्राप्तप्राप्तव्यमीक्षताम् ॥ ३८ ॥

उभयं तृप्तिदीपे हि सम्यग्स्माभिरीरितम् ।

त एवाऽत्रानुसन्धेयाः श्लोका बुद्धिविशुद्धये ॥ ३९ ॥

इस प्रकार, दुःखाभाव और कामनापूर्ति समझा दिये । कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्तव्यता—ये बाकी दोनों प्रकार जानो । ये दोनों हमने 'तृप्तिदीप' में (श्लो. २५३ आदि) स्पष्ट कहे हैं । बुद्धि में विद्यानन्द की स्पष्टता हो इसलिये वहीं के श्लोकों का यहाँ भी विचार करना चाहिये ।

श्लोक ३ में विद्यानन्द को चार तरह का कहा था, उनमें दो प्रकार अब तक बताये, बाकी दो तृप्तिदीप में कह आये हैं, जिन्हें यहाँ भी समझ लेना चाहिये । विषयों से होती तृप्ति सांकुश, ससीम है जब कि वैराग्य से निरंकुश तृप्ति मिलती है । ज्ञानदशा में ऐसी तृप्ति रहने के बारे में कोई संशय न रहे इसलिये पूर्वोक्त भी श्लोक पुनः ग्रहण करेंगे । वेदान्त में पुनरुक्ति दोष नहीं । मीठा लगता है इसलिये गन्ना चूसते जाते हैं ऐसे ही सत्य का पुनः पुनः उपन्यास उपयुक्त है । जैसे लोहा आदि काफी चोट खाकर ही रूप धारण करता है वैसे शास्त्र साधक के चित्त पर दृढतर संस्कार अंकित करने के लिये बहुशः परमात्मा, साधन, फल आदि का वर्णन करता है । वैराग्यवान् ही परमात्मा का उपदेश ग्रहण कर सकता है तथा वैराग्य उपजे, स्थिर हो इसके लिये संसार से वितृष्णा उपजाना ज़रूरी है । जैसे ईशभाष्य में कहा कि मंत्रों को 'जामिता' आलस्य नहीं वैसे ग्रन्थकार को नहीं अतः बुद्धिशुद्धि के उद्देश्य से अनेक पूर्वोक्त श्लोक उद्धृत कर रहे हैं ॥ ३८ - ३९ ॥

कृतकृत्यता का उल्लेख प्रारंभ करते हैं । ये श्लोक ७.२५६ से प्रारम्भ कर पूर्व में आ चुके हैं—

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्धयै मुक्तेश्च सिद्धये ।

बहुकृत्यं पुराऽस्याऽभूत् तत् सर्वम् अधुना कृतम् ॥ ४० ॥

इस लोक व परलोक के फल पाने के लिये और मोक्षलाभ के लिये इस साधक के कर्तव्य बहुतेरे थे, वह सब अब कर लिया गया ।

संसार के पदार्थ, अनुभव अच्छे लगते थे अतः उनके उपायरूप से बहुतेरे कार्य आवश्यक प्रतीत होते थे । संसार में इस लोक की तरह परलोक भी संगृहीत है, यहाँ के भोगों की तरह यहाँ के भोगों के लिये भी अनेक कार्य करते हैं । बंधन-अनुभव रहते इससे मोक्ष की भी अभिलाषा होने से मोक्षप्राप्ति के लिये भी अनेक कार्य किये जाते हैं । तत्काल के कार्य यद्यपि सर्वप्रधान लगते हैं तथापि काल बदलते ही अन्य कार्य वैसे ही प्रधान हो जाते हैं एवं कार्य

कुछ-न-कुछ बढ़ते ही हैं, करके समाप्त हों या कम हो जायें—ऐसा दुर्लभ है। इस लोक के विषय इतनी जल्दी निरर्थक हो जाते हैं कि विवेकी इनके लिये प्रयास व्यर्थ समझता है। ब्रह्मलोक में चले जाओ तो भी जन्म-मरण के चक्कर का वही वातावरण रहेगा। इन सबसे छूटें यह आत्मदर्शन से ही हो सकता है। आत्मदर्शन के लिये, मन-इन्द्रियों का नियंत्रण, धर्म करने में जो कष्ट आता है उसको सहने का अभ्यास, चित्त की एकाग्रता आदि सबसे युक्त होकर वेदान्त का श्रवण किया जाये। शमादि से रहित रहकर जो श्रवण किया जाता है, उससे आत्मदर्शन नहीं होता। पता परन्तु लग जायेगा कि आत्मतत्त्व कैसा है, उसका साक्षात् अनुभव नहीं होगा। बिना आत्मदर्शन के जीव जन्म-मरण से छूट नहीं सकता। भोगेच्छुक हो या मोक्षेच्छुक, जीवों के सामने ये सभी कर्म कर्तव्य बने रहते हैं। जब तत्त्वबोध दृढ़ हो गया तब ये सारे कार्य पूरे हो गये, अब इनमें से किसी को कर्तव्य नहीं समझा जा सकता ॥ ४० ॥

कर्तव्य स्मरण कर उनसे छुटकारे का आनन्द विद्वान् लेता है यह बताते हैं—

तदेतत् कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।

अनुसन्दधदेवाऽयमेवं तृप्यति नित्यशः ॥ ४१ ॥

प्रतियोगी आगे रखकर इस कृतकृत्यता का अनुचिन्तन करते हुए ही यह सदा तृप्ति का अनुभव करता है।

यद्यपि सिद्ध हो चुका तथापि जिन कृत्यों के बंधन से छुटकारा मिला उन्हें याद करने से छुटकारे का सुख स्पष्ट होता है। कृत्य ही प्रतियोगी हैं, उन्हें याद करने से जब वे स्मृतिपटल पर स्फुट होते हैं तब 'यह भी कर लिया' यों कृतकृत्यता-विशेष भासती है। पहले गाली सुनकर बुरा लगता था। अब पता चला कि गाली तो अनात्मा शरीर-मन को मिलती थी जो उसी योग्य भी थे! जिनका कोई महत्त्व नहीं ऐसी बातों के लिये परेशान रहते थे—यह याद आने पर असीम राहत मिलती है। इस लोक की तरह परलोक के भी सुख परिच्छिन्न, सातिशय ही हैं, उन्हें चाहकर क्लेश सहना भी 'कार्य' था; अब परमार्थ फल मिल जाने से वह भी सब सम्पन्न हो गया। इस तरह विचारने से तृप्ति मिलती है ॥ ४१ ॥

संसरण अपने लिये ज्ञानी व्यर्थ समझता है यह बताते हैं—

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।

परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥ ४२ ॥

अज्ञानी दुःखी हुए भले ही पुत्रादि के लिये संसार में भ्रमण करें, परम आनन्द से पूर्ण मैं क्या चाहकर संसार-यात्रा करूँ!

जो अज्ञानी हैं वे सदा दुःखी ही हैं। इसलिये पुत्रादि की अपेक्षा से संसार में भ्रमण करते रहें। वे जीवनकाल में भी पुत्र से, पत्नी से परेशान हैं; आगे, पुत्र ने श्राद्ध नहीं किया तो भी व्यथित होंगे! यहाँ ऐहिक संसरण भी समझना चाहिये अर्थात् इस लोक से सम्बद्ध व्यवहार और आमुष्मिक संसरण भी समझना चाहिये। अज्ञानी यह सब करता है क्योंकि दुःख का अनुभव करता है, और दुःखनिवृत्तिके लिये ये प्रयत्न प्रसिद्ध हैं। विद्वान् का अनुभव

है—मुझे अब पता लग गया कि मैं तो परम आनन्द से भरा हुआ हूँ। जब दुःख है ही नहीं तो निवृत्ति कैसी! विषय ही नहीं हैं तो प्राप्ति के लिये प्रयत्न कैसा! विषय हों तो भी कामना के योग्य नहीं हैं इससे भी उनके लिये प्रयत्न सार्थक नहीं है। सारी कामनायें सुख के लिये हैं या दुःख हटाने के लिये हैं। जो परमानन्द से भरा हुआ है उसमें लेशमात्र भी दुःख का स्थान नहीं है। ब्रह्मानन्द से श्रेष्ठ आनन्द कुछ नहीं है। यह अपनी कृतकृत्यता का भान है ॥ ४२ ॥

संसारण की तरह शास्त्रीय कृत्यों से छुटकारे की तृप्ति बताते हैं—

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः।

सर्वलोकात्मकः कस्माद् अनुतिष्ठामि किं कथम् ॥ ४३ ॥

परलोक जाना चाहने वाले भले ही कर्मानुष्ठान करें, मैं सर्वलोक रूप हूँ, क्यों, कैसे, क्या अनुष्ठान करूँ?

अज्ञपुरुष इहलोक के सुखों की इच्छा करके प्रवृत्तियाँ करते हैं, मुझे इहलोक की कोई इच्छा न होने से वह सब मेरे लिये व्यर्थ हो चुका। स्वर्गलोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त की इच्छा भी मुझे नहीं है। जिसे मरना है, उसे परलोक जाना पड़ेगा। मरने वाला मैं हूँ नहीं। मन को अपना स्वरूप समझकर परलोक की इच्छा बनती थी। मन या सूक्ष्मशरीर मैं हूँ ही नहीं इसलिये मुझे परलोक की इच्छा है नहीं। अन्य अज्ञानी परलोकहेतु अनुष्ठान करें, किंतु मुझे जो करना था वह कर लिया। प्रायः होता है कि जिस कार्य को हमने करके छोड़ दिया हम चाहते हैं कि सारी दुनिया उसे छोड़ दे! ऐसा ब्रह्मविद्या के अनुभव से नहीं होता। जैसे बच्चों को हम अब भी खिलौने देते हैं, यद्यपि हमने खेलना छोड़ दिया है, इसी प्रकार ब्रह्मविद्या वाला संसार की सब चीज़ों को व्यर्थ जानता है पर अन्यो को उनसे व्यवहार करने देता है। उसे लगता है 'मेरी ये कार्य करने की स्थिति चली गई, अज्ञ जन कर्म करें।' उसका अनुभव है कि सारे लोक मेरे ही तो रूप हैं। वे सब लोक 'हैं' और 'है' मेरा रूप है। जब मैं सर्वलोक रूप हूँ तो कहाँ जाने की इच्छा करूँ? अब कौन-सा हेतु ऐसा है कि मैं अनुष्ठान करूँ? कौन-सा अनुष्ठान करूँ? किसी भी अनुष्ठान का जो फल होगा, वह मैं पहले ही हूँ। किस वेदानुसार करूँ? किस जाति, वर्ण का बनकर करूँ? इस प्रकार कोई कारण नहीं कि मैं अनुष्ठान करूँ ॥ ४३ ॥

कर्मानुष्ठान की तरह शास्त्रव्याख्यानादि कार्यों से भी निवृत्ति का उल्लेख करते हैं—

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा।

येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥ ४४ ॥

जो इसमें अधिकृत हों वे शास्त्रों की व्याख्या करें या वेद पढ़ायें, क्रियाहीन मैं इन कार्यों में भी अधिकार नहीं रखता।

जो उपदेश देने में अधिकृत हैं, अधिकारी हैं, जिनका उपदेश देना कर्तव्य बाकी हो वे व्याकरण आदि शास्त्र पढ़ावें। मीमांसा या न्याय के विद्वान् वे विषय पढ़ावें। अधिकार की प्राप्ति उसे है जिसमें उस विशिष्ट विषय के संस्कार हैं। वेदादि शास्त्र का ज्ञाता होने का अभिमान होने पर ही अध्यापन का अधिकार आता है। जिसमें यह अभिमान नहीं, वह कैसे पढ़ायेगा? जो अधिकारी हैं वे बेशक शास्त्रों को पढ़ावें। मुझे यह अधिकार नहीं है। अध्यापन एक क्रिया है। जो सर्वकर्मसंन्यासी है उसे वेद पढ़ाने का अधिकार नहीं है। अक्रिय होने से उसका किसी क्रिया में अधिकार नहीं है। जो लोग क्रिया में अभिमान वाले हैं, वे कहते हैं 'कुछ तो करना ही चाहिये'। 'मैं करने वाला नहीं,' ऐसा जिसने जान लिया, वह कैसे करेगा! छान्दोग्य भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं कि शास्त्र कहते हैं 'क्रोध करना बुरा है' पर लोग फिर भी करते हैं। इसलिये यह हमारा वृथा अभिमान है कि 'हम ऐसा करेंगे तो संसार सुधरेगा।' तत्त्वनिष्ठ को कर्मसंन्यासी देखकर कोई आसानी से कर्म छोड़ेगा नहीं। व्यक्ति अपनी कामनानुसार कर्म करता है। जिसने अपने क्रिया-हीन स्वरूप को जान लिया उसे कर्माधिकार की प्राप्ति कैसे होगी? साक्षी कर्म करने की योग्यता वाला ही नहीं तो उसे नियुक्त कैसे किया जाये? जो करने की योग्यता वाला है, उसी की नियुक्ति होगी। अतः अज्ञ ही शास्त्र द्वारा कर्मों में नियुक्त हैं, मैं उस बंधन से छूट गया—यह कृतकृत्यता स्पष्ट है॥ ४४॥

पारलौकिक की तरह ऐहिक भी कृत्य नहीं रहे यह बताते हैं—

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च।

द्रष्टारश्चेत् कल्पयन्ति किं मे स्याद् अन्यकल्पनात्॥ ४५॥

सोना, भिक्षा करना, नहाना, सफाई रखना—ये न मैं चाहता हूँ न करता हूँ। देखने वाले यदि मुझपर इनका आरोप करें तो दूसरों की कल्पना से मुझे क्या!

मैं ज्ञानी नींद लेता हूँ या खाता हूँ—यह बात तुम अज्ञानी को दीखती है या मुझे? मुझे तो दीखता नहीं; तुम्हें दीखता है। शरीर को प्राप्त भोग के काल में जो भी कर्म होता है उसके प्रति साक्षिभाव में स्थित को अभिमान नहीं होता कि 'यह मैं कर रहा हूँ।' दूसरों को अज्ञान है तो वे कल्पना करते हैं। निद्रा, भिक्षा (खाना), स्नान शौच—ये न मुझे करने की इच्छा होती है न करता ही हूँ। ये शरीर-मन में होंगे जो मेरा स्वरूप हैं नहीं। न इनकी इच्छा करता हूँ, न मैं करता हूँ। प्राण और कर्मेन्द्रियों से क्रिया होती है। जो अज्ञानी है, वह शरीर-मन को मैं समझता है अतः अनुमान करता है, कि ज्ञानी के शरीर-मन की क्रियाएँ भी साभिमान हैं! सभिमान उसकी स्थिति समझ ही नहीं पाता जो निवृत्ताभिमान है। 'गुणा गुणेषु' आदि गीता में कही स्थिति का अनुभव करने वाला कर्तृत्व का अनुभव करने में अक्षम है। अतः उपदेशसाहस्री में आचार्य शंकर ने कहा है कि 'मैं ज्ञानी, अन्य अज्ञानी' ऐसे भेदानुभव वाला भी तत्त्वनिष्ठ नहीं। जीवमात्र ब्रह्मरूप है अतः कोई भी अज्ञानी नहीं, कर्ता-भोक्ता नहीं। 'मैं कर्ता' यह अभिमानमात्र है, इससे मैं कर्ता हो नहीं जाता। मैं का

स्वरूप ही ऐसा है कि वह सदा अकर्ता-अभोक्ता है। अज्ञानी ही दूसरों में कर्तृत्व, कामना आदि की कल्पना कर सकता है क्योंकि स्वयं वैसा अभिमान पाले हुए है। तत्त्वज्ञ, जो जब पूर्वजन्म भी बाधित निश्चित है तब वह उनमें किये कर्मों के फलस्वरूप प्रारब्ध कैसे अनुभव कर सकता है! मेरा पूर्व जन्म हुआ हो, तब मैंने कुछ किया हो, तभी उसका फल प्रारब्धरूप से भोग्य बनेगा; जब मैं हूँ ही अज तो न कर्ता हूँ न मेरा प्रारब्ध है। अतः प्रारब्ध-क्षय के लिये भिक्षादि करूँ यह संभव नहीं ॥ ४५ ॥

अज्ञानियों का आरोप निस्तत्त्व होता है इसे सोदाहरण बताते हैं—

गुंजापुंजादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।

नान्यारोपितसंसारधर्मान् एवमहं भजे ॥ ४६ ॥

अन्यों द्वारा भ्रम से आरोपित आग से जैसे गुंजा-पुंज आदि जलने नहीं लगते वैसे अन्यों द्वारा आरोपित कर्तृत्वादि संसारधर्मों से मैं युक्त नहीं हो जाता।

गुंजा एक तरह का बीज होता है, एक तरफ लाल दूसरी तरफ काला। गुंजाओं के ढेर को दूर से देखने पर अंगारे-से दीखते हैं। चाहे जितनों को ऐसा ही दीखे पर उसमें गर्मी (आग) थोड़े ही आ जायेगी! दूसरों के द्वारा आरोपित अग्नि जलती नहीं है। इसी प्रकार लोगों की कल्पनामात्र से मुझ में कोई अन्तर आ जाये यह असम्भव है। देखने वालों के द्वारा आरोपित संसारधर्मों को मैं प्राप्त नहीं करता, मैं वैसा बन नहीं जाता ॥ ४६ ॥

अन्य कार्यों की तरह श्रवणादि कार्यों से छुटकारा मिलना कहते हैं—

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम् ।

मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥ ४७ ॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्यये ।

देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद् भजाम्यहम् ॥ ४८ ॥

तत्त्व से अनभिज्ञ भले ही श्रवण करे, तत्त्व समझ ही रहा हूँ तो शास्त्र क्यों सुनूँ? संशयग्रस्त लोग मनन करें, सन्देहहीन हो चुका मैं मनन नहीं करता। जिसे शरीरादि अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् विपरीत ज्ञान है वह निदिध्यासन करे, मुझे विपरीत अनुभव ही नहीं तो क्या ध्यान करूँ! देह आत्मा है ऐसा उल्टा निश्चय मुझे कभी होता ही नहीं।

जो सर्वकर्मसंन्यासी हैं, उन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त किया नहीं इसीलिये संन्यास लिया। सर्वकर्मसंन्यास का विधान उनके लिये किया जिनको आत्मज्ञान की ज़रूरत थी। जिन्होंने ब्रह्म को नहीं जाना है, वे श्रवण करें। श्रवण से जो ज्ञान होता है, वह मुझे तो हो गया, इसलिये श्रवण के लिये मैं कैसे प्रवृत्त होऊँ? किस कारण से श्रवण करूँ? और, जिन्हें उस विषय में संशय है, वे मनन भी करें। मैं ब्रह्म हूँ—इसमें मुझे कोई संशय है ही नहीं। ब्रह्म

को तो यह संशय नहीं होता कि 'मैं ब्रह्म हूँ कि नहीं।' अतः मैं संशय से रहित हूँ। श्रवण कर लिया कि वेद ने ऐसा कहा है, और युक्ति से निश्चय कर लिया कि ऐसा ही है। फिर भी पुराने संस्कारों से विपरीत ज्ञान हो जाता है। जब तक संस्कार दृढ़ नहीं हो जाते तब तक शरीर में मैं-बुद्धि हो जाती है। संस्कारों को दृढ़ करने के लिये निदिध्यासन करना पड़ता है। जिन्हें विपरीत बोध हो जाता है वे ध्यान, निदिध्यासन करें। जिस चीज़ का निश्चय होवे फिर केवल संस्कार दृढ़ बनाने के लिये ध्यान किया जाये, वह निदिध्यासन है। ध्येय के प्रामाणिक निश्चय के बगैर कर्तव्यरूप से एकाकार वृत्ति का प्रवाह ध्यान है। ध्यान एवं निदिध्यासन में यह अंतर है। ध्यान में 'ऐसा कैसे' यह प्रश्न नहीं होता। शालग्राम में विष्णु का ध्यान करो। नर्मदेश्वर में शिव का ध्यान करो। क्यों? शास्त्रों में कहा है इसलिये। हैं तो दो पत्थर ही! ध्यान यथाशास्त्र प्रत्यय होता है। निदिध्यासन में निःसंशय पहले होना पड़ता है। अतः जिसे विपरीत ज्ञान है वह निदिध्यासन करे। देह में मैं की भावना वासना से हो जाती है। सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि विजातीय प्रत्ययों को केवल हटाना निदिध्यासन है। सजातीय प्रत्यय को लाने वाला ध्यान इसमें नहीं है। विजातीय प्रत्यय के हटने से सजातीय तो मौजूद ही हैं। निदिध्यासन की परिसंख्या विधि है अर्थात् 'मैं ब्रह्म' के अलावा प्रतीतियाँ हटाने के लिये कहा है, 'मैं ब्रह्म' तो श्रवण-मनन से निश्चय हो ही चुका। ब्रह्मरूपता का पहले निश्चय हो चुका है, केवल विपरीत वासना को हटाना है। मुझे कभी 'मैं देह' ऐसा विपर्यास, विपरीत ज्ञान होता ही नहीं। एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जब मैं अपने साक्षिभाव से दूर होऊँ इसलिये निदिध्यासन भी मेरे लिये नहीं। श्रवण मनन निदिध्यासन तीनों मेरे लिये नहीं। जो अकर्ता है वह तो सर्वकर्मसंन्यास कर नहीं सकता। कर्मों को छोड़ेगा वही जो कर्म करता है। कर्म को करना, छोड़ना दोनों ही कर्म हैं। मैं दोनों से अतीत हूँ, इसलिये संन्यासी के कर्म भी मेरे नहीं हैं॥ ४७-४८॥

यदि देहात्मबुद्धि नहीं तो जीवन्मुक्ति-काल में मनुष्योचित ही व्यवहार कैसे? मनुष्य तो शरीर ही है, उसे मैं समझकर ही चलना, खाना, बोलना आदि होगा? इसका उत्तर देते हैं—

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।

विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥ ४९ ॥

मैं मनुष्य आदि व्यवहार दीर्घकाल से अभ्यास की गयी वासना से (मैं शरीर) इस विपर्यास (विपरीत निश्चय) के बिना भी होता है।

'मैं शरीर हूँ' ऐसी प्रतीति हुए बिना ही दीर्घ कालीन जो शरीर-मन-इन्द्रियों का व्यवहार रहा है उस अभ्यास के कारण व्यवहार संभव है। पेड़ की डाली को खींचकर तुमने नीचे किया पर छोड़ते ही पूर्व स्थिति में चली जाती है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन दीर्घकाल के अभ्यास से, व्यवहार में प्रवृत्त हो जाते हैं। दीर्घकाल तक मैंने मनुष्योचित व्यवहार किया है अतः शेष जीवन वैसा बीतता है। मनु की सन्तति मनुष्य कहलाती है। सन्तति शरीर से और बुद्धि से उत्पन्न होती है। शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर का भी जन्म अर्थात् सम्बन्ध हुआ। सूक्ष्म

शरीर तो सृष्टि के आदि में बन जाता है, वह हर जन्म में पैदा नहीं होता पर वह स्थूल शरीर में रहने पर ही कार्य कर सकता है। स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर का संबंध पैदा हुआ तो 'मैं पैदा हुआ' ऐसी प्रतीति होती है। जन्म से शरीर मानव का है और शिक्षा में मनःसंस्कार मानव के हैं तो व्यवहार मानवीय ही होगा। आचार्य-उपदेश से जो द्विजता मिलती है, 'दूसरा जन्म' होता है, उससे बुद्धि में मानवता आती है।

मनु ने जीवन के सारे नियमों को बताया है। उनके अनुसार चलने पर ही हम मनुष्य बने। अब मनुष्य के संस्कार हमारे अन्दर हैं, उनका अभ्यास बना है अतः मनुष्योचित व्यवहार ही जीवन्मुक्त-दशा में होता है। पाप के संस्कार शरीर-मन में हैं ही नहीं। चिराभ्यस्त वासना है ही मनुष्योचित कार्य की, इसलिये तदनुकूल ही व्यवहार होता है। मानव योनि में उत्पन्न हुए ज्ञानी का आचार मनुष्योचित ही होगा। देखने वाले को लगता है कि 'यह मनुष्य अपने को समझता होगा तभी मनुष्योचित खाता है।' किंतु केवल चिराभ्यस्त वासना से वैसा हो जाता है। 'मैं शिव हूँ' इसकी जगह 'मैं मनुष्य देह हूँ' ऐसा उसका विपर्यास नहीं होता, विपरीत ज्ञान नहीं होता ॥ ४६ ॥

व्यवहार-निवृत्ति भी कोई प्रयोजन नहीं जिसके लिये किसी साधन को अपनाना पड़े यह बताते हैं—

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते।

कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद् ध्यानसहस्रतः ॥ ५० ॥

प्रारब्ध कर्म क्षीण होने पर व्यवहार समाप्त होता है। कर्म क्षीण न होने तक हज़ारों ध्यानों से भी यह निवृत्त होगा नहीं।

अज्ञदशा में व्यवहार क्लेशप्रद होने से विद्वान् से भी आशा रखते हैं कि व्यवहार समाप्त करेगा, इसके लिये भूमिकारोहण आदि ध्यानों का प्रयास करेगा। किंतु आचार्य कहते हैं कि जो व्यवहार अनिवार्य उसे ध्यानादि से भी हटा नहीं सकते और बाधित रहने से बाकी व्यवहार भी हटाने योग्य लगता नहीं। इस जन्म में जो सुख-दुःख भोगने हैं उनका निर्णय ईश्वर-संकल्पात्मक प्रारब्ध है। जब प्रारब्ध समाप्त होगा तब व्यवहार स्वयं निवृत्त होगा। भावी जन्म असंभव हैं क्योंकि कर्माशय जल चुके। परमेश्वर-संकल्प होने से प्रारब्ध बलवान् है। प्रारब्ध मंद, तीव्र तीव्रतर भेद से तीन तरह का होता है। लौकिक पुरुषार्थ, चेष्टा आदि से मिटे वह मन्द, पारलौकिक साधनों से मिटे वह तीव्र और केवल भोगकर ही मिटे वह तीव्रतम है। सिरदर्द आदि लौकिक दवा से दूर होते हैं। उनका दुःख मंद प्रारब्ध का फल है। ऐसे ही सुख का भी मन्द प्रारब्ध होता है तो लौकिक उपाय सफल हो जाते हैं। तीव्र प्रारब्ध के लिये यज्ञादि, योगादि शास्त्रीय उपाय ही अपेक्षित हैं। दवा आदि से पुत्रलाभ न होने पर भी पुत्रेष्टि आदि से हो जाता है। किंतु तीव्रतर वह प्रारब्ध है जो भोगना ही पड़ेगा, कोई प्रयास उसे परिवर्तित कर नहीं सकता। जब प्रारब्ध समाप्त होगा तब कारण न रहने से नाम-रूपादि कोई व्यवहार नहीं रहेगा, तब व्यवहार निवृत्त हो इसके लिये किसी साधन की जरूरत नहीं। चाहे हज़ारों प्रयत्न करें, ध्यानादि अभ्यास करें तो भी तीव्रतर भोगना ही

पड़ेगा एवं प्रारब्ध-समाप्ति पर व्यवहार नहीं ही रहेगा। ऐसे प्रारब्ध का उदय होने पर तो समाधि भी भंग हो जाती है। अतः तीव्रतर प्रारब्ध के फलस्वरूप होने वाले व्यवहार के क्षयार्थ यत्न निरर्थक है।। ५०।।

तीव्रतर का विरोध अनावश्यक होने पर भी मंद व तीव्र का ही शमन विद्वान् क्यों नहीं करता? इसका उत्तर देते हैं—

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद् ध्यानमस्तु ते।

अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः।। ५१।।

तुम्हें व्यवहार की अल्पता अभीष्ट हो तो ध्यान करो। व्यवहार से मुझे कोई बाधा नहीं यह अनुभव करता मैं क्यों ध्यान करूँ?

विरल अर्थात् कम। जीवन चलने के लिये अनिवार्य से अतिरिक्त व्यवहार घटाने पर व्यवहार 'विरल' रह जाता है। व्यवहार घटाना वही चाहेगा जो उससे असुविधा अनुभव करे। विद्वान् ऐसे को प्रेरणा ही देता है कि अधिकाधिक अन्तर्मुख बने। किंतु स्वयं उसे व्यवहार की असत्यता का स्पष्ट भान रहते उससे कोई असुविधा ही नहीं तो क्यों हटाने का यत्न करे! व्यवहार हो तो घटाया भी जाये, जिसे 'व्यवहार नहीं है' मालूम है, वह घटाये क्या! व्यवहार-सत्यता प्रतीत होने पर ही उसे हटाने की इच्छा व कोशिश होगी, एकमात्र परमात्मा सत्य जानने पर, स्वयं का अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व जानने पर न इच्छा, न प्रयत्न होगा।। ५१।।

बाधा न पहुँचाये तो भी विक्षेप निवारणीय ही है, उसे हटाने का प्रयास क्यों नहीं करते? इसका उत्तर देते हैं—

विक्षेपो नास्ति यस्माद् मे न समाधिस्ततो मम।

विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद् विकारिणः।। ५२।।

मुझ आत्मवस्तु का न विक्षेप है अतः समाधि भी नहीं है। विकारी मन के ही समाधि व विक्षेप हैं।

'आधि' अर्थात् मानस पीडा। वही शरीर में प्रकट होकर 'व्याधि' कहलाती है। यदि आधि का मानस-नियन्त्रण से संहार कर लिया तो समाधि हो गयी। चित्तवृत्तियों के निरोध को ही समाधि कहते हैं। विक्षेप अर्थात् बिखराव। मन ही विभिन्न विषयों में बिखरता है, अनेकों से राग-द्वेषादि सम्बन्धों वाला बनता है। आत्मा निर्विकार असंग होने से न बिखर सकता है, न समेटा जा सकता है। विभिन्न वृत्तियों के रूप में विकृत, परिवर्तित होने वाला मन ही बिखरता है अतः समेटा भी जा सकता है। मैं आत्मा न बिखर सकता हूँ अत एव न समेटा जा सकता हूँ। अतः कृतकृत्य जो मैं आत्मा वह विक्षेप हटाने का भी कोई कृत्य अपने लिये नहीं देखता।। ५२।।

विषयानुभव जैसे आत्मानुभव वृत्तिसापेक्ष नहीं कि तदर्थ प्रयास कार्य रहे यह बताते हैं—

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक्।

कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तम् इत्येव निश्चयः ॥ ५३ ॥

सनातन अनुभवरूप मेरा मेरे बारे में मुझसे अन्य अनुभव कौन-सा है (जिसे संपन्न करूँ)! यही निश्चित है कि करने लायक सब कुछ कर लिया, पाने लायक सब पा लिया।

समाधि में परमात्मा का अनुभव होता है, कामना की निवृत्ति भी होती है, स्वरूपस्थिति भी होती है। पतंजलि ने कहा है 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' समाधिकाल में आत्मस्वरूप में स्थिति होती है। इसके लिये समाधि का अभ्यास क्यों न किया जाये? इसपर कहा कि मैं नित्य अनुभवरूप ही तो हूँ। सच्चिदानन्दरूप ही हूँ। इसलिये मुझ से कोई अलग अनुभव होवे ऐसा नहीं। समाधि में अनुभव होता है, यह ठीक है। एक बार उस अनुभव में स्थिति हुई, तो फिर समाधि से नया अनुभव क्या होगा? अब तो उस स्वरूप में ही स्थिति है। अतः समाधि से कोई दूसरा अनुभव होगा नहीं। जब तक आत्मा का अनुभव दृढ़ हुआ नहीं, तब तक समाधि ज़रूरी, जब वह अनुभव स्पष्ट हो गया, तब समाधि से भी प्रयोजन नहीं। करने योग्य जो काम था वह सब हो गया। प्राप्त करने योग्य सभी प्राप्त हो गया, अब यही निश्चय है ॥ ५३ ॥

सारे शास्त्रों का तात्पर्य आत्मदर्शन में है, उसके बाद सब कामनायें निवृत्त हो जाने से कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। नित्य अनुभवस्वरूप का आगे कोई अनुभव नहीं होता 'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्' से याज्ञवल्क्यने यही स्पष्ट किया है। अतः दृढ़ बोध के बाद न क्रियारूप व न ज्ञानरूप कोई कार्य रह जाता है।

तदनन्तर ईश्वरेच्छामात्र प्रवृत्त होती है यह बताते हैं—

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथापि वा।

ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥ ५४ ॥

अकर्ता और असंग मेरा लौकिक या शास्त्रीय व्यवहार प्रारब्धानुसार चलता रहे।

व्यवहार का मतलब है नाम-रूप का देश-काल में परिवर्तन। एकदेश से दूसरे देश में जाओ तो गमन क्रिया होगी। एक चीज़ को दूसरी जगह रखोगे तो उठाना और रखना क्रिया होगी। सब्जी को छीलोगे तो संस्काररूप क्रिया होगी। किसी चीज़ में विकृति पैदा करोगे जैसे दूध को फाड़ना, तब क्रिया होगी। उत्पत्ति, प्राप्ति, संस्कार, विकार—क्रिया से ये चार चीज़ें ही हो सकती हैं। घड़े को बनाया अर्थात् पूर्व काल में वह नहीं था, दूसरे काल में पैदा किया। सब देशों में जो व्यापक है, उसमें देश का परिवर्तन सम्भव नहीं। वह हर जगह पहले से है। जो सब कालों में है उसमें काल-परिवर्तन नहीं। उसकी उत्पत्ति कैसे होगी? जो नित्य शुद्ध है उसमें संस्कार कैसे करोगे? किसी भी क्रिया का वह विषय नहीं होता। व्यवहार सब क्रिया ही हैं। इसलिये चाहे लौकिक हो या शास्त्रीय, इन दो से अलग और कुछ व्यवहार हो नहीं सकता। मैं आत्मस्वरूप अकर्ता हूँ, क्योंकि व्यवहार सर्वदेश, सर्वकाल सर्ववस्तुओं

में व्यापक मुझमें हो नहीं सकता। किसी भी क्रिया का मेरे साथ कोई संसर्ग नहीं हो सकता और मैं अलिप्त हूँ अतः माया के कार्यों से मुझ में कोई संसर्ग आ जाये यह भी सम्भव नहीं है। अतः ये सारे व्यवहार जैसा प्रारब्ध है वैसे रहें।

जब शरीर जन्म लेता है तब परमेश्वर संकल्प करता है कि 'इस शरीर से ये फलभोग होंगे।' भोग में जीव परतंत्र है, जो प्रारब्ध में है वह भोगना ही है। करने के विषय में जीव को कुछ स्वतंत्रता है। तुम कुछ नहीं कर सकते, सब कुछ निश्चित है—यदि यह पक्ष हो तो सारे शास्त्र, आयुर्वेद योगशास्त्र आदि व्यर्थ होंगे। अतः भगवान् बादरायण ने कहा कि जीव ही कर्ता है। गीता में भगवान् ने भी यही कहा है कि तुम्हें कर्म में अधिकार है। फल देने का ईश्वर को अधिकार है। इसमें जीव कुछ नहीं कर सकता। जब तक मैं जीव हूँ तब तक प्रारब्ध तो परतंत्र होकर भोगना ही है पर स्वतंत्र होकर कर्म करता हूँ। तत्त्वबोध से यह पता लगा कि जीवभाव अविद्या से है। चिज्जडग्रन्थि के कारण कर्तापना प्रतीयमान है। केवल चित् में या केवल जड में कर्तापना नहीं है। जब यह पता लग गया तब कर्म करने की जो स्वतन्त्रता है वह भी नहीं रही! प्रारब्ध में अब कोई परिवर्तन करने का मेरा प्रयत्न नहीं है। अतः प्रारब्ध-भोगनामात्र बचता है, कुछ भी करना शेष नहीं रहता है। शरीर-मन ईश्वर-आज्ञा से प्रवृत्त होते रहेंगे। इसी को आचार्य शंकर ने कहा है 'प्रारब्धाय समर्पितं स्ववपुः' मेरा स्थूल और सूक्ष्म शरीर प्रारब्ध को समर्पित हैं।। ५४।।

शास्त्रों में ज्ञानियों की दो तरह की स्थितियाँ बतायीं—एक में करुणा का उद्देग है, दूसरी में प्रज्ञा ही है, करुणा नहीं। परमेश्वर तो करुणाविग्रह है। जीव स्वप्रयत्न से परमेश्वर-दर्शन नहीं पाता तो भगवान् करुणापूर्वक स्वयं दर्शन देते हैं जैसा गीता में कहा कि 'मृत्युसंसारसागर से मैं उद्धार करता हूँ'। परमात्मा में तो करुणा व ज्ञान दोनों असीम हैं पर सब ज्ञानियों में ये नहीं होते। जिनमें करुणा भी होगी वे लोगों का उद्धार करना चाहेंगे, उन्हीं को भगवान् ने लोकसंग्रही कहा। सब तत्त्ववेत्ता लोकसंग्रही हों ऐसा नियम नहीं, करुणावान् ज्ञानी लोकसंग्रही होगा। वह कर्म करके अज्ञानी को अपने उदाहरण से प्रेरित, प्रशिक्षित करता है कर्म करने में। इस तरह के ज्ञानी के अभिप्राय से कहते हैं—

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया।

शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः।। ५५।।

अथवा लोगों पर अनुग्रह की इच्छा से शास्त्रीय ही मार्ग से व्यवहार करूँ, मुझे क्या हानि है!

पूर्व में सारे व्यवहारों से दूरी कही थी। यहाँ शास्त्रीय व्यवहार ज्ञानी करे तो भी उसे हर्ज नहीं यह बताया अतः 'अथवा' से पक्षान्तर सूचित है। स्वयं को प्रयोजन न होने पर भी विद्वान् से प्रेरित हो अन्य श्रद्धालु अपना कल्याण करें इसलिये विद्वान् उन्हें समुचित शिक्षा देने के लिये योग्य व्यवहार करेगा। इससे उसे कोई पुण्यादिका बंधन नहीं होगा क्योंकि उसमें कर्तृत्वबोध नहीं है। करुणा ही इसमें प्रेरक है। आचार्य शंकरादि तत्त्वनिष्ठा पाने के बाद भी

सब जीवों के उद्धार की इच्छा से ही ग्रंथरचना, दिग्विजय आदि में प्रवृत्त हुए, न कि किसी निजी लाभ के लिये। कर्तव्य, प्राप्तव्य न रह जाने पर भी करुणावश शास्त्रीय मार्ग प्रशस्त करे—यह लोकसंग्रही तत्त्वज्ञानी के लिये स्वाभाविक है।। ५५।।

शास्त्रीय मार्ग ही बताते हैं—

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्त्ततां वपुः।

तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम्।। ५६।।

शरीर देवपूजा, स्नान, सफाई, भिक्षा आदि करता रहे, वाणी प्रणव जपती रहे या वेदान्तों का उच्चारण करती रहे।

भगवान् की पूजा, प्रातः स्नान आदि कृत्य ज्ञानी करता है ताकि दूसरे प्रवृत्त हों। शुद्धि रखने का प्रयास, शास्त्रानुसार भोजन इत्यादि कार्यों को शरीर करे तो ज्ञानी को हानि नहीं, श्रद्धालु अज्ञानी को लाभ है। इसमें भी, 'मैं कर रहा हूँ' यह भावना ज्ञानी में नहीं आयेगी। शरीर आदि ऐसा व्यवहार करेंगे, ज्ञानी में कर्त्तापना नहीं है। वाणी जप करती रहे या वेदान्त-कथन करती रहे तो भी ज्ञानी को फर्क नहीं पड़ता और शिष्यादि को सच्छिक्षा मिलकर उनका कल्याण हो जाता है। ज्ञानी भी वर्णाश्रमानुसार ही व्यवहार करके प्रेरणा देगा अतः यहाँ मुख्यतः संन्यासी के लिये उचित कर्म गिनाये।। ५६।।

कृतकृत्यता का उपसंहार करते हैं—

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम्।

साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये।। ५७।।

बुद्धि चाहे विष्णु का ध्यान करे चाहे ब्रह्मानन्द में डूबे, मैं साक्षी हूँ, इस सबमें न कुछ करता हूँ न कराता हूँ।

बुद्धि भगवान् विष्णु का, सगुण ब्रह्म का ध्यान करे या निर्गुण ब्रह्म का जो आनन्द है, उसमें लीन हो जाये, ज्ञानी के लिये अंतर नहीं। पिछले श्लोक में शरीर-वाणी के कर्म कहे, यहाँ बुद्धि-कर्म बताये। जो साधक परमार्थ वस्तु समझ पाते हैं, उनके लिये तो निर्गुण निराकार बुद्धि का विषय होता है। जो उसे समझ नहीं पाते, उनके लिये सगुण साकार ध्येय है। सगुण-निर्गुण दोनों का ध्यान इसलिये कह दिया। 'विष्णु' इसलिये कहा कि परमेश्वर की व्यापकता सूचित हो। परमात्मा सारे संसार में व्यापक, प्रविष्ट है, इसी लिये उसे विष्णु कहते हैं। वही सबमें रहने वाला तत्त्व है। विष्णु शब्द का प्रयोग कर उसकी व्यापकता को बताते हैं। वह किसी एकदेश में होने वाली चीज़ नहीं। सभी नाम-रूपों में जो विद्यमान है वह विष्णु है। सभी नाम-रूपों में विद्यमान सगुण हो गया, नाम-रूपका बाध करके वही निर्गुण हो गया। दोनों प्रकार के साधकों को शिक्षा देने के लिये दोनों तरह के ध्यान विद्वान् कर सकता है। पर ये सब करते हुए भी उसे 'मैं कर रहा हूँ, करा रहा हूँ' ऐसा अभिमान नहीं होता। आत्मज्ञान से पहले ये सब कर्म आदमी करेगा अतः इन्हीं की वासनायें होंगी, तदनुकूल ही

१४७० पञ्चदशी

आचार होगा। 'शरीर-मन ये सब करें, मैं तो केवल साक्षी हूँ'—ऐसा उसका निश्चय रहने से करते हुए भी 'कर्ता हूँ' ऐसा कोई भाव नहीं बनता है। 'मैं करवाता भी नहीं हूँ' अर्थात् मैं शरीर-मन को प्रेरणा भी नहीं देता, करने से रोकता भी नहीं हूँ। कारण कि मुझे कृतकृत्यता प्राप्त हो गई। मेरे शरीर के आचरण से लोगों का कल्याण होता है तो भले ही हो, इतने से मुझमें कोई अंतर नहीं॥ ५७॥

विद्यानन्द का चौथा प्रकार समझाते हुए तृप्तिदीप-श्लोक ही उद्धृत करते हैं—

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।

तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम्॥ ५८॥

कृतकृत्यता से तृप्त हुआ फिर 'प्राप्तव्य पा लिये' इससे भी तृप्त होता हुआ वह अपने मनसे निरन्तर यों विचार करता है।

जो करना था वह सब कर लिया—जैसे इसकी तृप्ति है, वैसे जो प्राप्त करना था वह प्राप्त कर लिया इसकी भी तृप्ति है। तृप्तिका अनुभव मन में होगा, साक्षी को तृप्ति का अनुभव नहीं है। जब तक प्रारब्ध है, शरीर-मन हैं, तब तक मन इस तृप्ति का अनुभव करता है। बीच में एक क्षण भी ऐसा नहीं जब तृप्ति का अनुभव न हो। जो विचार उसके मनमें आते हैं वे ही आगे के श्लोकों में व्यक्त हैं॥ ५८॥

प्राप्त-प्राप्तव्यता की तृप्ति की अभिव्यक्ति सुनाते हैं—

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ।

धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम्॥ ५९॥

सदा स्वात्मा को स्पष्ट जानता हूँ, ब्रह्मानन्द मुझे साफ भास रहा है अतः मैं धन्य हूँ। मैं धन्य हो गया। धन्य अर्थात् धन के योग्य। बाकी धन तो आगमापायी है। अपना परमात्मस्वरूप जाने-आने वाला है नहीं अतः इसकी प्राप्ति ही सच्चे धन की प्राप्ति है। मीरा ने कहा है 'ऐसे वर को क्या वरूँ, जो जन्मे और मर जाये।' मरण संसार के पदार्थों का स्वरूप ही है। परमात्मस्वरूप ही असली धन है। उस धन के मैं योग्य हो गया। वह धन हमेशा ही अपने स्वरूप से प्रतीयमान है। मन उसके प्रति जागरूक ही रहता है। ज्ञानी को सच्चिदानन्द स्पष्ट रूप से भान होता है। सत्-चित् का भान तो प्रायः लोगों को सहन हो भी जाता है भले ही कठिन है पर आनन्द को उसका स्वरूप नहीं मानते! 'उसका भान होने से दुःख का अभाव हो जायेगा, मोक्ष में दुःखाभाव है' इतना ही मानते हैं। वेदान्त कहता है कि वह सत् चित् ही नहीं, आनन्दरूप भी है, मोक्ष में परमानन्द की स्थिति है। आनन्द नित्य है, पहले जाना नहीं था, अब स्पष्ट ही उसका प्राकट्य है॥ ५९॥

मोक्ष का आनन्द दुःख का सहचर नहीं, तत्त्वज्ञान भी अज्ञान का साथी नहीं—यह कहते हैं—

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।

धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याऽज्ञानं पलायितं क्वापि॥ ६०॥

मैं धन्य हूँ क्योंकि अब सांसारिक दुःख का अनुभव नहीं करता एवं मेरा अज्ञान कहीं भाग गया है।

मैं धन्य हूँ। मन में जो पुराने संस्कार दुःख के हैं, उनसे स्मृति हो जाती है तभी तृप्ति का भान होता है। अब ज्ञान होने के बाद सांसारिक दुःखों का अनुभव नहीं करता। ब्रह्मानन्द-समुद्र में गोता लगा चुका मैं, किसी भी दुःख का अनुभव नहीं करता हूँ। संसार-यात्रा में यही बताया जाता है कि पाप से दुःख होता है। जब अपने स्वरूप का पता चलता है तब ऐसा नहीं लगता कि 'अब दुःख दूर हो गये' वरन् लगता है कि कभी थे ही नहीं। अपने ब्रह्मानन्दरूप को न जानने से, अज्ञान के कारण मन में होने वाले दुःखों को अपना मान लेता था। मन नहीं है, जैसे निद्रा में, तो दुःख भी नहीं है। 'मन से अलग हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होने से 'मैं' दुःखी होता रहा हूँ। अब वह अज्ञान कहीं भाग गया! भगवान् भाष्यकार कहते हैं (विवेकचू.) कि 'अभी-अभी जो दीख रहा था, वह कहाँ चला गया? यह जगत् कहाँ चला गया? प्रतीति थी वह हट गई, क्या आश्चर्य है कि जो अभी दीख रहा था वह है ही नहीं!' इस प्रकार निरन्तर विचारते हुए आनन्द में रहता है। विद्यानन्द के लिये प्रतियोगी का विचार चाहिये। किसी की भयंकर बीमारी का सुनते हैं तो भावना आती है, 'ईश्वर मेरे साथ ऐसा न हो'। उतनी देर 'मुझे यह बीमारी नहीं है'—इसका सुख अनुभव होता है। बीमारी भूल जाने पर अपनी नीरोगिता से कोई तृप्ति नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार जीवन्मुक्ति में सांसारिक दुःखों को देखकर विद्वान् को आनन्द का अनुभव होता है।। ६०।।

कृतकृत्यतादि का उल्लेख-पूर्वक धन्यता कहते हैं—

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित्।

धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम्।। ६१।।

मेरा अब कोई कर्तव्य नहीं, पाने योग्य सब मिल गया, मैं धन्य हूँ।

मनुष्य के जीवन में, हमेशा कोई-न-कोई काम सामने रहता है—इहलौकिक, पारलौकिक, या पारमार्थिक। इन सब स्तरों पर कर्तव्य की प्राप्ति है। करने लायक काफ़ी है, नहीं करने पर ग्लानि होती है। सांसारिक कर्म पूर्ण न होने पर एक तरह के दुःख का अनुभव होता है। ऐसे ही पारलौकिक कर्म के विषय में है। जैसे गोदान के लिये गाय, या उसे लेने वाला ब्राह्मण नहीं मिले तो ग्लानि होती है। इसी प्रकार वेद ने आज्ञा दी कि आत्मा का दर्शन करो। केवल शब्दों से जानना ज्ञान नहीं, अनुभव-पूर्वक जानने को कहा है। शास्त्र के शब्दों से ज्ञान और तत्त्व का अनुभव विज्ञान है। श्रुति आत्मा के साक्षात् अनुभव को कर्तव्य कहती है। जिसने शास्त्रों का अध्ययन एवं सत्य का साक्षात्कार किया हो, कोई संशय उसको नहीं हो, ऐसा गुरु न हो तो विज्ञान हो कैसे? परमार्थ कार्य सिद्ध नहीं कर सकें तो भी ग्लानि होती है। ये तीन प्रकार के कर्तव्य हैं—इहलौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक। कर्तव्य के लिये अधिकार का भी विचार है। अधिकार शरीर आदि को लेकर ही निर्धारित किया जाता है। वर्ण शरीर का ही होगा। मैंने समझ लिया कि मैं कभी न शरीर था, न हूँ, न रहूँगा। शरीर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल अज्ञान, भ्रम से सम्बन्ध है। शरीर पैदा होने वाला व मरने वाला। मैं न पैदा होने वाला, न मरने वाला, मैं तो मरकर स्वर्ग-नरक भी जाऊँगा

अर्थात् मैं मरा नहीं, मरता तो शरीर है, मैं नहीं। शरीर को लेकर ही इहलोक और परलोक के कर्म हैं। ज्ञानी जानता है कि मैं शरीर नहीं क्योंकि वह जन्मने-मरने वाला है। शरीर मैं नहीं तो मेरा कोई कर्तव्य नहीं। ऐसे व्यक्ति का केवल पारमार्थिक कर्तव्य ही बचता है। मैं शरीर नहीं पर दुःख का अनुभव तो कर ही रहा हूँ। दुःख-सुख सूक्ष्म शरीर में होते हैं। इनकी निवृत्ति का एकमात्र उपाय परमेश्वर का साक्षात्कार है। परमेश्वर के ज्ञान से ही संसार से तर सकते हो; दुःख से परे जा सकते हो। परमेश्वर का ज्ञान कैसे हो? उपनिषद् ने बताया है कि आत्मदर्शन के लिये शम-दम आदि आवश्यक हैं।

चिन्ता से शान्ति आयेगी कैसे! इसलिये मन का शमन करे, इन्द्रियों का दमन करे। भगवान् ने कहा है कि इन्द्रियाँ मनको बलपूर्वक खींचकर बाहर ले जाती हैं। कामना मन, बुद्धि, इन्द्रियों में रहती है 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते'। जैसे बुद्धि को मन विचलित करता है वैसे इन्द्रियाँ मन को विचलित कर देती हैं। जबरदस्ती इन्द्रियाँ तुम्हारे मन को खींचकर ले जाती हैं। अनेक साधक कहते हैं कि मन शांत होगा तो इन्द्रियाँ शान्त हो जायेंगी। पर इन्द्रियों का अलग से दमन शास्त्र ने विहित किया। ये सब करने से परमात्मदर्शन का अधिकार आयेगा। यह किया कैसे जाये? इन्द्रियों को नष्ट करने से तो होगा नहीं अतः परमात्मा का जो सगुण रूप है, उसमें मन को तथा इन्द्रियों को एकाग्र करने से शान्ति-दान्ति आयेगी। इसलिये विभिन्न प्रकार की सगुण उपासनाओं का निरूपण वेद ने किया। जब यह शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, समाधान आ जाये तब श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु को प्राप्त कर ब्रह्मविज्ञान की प्राप्ति होगी। अगर गुरु की प्राप्ति नहीं होती तो भगवान् की उपासना से वही सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म के दर्शन के लिये उपदेश दे देता है। क्योंकि सगुणरूप में है, इसलिये उपदेश दे देता है। भगवान् ने गीता में कहा 'ददामि बुद्धियोगं तम्'। जिसने इन उपायों से परमात्मसाक्षात्कार पा लिया उसका ऐहलौकिक कर्तव्य नहीं, पारलौकिक नहीं और पारमार्थिक भी नहीं रहा; कोई भी कर्तव्य तब रहा नहीं जब परमार्थ की प्राप्ति हो गई। परमात्मा ही ऐसा है जिसका साक्षात् अनुभव करने से सब चीजें अनुभूत हो जाती हैं। उसी एक के विज्ञान से सबका विज्ञान हो जाता है। यह उपनिषद् का घोष है कि ब्रह्म-प्राप्ति हो गई तो सब कुछ प्राप्त हो गया। यदि मन में संकल्प होता भी है तो उसके लिये कुछ अन्य प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जो कुछ भी प्राप्त करने लायक है, उसी समय मिल जाता है। उपनिषद् ने कहा है कि आत्मज्ञानी से मनुष्य भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त कर सकता है। ऐसा बोध पाने से मैं कृतकृत्य हूँ, प्राप्तव्य सब पा चुका हूँ॥ ६१॥

तृप्ति की निरङ्कुशता, असीमता प्रकट करते हैं—

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।

धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥ ६२ ॥

मुझे जो तृप्ति है, संसार में उसकी उपमा कौन हो! मैं बारम्बार धन्य हूँ।

मुक्त को अद्वैत भासता है अतः स्वयं को अनुपम, उपमा-रहित जानता है। वह साक्षी है और एक ही है। ब्रह्मबोध 'मैं ब्रह्म' इसी प्रकार से होता है अतः मुक्त ब्रह्म से भी भिन्न नहीं कि 'ब्रह्म की तरह हूँ' यों ब्रह्म को उपमा बनाये। अन्य ज्ञानी होंगे—यह सम्भावना

साक्षिरूप से स्थिति के कारण मिट गयी अतः उन्हें दृष्टान्त नहीं बना सकते। लोक अर्थात् संसार तो सारा द्वैत से, कमियों से ग्रस्त है अतः अद्वैत या पूर्ण के लिये उपमा नहीं बन सकता। इसलिये कहा कि मेरी उपमा बने कौन! तृप्ति होने पर उपमा की आवश्यकता भी नहीं रहती। धन्यता अज्ञाननिवृत्ति-पूर्वक ब्रह्मप्राप्ति से है। अज्ञाननिवृत्ति से उपलक्षित चेतन मोक्ष में रहता है। अज्ञाननिवृत्ति का परामर्श रहते धन्यता का स्पष्ट उल्लेख भी जीवनदशा में बना रहता है। यहाँ जो धन्यता कही जा रही है वह मुमुक्षु को उत्साह-पूर्वक साधना में प्रेरणा के लिये है। हर प्रकार से धन्यता केवल तत्त्वज्ञान से प्राप्त होगी अतः उसके लिये सप्रयत्न बनना ही उचित है।। ६२।।

इस स्थिति तक पहुँचाने वाली पुण्यनामक ईश्वरप्रसन्नता है अतः उसकी स्तुति करते हैं—

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।

अस्य पुण्यस्य सम्पत्तेरहो वयम् अहो वयम् ।। ६३।।

पुण्य की महिमा अपार है, वही अब स्थिररूप से फलशाली बना है। यही पुण्य पाने से हम भी महान् हैं!

साधारण पुण्य भी सुख देता है किंतु नश्वर। जो पुण्य मुमुक्षा, विविदिषा का हेतु है वह अंत में नित्य सुख देता है। मुक्त हो मैंने वह आनंद पाया जो न पैदा होता है, न नष्ट होता है। महर्षि पतंजलि ने कर्मों का विचार करते हुए कहा है कि कुछ कर्म सुख, कुछ दुःख, (पापकर्म) कुछ कर्म सुख और दुःख दोनों और कुछ कर्म दोनों ही नहीं देते। परमात्म-प्राप्ति के लिये जो अभ्यास है, वह न सुख देता है न दुःख देता है, वह तो इस आनंद को देता है! आनन्द सुख की जाति का होने से उसे पुण्य कह सकते हैं। जिसका फल हुआ वह भी पुण्य और उसका फल भी पुण्य है। अथवा सारे शुभ कर्मों का फल है परमात्मा के, ब्रह्म के दर्शन की इच्छा हो जाना। जब तक शुभ कर्म इकट्ठे नहीं होते तब तक परमात्मा की तरफ जाने की इच्छा ही नहीं होती। इच्छा यदि हो गई तो अनेक जन्मों के पुण्य फलित हो गये। मेरे पुण्य इकट्ठे हो गये तभी ब्रह्मदर्शन की इच्छा हुई। पुण्य सुख देने वाली चीज़ है और इच्छा दुःख देती है। परमेश्वर-दर्शन की इच्छा हो जाये और दर्शन होवे नहीं तो दुःख होगा। पुण्य कर्म से दुःख संभव नहीं। अतः वह कर्म केवल इच्छा ही नहीं, परमात्मज्ञान के सारे साधनों को भी एकत्रित कर देता है। जब तक परमात्मदर्शन न होवे तब तक शुभ कर्म करते ही रहो। केवल इच्छा ही नहीं, पूर्णता भी इनसे होती है। इच्छा की पूर्ति हो जाये, शरीर ठीक रहे अन्य चीज़ें अनुकूल हो जायें—यह भी पुण्य का ही फल है। शुभ कर्म ब्रह्मज्ञान की इच्छा भी पैदा करते हैं फिर ब्रह्मज्ञान तक साथ देते हैं। ज्ञान कर्म से नहीं होगा, वह तो श्रवण-मनन से होगा, पर उसके लिये परिस्थितियाँ अनुकूल हों यह पुण्य का फल है। एक पुण्य फलित यह हो गया कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो गई। ज्ञान भी सर्वथा संशय से रहित दृढ है कि मैं उस भाव से क्षणमात्र भी विचलित नहीं होता। संशय विपर्यास से रहित निश्चित ज्ञान हो गया है। सारे पुण्यों की सम्पत्ति यही है। परमेश्वर का मिलना ही 'सम्पत्ति' है। शास्त्रों में कहा है 'विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः' जिसको लोक में विपत्ति या सम्पत्ति कहते हैं, वह विपत्ति या सम्पत्ति नहीं है।

‘स्वस्वरूपं भवेत् सम्पत्’ अपना जो स्वरूप है वही सम्पत्ति है ‘तदन्यद् विदुषां विपत्’ इसके अलावा सब विपत्ति ही है। माया का कार्य होने से अनात्मा विपत्ति ही है। वह भ्रम से सम्पत्ति मानी जा रही है। आने-जाने वाली सम्पत्ति कैसे होगी? वह तो थोड़े समय के लिये रहने से विपत्ति ही है। ‘अपनी’ चीज़ आत्मस्वरूप सच्चिदानन्द है। इस सद्रूप की प्राप्ति ही पुण्य की सम्पत्ति है। यह लाभ भी हमें एक आश्चर्य है॥ ६३॥

मोक्ष-साधनों की भी विशेषता कहते हैं—

अहो शास्त्रमहो शास्त्रम् अहो गुरुरहो गुरुः ।

अहो ज्ञानमहो ज्ञानम् अहो सुखमहो सुखम् ॥ ६४ ॥

शास्त्र, गुरु, ज्ञान व आनन्द सभी अतिश्रेष्ठ एवं आश्चर्य हैं।

शास्त्र धन्य है। शास्त्र अर्थात् जो शासन करे, उपदेश दे। वह धन्य है जिसने उस सत्य का उपदेश दिया। इसी प्रकार जिस गुरु ने मुझे उस सत्य को बताया वह धन्य है। सारे विकल्प जहाँ हट जाते हैं, जहाँ माया भी हट कर केवल अधिष्ठानरूप से प्रत्यगात्मा रह गया वह ज्ञान धन्य है। उसमें कोई विकल्प नहीं है। सारा जगत् इस मैं में ही कल्पित है। जिसने यह दिखलाया ऐसा गुरु वन्दनीय है। जिस शास्त्र ने उपदेश दिया, जिस गुरु ने उसे दिखला दिया और जो ज्ञान है, सभी आश्चर्य हैं। इनकी संभावना युक्ति से समझ नहीं आती लेकिन फल से स्वीकारना पड़ता है। सुरेश्वराचार्य ने समझाया है कि जैसे सोता आदमी सुन सके यह संभव नहीं पर आवाज सुनकर जगता है अतः स्वीकारना पड़ता है, वैसे मोहहानि अर्थात् अविद्यानिवृत्ति होती है इसलिये गुरुमुख से शास्त्रोपदेश का श्रवण तत्त्वसाक्षात्कार का हेतु स्वीकारना अनिवार्य है। तत्त्वबोध से अनावृत आनन्द भी आश्चर्य है॥ ६५॥

प्रकरण समाप्त करते हैं—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे चतुर्थोऽध्याय ईरितः ।

विद्यानन्दस्तदुत्पत्तिपर्यन्तोऽभ्यास इष्यताम् ॥ ६५ ॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविद्यारण्यस्वामि-विरचितायां पञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥

ब्रह्मानन्द नामक पंचाध्यायी में विद्यानन्द नामक चौथा अध्याय बताया। इस आनन्द की उत्पत्ति तक अभ्यास करते रहना चाहिये।

‘ब्रह्मानन्द’ नाम का पाँच प्रकरणों वाला जो ग्रंथभाग है उसमें चौथे अध्याय को बतला दिया। पंचदशी के क्रम में यह चौदहवाँ है। तत्त्वनिष्ठा के परिपाक से ही इसकी उपलब्धि है अतः ज्ञाननिष्ठा के उपायों का अधिकाधिक अभ्यास तब तक करते रहना पुरुषार्थ है जब तक यह निरंकुश तृप्ति सुरक्षित न हो जाये॥ ६५॥

॥ चौदहवाँ प्रकरण पूरा हुआ ॥

पन्द्रहवाँ

ब्रह्मानन्द में विषयानन्द प्रकरण

अनुकूल प्रारब्ध रहते विद्वान् योगानन्द-अद्वैतानन्द में स्थित रहे अथवा विवेक द्वारा आत्मानन्द के साथ अद्वैतानन्द में रहे। जिस समय प्रारब्धभोग है, संसार की प्रतीति है, परन्तु विशेष विषयों की प्राप्ति नहीं अर्थात् संसार का भान तो है, पर विषय सामने उपस्थित नहीं हो रहे हैं, उस समय मन की वृत्ति विद्यानन्द में लगा ली जाये। जिस समय प्रारब्ध-भोग से विषयों का प्राबल्य है, उस समय कैसे जीवन्मुक्ति का आनन्द लिया जाये? यह बताने के लिये अन्तिम विषयानन्द प्रकरण है। विद्यानन्द में तो पूर्वानुभूत संसार की स्मृति करके, उन दुःखों के अभाव का तृप्तिज्ञान है जबकि इसमें विषयों का ज्ञान है, नाम-रूप का भान है।

प्रकरण का प्रतिपाद्य सूचित करते हैं—

अथाऽत्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक् ।

निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥ १॥

ब्रह्मानन्द का अंश विषयानन्द अब यहाँ बताया जा रहा है। वेद ने उसे ब्रह्मानन्द का अंश बताया है अतः वह उसे पाने में उपाय बनता है।

विद्यानन्द को बताने के बाद विषयानन्द को बतलाते हैं। विषय का आनन्द है लौकिक। लौकिक सभी आनन्द वैराग्य के द्वारा त्याज्य है। विषयों का आनन्द राग से होता है। मोक्षशास्त्र में वैराग्य पहली ज़रूरत है। फिर इसका निरूपण यहाँ मोक्षशास्त्र में कैसे? उत्तर में कहा 'ब्रह्मानन्दांशरूपभाक्'। विषयानन्द भी आनन्द होने से ब्रह्मानन्द का अंश ही है। श्रुति में कहा है कि इस ब्रह्मानन्द के एक छोटे हिस्से से संसार के सारे आनन्द होते हैं। जैसे कमरे का प्रकाश भी सूर्य का प्रकाश है वैसे सभी सुख ब्रह्मानन्द के ही अंश हैं। साक्षात् न सही, प्रतिफलित होकर ही सूर्य कमरे में है, इस तरह कमरे का प्रकाश सूर्य की रोशनी का ही अंश है। इसी प्रकार अंतःकरण की वृत्ति में प्रतिफलित होकर विषयसुख की प्रतीति होती है; प्रतिफलित ब्रह्मानन्द ही हो रहा है इसलिये उसीका अंश कहलाता है। इसलिये ब्रह्मानन्द समझने के लिये वह द्वार बन जाता है। कैसे? श्रुति ने कहा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। ब्रह्म सत्य है, त्रिकालाबाधित है, तीनों कालों में उसका बाध नहीं। संसार की कोई चीज़ तो ऐसी है नहीं। लेकिन संसार का अर्थात् जगत् में देखे का बाध नहीं होता। स्वप्नमें जाग्रत् का बाध नहीं होता कि 'जाग्रत् में ऐसा दीखा था वह झूठ था'। सपने में हमें यह नहीं लगता

कि यह सपना है। 'मैंने ऐसा सपना देखा था' यों स्वप्न की चीज़ का तो जाग्रत् में बाध हो जाता है पर जाग्रत् की चीज़ का स्वप्न में बाध नहीं होता। सुषुप्ति में तो अन्तःकरण है ही नहीं अतः न प्रमा, न भ्रम, न बाध है। जाग्रत् में जिसका बाध नहीं होता, उसका बाध व्यवहार में कभी नहीं होता। अतः जाग्रत् की चीज़ों को व्यवहार में सत्य कहते हैं। व्यवहार-काल में बाध नहीं होता—यह व्यावहारिक सत्यता है। जिसके त्रैकालिक अत्यन्ताभाव का निश्चय हो जाये वह मिथ्या है। जिसका बाध नहीं हो सकता वह पारमार्थिक सत्य है। इस प्रकार व्यावहारिक सत्य से हमें पारमार्थिक सत्य समझने का रास्ता मिल जाता है। ऐसे ही व्यवहार का जो विषयानन्द है उसको समझने से हमें ब्रह्मानन्द-प्राप्ति का मार्ग मिलता है इसलिये उसे द्वारभूत कहा। अभी विषयसुख ब्रह्मानन्द का अंश है ऐसा प्रतीत नहीं होता। जैसे साधारण दृष्टि से गहनों में सोना प्रतीत होता है, विचार-दृष्टि से सोने में गहना निर्धारित होता है वैसे अभी नाम-रूपों में सत्ता, सुख दीखते हैं, विचार से ही समझ आएगा कि सच्चिदानन्द में नाम-रूपात्मक जगत् है। जैसे रस्सी की लम्बाई साँप में दीखती है ऐसे ब्रह्म का आनन्द विषयों में दीखता है। इस तरह समझने से विषयानन्द ब्रह्मानन्द-प्राप्ति का साधन हो जाता है। सृष्टि से पूर्व एक सत् ही था, उसी में सारा संसार बना है। वह सत् ही आनन्द है अतः आनन्द में ही विषय हैं। विषय-सम्बद्ध आनन्द को ही ब्रह्मानन्द का अंश कहा है। लौकिक सुख विषयों का नहीं, है परमेश्वर का ही। जब विषयानन्द को ब्रह्मानन्द के अन्दर ही कल्पितरूप से देखते हैं, तब वह दरवाज़ा हो जाता है ब्रह्मानन्द में प्रवेश का। श्रुति ने इसीलिये उसको अंश कहा है। विषय से वैराग्य करना है, विषय में जो प्रतिफलित आनन्द है, उससे वैराग्य नहीं करना है!॥ १॥

विषयसुखों को ब्रह्मानन्द का अंश बताने वाली श्रुति सूचित करते हैं—

एषोऽस्य परमानन्दो योऽखण्डैकरसात्मकः।

अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते ॥ २ ॥

जो अखण्ड एकरसरूप है। वह इस (जीव) का परम आनन्द है, इस आनन्द के ही अंश का उपभोग अन्य भूत करते हैं।

‘अखण्ड’—जिसमें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये खण्ड नहीं हैं। लौकिक ज्ञान में एक जानने वाला (प्रमाता), एक जिस साधन से जानता है, प्रमाण और एक जिसको जानता है प्रमेय, ये तीन होते हैं। सारे ज्ञान इस त्रिपुटी वाले होते हैं, तीन खण्डों वाले होते हैं। परन्तु परमात्मरूप ज्ञान अखण्ड है। मैं जानने वाला, अपने को जानता हूँ कि मैं ही ब्रह्मरूप हूँ। इस समय अज्ञान के कारण अपने को व्यापक नहीं जानता हूँ। यह तत्त्व स्वयंप्रकाश है इसलिये इसको किसी दूसरे जानने वाले की अपेक्षा नहीं है। अखण्ड है, एकरसात्मक है। रस अर्थात् आनन्द। आनन्द ज्ञानरूप है। कोई विषय हो जिससे आनन्द होता हो, ऐसा ब्रह्मानन्द नहीं है। वह आनन्दघन है। अभी जो हमारे आनन्द हैं उनमें दुःख का अनुबेध रहता

है। जब तक आनन्द नहीं हुआ तब तक दुःख है और आनन्द-समाप्ति पर भी दुःख है। ब्रह्मानन्द नित्य है अतः पहले या बाद में भी दुःख नहीं है। साधन से केवल अज्ञान नष्ट होता है। जब ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है तब ऐसा नहीं लगता कि कोई नई चीज़ मिली वरन् लगता है कि 'यह तो हमेशा ही मेरा रूप था, अज्ञान के कारण पता नहीं था'। अज्ञान की निवृत्ति क्षणमात्र में हो जाती है। शुकदेव ने राजा परीक्षित को सात दिन में ज्ञान कराया। तैयारी में बाकी समय जाता है, अज्ञान तो क्षणमात्र में हटता है।

इस श्लोक में बृहदारण्यक (४.३.३२) का संग्रह है: 'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'। जीव की वास्तविकता यह परम आनन्द ही है। यह आनन्द ब्रह्मरूप है। इसे 'ब्रह्म का' कहते हैं पर ब्रह्म से इसके किसी सम्बन्ध को बताने के लिये नहीं वरन् जैसे मिश्री में मिठास कही जाती है पर मिश्री और मिठास दो अलग परस्पर सम्बद्ध वस्तुएँ नहीं हैं वैसे कहते हैं। ब्रह्मा से चींटी तक को मिलने वाले सारे आनन्द इसी आनन्द के अंश हैं।। २।।

व्यवहार की तीव्रता हो तो अन्तःकरण प्रधान हो जाता है। अन्तःकरण में चार प्रकार के व्यवहार हैं। एक 'चित्त' व्यवहार है। चित्त में सारे संस्कार बैठे हैं। उनमें से जो-जो प्रारब्ध-भोग के उपयोगी होते हैं, वे उचित काल में जगा करते हैं। उनके जगने पर मन प्रवृत्ति या निवृत्ति करना चाहता है। लौकिक व्यक्ति मन की प्रवृत्ति या निवृत्ति के अनुकूल आचरण करता है। उस समय उसमें और पशु में कोई भेद नहीं है। सुख वाली चीज़ की तरफ जाना, दुःख वाली से दूर हटना—यह मन की प्रवृत्ति। सुख की प्राप्ति, दुःख की निवृत्ति हो—ये दो ही इच्छायें होती हैं। मनुष्य में बुद्धितत्त्व प्रधान है। बुद्धि निर्णय करती है कि यह सुख आगे दुःख का जनक होगा, या यह दुःख आगे सुख का जनक होगा। मन और बुद्धि के निर्णय में यही भेद है। व्यक्ति दुःख को भी सहन करता है भविष्य के सुख के लिये। इसी तरह सद्यः सुख को छोड़ता है भविष्य के दुःख से बचने के लिये। यह निर्णय बुद्धि से ही होगा। चित्त संस्कारों को सामने लाता है। कुछ संस्कार लौकिक हैं, दूसरे शास्त्र के हैं। प्रथम में मन प्रधान है दूसरे में बुद्धि प्रधान है। इनको प्रवृत्त करने वाली है अहंकारात्मिका वृत्ति। अन्तःकरण में चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार—ये चार वृत्तियाँ हैं। इनके द्वारा आत्मा का चैतन्यरूप प्रकट होता है। जहाँ-जहाँ अन्तःकरण है वहाँ चेतन, ज्ञान, ब्रह्म का चिद्रूप प्रकट होगा। जहाँ अन्तःकरण नहीं है वहाँ ब्रह्म का केवल है-अंश प्रकट होगा। अन्तःकरण ही ब्रह्म के ज्ञानरूप को ग्रहण कर सकता है। वही उपाधि है जहाँ ज्ञान होने से दुःख का और सुख का अनुभव है। दुःख के अनुभव में बंधन की प्रतीति है। दुःख के लिये कोई प्रार्थना नहीं करता है, आता है तो भोगना पड़ता है। सुख में बंधन का अनुभव नहीं होता। इसलिये हमारी प्रवृत्ति में हमेशा सुख सामने रहता है, चाहे इहलौकिक हो या पारलौकिक हो। सुख में स्वतंत्रता का अनुभव है। दुःख के समान सुख भी जबरदस्ती भोगना ही पड़ता है यह विचार से समझ आता है। सुख की इच्छा सदैव है। दुःख-सुख तो होंगे ही, उन का प्रकार

१४७८ पञ्चदशी

बदल जायेगा लेकिन होंगे अवश्य। दुःख का अभाव कैसे हो? यह जिज्ञासा हो तब परमार्थ की तरफ व्यक्ति जाता है। अन्तःकरण ही उपाधि है जिसमें बन्धन का अनुभव और मोक्ष का अनुभव होगा क्योंकि वहीं दुःख और सुख का अनुभव होता है अतः अन्तःकरण की वृत्तियों का विचार करते हैं—

शान्ता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तयस्त्रिधा ।

वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यम् इत्याद्याः शान्तवृत्तयः ॥ ३ ॥

मन की वृत्तियाँ तीन तरह की हैं—शान्त, घोर और मूढ। वैराग्य, क्षमा, उदारता इत्यादि शान्त वृत्तियाँ हैं।

मन या अन्तःकरण की तीन प्रकार की वृत्तियाँ हैं—शान्त, घोर और मूढ। शान्त वृत्तियाँ कैसी हैं? 'वैराग्यम्' जब किसी चीज़ से रागनिवृत्ति का अनुभव होता है, तब शान्त वृत्ति बनती है। प्रायः वैराग्य थोड़ी देर के लिये होता है तो भी राग की निवृत्ति से आनन्द भी है। क्षान्ति मायने क्षमा। किसी ने हमारा अपराध किया तो पहले उसके प्रति क्रोध की वृत्ति बनती है। यदि क्षमा की वृत्ति आ जाये तो शान्ति हो जाती है। अपराधी के प्रति क्षमा की वृत्ति बनने पर शान्ति मिलती है। इसी प्रकार यदि किसी की आवश्यकता को तुम दूर करते हो, उदारता करो तो शान्त वृत्ति बनेगी। अन्यथा इसके अभाव में भयादि की वृत्ति बन सकती है। अतः वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि शान्त वृत्तियाँ हैं। जब अन्तःकरण में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तब ये वृत्तियाँ बनती हैं ॥ ३ ॥

घोर व मूढ वृत्तियाँ उदाहृत करते हैं—

तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तयः ।

संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तयः ॥ ४ ॥

तृष्णा (कामना), स्नेह (प्रेम), राग, लोभ आदि वृत्तियाँ घोर हैं। सम्मोह, भय इत्यादि मूढ वृत्तियाँ कही गयी हैं।

जब अन्तःकरण में रजोगुण प्रधान होता है तब घोर वृत्ति बनती है। तृष्णा अर्थात् अधिक की इच्छा। विषयों से कभी कामना शान्त नहीं होती। विषय मिलने पर तृष्णा बढ़ती है, शान्त नहीं होती। कामना में तो 'हमें यह चीज़ चाहिये' इतना ही होने से वह मिल जाये तो शान्ति हो जाती है। तृष्णा में 'इतना तो मिल गया, और मिल जाये तो अच्छा है' यों भूख बढ़ती जाती है। इसलिये तृष्णा की कभी पूर्ति नहीं हो सकती है, वह बढ़ती रहती है। यह रजोगुणी, घोरवृत्ति है। भगवान् ने गीता में इसको अनल कहा। मन में तृष्णा की अनल अर्थात् आग है। स्नेह, तेल को भी कहते हैं। मन का जो प्रेम उसे भी स्नेह कहते हैं। यह अन्तःकरण को 'चिपचिपा' बनाता है जैसे तेल चीज़ों को चिपचिपा बनाता है। स्नेह से विषयों के प्रति राग होता है जिससे जो विषय मिले वह 'चिपकता' जाता है। ऐसा राग के कारण होता है। इसे विषयों के प्रति आसक्ति समझ सकते हैं। राग अर्थात् 'रंग चढ़ जाना'

जिस को कहते हैं। विषयों का रंग अर्थात् विषय नहीं है तब भी उनका स्मरण होना। लोभ—‘जो चीज़ हमारे पास आ गई वह हमारे पास ही रहे’ यह भावना। चीज़ का आने-जाने का स्वभाव है। तुम्हारे पास भी तो कहीं से आयी है! ‘मेरे पास ही रहे’ यह इच्छा लोभ है। भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि सत्कार्य में चीज़ का उपयोग न करना लोभ है। असत् कार्य में खर्च करना निर्लोभता नहीं है। इस प्रकार की वृत्तियाँ घोर कहलाती हैं।

तीसरी हैं मूढ़ वृत्तियाँ। सम्मोह अर्थात् किसी चीज़ के बारे में उचित निश्चय करने में असमर्थ होना अर्थात् दूसरा तुम्हें समझावे तब भी न समझो। इस वृत्ति में आवरण की प्रधानता रहती है। घोर वृत्तियों में विक्षेप की प्रधानता है। शान्त वृत्तियों में भी विक्षेप की प्रधानता है। ‘सम्मोह’ रहते ‘वास्तविकता क्या है’ यह समझ में नहीं आता। भय अर्थात् डर। ‘शेर खाने आ रहा है, क्या करूँ’—यह भय नहीं, सम्मोह वृत्ति है। शेर आया नहीं है पर ‘आ गया तो क्या होगा?’ यह भय है। दोनों में ‘समझ में नहीं आता’ यह मूढ़ता समान है। इस तरह की वृत्तियों को तमोगुणी मानते हैं। अन्तःकरण इन तीन प्रकार की वृत्तियों से व्यवहार करता है। आवरण-प्रधान होकर मूढ़ वृत्तियाँ, विक्षेपप्रधान होकर घोर वृत्तियाँ और आत्मा की प्रधानता से शान्त वृत्तियाँ होती हैं ॥ ४ ॥

ये वृत्तियाँ चित् का ही आभास ग्रहण कर व्यवहारसाधक बनती हैं यह बताते हैं—

वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता।

प्रतिबिम्बति शान्तासु सुखं च प्रतिबिम्बति ॥ ५ ॥

इन सभी वृत्तियों में ब्रह्म के चेतन स्वभाव का प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं शान्त वृत्तियों में सुख का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है।

इन सभी वृत्तियों में ज्ञान होता है। अन्तःकरण काँच की तरह अर्थात् आभास-ग्राहक है इसलिये उसमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इन तीनों वृत्तियों में ब्रह्म का ज्ञानस्वभाव प्रतिबिम्बित होता है। घोर और मूढ़ वृत्तियों में ज्ञान का प्रतिबिम्ब तो है, सुख का नहीं है। शान्त वृत्तियों में सुख का प्रतिबिम्ब भी है। अन्तःकरण में सत् चित् का अनुभव है, उसकी शान्त वृत्तियों में सुख का अनुभव भी है ॥ ५ ॥

श्रुतिवचन से यह विषय स्पष्ट करते हैं—

रूपं रूपं बभूवाऽसौ प्रतिरूप इति श्रुतिः।

उपमा सूर्यकेत्यादि सूत्रयामास सूत्रकृत् ॥ ६ ॥

श्रुति ने कहा है कि हर रूप के अनुरूप आत्मा बनता है। सूत्रकार ने बताया है कि सूर्यक आदि उपमा से (आत्मा के अंश समझे जा सकते हैं)।

जो अखण्ड एकरस ब्रह्म है, इसमें अन्तःकरण की जो-जो वृत्ति आती है उस ही वृत्ति में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है। रजोगुणी, तमोगुणी, सत्त्वगुणी जैसी भी वृत्ति बने, सब में प्रतिबिम्बित वही होता है। ब्रह्मसूत्र में भगवान् बादरायण ने भी कहा है ‘अतएव चोपमा

सूर्यकादिवत्' (ब्रह्मसूत्र ३.२.१८) जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब अनेक तरह के काँचों में पड़ता है ऐसे ही जैसी अन्तःकरण की वृत्ति बनती है, वैसा ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जो चीज़ एक है वह उपाधि के कारण अनेक प्रतीत होती है। इस बात को 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (बृ.२.५.१६) 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (कठ. २.२.६) आदि वेदवचन बताते हैं ॥ ६ ॥

एक की बहुत तरह से प्रतीति भी उपनिषत् से समर्थित करते हैं—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ ७ ॥

हर भूत (प्राणी) में विशेषतः अवस्थित वास्तविक आत्मा एक ही है। वह एक प्रकार का एवं बहुत प्रकारों का वैसे ही दीखता है जैसे जल में चाँद। (यह ब्रह्मविन्दु उपनिषत् का श्लोक १२ है।)

निर्मल, साफ जल में चन्द्रमा बिल्कुल जैसा है वैसा ही लगता है। गन्दे पानी में वही चन्द्रमा साफ नहीं दीखता, गन्दा दीखता है। परं दीख कौन रहा है? चन्द्रमा। लहरों वाले पानी में चन्द्रमा हिलता दीखता है। अत्यन्त गन्दे पानी में चन्द्रमा का पता ही नहीं लगता। एक प्रकार का और अनेक प्रकार का चन्द्र दीखता रहता है पर है तो वह चंद्र ही। इस विभिन्नता का कारण क्या है? उपाधियाँ। चन्द्रमा में फर्क नहीं है, फर्क हैं पानी में, दीखते हैं मानो चन्द्रमा में हों। वस्तुतः वह निर्विकार है। इसी प्रकार आत्मवस्तु एक ही है। राम में भी और रावण में भी परमात्मा वही दीख रहा है। अन्तर उपाधि के अर्थात् अन्तःकरण के कारण है। स्वच्छ जल में जैसा चन्द्रमा है, वैसा ही उसका ज्ञान हो जाता है भले ही थोड़ा अन्तर रहता है। ब्रह्म सर्वव्यापक है। सारे प्राणियों में रहने वाला भूतात्मा, वस्तुरूप चेतन एक ही है। आतंकवादी में भी वही व्यवस्थित है। परमात्मा अन्तःकरण की उपाधि से अलग-अलग दीखता है, अलग हो नहीं जाता। उपाधि-दोषों से परमात्मा या चेतन को सदोष समझना वैसा ही भ्रम है जैसे प्रतिबिम्ब के दोषों से बिम्ब को सदोष समझना। ऐसे ही प्रतिबिम्बों की अनेकता से जैसे बिम्ब में बहुत्व नहीं वैसे चेतन आत्मा में अनेकता नहीं है ॥ ७ ॥

किसी उपाधि में आनन्दस्वभाव प्रतिबिम्बित होता है, किसी में नहीं जबकि सत्स्वभाव, चित्स्वभाव प्रतिबिम्बित हो भी रहे हों, ऐसा कैसे? दृष्टान्त से उत्तर देते हैं—

जले प्रविष्टश्चन्द्रोऽयम् अस्पष्टः कलुषे जले ।

विस्पष्टो निर्मले तद्वद् द्वेधा ब्रह्माऽपि वृत्तिषु ॥ ८ ॥

जैसे कलुषित जल में प्रविष्ट हुआ चन्द्र अस्पष्ट भासता है तथा निर्मल जल में सुस्पष्ट दीखता है वैसे ब्रह्म भी वृत्तियों में दो ढंग से मिलता है।

पूर्णमा का चन्द्रमा चमक रहा है। चन्द्रमा आकाश में है। जिसमें वह प्रतिबिम्बित हो रहा है, यदि वह जल चंचल, या मैला है तो उसमें चंद्रमा साफ नहीं दीखेगा। निर्मल जल में चंद्रमा साफ दीखता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी अन्तःकरण की वृत्तियों में दो प्रकार का दीखता है। दोनों प्रकार अगले श्लोकों में बता रहे हैं ॥८॥

एक वस्तु के अनेकविध प्रतिबिम्बों में हेतु दिखाते हैं—

घोरमूढासु मालिन्यात् सुखांशश्च तिरोहितः ।

ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिम्बनम् ॥ ९ ॥

घोर व मूढ वृत्तियों में मलिनतावश सुख-अंश छिपा रहता है, किंचित् निर्मलता के कारण उनमें चेतन अंश का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

घोर और मूढ वृत्तियाँ, दोनों ही मलिन हैं। घोर वृत्ति में चांचल्य ज्यादा होगा, और मूढ वृत्ति में जड़ता ज्यादा होगी। परन्तु दोनों में ही जैसा बिम्ब है वैसा प्रतिबिम्ब नहीं बन पाता इसलिये दोनों को इकट्ठा कर दिया। दोनों में ही सुख तिरोहित हो जाता है। ब्रह्म-प्रतिबिम्ब तो दोनों में पड़ता है। जैसे निर्मल जल और गन्दे पानी में से एक में चाँद जैसा है वैसा भान होता है, दूसरे में नहीं, इसी तरह आत्मा आनन्द-स्वभाव है, जहाँ आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वहाँ सुखानुभूति होती है, जहाँ आनन्द का प्रतिबिम्ब नहीं है, वहाँ सुखानुभूति नहीं है। पानी गंदा तो है पर ऐसा नहीं कि उसमें प्रतिबिम्ब पड़े ही नहीं। अन्तःकरण बना है महाभूतों के सत्त्वांश से, इसलिये उसमें सत्त्वांश सदैव रहेगा अतः उसमें प्रतिबिम्ब पड़ेगा। परन्तु जब सत्त्व के संस्कार भी होते हैं तब उसको निर्मल कह देते हैं, वैसे संस्कार नहीं होते हैं तो उसे निर्मल नहीं कहते। ईषत् अर्थात् थोड़ी निर्मलता तो अन्तःकरण में स्वाभाविक है क्योंकि वह बना ही सत्त्वगुण से है। स्वभाव ही उसका बिम्ब को प्रतिबिम्बित करने का है। अतः अन्तःकरण में चेतन के हिस्से का प्रतिबिम्ब तो पड़ जाता है लेकिन मलिनता होने से उसमें आनन्द का स्पष्ट भान नहीं होता ॥ ९ ॥

साफ-मैला जल तो विभिन्न होने से प्रतिबिम्ब में भेद संगत है, अन्तःकरण एक होने से प्रतिबिम्ब-भेद कैसे? इसके उत्तर में दृष्टान्त से बताते हैं कि ऐसा भी सम्भव ही है—

यद्वापि निर्मले नीरे वह्निरौष्ण्यस्य संक्रमः ।

न प्रकाशस्य तद्वत् स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च ॥ १० ॥

अथवा, निर्मल जल में अग्नि की गर्मी तो संक्रान्त हो जाती है, उसका प्रकाश नहीं। इसी तरह कम स्वच्छ चित्त में आत्मा के केवल चित्स्वभाव का संक्रमण होता है।

आत्मा एक-साथ सच्चिदानन्द है तो सत्-स्वभाव का प्रतिबिम्ब भी चिदानन्द-स्वभाव का भी प्रदर्शन क्यों नहीं करता? इसके उत्तर के लिये जल दृष्टान्त है जो आग का उष्णस्वभाव ग्रहण करने पर भी रूप-स्वभाव ग्रहण नहीं करता। दर्पण भी द्रव्य का रूप ही ग्रहण करता है, गंधादि नहीं, वैसे भी समझ सकते हैं। घोर व मूढ वृत्तियाँ चित्स्वभाव ग्रहण कर पाती

१४८२ पञ्चदशी

हैं, आनन्द-स्वभाव नहीं। जैसे उष्णता और प्रकाश दोनों अग्नि से अभिन्न हैं पर जल एक ही ग्रहण करता है वैसे उक्त वृत्तियाँ चैतन्य ही प्रकट करती हैं॥ १०॥

शान्त वृत्तियाँ सच्चिदानन्द समूचा प्रतीत करा देती हैं यह बताते हैं—

काष्ठे त्वौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा ।

शान्तासु सुख-चैतन्ये तथैवोद्भूतिमाप्नुतः॥ ११॥

लकड़ियों में तो गर्मी व रोशनी दोनों का उद्भव हो जाता है ऐसे ही शान्त वृत्तियों में सुख और ज्ञान दोनों प्रकट होते हैं।

लकड़ी आग में डालते हो तो उसमें गर्मी भी आ जाती है, प्रकाश भी आ जाता है, दोनों प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार शान्त वृत्तियों में आत्मा का सुख और आत्मा का चैतन्य, दोनों ही प्रकट हो जाते हैं॥ ११॥

उपाधि-योग्यतावश उक्त नियमन उपपन्न करते हैं—

वस्तुस्वभावमाश्रित्य व्यवस्था तूभयोः समा ।

अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम्॥ १२॥

वस्तुओं के स्वभाव का सहारा लेकर दृष्टांत-दार्ष्टान्त दोनों में व्यवस्था तो एक-सी है क्योंकि नियामक की कल्पना अनुभूति के अनुसार की जाती है।

पानी और लकड़ी का स्वभाव ही ऐसा है कि पानी एक विशेषता लेता है और लकड़ी दोनों ले लेती है। इसी तरह से घोर और मूढ़ वृत्तियाँ सुख ग्रहण नहीं करती, शान्त वृत्तियाँ कर लेती हैं। घोर व मूढ़ में सुख क्यों नहीं प्रतिफलित होता? क्योंकि उनका ऐसा स्वभाव है। स्वभाव में नियामक क्या है? जो अनुभव में आता है वही नियामक बन जाता है। जैसा अनुभव होवे, उसी से स्वभाव की कल्पना हो जाती है। घोर और मूढ़ वृत्तियों में सुख का अनुभव नहीं होता जबकि शान्त में हो जाता है। अनुभूति के अनुसार ही सर्वत्र स्वभाव मान लेना पड़ता है॥ १२॥

अनुभव-भेद का ही प्रदर्शन करते हैं—

न घोरासु न मूढासु सुखानुभव ईक्ष्यते ।

शान्तास्वपि क्वचित् कश्चित् सुखातिशय ईक्ष्यताम्॥ १३॥

घोर एवं मूढ़ वृत्तियों में सुख का अनुभव होता नहीं, शान्त वृत्तियों में भी कभी कहीं सुख अधिक देखा जाये (यह संभव है)।

घोर और मूढ़ वृत्तियों में सुख का अनुभव नहीं देखा जाता। इन दोनों में दुःखाभाव तो कभी देखा जायेगा, और दुःख देखा ही जायेगा। जिससे जिस चीज़ का अनुभव होता है उसी से उसके अभाव का अनुभव होता है। जैसे आँख से घड़ा दीखता है तो घड़ा नहीं है यह

भी आँख से ही दीखेगा। अन्धा व्यक्ति दोनों (है या नहीं है) नहीं देख पाता। शान्त वृत्ति सुख का अनुभव करती है, अतः सुख का अभाव भी इसी वृत्ति से पता चलता है। 'मुझे ऐसी-ऐसी चीज़ें नहीं भोगनी पड़ीं' यों दुःख के अभाव का भी अनुभव होता है। शान्त वृत्ति में ही सुख की स्मृति भी होती है। घोर और मूढ वृत्तियों में तो सुखानुभव देखा नहीं जाता, शान्त वृत्तियाँ भी सब एक-जैसी नहीं होतीं। हमें जिन दस चीज़ों से वैराग्य है, वे हमारे सुख का कारण हैं। जिसे वैराग्य नहीं है, उसे वह सुख का अनुभव नहीं होगा जो वैराग्यवान् को है। जिनमें आनन्द का प्रकाश है उन शान्त वृत्तियों में भी कहीं सुख ज्यादा, कहीं कम देखा जाता है। सुख के अतिशय में अन्तर लगता है अतः प्रतिबिम्बग्राहक उपाधि का वैशिष्ट्य स्वीकारना अनिवार्य है॥ १३॥

अशान्त वृत्तियाँ सुखद नहीं यह बताते हैं—

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत्तदा।

राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात् तत्र नो सुखम्॥ १४॥

घर, खेत आदि के विषय में जब कामना होती है तब वह कामना राजस अतः घोर होने से उसमें सुख नहीं होता।

घर, खेत, पुत्र आदि उसी के विषय में कामना होती है जो अप्राप्त है। परमात्मा ने कामना की 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ' क्योंकि पहले एक था। हमारे पास बहुलता पहले ही है अतः हमारी कामना होती है 'मैं एक हो जाऊँ'। अप्राप्त विषय के लिये रजोगुण से होने वाली कामना है इसलिये वह घोर वृत्ति है जिससे वहाँ सुख नहीं है। अप्राप्त विषय की कामना में सुख नहीं है॥ १४॥

कैसे सुख नहीं है? यही स्पष्ट करते हैं—

सिद्धयेन्न वेत्यस्ति दुःखम् असिद्धौ तद् विवर्धते।

प्रतिबन्धे भवेत् क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः॥ १५॥

'कामना पूरी होगी या नहीं' इस संदेह का दुःख रहता है। पूरी न हो तो दुःख बढ़ता है। पूरी होने में रुकावट आये तो क्रोध होता है, अपूर्ति के दुःख से (एवं अपूर्ति के हेतु से) द्वेष भी होता है।

कामना-पूर्ति होने तक जो संदेह रहता है उससे निरन्तर सशंक रहता व्यक्ति दुःखी होता है। 'होगा' यह संभावना उसे सुख नहीं दे पाती क्योंकि 'नहीं होगा' यह संभावना विचलित किये रहती है। जब मिल जायेगा, कामना शान्त हो जायेगी तब भले ही क्षणिक सुख होगा पर कामना रहते नहीं। यदि चीज़ नहीं प्राप्त हुई, तब दुःख बढ़ ही जाता है। वस्तु मिलने में जो रुकावट आये या डाले उस के प्रति क्रोध आता है। यदि रुकावट हटाने का उपाय नहीं कर पायें तो द्वेष होता है। रुकावट डालने वाले को दण्ड दे सके तो क्रोध, नहीं दे सके तो उससे द्वेष होता है। क्रोध और द्वेष, दोनों के अन्दर सुख का अनुभव हो नहीं सकता

क्योंकि ये अनुकूल नहीं हैं, प्रतिकूल हैं। क्रोधी भी नहीं चाहता 'मैं, सदैव क्रोध करता रहूँ'। कोई भी स्वभाव से क्रोधी नहीं है। ऐसी वृत्तियाँ दुःखरूप हैं॥ १५॥

राजस की तरह तामस वृत्ति भी दुःख देती है यह बताते हैं—

अशक्यश्चेत् प्रतीकारो विषादः स्यात् स तामसः।

क्रोधादिषु महद्दुःखं सुखशङ्काऽपि दूरतः॥ १६॥

रुकावट हटा सकना सम्भव ही न हो तो विषाद होता है। वह तामस वृत्ति है। क्रोध आदि में अत्यधिक दुःख होता है, उनमें सुख की संभावना दूर से निरस्त है।

प्रतीकार यदि असंभव है तो द्वेष करने पर भी कुछ नहीं कर सकता, अतः विषाद होता है। यह तामस वृत्ति हो गई जो दुःखप्रद है ही। इस प्रकार क्रोध द्वेष विषाद आदि ये सब दुःख ही हैं, इनमें तो सुख की शंका भी नहीं है॥ १६॥

वैराग्य क्षमा उदारता आदि आत्मानुभव में सहायक होने से विवेकी को अनुकूल प्रतीत होते हैं अतः उसे सुख होता है। तृष्णा, स्नेह आदि आत्मा के अपरोक्ष में सहायक नहीं बाधक ही होते हैं अतः उसे प्रतिकूल लगने से उसे उनसे दुःख होता है। सांसारिक लोगों को घोर-मूढ़ वृत्तियों में भले ही सुखानुभव हो, मुमुक्षु को होना संभव नहीं। संसारियों को प्रतीत होता भी सुख आपाततः ही है, विवेकी को वास्तविक सुख का प्रतिबिम्ब मिलता है क्योंकि वे वृत्तियाँ सात्त्विक हैं। सुख का तारतम्य दिखाते हैं—

काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शान्ता तत्र महत् सुखम्।

भोगे महत्तरं लाभप्रसक्तावीषदेव हि॥ १७॥

जिसकी कामना है वह मिले तो हर्षनामक वृत्ति बनती है जो शान्त है अतः वहाँ महान् सुख है। काम्य वस्तु के भोग में महत्तर सुख है। काम्य वस्तु मिलना प्रारंभ हो तो थोड़ा ही सुख होता है।

'हर्ष' से यहाँ 'मोद' समझना चाहिये। तैत्तिरीय में प्रिय के बाद होने वाला मोद यहाँ हर्ष है। दर्पितु हर्ष अलग है, यहाँ उसका ग्रहण नहीं। जब मोद हुआ तब जो वृत्ति को, कामना को धक्का दे रही थी, वह समाप्त हो जाने से वृत्ति अन्तर्मुखी हो गई, अतः शान्त होती है। जब मोद होता है तब बड़ा सुख होता है जिस सुख का कारण वृत्ति का बाहर जाना रुकना है। जब भोग हुआ तब प्रमोद हो गया, मोद से ज्यादा सुख हो गया। अभी चीज़ मिली नहीं, पर लाभ होने की सम्भावना हो गई, तो उससे भी थोड़ा सुख होता है जिसे 'प्रिय' समझना चाहिये। मिलने पर महत् सुख होता है, जब उस चीज़ का भोग करेंगे तो महत्तर होगा। तैत्तिरीय में समझाये ढंग से इन सब सुखों का स्वरूप है आनन्द आत्मा। इस प्रकार आनन्दमय कोष का जो वृत्तिरूप है, उसे इंगित किया॥ १७॥

सर्वाधिक सुख बताते हैं—

महत्तमं विरक्तौ तु विद्यानन्दे तदीरितम् ।।

एवं क्षान्तौ तथौदार्यं क्रोधलोभनिवारणात् ।। १८ ।।

विरक्ति में सबसे महान् सुख है जिसे विद्यानन्द प्रकरण में (श्लो. २६ आदि) बता चुके हैं। इसी तरह क्षमा और उदारता में क्रोध और लोभ का निवारण होने से महत्तम सुख है।

वैराग्य का जो अनुभव है, उसमें महत्तम, सबसे ज्यादा सुख का अनुभव होता है। इसको पिछले प्रकरण में बतलाया है। जो वैराग्य वाला है उसको सभी प्रकार के सुखों की प्राप्ति प्रयत्न, लाभादि के बगैर ही है। जिसको ब्रह्मलोक की भी इच्छा नहीं है, उसे महत्तम आनन्द है। यदि काम्य-लाभ नहीं हुआ तो क्रोध और द्वेष होता है पर यदि वैराग्यवश क्षमा की वृत्ति बन गई तो दुःख का कारण जो क्रोध, उसका निवारण हो गया अतः सुख हो गया। उदारता की वृत्ति आ जाये तो लोभ हट जाने से सुख रहता है। वैराग्य, शान्ति और उदारता में कामना नहीं रह जाने से दुःख हट जाते हैं। ये शान्त वृत्तियाँ हैं जो काम-क्रोध-लोभ को हटा देती हैं। पदार्थ की प्राप्ति से सुख नहीं है, उनकी तरफ जाने वाली वृत्ति की निवृत्ति से, अन्तर्मुखता से सुख है ।। १८ ।।

सुख ब्रह्मरूप ही है यह दृढ़ करते हैं—

यद्यत् सुखं भवेत् तत्तद् ब्रह्मैव प्रतिबिम्बनात् ।

वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम् ।। १९ ।।

जो-जो सुख होता है वह प्रतिबिम्बन से उपलब्ध ब्रह्म ही है। अन्तर्मुख वृत्तियों में इसका प्रतिबिम्ब निर्विघ्न पड़ता है।

‘जो-जो’ अर्थात् चाहे विषय से हो, चाहे शान्त वृत्ति से हो, सर्वत्र सुख है परमात्मरूप, उसीका प्रतिबिम्ब जीव को ‘सुख’ प्रतीत होगा। विषयों का सुख में विनियोग होता तो वैराग्यादि में सुख न होता, अतः वे अन्यथासिद्ध ही हैं। चित्तवृत्ति का अन्तर्मुख होना आवश्यक है, उसमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़े तभी सुख है। विषयकामना पूरी होने पर भी होती वृत्ति ही अन्तर्मुख है जिसमें पड़ा ब्रह्म-प्रतिबिम्ब विषयसुख समझा जाता है। बाह्य वृत्तियाँ अनात्मविषयक होनेसे सुखरूप नहीं, दुःखरूप हो सकती हैं। अंतर्मुख वृत्ति विषय करती है अन्तःस्थित परमेश्वर को अत एव वही सुख हो पाती है। जितना प्रतिबिम्ब निर्विघ्न होगा, जितनी वृत्ति अधिक सात्त्विक होगी, उतना सुख अधिक हो जायेगा। कामना-निवृत्ति से अन्तर्मुख हुई वृत्ति में सर्वथा शान्ति नहीं अतः वैषयिक सुख महत्तम नहीं, वैराग्यादि वृत्तियाँ पूर्ण शान्त हैं अतः उनमें सुख सर्वाधिक है। विषयों के प्रति रागादि रहते मन पूरी तरह शान्त होता नहीं। गौडपादाचार्य ने इसे कषाय-स्थिति कहा है जहाँ कामनाकार न होने पर भी उसकी बीजावस्था अवश्य है। विषयों की इच्छारूप कषाय मन में रहते सुख में विघ्न डालता ही है। विघ्न रहते, प्रतिबंधक रहते अन्तर्मुख वृत्ति भी महत्तम सुख नहीं दे पाती। सुख है

१४८६ पञ्चदशी

केवल ब्रह्मरूप, संसार में तो भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि सुख का लेश भी नहीं है, फिर भी भ्रमवश हम वहाँ सुख समझते हैं। मनोवृत्ति में छाया रूप तो है, विषयों में वैसा भी सुख नहीं अतः वह सर्वथा भ्रान्ति है। वृत्ति में सुखबुद्धि सोपाधिक भ्रांति है जैसे दर्पण में मुख दीखना। वहाँ मुख का कुछ तो बोध है, इसी तरह शांत वृत्ति में ब्रह्मरूप सुख का प्रतिबिम्ब तो उपलब्ध है। उससे विवेक-पूर्वक ब्रह्मस्वरूप समझने का यत्न करना चाहिये।। १६।।

सब चीज़ों में ब्रह्मस्वरूप का अनुभव दिखाने के लिये उस स्वरूप को ही याद दिलाते हैं—

सत्ता चित्तिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः।

मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद् द्वयम्।। २०।।

सत्ता, ज्ञान व सुख—ये तीन ब्रह्म के स्वभाव हैं। मिट्टी पत्थर आदि में सत्ता ही व्यक्त होती है, बाकी दोनों नहीं।

ब्रह्म के तीन स्वभाव हैं, अपना स्वरूप हैं। लोक का अनुसरण कर कदाचित् स्वभाव को गुणों के रूप में भी कहते हैं। सत्ता, ज्ञान, आनंद ब्रह्म में गुण की तरह नहीं रहते, उसके स्वरूप हुए रहते हैं। अन्यथा ब्रह्म गुणी हो जायेगा जिससे परिच्छिन्नता आदि दोष होंगे। जैसे गर्मी, प्रकाश अग्नि का स्वरूप है न कि गुण, वैसे ब्रह्म के तीन स्वभाव हैं: 'सत्ता' होना, 'चित्तिः' ज्ञान और सुख। प्रकाश को देखकर या गर्मी लगने से हम जानते हैं कि अग्नि है। वैसे ही कहीं है का अनुभव हो जाये तो हमें पता लग जाना चाहिये कि यहाँ ब्रह्म है। बिना ब्रह्म के 'है' का अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ भी ब्रह्म का निश्चय हो जाना चाहिये क्योंकि उसके बिना ज्ञान का अनुभव नहीं होता। जहाँ सुख का अनुभव हो वहाँ भी ब्रह्म है। जहाँ सुख होगा, वहाँ ज्ञान अवश्य होगा। जहाँ ज्ञान होगा वहाँ हैपना भी होगा। जहाँ सुख की प्रतीति होगी वहाँ ब्रह्म के तीनों स्वरूपों की प्रतीति होगी। जहाँ ज्ञान हो वहाँ दो चीज़ों की अनुभूति होगी। जहाँ है का अनुभव होगा वहाँ एक की प्रतीति होगी। मिट्टी पत्थर जड़ चीज़ों में सत्ता ही व्यक्त होती है। ज्ञान और आनंद का वहाँ भान नहीं होता। ब्रह्म के सदरूप का ध्यान रखते हुए चीज़ों में है की प्रतीति जब हो तब है-रूप से ब्रह्म को समझना है। तीव्र प्रारब्ध के समय तत्त्वज्ञ जब जड़ पदार्थों से व्यवहार करता है तब उनमें 'है-पने' को ब्रह्मरूप से देखता है।। २०।।

चिद्-आनन्द की अभिव्यक्ति के योग्य स्थल मनोवृत्तियाँ बताते हैं—

सत्ता चितिर्द्वयं व्यक्तं धीवृत्योर्घोरमूढयोः।

शान्तवृत्तौ त्रयं व्यक्तं मिश्रं ब्रह्मेत्यमीरितम्।। २१।।

घोर और मूढ वृत्तियों में सत्ता और ज्ञान दोनों प्रकट हैं, शान्त वृत्ति में तीनों व्यक्त हैं। इस प्रकार प्रपंच से मिला ब्रह्म बताया।

घोर और मूढ़ वृत्तियाँ अर्थात्, राजस और तामस वृत्तियाँ, जैसे तृष्णा, स्नेह, राग, लोभ, भय, मोह वृत्तियाँ। उनमें 'है' (सत्ता) की एवं ज्ञान की प्रतीति है। ये बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, बुद्धि में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब सत् और चेतन रूप से पड़ेगा। उनमें सुख-अनुभव नहीं होता है। सत् और चिद्रूप से ब्रह्म को वे अभिव्यक्त करती हैं। उस रूप से ब्रह्म उनमें मौजूद है। सत् का अनुवेध तो सब में मिलेगा। जहाँ बुद्धिवृत्ति होगी वहाँ चित् का भी अनुवेध होगा। वैराग्य, उदारता, क्षमा आदि शान्त वृत्तियों में आनंदरूप भी व्यक्त हो जाता है। जड पदार्थ और बुद्धिवृत्तियाँ—इन्हीं से सारे व्यवहार होते हैं। इनसे जुड़ा जो ब्रह्म का स्वरूप है वह उपाधि के सहित है। इसलिये इसको मिश्र ब्रह्म कहते हैं। वह नाम-रूप की उपाधि के साथ मिला हुआ है। समाधिकाल में तो नाम-रूप का बाध कर अधिष्ठानरूप से ब्रह्म को देखोगे। व्यवहार काल में सब कुछ की ब्रह्मरूपता को सत् आदि के अनुवेध से देखोगे। इस प्रकार, सगुण ब्रह्म का निरूपण हुआ।। २१।।

सप्रपंच ब्रह्म बता चुके, निष्प्रपंच के बारे में कहते हैं—

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां तौ च पूर्वमुदीरितौ।

आद्येऽध्याये योगचिन्ता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः।। २२।।

अभिन्न (निष्प्रपंच) ब्रह्म ज्ञान एवं योग से पता चलता है। वे दोनों पहले बता चुके। (ब्रह्मानन्द-पंचक के) पहले अध्याय में योग का विचार किया, फिर दो अध्यायों में ज्ञान बताया।

शुद्ध ब्रह्म का चिन्तन कैसे होता है? नाम-रूप से बिना मिले ब्रह्म का चिन्तन तो ज्ञान के द्वारा या योग के द्वारा होगा। उन दोनों को पहले बताया गया है। योगानन्द प्रकरण में योग का उपाय तथा आत्मानन्द एवम् अद्वैतानन्द प्रकरणों में ज्ञानका वर्णन किया। अमिश्र ब्रह्म का चिन्तन इन तीन में बतला दिया, मिश्र ब्रह्म का चिन्तन इस प्रकरण में व्यवहार-काल में अभ्यासार्थ बतला रहे हैं।। २२।।

विषयानन्द भी ब्रह्मानन्द ही है तो माया का क्या औचित्य? इसका उत्तर देते हैं—

असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपं त्रयं त्विदम्।

असत्ता नरशृङ्गादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु।। २३।।

असद्रूपता, जडता और दुःख—ये तीनों माया के रूप हैं। मनुष्य के सींग आदि में असद्रूपता एवं लकड़ी-पत्थर आदि में जडता उपलब्ध है।

यदि सब कुछ, विषय भी ब्रह्मरूप है तो माया को आप मानते ही क्यों हैं? कुछ लोग, जिन्हें 'अविकृत परिणामवादी' कहते हैं, मानते हैं कि सब कुछ जैसा है वैसा ब्रह्मरूप ही है अतः माया को मानने की ज़रूरत नहीं है। सगुण में माया की ज़रूरत क्यों? माया इसलिये माननी पड़ती है कि सद्रूप तो ब्रह्म है, लेकिन 'नहीं है' तो ब्रह्म का रूप नहीं है! यह कहाँ से आया? ऐसे ही ज्ञान ब्रह्मरूप है लेकिन जडता (ज्ञान का अभाव) कहाँ से आई? इसी तरह

सुख ब्रह्म का रूप है पर दुःख कहाँ से आया? असत्, जड, दुःख कहाँ से आये? ये सारे मायाके रूप हैं, माया (अज्ञान) के कारण संसार में मिलते हैं। मिश्र ब्रह्म इसलिये कहा कि व्यवहार-काल में नहीं है का भी अनुभव होता है, जडता का भी अनुभव होता है जो ब्रह्मरूप नहीं हैं। इसके लिये माया स्वीकारना अनिवार्य है।। २३।।

असत् और जड की उपलब्धि के स्थल बता चुके, दुःख की उपलब्धि का स्थल कहते हैं—

घोरमूढधियोर्दुःखम् एवं माया विजृम्भिता ।

शान्तादिबुद्धिवृत्तैक्याद् मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम् ।। २४ ।।

घोर व मूढ वृत्तियों में दुःख मिलता है। इस प्रकार माया फैली हुई है। शान्त आदि बुद्धिवृत्तियों से एकता के कारण ब्रह्म 'मिश्र' ऐसा कहा गया है।

बुद्धि की अशान्त वृत्तियों में ही दुःख होता है जो ब्रह्मरूप होना असंभव है अतः वह मायारूप ही है। राजस-तामस मनोवृत्तियाँ दुःखरूप ही हैं। इनकी दुःखरूपता विवेकी को समझ आती है, अविवेकी तो घोर व मूढ वृत्तियों में भी सुख मानता है! घोर-मूढ दशा में बुद्धि माया की पक्षपाती है, शान्त दशा में आत्मा की पक्षपाती है। बुद्धि से तादात्म्य, अभेद, एकमेकता पाया मिलता है इसलिये ब्रह्म भी मिश्र अर्थात् मिला-जुला कहा जाता है।। २४।।

यों बताने का प्रयोजन स्पष्ट करते हैं—

एवं स्थितेऽत्र यो ब्रह्म ध्यातुमिच्छेत् पुमानसौ ।

नृशृङ्गादिमुपेक्षेत शिष्टं ध्यायेद् यथायथम् ।। २५ ।।

उक्त परिस्थिति निर्णीत होने पर अब जो पुरुष ब्रह्म का ध्यान करना चाहे वह नरशृंग आदि की उपेक्षा करे और बाकी के सहारे जैसा योग्य है वैसा ब्रह्मध्यान करे।

'उक्त परिस्थिति' अर्थात् प्रपंच में आत्मा और माया दोनों की उपलब्धि है, ऐसी स्थिति में जो पुरुष ब्रह्म का ध्यान करना चाहता है उसे रास्ता मिल जाता है। जो पुरुषार्थ करने वाला है, वही ब्रह्मध्यान की इच्छा करेगा। ब्रह्म के लिये जो किया जाता है, वही पुरुषार्थ है। माया के लिये जो किया जाता है, वह 'पुरुषार्थ' नहीं है। अतः जो अपुरुषार्थी हैं, वे घोर-मूढ वृत्तियों में ही फँसे रहते हैं, उन्हीं को सुख समझते रहते हैं। माया की तरफ जो जाता है उसे वह क्षणभर को मिलती है, फिर रहती नहीं है। भगवान् ने कहा है कि 'सुख मिलना' वह है जिसमें स्थित हो जाने पर व्यक्ति दुःख में भी अपने सुखरूप से विचलित नहीं होता। जो ऐसा पुरुषार्थ करना चाहता है वह असत् पदार्थों की उपेक्षा करे। मनुष्य के सींग आदि असत् पदार्थ प्रारब्ध से सामने आते तो हैं नहीं, इसलिये विवेकी उन चीजों की सर्वथा उपेक्षा करे। जड और दुःखरूप जो सामने आयें उनके सहारे ब्रह्म का ध्यान करे। जड में सद्रूप से एवं घोर और मूढ में ज्ञानरूप से ब्रह्म का ध्यान करे।। २५।।

पूर्व श्लोक में कहा था 'बाकी के सहारे'; 'बाकी' को ही प्रकट करते हैं—

शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वा सन्मात्रचिन्तनम् ।

त्यक्त्वा दुःखं घोरमूढधियोः सच्चिद्विचिन्तनम् ॥ २६ ॥

पत्थर आदि में नाम-रूप ये दो छोड़कर सन्मात्र का चिंतन करे, घोर और मूढ वृत्तियों में दुःखांश छोड़कर सत्-चित् का अनुभव करे ।

पत्थर, लकड़ी आदि में नाम रूप दोनों की तरफ से ध्यान हटावे । पत्थर में से नाम को हटाकर ही विष्णुरूप को देखना है । पत्थर में विष्णुरूपता केवल शास्त्रसिद्ध है, बुद्धि से समझी नहीं जा सकती । पत्थर का सद्रूप शास्त्रसिद्ध भी है, बुद्धिगम्य भी है, क्योंकि है-रूप से उसका अनुभव होता है । उस है की तरफ ही मन को ले जाना 'है' का चिन्तन करना है । यह धीरे-धीरे अभ्यास से होता है । यद्यपि प्रतीतियाँ नाम-रूप की एवं है की, दोनों की हुई, इनमें नाम-रूप की बजाये 'है' पर दृष्टि स्थिर करना ध्यान है ।

घोर और मूढ बुद्धिवृत्तियों में दुःख की प्रतीति है । इनमें दुःख की तरफ दृष्टि न ले जाओ, वहाँ जो ज्ञान हो रहा है उसकी तरफ ले जाओ । ज्ञान भी है तो सही । दुःख में 'है' और ज्ञान दो रूपों में ब्रह्म है । सद्-ज्ञानरूप दुःख में से दुःख को हटाकर केवल ज्ञान को ध्यान में रखो । 'मैं दुःखी हूँ' यह बुद्धि बनती है मैं से एकमेक होने के कारण । अतः यह हटाना ज्यादा कठिन है । 'मैं हूँ, मैं ज्ञानरूप हूँ' इस निश्चय के सहारे दुःख से बुद्धि हटाकर, सत्-चित् का चिंतन करना है । इसमें ज्यादा अभ्यास चाहिये ॥ २६ ॥

सात्त्विक वृत्तियों में ब्रह्मध्यान बताते हैं—

शान्तासु सच्चिदानन्दांस्त्रीनप्येवं विचिन्तयेत् ।

कनिष्ठमध्यमोत्कृष्टास्तिस्रश्चिन्ताः क्रमादिमाः ॥ २७ ॥

शान्त वृत्तियों में सच्चिदानन्द तीनों का इस तरह चिन्तन करे । ये विचार (ध्यान) क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम और उत्कृष्ट हैं ।

शान्त वृत्तियाँ—वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि, इनमें सत्-चित्-आनन्द तीनों की प्रतीति होती है । विवेकी को वैराग्य आदि में आनन्द की प्रतीति होती है । उसे ही स्वाभाविक सुख भी होता है । शान्तिवृत्ति भी सच्चिदानन्द है नहीं क्योंकि बुद्धिवृत्ति है, परन्तु उसमें सच्चिदानन्द का ध्यान करना है । केवल सद्रूप से ध्यान कनिष्ठ है । सत् और चिद् रूपों का ध्यान मध्यम है । शान्त वृत्ति में सच्चिदानन्द तीनों का ध्यान उत्कृष्ट है । ये वृत्तियाँ प्रारब्ध-भोग के अनुसार उपस्थित होंगी । इसलिये जब जो भोग उपस्थित हो उस बाह्य या आन्तर भोग्य वस्तु से मन को हटाकर सत्, चित्, आनन्द में ले जाना है ॥ २७ ॥

मिश्र ब्रह्म के ध्यान का अधिकारी सूचित करते हैं—

मन्दस्य व्यवहारेऽपि मिश्रब्रह्मणि चिन्तनम् ।

उत्कृष्टं वक्तुमेवाऽत्र विषयानन्द ईरितः ॥ २८ ॥

मन्दाधिकारी व्यवहार में भी मिश्र ब्रह्म के बारे में चिन्तन करे। यहाँ विषयानन्द कहा इसलिए है कि उत्कृष्ट ध्यान बताया जा सके।

जिसकी बुद्धि समर्थ है, वह तो नाम-रूप का बाध कर लेता है अतः अधिष्ठानरूप से ब्रह्म का ध्यान करता है। जो मन्दबुद्धि है, वह बाध नहीं कर पाता। नाम-रूप में सच्चिदानन्द की प्रतीति उसे नहीं है। जो जानता है कि अधिष्ठान जो सच्चिदानन्द है वही संसार में प्रतीत हो रहा है इसलिये उसको बाध होता है। जो वैसा समझ नहीं पाता वह बाध भी नहीं कर सकता।

कागज पर बने चित्र की अपेक्षा कागज को देखना अर्थात् अधिष्ठान को देखना उत्तम बुद्धि है। कागज पर चित्र को देखने वाला मन्दबुद्धि है। उत्तम बुद्धि वाले के लिये नाम-रूप नहीं हैं। मन्दबुद्धि वाला यह नहीं स्वीकार पाता है। उसे जिस समय विषय-प्रतीति नहीं है, उस समय विद्यानन्द का अनुभव करे। जिस समय विषय-प्रतीति है, उस समय अर्थात् विषय-व्यवहार करते समय वह इस प्रकार से ध्यान करे क्योंकि वह मिश्र ब्रह्म पर ही चिन्तन कर सकता है। मिश्र अर्थात् माया से मिला हुआ। लेकिन मिले हुए में भी वह ब्रह्म का ध्यान करता है। इसी को सगुण ब्रह्म कहते हैं। विषयानन्द का यह अध्याय मंदसाधक के लिये है। अन्यथा वह व्यवहार में स्वयं को कर्ता-भोक्ता, और विषयों को सच्चा मान लेगा, दुःख को सच्चा मान लेगा। समाधि करेगा तब निष्प्रपञ्च भी मान लेगा। यों दोनों ज्ञान उसको रह जायेंगे, अद्वैत ज्ञान की निष्ठा नहीं बन पायेगी। उसे लगेगा कि व्यवहार में सद्धितीय है, परमार्थ में अद्धितीय है, अतः उसे व्यवहार-काल में भी सच्चिदानन्द का ध्यान करना ही चाहिये ॥ २८ ॥

उत्कृष्ट का अब उल्लेख करते हैं—

औदासीन्ये तु धीवृत्तेः शैथिल्याद् उत्तमोत्तमम् ।

चिन्तनं वासनानन्दे ध्यानमुक्तं चतुर्विधम् ॥ २९ ॥

उदासीन स्थिति में बुद्धि-वृत्ति शिथिल होने से सर्वोत्तम चिन्तन वासनानन्द में होता है। यों चार तरह का ध्यान बताया।

जिस समय बुद्धि-वृत्ति उदासीन अवस्था में है; अनुकूल या प्रतिकूल अनुभव नहीं है, तब जो चिन्तन वह सर्वोत्तम है। व्यवहार करते समय तीनों वृत्तियाँ होती हैं, कभी सुख, कभी दुःख या कभी उदासीनता। सुखभोग के पश्चात् भी उदासीन वृत्ति आती है। उस समय बुद्धिवृत्ति शिथिल हो जाती है। तब उत्तमोत्तम चिन्तन होता है। वहाँ नामरूप का भान नहीं-जैसा ही रहता है। उस समय वासनानन्द कहा जाता है। योगानन्द प्रकरण श्लोक ८५ आदि में इसे बता ही चुके हैं। यह जो उदासीन भाव है, इसमें सुख की वासना रह जाती

है, इसलिये इसको वासनानन्द कहते हैं। तीन ध्यान हो गये—कनिष्ठ, मध्यम और उत्कृष्ट। सद् रूप से ध्यान कनिष्ठ, सत्-चिद्रूप से मध्यम, सच्चिदानन्दरूप से उत्कृष्ट है। वासनानन्द में विषय की वृत्ति शिथिल है अतः यह उत्तमोत्तम है। इस तरह चार प्रकार का ध्यान बतलाया।। २६।।

ये ध्यान ही हैं तो क्या योग मार्ग का ही अनुसरण बताया जा रहा है? इस संभावना को हटाते हैं—

न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविद्यैव सा खलु।

ध्यानेनैकाग्र्यमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरी भवेत्।। ३०।।

ज्ञान व योग से होने वाला ध्यान नहीं, वह तो ब्रह्मविद्या ही है। ध्यान से चित्त एकाग्र होने पर विद्या स्थिर होती है।

वेदान्त का चिन्तन उस दृष्टि से ध्यान नहीं जिस दृष्टि से योगशास्त्री बताते हैं। अनुपस्थित का मानस आकार कायम रखना योगोक्त ध्यान है जबकि यहाँ जो ब्रह्मध्यान कहा वह उपस्थित को ग्रहण करनारूप है। मैं सच में ब्रह्म हूँ अतः 'मैं ब्रह्म' सोचना ध्यान नहीं है। उसके लिये तो यह भी ध्यान हो जायेगा जो इस बात को नहीं समझ पाया कि मैं ब्रह्म हूँ। जब पंचकोषों को विवेक से अलग कर लिया, तब जो बचा उसे ब्रह्म समझना ब्रह्मविद्या ही है। प्रायः लोगों को ज्ञान भी ध्यान ही लगता है। पत्थर को पत्थर देखना ध्यान नहीं ज्ञान है, पत्थर को विष्णु देखना ध्यान है। इसी तरह ब्रह्म को ब्रह्म देखना ज्ञान है, ध्यान नहीं। व्यवहार के समय भी अधिष्ठान-भाव बनाये रखना मंदबुद्धि के लिये सम्भव नहीं है। व्यवहारकाल में उसे नाम-रूप दीखता है, उसमें चिदानन्द का जो वह ध्यान कर पाता है वह ब्रह्मज्ञान ही है, योगप्रसिद्ध ध्यान नहीं है। साधनरूप ध्यान का लाभ यह है कि चित्त एकाग्र हो जाता है, वेदान्त में 'एक' का मतलब ब्रह्म है। एकाग्र का मतलब है ब्रह्म के आगे अपनी बुद्धि को ले जाना, ब्रह्माकार वृत्ति बनाना। ये जो चार ध्यान बतलाये, उनसे बुद्धि व्यवहारकाल में भी एकाग्र बनी रहती है। तभी यह ब्रह्मविद्या चित्त में स्थिर हो जाती है अन्यथा ब्रह्मविद्या स्थिर नहीं होती। ज्ञान तो हो जायेगा पर स्थिर नहीं होगा, व्यवहार-काल में चलायमान हो जायेगा। जब सच्चिदानन्दरूप से ब्रह्म को देखने का अभ्यास हो जायेगा तब व्यवहार में भी एकाग्रता बनी रहने से विचार की प्राप्ति होगी अतः चित्त में ब्रह्मविद्या स्थिर होगी। अतः ध्यान ब्रह्मविद्या के लिये उपयोगी है। ध्यान का ब्रह्मविद्या में साक्षात् उपयोग नहीं है, एकाग्र चित्त सम्पन्न करने के द्वारा है। परमात्मा के विषय को समझने के पहले जो साधन बतलाये, उनमें 'समाहितो भूत्वा' कहा है। वह ध्यान श्रवण से पहले का है। यहाँ बताये ध्यान जब तत्त्व को समझ लिया उसके बाद के हैं। ब्रह्मेतर का ध्यान ब्रह्मज्ञान को दृढ़ नहीं करेगा, उल्टा शिथिल करेगा। इसलिये साधक को सावधान रहना चाहिये कि चित्त एकाग्र करने के लिये सच्चिदानन्द का ही ध्यान करे।। ३०।।

ध्यान से ज्ञान का अन्तर बताते हैं—

विद्यायां सच्चिदानन्दा अखण्डैकरसात्मताम् ।

प्राप्य भान्ति न भेदेन भेदकोपाधिर्वर्जनात् ॥ ३१ ॥

विद्या अर्थात् ज्ञान में सत्-चिद्-आनन्द एकरसता पाकर भासते हैं, अलग-अलग नहीं क्योंकि इन्हें अलग करने वाली कोई उपाधि नहीं होती ।

जब ब्रह्माकार वृत्ति बनती है तब सत् चित् और आनन्द अलग-अलग नहीं रह जाते । ध्यान में चूँकि उपाधि मौजूद है, इसलिये सत् चित् आनन्द का अलग-अलग भान है । जब ब्रह्माकार-वृत्ति बनती है, तब ये अलग नहीं रह जाते, एकरस हो जाते हैं । जो सत् है वही चित् है, जो चित् है वही आनन्द है वही सत् है, इनमें भेद नहीं रह जाता जबकि ध्यान करने में भेद रहता है । एक देवदत्त कलकत्ते में देखा, उसका एक चित्र मन में है । एक देवदत्त आबू में देखा, उसका अलग चित्र मन में हैं । जब प्रत्यभिज्ञा होती है 'यह वही देवदत्त है' तब देश, काल, वस्तु में हमें जो भेद दीखा था, उसके बिना वाली वस्तु का ज्ञान हो जाता है । पत्तों से बनी झोपड़ी भी मकान है और सत्तर तल्ले वाला भी मकान है । दोनों ही मकान हैं । दोनों में मोटी दृष्टि से कोई समानता नहीं देखने को मिलेगी पर मकान दोनों ही हैं । स्थूल रूप से 'मकान' का ज्ञान नहीं बताया जा सकता । जैसे जाति का ज्ञान स्थूल रूप से नहीं बतला सकते ऐसे ही सच्चिदानन्द की एकरसता का ज्ञान होता है, पर उसे बताया नहीं जा सकता ।

ध्यान करते समय 'मैं ध्यान करने वाला, ध्यान कर रहा हूँ, और सत्-चित्-आनन्द का ध्यान का रहा हूँ' यह त्रिपुटी रहती है । ध्यान करने वाला कर्ता, ध्यान क्रिया और ध्येय, जिसका ध्यान कर रहा हूँ । ब्रह्माकार वृत्ति से जब ज्ञान होता है तब ज्ञान करने वाला, जिसका ज्ञान हो रहा है, और ज्ञानरूप क्रिया ये तीन खण्ड नहीं रहते । एक अखण्ड ज्ञान ही रह जाता है । ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान ये तीन नहीं रहते । ध्यान में भेद बना रहता है, अखण्ड एकरसता को प्राप्त करके प्रमाता प्रमाण प्रमेय का भेद भी नहीं रहता, और सत् चित् आनन्द का भेद भी नहीं रहता । भेदक उपाधि का बाध हो जाता है । जैसे घड़े का घटाकाश, कमरे का शालाकाश, और बाहर का महाकाश, घड़े व कमरे के हटने पर तीनों एक ही भासते हैं । जब तक भेदक उपाधि है तभी तक अलग-अलग प्रतीति है । ब्रह्मविद्या से भेदक उपाधि का बाध हो जाता है । ध्यान में भेदक उपाधि का बाध नहीं होता । भेदक के रहते जो उसमें अखण्ड तत्त्व है उसकी तरफ ध्यान करते हैं, परन्तु उपाधि रहती है । यही ज्ञान और ध्यान में बड़ा अंतर है । इसी प्रकार जड़ता व दुःख का भान रहते हुए जड़ में सद्रूप से, दुःख में चिद्रूप से, और शांत वृत्ति में आनन्दरूप से उसका ध्यान करते हो परन्तु जड़ विषय हट नहीं जाते । जब ब्रह्माकार वृत्ति बनती है तब सभी भेदों का बाध हो जाता है । श्रुति ने कहा है कि सृष्टि से पहले केवल एक परमात्मा था । 'था' का क्या मतलब है कि अब

नहीं है? भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि सांसारिक रीति से समझने वाले व्यक्ति के लिये 'था' कहा, परमात्मा तो इस समय भी है। साधारण मनुष्य 'यह संसार नहीं है, ब्रह्म है' सुनकर भ्रमित हो जाता है। जैसे पानी में आदमी डूबा हो तो विह्वल हो जाता है ऐसे 'यह संसार नहीं है' सुनकर व्यक्ति विह्वल हो जायेगा। इसलिये कहा जा रहा है कि 'सृष्टि से पूर्व एकमात्र परमात्मा था'। धीरे-धीरे समझ आयेगा कि एक परमात्मा ही अब भी है। नाम-रूप का बाध करके वह अद्वैत प्रकट हो जायेगा जैसे साँप का बाध करने पर रस्सी प्रकट हो जाती है। साँप तीनों कालों में नहीं था, रस्सी ही थी, केवल अज्ञान से प्रतीति है, पर साँप दीखते समय यह स्वीकार नहीं होता ॥ ३१ ॥

भिन्न बनाने वाली उपाधियाँ याद दिलाते हैं—

शान्ता घोराः शिलाद्याश्च भेदकोपाधयो मताः ।

योगाद् विवेकतो वैषाम् उपाधीनाम् अपाकृतिः ॥ ३२ ॥

भेद करने वाली उपाधियाँ हैं १) शांत वृत्तियाँ, २) घोर वृत्तियाँ और ३) पत्थर आदि। योग या विवेक से इन उपाधियों को हटाया जाता है।

श्लोक २६ आदि में इन उपाधियों का कथन हो चुका है। इनमें भेद है अतः ब्रह्म के इनमें भासने वाले स्वभाव भिन्न लगते हैं। 'है' इसीलिये 'चित्' नहीं लगता क्योंकि पत्थर है तो सही पर वह ज्ञान नहीं। वस्तुतः यहाँ अंतर तो पत्थर और मनोवृत्ति अर्थात् उपाधियों में है किन्तु उनके कारण प्रतीत होता है कि 'है' अलग और 'ज्ञान' अलग वस्तु है। ऐसे ही आनन्द भी भिन्न प्रतीत होता है। ब्रह्मज्ञान से अखण्ड प्रतीति होती है। जड़ उपाधियों में दीखने पर उसके स्वभाव विभिन्न प्रतीत होते हैं। आग एक है पर जल में प्रकाश ग्रहण न होने से हमें गर्मी व रोशनी में अन्तर लगता है। पत्थर पर सूर्य पड़ने से आँखें नहीं चौंधती, काँच पर पड़ने से चौंधती हैं, इसमें सूर्य के कारण भेद नहीं, पत्थर या काँच के कारण भेद है। ब्रह्म तो अखण्ड है। जड़ पदार्थ में यह योग्यता है कि केवल सत् को दिखला दे। बुद्धिवृत्ति में यह विशेषता है कि सत्-चित् दोनों को दिखला दे। भेद करने वाली उपाधियाँ तीन हैं—शांत और घोर बुद्धिवृत्तियाँ और जड़ पत्थर आदि। योगानन्द प्रकरण में बताये तरीके से या विवेक से आत्मानन्द, अद्वैतानन्द में बतायी विधि से जो उपाधियाँ हैं इनका अपाकरण हो जाता है, ये दूर हो जाती हैं। जीवन्मुक्ति काल में ये नहीं रहती हुई भी आभासरूप में प्रतीत होती रहती हैं। संसार के पदार्थ सर्वथा नहीं हैं ऐसा बोध होने के बाद भी जीवन्मुक्ति काल में इनकी प्रतीति होती रहती है ॥ ३२ ॥

निष्कर्ष बताते हैं—

निरुपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने स्वयम्प्रभे ।

अद्वैते त्रिपुटी नास्ति भूमाऽऽनन्दोऽत उच्यते ॥ ३३ ॥

उपाधि-रहित तात्त्विक स्वप्रकाश अद्वैत ब्रह्म भासने पर त्रिपुटी न रहने से आनन्द 'भूमा' कहलाता है।

ब्रह्म किसी अन्य प्रभा की अपेक्षा नहीं करता। सूर्य उसका प्रकाशक नहीं बनता, न चंद्रमा न तारे। वह स्वयं ही प्रभा है। सूर्य किससे प्रकाश वाला हो रहा है? वह स्वप्रकाश है, किसी से प्रकाश वाला नहीं है। यह केवल समझाने के लिये कहते हैं क्योंकि आँख की रोशनी न हो तो सूर्य भी अँधेरा ही है! अतः वह स्वप्रकाश नहीं, बल्कि आँख की रोशनी के अधीन है। आँख बुद्धि के और बुद्धि ब्रह्म के प्रकाश के कारण है। ब्रह्म ही स्वयंप्रकाश है। वास्तव में कोई भी उसकी उपाधि नहीं है। सारी उपाधियों की वहाँ निवृत्ति हो जाती है। शिव सारे प्रपंच का उपशमरूप है। इसलिये कहा है कि कल्पित वस्तु का हटना अधिष्ठान का अवशेष रह जाना ही है। उपाधियाँ जब अपाकृत हो गयीं, योग या विवेक से, तब निरुपाधिक ब्रह्म तत्त्व के अन्दर किसी भी प्रकार का द्वैत रहता नहीं है। वह स्वप्रकाश ही भासमान है। ब्रह्माकार वृत्ति उसको प्रकाशित नहीं करती, वह तो केवल अज्ञान का नाश कर देती है। इसकी भासमानता में त्रिपुटी नहीं है, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय का भेद नहीं है। उसकी वहाँ अपेक्षा ही नहीं है। घट-पट, शांत, घोर वृत्तियों में तो उसकी अपेक्षा है, पर जो स्वप्रकाश ब्रह्म है उसमें त्रिपुटी की ज़रूरत नहीं है। परिच्छेद न होने से ही उसको भूमानन्द कहा जाता है। देश-काल-वस्तु—सब में वह व्यापक है। कल्पित वस्तुओं का बाध हो जाने से जो अधिष्ठान अवशिष्ट रह गया वह व्यापक ब्रह्म है। देश, काल, कारणकार्यभाव—ये सब ब्रह्म में कल्पित हैं। अतः देश या काल में वह नहीं है, देश और काल ही उसमें कल्पित हैं। इसलिये उसे 'भूमानन्द' कहते हैं। आनन्द सत्-चित्-रूप तो होगा ही। जहाँ किसी भी प्रकार की उपाधि की स्थिति होगी वहाँ पूर्ण आनन्द हो ही नहीं सकता। भगवान् सनत्कुमार ने इसलिये कहा 'यो वै भूमा तत् सुखम्'। जहाँ द्वैत है वहाँ सच्चा सुख नहीं होता। सबका बाध हो गया इसीलिये भूमानन्द है ॥ ३३ ॥

अध्याय समाप्त करते हैं—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे पञ्चमोऽध्याय ईरितः ।

विषयानन्द एतेन द्वारेणान्तः प्रविश्यताम् ॥ ३४ ॥

ब्रह्मानन्द नामक पंचाध्यायी ग्रन्थ में 'विषयानन्द' नामक पाँचवाँ अध्याय बता दिया। इस दरवाज़े से भीतर (आत्मा में) प्रवेश किया जाये।

यह जो पाँच अध्यायों का ब्रह्मानन्द प्रकरण है इसमें आनन्द के बारे में जितनी सोचने लायक बातें हैं सब ग्रथित कर दी गई इसलिये इसे 'ग्रन्थ' कह दिया। पाँचवें अध्याय का नाम 'विषयानन्द' है। ब्रह्मविद्या में विषयानन्द का निरूपण क्यों? ध्यान से विषय के नाम-रूप को हटाकर आनन्द का ग्रहण करना इसमें बताया। योग और विवेक वाला तो नाम-रूप का बाध कर लेता है। जो मंदाधिकारी है वह बाध नहीं कर पाता। उसे लगता है कि 'दीख रहा है, तो कैसे कहें कि नहीं है'। उसे समझाया कि दीखते हुए उसमें जो

सच्चिदानन्द दीख रहा है उसका ध्यान करते-करते अंत में विषय अर्थात् नाम-रूप नहीं-जैसा ही हो जाता है। विषय के द्वारा इसमें जो ध्यान का प्रकार बतलाया यह द्वार है। उससे चाहे बाहर जाओ, चाहे अन्दर आओ! जो अज्ञानी है वह तो इस विषयानन्दरूप द्वार से ही बाहर जायेगा, विषय की तरफ जायेगा। मुमुक्षु यहाँ बतायी प्रक्रिया से विषय सामने आने पर विषय में स्थित जो सच्चिदानन्द है उसका विचार कर आनन्द को देखकर उसके अंदर स्थित जो सच्चिदानन्द उसे ग्रहण करता है। इस तरह विषय के आने पर भी सच्चिदानन्द का चिन्तन करके अन्दर की तरफ आ जाता है। जो विषय बाहर जाने का द्वार था, उसका ही प्रयोग वह अन्दर आने के लिये करता है। अतः साधक को प्रेरित किया कि इस द्वार से अब अन्तःप्रवेश करे अर्थात् साक्षिस्वरूप की प्राप्ति करे ॥ ३४ ॥

ब्रह्मानन्द नामक समग्र ग्रंथ का समापन करते हैं—

प्रीयाद्धरिर्हरोऽनेन

ब्रह्मानन्देन सर्वदा ।

पायाच्च प्राणिनः सर्वान् स्वाश्रिताञ्छुद्धानसान् ॥ ३५ ॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीविद्यारण्यमुनि-विरचितायां पञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे विषयानन्दो नाम पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥

॥ सम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः ॥

इस ब्रह्मानन्द से हरि और हर हमेशा प्रसन्न हों तथा अपने आश्रित, शुद्धमन वाले सब प्राणियों की रक्षा करें।

ग्रंथ का समापन कर रहे हैं। हरण करने वाले हर हैं। अज्ञान का हरण करने वाले भगवान् शंकर हैं। यह जो ब्रह्मानन्द प्रकरण लिखा है, इससे हरि और हर सदैव हमारे ऊपर प्रसन्न रहें और सभी प्राणियों का पालन भी करें। विष्णु और शंकर भगवान् का स्मरण इसलिये कि ये दो ही, सनातन धर्म में सबसे ज्यादा पूज्य हैं। विष्णु प्रवृत्ति मार्ग के अधिपति हैं। भगवान् शंकर निवृत्ति मार्ग के अधिपति हैं। भर्तृहरि ने लिखा है 'एको देवः केशवो वा शिवो वा' एक देव होना चाहिये, चाहे शंकर हो या विष्णु। 'एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा' एक मित्र होना चाहिये चाहे राजा हो या संन्यासी। 'एको वासो पतने वा वने वा' एक जगह रहने की होनी चाहिये, चाहे बड़ा नगर हो या जंगल होवे। 'एका नारी सुन्दरी वा दरी वा' एक ही पत्नी होनी चाहिये, चाहे सुन्दरी हो या गुफा हो। इस क्रम में पहला केशव है, उसके साथ पहले क्रम में भूपति, शहर और सुन्दर स्त्री हैं। ये तीनों ही प्रवृत्ति मार्ग के सूचक हैं। देवों में दूसरा शिव, मित्रों में संन्यासी, वासों में वन, पत्नियों में गुफा— ये सब निवृत्ति के संकेत हैं। भगवान् विष्णु प्रवृत्ति और भगवान् शंकर निवृत्ति मार्ग के अधिपति हैं। दोनों का उद्देश्य तो ब्रह्मानन्द की प्राप्ति है। प्रवृत्ति का उद्देश्य अंतःकरण की शुद्धि है, संसार चक्र में भटकने के लिये वह नहीं है। दोनों वृत्तियों का उद्देश्य एक ही है। भगवान् ने इसीलिये कहा कि सांख्य और योग अलग हैं, प्रवृत्ति-निवृत्ति अलग हैं—ऐसा मूर्ख लोग कहा करते हैं।

दोनों का उद्देश्य एक होने से वस्तुतः वे एक ही हैं। हरि और हर के द्वारा प्रवृत्ति-निवृत्ति को कह दिया। ब्रह्मानन्द से वे प्रसन्न हों, रक्षा करें। भगवान् ही सब की रक्षा करते हैं पर स्वयमेव ब्रह्मानन्द का पान नहीं कराते! जिन्होंने परमेश्वर का ही आश्रय लिया है, लौकिक आश्रय का सहारा जिन्होंने छोड़ दिया, उपयोग भले ही करते हैं पर सहारा केवल परमेश्वर का ही लेते हैं अतः परमेश्वर के ही आश्रित हैं, शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, उनकी वे सदैव रक्षा करें। सदैव प्रसन्न रहें और संरक्षण करें। परमेश्वर की प्रसन्नता यही है कि हमारी बुद्धि सदैव परमात्मा को ही विषय करे। जब बुद्धि में बाकी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, विषयों की, काम-क्रोध आदि की मलिनता नहीं रह जाती है, तब उसमें जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी को कहा जाता है वास्तविक रक्षा। आचार्य आशीर्वाद दे रहे हैं कि इस ग्रंथानुसार साधना करनेवालों का सदैव रक्षण होता रहे।

यह भी याद रहे कि हरिहर नामक राजा के मंत्री रहकर बाद में जब संन्यासी बनकर 'विद्यारण्यमुनि' हो गये, तब राजा ने प्रार्थना की, 'हमारे कल्याण का कोई रास्ता बताइये।' तब आचार्य ने इस पंचदशी की रचना की। अपना आश्रय देने वाला जो हरिहर राजा है, उसका चित्त इस ग्रंथ द्वारा शान्त हो जाये, और सदैव शुद्ध अन्तःकरण वाली जो उसकी प्रजा है, उसकी सदैव रक्षा करता रहे। इस तरह कर्तव्य-निर्देश भी कर दिया और प्राप्तव्य का निर्देश भी किया ही है। अर्थात् 'हरिहरः' से हरिहर नामक राजा ध्वनित है, वह इस ब्रह्मानन्द से प्रसन्न रहे एवं प्राणिरक्षारूप राजकार्य बिना विक्षेप के करे—यह सूचित भाव संभव है।

यद्यपि इस श्लोक में ब्रह्मानन्द-प्रकरण की समाप्ति मुखतः की है तथापि पंचदशी-प्रकरण का भी यहीं समापन है। इस ग्रन्थ में ब्रह्मानन्द का ही सर्वांगीण प्रतिपादन है। इस ग्रंथकरण से एवं इससे इंगित ग्रंथकार की स्थिति से परमेश्वर की प्रसन्नता ही प्रार्थित है। जीवन्मुक्त की समग्र चेष्टायें केवल ईश्वर-प्रसन्नतार्थ होती हैं। करुणापूर्ण होने से सभी सज्जनों के कल्याणार्थ भी प्रार्थना इसमें व्यक्त है। ॥३५॥

इस प्रकार यह ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ।

**अथ पञ्चदशीप्रकरणस्थ-श्लोकाद्यचरणप्रतीकानां
अकारादिवर्णानुक्रमणिका**

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
अक्षाणां विषय	३	२७	२९७	अतिबालः स्तनं	११	५०	१२२१
अक्षेष्वापिर्पिते	२	१३	१५३	अतीतेनापि म	९	४१	१०३६
अखण्डैकरसा	११	८२	१२४३	अतो निर्वचनी	१३	३६	१३९६
अग्निप्रवेशहे	११	१२७	१२७९	अत्यंतं निर्जग	२	४२	१९२
अग्निष्वात्तादयो	१४	३०	१४५५	अत्यंतबुद्धिमा	९	५४	१०५२
अचिदात्म घटा	६	१२७	५०६	अत्रापि कलहा	६	१०४	४७८
अचित्तरचना	६	१५१	५३९	अथ केन प्रयु	७	१५९	८४२
अचित्तरचना	६	२४६	६२५	अथ केयं भवे	१२	२१	१३०७
अचित्याः खलु ये	६	१५०	५३०	अथवा कृतकृत्योऽपि ७	२६८		९१७
अचेतनानां हे	६	१८७	५६९	अथवा कृतकृत्योऽपि १४	५५		१४६८
अज्ञस्याप्येतद	१४	३६	१४५७	अथवा योगिना	९	४८	१०४५
अज्ञातत्वेन ज्ञा	८	५	९४१	अथात्र विषया	१५	१	१४७५
अज्ञातो ब्रह्मणा	८	७	९४३	अदृष्ट्वा दर्पणं	१३	१०२	१४३४
अज्ञात्वा शास्त्रह	६	२७५	६५८	अद्वयानंदरू	१०	४	११५५
अज्ञानबिंबिता	११	७२	१२३७	अद्वितीयं ब्रह्म	६	२१४	५९२
अज्ञानमावृतिश्चैते	७	३८	६२१	अद्वितीयब्रह्म	६	२११	५८४
अज्ञानमावृतिस्तद्वत्	७	३३	७१५	अद्वितीयब्रह्म	६	२१७	५९५
अज्ञानवृत्तयः	११	६६	१२३२	अद्वैतः प्रलयो	११	२९	१२०८
अज्ञानस्याऽऽश्रयो	७	४३	७२५	अद्वैतसिद्धिर्यु	११	२७	१२०७
अज्ञानादपुम	९	१२०	१११३	अद्वैतानंदमा	१४	१०	१४४५
अज्ञानावृतिवि	७	२८	७०९	अद्वैतेऽभिमुखी	१३	६०	१४११
अज्ञानी विदुषा	६	२७	४०२	अधिक्षिप्तस्ताडि	७	२८८	९२६
अणुं वदन्त्यांत	६	७९	४५५	अधिष्ठानतया	६	२२	४१७
अणुर्महान्मध्य	६	७८	४५५	अधिष्ठानांशसं	७	७	६८६
अणोरणीयाने	६	८०	४५६	अधीतवेदवे	९	४०	१०३७
अत एव द्विती	२	५१	२०१	अध्येतावह्निरि	१२	४५	१३२८
अत एव श्रुति	३	३२	३०४	अध्येतृवर्गमध्यस्य	१	१२	३१
अत एवात्र दृष्टा	६	२२४	६०६	अनन्याश्चिन्तय	७	१०८	८०१
अतद्वयावृत्तिरू	७	८७	७६८	अनपहृत्य लो	७	१८०	८६०
अतिप्रसंग इ	९	९९	१०९०	अनात्मबुद्धिशै	९	१५६	११४९
अतिप्रसंगो मा	७	१३२	८२१				

१४९८ पञ्चदशी

अ	प्र	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
अनादाविह सं	१	५९	१२९	अपरोक्षज्ञान	७	४८	७३३
अनादिमायया	६	२२३	६०४	अपरोक्षत्वयो	७	५४	७३८
अनादृत्य श्रुतिं	२	३१	१८२	अपरोक्षशिला	९	२३	१०२०
अनिच्छति बली	१२	१२	१३००	अपरोक्षात्मवि	१	६४	९२३
अनिवृत्तेऽपीशसु	४	४०	३६१	अपि पाशुपता	७	२८०	९२३
अनुतिष्ठंतु क	७	२५६	९११	अपेक्षते व्यव	९	८९	१०८१
अनुतिष्ठंतु कर्मा	१४	४३	१४६१	अप्यब्धिपानान्म	७	१२१	८१२
अनुभूतेरभा	९	१५५	११४७	अप्रतीकाधिका	९	१४५	११३९
अनुष्ठानप्रका	९	६४	१०६०	अप्रमत्तो भव	२	७३	२१८
अनुसंदधतै	७	१२५	८१५	अप्रमेयमना	७	९५	७७७
अनुसृत्य गुरुः	९	४२	१०३७	अप्रवेश्य चिदा	६	२६२	६४६
अनूनो जायते	७	१७८	८५९	अबाधकं साध	४	४२	३६३
अनृतांशो न बो	१३	५६	१४०८	अभानावरणे	७	४६	७२९
अनेकजन्म भ	१०	३	११५४	अभाने न परं	१	११	१९
अनेकदर्पणा	८	२	९३८	अभाने स्थूलदे	१	३८	९४
अनेकधा विभि	१३	७८	१४२०	अमार्गेण विचाः	७	३६	७१७
अन्नजन्यं मनो	८	६१	९८३	अमिश्रं ज्ञानयो	१५	२२	१४८७
अन्नप्राणादिको	७	६५	७४७	अमुना वासना	१	६१	१३२
अन्नं प्राणो मनो	१	३३	८४	अयं जीवो न कू	६	२५	४१९
अन्यतायाः प्रति	६	५०	४३२	अयं यत्सृजते	६	१६०	५३८
अन्यत्रापि श्रुतिः	१२	५६	१३३८	अयथावस्तुवि	९	१२	१०१०
अन्यत्ववारकं	६	४२	४२८	अयथावस्तुस	७	२३५	८९९
अन्यथा मृत्तिका	९	११	१००९	अयमित्यपरो	७	२१	७०२
अन्यथा याज्ञव	७	१८४	८६२	अयमित्यपरो	७	४९	७३४
अन्यथेति विजा	७	११४	८०७	अर्थानामर्जने	७	१३९	८२८
अन्योन्यप्रेरणे	१२	९	१२९८	अर्थे व्याकरणा	११	८४	१२४३
अनोन्याध्यासम	६	१९०	५६४	अर्थोऽयमात्मगी	९	१५१	११४४
अनोन्याध्यासरू	६	१९३	५६७	अर्पकांतररा	३	१५	२८०
अन्योन्याध्यासरू	७	१०	६८८	अलभ्यमानस्त	१२	६५	१३४७
अन्यो विज्ञानम	६	७७	४५४	अवकाशात्मकं	२	६९	२१४
अन्वयव्यतिरे	१	३७	९०	अवकाशे विस्मृ	१३	७१	१४१७
अन्वयव्यतिरे	४	३२	३५१	अवज्ञातं सद	२	१०१	२३९
अपध्यसेविन	४	१५३	८३९	अवश्यं प्रकृतिः	६	२३१	६११
अपनीतेषु मूर्ते	३	३०	३०१	अवश्यं भाविभा	७	१५६	८४१

अकारादिवर्णानुक्रमणिका १४९९

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
अवस्थांतरता	१३	८	१३७७	असंदिग्धाविप	७	१९	७००
अवस्थांतरभा	१३	९	१३७८	असाधारण आ	१३	७७	१४२०
अवाङ्मनसग	८	७२	९९४	असाध्यः कस्यचि	१२	७३	१३६२
अवाङ्मनसग	९	५६	१०५५	अस्ति कूटस्थ इ	७	३१	७१२
अवान्तरेण वाक्ये	७	६९	७५३	अस्ति तावत्स्वयं	३	२३	२९३
अवास्तवी वेद्य	९	६१	१०५७	अस्ति ब्रह्मेति चे	६	१६	४१४
अविक्रियब्रह्म	१३	६६	१४१५	अस्ति भूस्तत्त्वशू	२	९४	२३५
अविचारकृतो	१०	५	११५६	अस्तु बोधोऽपरो	७	९७	७८२
अविद्यावशग	१	१७	३६	अस्ति वोऽनुजिघृ	१२	३	१२९०
अविद्यावासना	११	१३३	१२८६	अस्त्येवोपासक	९	११९	१११२
अविद्यावृतकू	६	३३	४२४	अस्थूलादेर्निषे	९	६९	१०६५
अविद्यावृतिता	६	५३	४३४	अस्पर्शयोगो ना	२	२९	१७९
अविद्वदनुसा	७	२८७	९२५	अस्मिन्कल्पे मनु	१४	२८	१४५५
अविनाश्ययमा	८	४०	९६५	अस्मिन्कल्पेऽश्वमे	१४	३१	१४५५
अविरोधिसुखे	११	१२८	१२८०	अस्मन्निद्राऽपि जी	८	६३	९८५
अविवेककृतः	६	२३२	६११	अस्य सत्त्वमस	६	१३१	५१३
अवेद्योऽप्यपरो	३	२८	२९९	अस्याः श्रुतेरभि	७	२	६७७
अव्यक्तादीनि भू	१३	६९	१४१६	अस्वतंत्रा हि मा	६	१३२	५१४
अव्याकुलधियां	९	१३३	११२५	अहंकारगते	६	२६४	६४८
अव्याकृतं पुरा	१३	६५	१४१४	अहंकारचिदा	६	२६१	६४४
अशक्यश्चेत्प्रती	१५	१६	१४८४	अहंकारं धियं	१०	१२	११६१
अशास्त्रीयमपि	४	४९	३७४	अहंकारः प्रभुः	१०	१४	११६३
अशेषप्राणिबु	६	१६१	५३८	अहंतास्वत्वयो	६	५१	४३३
अश्नाति वा न वा	७	११५	८०८	अहंतां ममतां	३	६	२६६
अश्रद्धालोरवि	९	२४	१०२१	अहंत्वाद्विद्यतां	६	४१	४२८
असत्ता जाड्यदुः	१५	२३	१४८७	अहंप्रत्ययबी	६	७१	४५०
असत्त्वांशो निव	७	५६	७४०	अहं ब्रह्मेति वा	७	९८	७८४
असत्यपि च बा	४	३३	३५३	अहं ब्रह्मेत्यनु	७	५१	७३६
असत्यालंबन	८	५७	९७१	अहं मनुष्य इ	७	२६२	९१३
असदेवेदमि	६	७५	४५२	अहं मनुष्य इत्या	१४	४९	१४६४
असद्ब्रह्मेति चे	३	२५	२९६	अहंवृत्तिरिदं वृ	६	७०	४४९
असंग एव कू	८	७०	९९१	अहंवृत्तौ चिदा	८	१८	९५१
असंगचिद्विभु	६	२२१	६०१	अहमर्थपरि	७	८८	७७०
असंगायाश्चित्तेर्ब	६	१००	४७१	अहमस्मीत्यहं	११	९६	१२५०
असंगोऽहं चिदा	७	१३	६९२	अहमित्यभिर्मता	१०	६	११५७

१५०० पञ्चदशी

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
अहो पुण्यमहो	७	२९६	१३२	आत्मानं चेद्विजा	१४	५	१४४०
अहो पुण्यमहो	१४	६३	१४७३	आत्मानंदोक्तरी	१४	११	१४४५
अहो शास्त्रमहो	७	२९७	१३४	आत्मानुकूल्याद	१२	२४	१३१२
अहो शास्त्रमहो	१४	६४	१४७४	आत्मा प्रेयान्प्रियः	१२	५५	१३३७
अन्तर्बहिर्वा स	१०	२२	११७०	आत्मा ब्रह्मेति वा	७	५८	७४१
अन्तर्मुखाऽहमि	१०	७	११५८	आत्माभासस्य जी	६	११	४१२
अंतर्मुखो य आ	११	६५	१२३१	आत्माभासाश्चया	८	२६	९५७
अंतर्यमयती	६	१७५	५५०	आत्माभिमुखधी	११	४४	१२१७
अंतर्यामिणमा	६	१२१	५०१	आत्मार्थत्वेन स	१२	३०	१३१७
अंतःकरणत	८	२५	९५७	आत्मा वा इदमि	४	३	३२३
अंतःकरणसं	७	८३	७६४	आत्मा वा इदमि	७	६८	७५१
अंतःकरणसं	७	८९	७७१	आत्मा शेष उपे	१२	५२	१३३५
अंतःकरणसा	७	८५	७६५	आत्माऽसंगस्ततो	९	१०४	१०९८
अंतःस्था धीः सहै	१०	१७	११६५	आदावविद्यया	७	२८१	९२३
अंत्यप्रत्ययतो	९	१३८	११३१	आदिमध्यावसा	७	६२	७४४
अंधः सन्नप्यनं	११	३४	१२११	आदौ मनस्तद	१३	२१	१३८९
अंशागृहीतेर्भा	७	५५	७३९	आद्ये गंधादयो	१२	७७	१३५८
आ				आद्यो विकार आ	२	६०	२०७
आकाशादिस्वदे	१३	२	१३७१	आद्यो विकार आ	१३	६७	१४१५
आकाशेऽप्येवमा	१३	७५	१४१९	आनंदमय ई	६	१९८	५७२
आगामिप्रतिबं	९	४५	१०४१	आनंदमयको	६	९४	४६७
आग्रहाद्ब्रह्मवि	१२	६९	१३५०	आनंदमयवि	६	२१२	५८६
आज्ञाया भीतिहे	६	१८०	५५४	आनंदरूपः सर्वा	८	५८	९८०
आतपाभातलो	६	२०४	५७८	आनंदस्त्रिविधो	११	११	११९३
आत्मतत्त्वं न जा	७	१८६	८६४	आनंदं ब्रह्मणो	११	५	११८४
आत्मधीरेव वि	७	१८९	८६६	आनंदादिभिर	९	७३	१०६८
आत्मनोऽन्यं प्रियं	१२	६३	१३४६	आनंदादेर्विधे	९	६८	१०६४
आत्मनो मनसा	६	९०	४६४	आनंदादेव त	१३	३	१३७३
आत्मब्रह्मविद्या	४	४४	३६६	आनंदादेव भू	११	१३	११९६
आत्मभेदो जग	६	२२८	६०८	आनुकूल्ये हर्ष	१३	७३	१४१८
आत्मा कतम इ	७	१९६	८७३	आपातदृष्टित	६	१९२	५६६
आत्मा देहादिभि	७	१११	८०४	आपातरमणी	७	१३८	८२६
आत्मानं चेद्विजा	७	१	६७५	आप्तोपदेशं वि	९	७७	१०७१
आत्मानं चेद्विजा	७	९६	७८०	आभास उदित	८	१३	९४९

अकारादिवर्णानुक्रमणिका १५०१

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
आभासब्रह्मणी	८	१७	१५१	इत्थं जागरणे	११	१३२	१२८६
आभासहीनया	८	८	१४४	इत्थं ज्ञात्वाऽप्यसं	६	२५७	६३८
आरब्धकर्मणि	१४	५०	१४६५	इत्थं तत्त्वविवे	१	६५	१३७
आरब्धकर्मनाना	६	२८७	६७१	इत्थं लौकिकदृ	६	१२८	५०७
आरंभवादिनः	१३	५२	१४०६	इत्थं वाक्यैस्तद	१	५३	११८
आरंभवादिनो	१३	७	१३७६	इत्थं सच्चित्परा	१	१०	२८
आरंभी परिणा	१३	५९	१४१०	इत्थमन्योन्यता	७	७७	७६०
आरोपितस्य दृ	६	३६	४२५	इदमंशं स्वतः	६	३७	४२६
आलस्यभ्रांतिं	२	१५	१६२	इदमो ये विशे	१०	८	११५९
आलंबनतया	७	७१	७५६	इदं गुणाक्रिया	१	५१	११६
आविर्भावतिरो	६	१८६	५६०	इदं त्वरूप्यते	६	३८	४२६
आविर्भावयति	६	१८३	५५८	इदं युक्तमिदं	१३	८८	१४२५
आवृत्तपापनु	७	२३७	१००	इदं रूपं तु य	३	३३	३०४
आस्तामेतद्यत्र	११	८५	१२४४	इदं रूप्यमिदं	६	४०	४२७
आस्तां दुस्तार्किकैः	६	५७	४३८	इदं सर्वं पुरा	२	१९	१६७
आस्तां शास्त्रस्य सि	७	८०	७६२	इदमग्रे सदे	४	६	३२४
आहारादित्यज	७	१२९	८१८	इदमंशश्च सत्य	६	३४	४२४
इ.				इमं कूटस्थदी	८	७६	९९९
इंद्रजालमिदं	७	१७४	८५६	इयं संसाररच	१३	२७	१३९१
इच्छाद्वेषप्रय	६	८९	४६३	इयमात्मा परा	१	८	२३
इति न्यायेन स	७	२०४	८७७	इषीकातृणतू	१४	१४	१४४६
इति वार्तिकका	६	१८९	५६३	इह वा मरणे	९	१५०	११४३
इति वार्तिकका	८	१२	९४७	इह वाऽमुत्र वा	९	३४	१०२९
इति वेदवचः	१३	१४	१३८३	ई			
इति शैवपुरा	८	५९	९८१	ईक्षणादिप्रवे	६	२१३	५८८
इति श्रुतिस्मृति	७	१०९	८०३	ईक्षणादिप्रवे	७	४	६८०
इति श्रुत्यनुसा	६	१२४	५०२	ईक्षणादिप्रवे	८	६९	९९०
इतोऽप्यतिशयं	९	६६	१०६२	ईक्षे शृणोमि जि	१०	१०	११६०
इत्यभिप्रेत्य भो	७	२२२	८९१	ईदृग्बोधेनेश्व	६	१७८	५५२
इत्यादिभिरुपा	१३	२८	१३९१	ईदृग्बोधे पुम	१३	४८	१४०३
इत्यादिभिस्त्रिभि	१२	३२	१३१८	ईदृशो महिमा	१३	८९	१४२६
इत्यादिश्रुतयः	१२	३७	१३२१	ईशकार्यं जीव	४	१८	३३९
इत्यादिश्रुतयो	११	१०	११९२	ईशनिर्मितम	४	२०	३४१
इत्युक्त्वा तद्विशे	६	८७	४६१	ईशविष्णवादयो	१२	१६	१३०३

१५०२ पञ्चदशी

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
ईशसूत्रविरा	६	२०६	५८०	ऋ.			
ईशेन यद्यप्ये	४	१७	३३८	ऋगादयो ह्यधी	१२	१७	१३०४
ईश्वरः सर्वभू	६	१७१	५४६	ए.			
ईश्वरेणापि जी	४	१	३२०	एक एव हि भू	१५	७	१४८०
ईषद्भासनमा	८	३२	९६०	एक एवाऽऽत्मा मं	७	२१४	८८६
उ.				एकमृत्पिण्डवि	१३	६१	१४११
उत्तमाधमभाव	६	२१८	५९७	एकमेवाद्विती	२	२६	१७३
उत्तरस्मिंस्ताप	९	६३	१०६०	एकमेवाद्विती	५	५	४०४
उत्सेक उदधे	११	१०९	१२६०	एकस्वभावं स	२	६१	२०७
उदासीनः सुखी	११	९३	१२४९	एकं त्यक्त्वाऽन्यदा	१२	२६	१३१३
उद्गीथब्राह्मणे	६	११२	४९०	एकादशेंद्रियै	२	१८	१६६
उपक्रमादिभि	६	१९५	५६९	एकीभूतः सुषु	११	६८	१२३३
उपदेशमवा	१	३२	८०	एकैव दृष्टिः का	११	१२९	१२८१
उपमृद्राति चि	९	९१	१०८३	एतत्क्षोपयो	६	२२७	६०७
उपस्थकुष्ठिनी	७	२३८	९०१	एतदालंबनं	९	१४९	११४२
उपादानं त्रिधा	१३	६	१३७५	एतद्विवक्षया	१२	३३	१३१९
उपादाने विन	६	५४	४३५	एतस्मात्किमिवे	६	१४७	५२८
उपायः पूर्वमे	७	११८	११८	एतस्मिन्नेव चै	८	५०	९७४
उपासक इव	९	९६	१०८७	एतस्मिन्भ्रांतिका	७	२३२	८९८
उपासकस्तु स	९	११६	१११०	एतस्य वा अक्ष	६	१८१	५५५
उपासकानाम	९	१३१	११२४	एते ज्वराः शरी	७	२२७	८९५
उपासनं नापि	९	१३६	११२८	एवं च कलहः	७	२७१	९१९
उपासनस्य सा	९	१४२	११३७	एवं च निर्जग	१३	१०४	१४३५
उपास्तयोऽत ए	७	१०५	७९७	एवं च सति बं	८	५५	९७८
उपास्तिं कर्म वा	१२	४	१२९२	एवं च सर्वग	६	९३	४६६
उपास्तीनामनु	९	२८	१०२४	एवं चान्योन्यवृ	७	२७३	९२०
उपेक्षिते लौकि	१३	९९	१४३९	एवं तत्त्वे परे	११	१२३	१२७६
उपेक्ष्यं द्वेष्यमि	१२	५१	१३३५	एवं तर्हि शृणु	६	२४५	६२५
उपेक्ष्य तत्तीर्थं	९	१३०	११२३	एवं ध्यानैकनि	९	८७	१०८०
उभयं तत्त्वबो	४	५०	३७५	एवं नास्ति प्रसं	९	१०५	१०९९
उभयं तृप्तिदी	१४	३९	१४५९	एवं मायामय	१३	३८	१३९७
उभयं मिलितं	७	१८७	८६५	एवं विद्वान्कर्म	११	६	११८५
उभयात्मक ए	७	१९७	८७२	एवं विविच्य पु	१२	६८	१३४८
उष्णः स्पर्शः प्रभा	२	४	१४३	एवं विवेचिते	७	२१६	८८८

अकारादिवर्णानुक्रमणिका १५०३

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
एवं श्रुतिविचा	२	६६	२११	कर्तृत्वकरण	३	८	२७१
एवं सति महा	७	७९	७६१	कर्तृत्वादीन्बुद्धि	८	५२	९७५
एवं स्थितेऽत्र यो	१५	२५	१४८८	कर्म जन्मांतरे	११	७३	१२३८
एवं स्थिते विवा	१२	६१	१३४४	कर्मभिः प्रेरितः	११	७५	१२३९
एवमन्ये स्वस्व	६	१२०	५००	कर्मोपास्ती विचा	९	२६	१०२३
एवमाकाशमि	२	७७	२२४	काचिदंतर्मुखा	३	९	२७२
एवमादिषु शा	७	१४१	८२९	का ते भक्तिरुपा	९	६२	१०५९
एवमानंदवि	६	२२६	६०७	का बुद्धिः कोऽय	८	५३	९७६
एवमारब्धभो	७	२४५	९०५	काम एष क्रोधः	७	१६०	८४३
एष मध्ये बुभु	७	२८६	९२५	कामक्रोधादयः	७	२२५	८९३
एषा ब्राह्मी स्थितिः	२	१०३	२४१	काम्यलाभे हर्ष	१५	१७	१४८४
एषोऽस्य परमा	१५	२	१४७६	काम्यादिदोषदृ	४	५८	३८५
ऐ.				कारणज्ञानतः	१३	५४	१४०७
ऐंद्रजालिकनि	१३	३७	१३९७	कारणे सत्त्वमा	१	३६	८९
ऐहिकं चाऽऽमुष्मि	१४	४	१४३९	कार्यादाश्रयत	१३	२९	१३९२
ऐहिकामुष्मिकः	६	२४०	६१९	कार्योत्पत्तेः पुरा	१३	३२	१३९४
ऐहिकामुष्मिक	७	२५३	९०९	कालाभावे पुरे	२	३८	१८७
ऐहिकामुष्मिक	१४	४०	१४५९	कालेन परिप	९	३७	१०३१
औ.				काव्यनाटकत	७	२०६	८७९
औदासीन्यं विधे	६	२७०	६५३	काष्ठे त्वौष्ण्यप्रका	१५	११	१४८२
औदासीन्ये तु धी	१५	२९	१४९०	किमद्वैतमुत	११	२६	१२०७
क.				किमिच्छन्निति वा	७	२५१	९०८
कंचित्कालं प्रबु	११	७४	१२३९	कियंतं कालमि	६	२४८	६२८
कथं तर्हि किमि	७	१६३	८४६	किं कूटस्थश्चिदा	७	१९४	८७१
कथं तादृङ् मया ग्रा	१०	२४	११७२	किं मंत्रजपव	७	११३	८०६
कथं न्विदं साक्ष	८	३७	९६२	कीदृक्तर्हीति चे	३	२६	२९७
कथं प्रविष्टोऽसंग	८	३८	९६३	कुतस्तज्ज्ञानमि	९	३९	१०३७
कथनादौ न नि	७	१२२	८१३	कुमारादिवदे	११	५४	१२२४
कदाचित्कत्वतो	३	१०	२७४	कुर्वते कर्म भोगाय	१	२९	७२
कदाचित्पिहिते	२	८	१४७	कुलालव्यापृतेः	१३	३४	१३९५
कर्णादिगोलक	२	७	१४६	कुलालाद् घट उ	१३	४	१३७३
कर्तव्यं कुरुते	२	३७	१८७	कूटस्थब्रह्मणो	६	२३७	६१६
कर्ता भोक्तेत्येव	७	३२	७१४	कूटस्थमनुप	६	१३४	५१६
कर्तारं च क्रियां	१०	९	११६०	कूटस्थसत्यतां	७	२००	८७४
				कूटस्थादिशरी	६	६०	४४२

१५०४ पञ्चदशी

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
कूटस्थासंगमा	६	१३३	५१५	गंधर्वपत्तने	७	१३७	८२६
कूटस्थे कल्पिता	६	२३	४१७	गुणानां लक्षक	९	७२	१०६६
कूटस्थेऽप्यतिशं	८	६५	९८७	गुहाहितं ब्रह्म	३	१	२५३
कूटस्थो ब्रह्म जी	६	१८	४१५	गुंजापुंजादिद	७	२५९	९१२
कूटस्थोऽस्मीति बो	७	१६	६९६	गुंजापुंजादिद	१४	४६	१४६३
कृतकृत्यतया	७	२९१	९२८	गूढं चैतन्यमु	६	९५	४६८
कृतकृत्यतया	१४	५८	१४००	गृहकृत्यव्यस	९	८६	१०८०
कृत्वा रूपांतरं	४	१०	३२८	गृहक्षेत्रादिवि	१५	१४	१४८३
कृशोऽहं पुष्टिमा	१२	४६	१३२९	गृहांतरगतः	१०	१८	११६५
कृषिवाणिज्यसे	७	१२४	८१४	गृहीतो ब्राह्मणो	७	२३९	९०२
केषांचित्स विचा	९	५३	१०५०	गोदावर्युदकं	९	८	१००७
कोऽयमात्मेत्येव	७	१९९	८७३	गौडाचार्या निर्वि	२	२८	१७६
कोशोपाधिविव	३	४१	३१५	ग्रंथमभ्यस्य मे	४	४६	३७०
कौशलानि विव	७	२०९	८८९	ग्रंथिभेदात्पुरा	६	२६५	६४९
क्रमाद्विच्छिद्य वि	८	२०	९५३	ग्रंथिभेदेऽपि सं	६	२६३	६४६
क्रमेण युगप	६	१९९	५७३	घ			
क्लेशकर्मविपा	६	१०५	४७९	घटः स्वयं न जा	६	४४	४२९
क्वचित्काश्चित्कदा	१३	१९	१३८८	घटादौ निश्चिते	९	९४	१०८५
क्षणे क्षणे जन्म	६	७२	४५०	घटावच्छिन्नखे	६	१९	४१६
क्षणे क्षणे मनो	१३	९६	१४३०	घटे द्विगुणचै	८	२२	९५४
क्षत्रियोऽहं तेन	१२	१४	१३०१	घटे भग्ने न मृ	१३	५०	१४०५
क्षयातिशयदो	४	५३	३७९	घटैकाकारधी	८	४	९४०
क्षीरादौ परिणा	१३	५१	१४०५	घटोऽयमित्यसा	८	१६	९५०
क्षुत्पिपासादयो	६	२४९	६२९	घोरमूढधियो	१५	२४	१४८८
क्षुधया पीड्यमा	७	१४२	८२९	घोरमूढासु मा	१५	९	१४८१
क्षुधेव दृष्ट्वा	७	११७	८१०	च.			
ख.				चक्षुर्दीपावपे	७	९३	७७६
खं वाय्वग्निजलो	४	४	३२४	चतुर्भुजाद्यव	९	१६	१०१४
खादित्यदीपिते	८	१	९३७	चतुर्मुखेन्द्रदे	५	२	४०२
खानिलाग्निजलो	१३	९१	१४२७	चतुर्वेदविदे	११	८०	१२४२
ग.				चंचलं हि मनः	७	१२०	८११
गतिस्पर्शी वायु	१३	७६	१४२०	चिच्छायावेशतः	३	४०	३१४
गर्भ एव शया	९	३५	१०३०	चित्तमत्त्वाच्चेत	६	९१	४६४
गंधरूपरस	१२	७५	१३५७	चित्तमेव हि सं	११	११३	१२६३
				चित्तस्य हि प्रसा	११	११४	१२६५

अकारादिवर्णानुक्रमणिका १५०५

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
चित्तैकाग्र्यं यथा	७	२०८	८८०	जगद्योनिर्भवे	६	१८२	५५६
चित्रदीपमिमं	६	२९०	६७४	जगन्मिथ्यात्वधी	७	१३६	८२५
चित्रस्थपर्वता	६	९	४११	जगन्मिथ्यात्वव	७	१९२	८६९
चित्रार्पितमनु	६	६	४०९	जडं मोहात्मकं	६	१२६	५०४
चित्प्रत्यक्षा ततो	६	२५६	६३७	जडो भूत्वा तदा	६	९६	४६८
चित्संनिधौ प्रवृ	६	१०२	४७४	जनकादेः कथं	७	१३०	८१८
चिदप्यचिन्त्यर	६	२५३	६३४	जन्मादिकारण	७	६३	७४५
चिदानंदौ नैव	१२	७६	१३५८	जपयागोपास	७	२०७	८७९
चिदाभासविशि	८	३	९३९	जलपाषाणम्	६	२०८	५८०
चिदाभासांतधी	८	६	९८२	जलव्योम्ना घटा	६	२४	४१८
चिदाभासेऽप्यसं	७	२३०	८९७	जलस्थेऽधोमुखे	१३	९४	१४२९
चिदाभासे स्वतः	७	२२९	८९६	जलाभ्रोपाध्यधी	६	२२५	६०६
चिदेवाऽऽत्मा जग	७	१२३	८१४	जले प्रविष्टश्चंद्रो	१५	८	१४८०
चिद्रूपत्वं च सं	८	६२	९८४	जागरणस्वप्न	१२	५८	१३४०
चिद्रूपेऽपि प्रस	६	२५०	६३१	जाग्रत्स्वप्नजग	६	१५२	५३२
चिरं तयोः सर्व	७	१७३	८५३	जाग्रत्स्वप्नसुषु	७	२१३	८८५
चिंतयेद्वह्निम	२	८७	२३२	जाग्रद्व्यावृत्तिभिः	११	४३	१२१६
चेतनाचेतन	६	४५	४३०	जाड्यांशः प्रकृते	६	९९	४७०
चेतनाचेतने	१३	९२	१४२७	जातस्य ग्रहरो	१२	६६	१३४७
चैतन्यं द्विगुणं	८	१५	९५०	जातिव्यक्ती देहि	२	७१	२१६
चैतन्यं यदधि	४	११	३२८	जानामि धर्मं न	६	१७६	५५१
चैतन्यवत्सुखं	१२	७३	१३५६	जानाम्यहं त्वदु	११	७९	१२४२
चोद्यं वा परिहा	२	३९	१८९	जिते तस्मिन्वृत्ति	४	६३	३९१
चोद्येऽपि यदि चो	६	१३८	५२१	जिह्वेति व्यवह	७	२२०	८९०
छ.				जिह्वा मेऽस्ति न वे	३	२०	२८७
छिद्रानुवृत्तिर्ने	२	८२	२२७	जीवद्वैतं तु शा	४	४३	३६५
ज.				जीवन्मुक्तिरियं	४	५२	३७७
जक्षन्क्रीडन् रतिं	१४	१९	१४४९	जीवन्मुक्तेः परा	४	६९	३९७
जगच्चित्रं स्वचै	६	२८९	६७३	जीवात्मनिर्गमे	६	६२	४४४
जगतो यदुपा	१	४४	१०५	जीवात्मा परमा	१४	६	१४४२
जगत्तदेकदे	८	५१	९७४	जीवानामप्यसं	६	१०८	४८५
जगत्सत्यत्वमा	७	१७७	८५८	जीवापेतं वाव	८	४१	९६६
जगदव्याकृतं	४	८	३२५	जीवोपाधिमन	११	४८	१२१९
जगद्भ्रमस्य स	८	४९	९७२	जीवोऽसंगत्वमा	६	२२९	६१०

१५०६ पञ्चदशी

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	तत्साक्षात्कारसि	६	१७	४१५
ज्ञस्या भाति सदा	२	७५	२२२	तत्सामर्थ्याज्जाय	९	१४०	११३४
ज्ञात इत्युच्यते	८	९	१४६	तथा च विषया	११	८८	१२४६
ज्ञातताज्ञातते	८	२३	१५५	तथाऽपि पुंविशे	६	१०६	४८२
ज्ञातत्वं नाम कुं	८	१०	१४६	तथा सति स्वसु	११	३८	१२१३
ज्ञात्वा सदा तत्त्व	६	२१५	५९३	तथा तद्वस्तुनो	२	२१	१७०
ज्ञानद्वयेन न	७	४४	७२६	तथा स्वप्नेऽत्र वे	१	४	१६
ज्ञानिताज्ञानिते	७	१४	६९३	तथाऽन्तर्याम्ययं	६	१७०	५४५
ज्ञानिनोऽज्ञानिन	७	१३३	८२३	तदभ्यासेन विद्या	१३	८२	१४२३
ज्ञानिनो विपरी	६	२४१	६२१	तदर्थस्य च पा	७	७८	७६१
ज्वरेणाऽऽप्तः सनि	९	९	१००७	तदा स्तिमितगं	२	४०	१९०
झ.				तदित्थं तत्त्ववि	९	११४	११०७
झटित्यध्यास आ	६	२५१	६३२	तदिष्टमेष्टव्य	७	१९०	८६७
त.				तदेतत्कृतकृ	७	२५४	९१०
तच्चिंतनं तत्क	७	१०६	७९८	तदेतत्कृतकृ	१४	४१	१४६०
तच्चिंतनं तत्क	१३	८३	१४२३	तद्धनत्वं साक्षि	११	७१	१२३६
तच्चेद्विरोधिके	६	३२	४२३	तद्भोगाय पुन	१	२६	५८
तच्छमस्यापनु	११	४५	१२१७	तद्विवेकाद्विवि	१	४०	९८
ततो निरंश आ	१३	१०	१३७९	तपसा स्वर्गमे	१२	४७	१३३०
ततोऽभिज्ञापकं	९	११८	१११२	तमःप्रधानः क्षेत्रा	६	१८८	५६२
तत्कारणं सांख्य	९	१३५	११२६	तमःप्रधानप्र	१	१८	३९
तत्तेदंते अपि	६	४७	४३१	तमेव धीरो वि	४	४७	३७०
तत्तेदंते स्वता	६	४९	४३२	तमेव धीरो वि	७	१०७	८००
तत्त्वनिश्चयका	६	१२२	५०१	तमेव विद्वान	११	८	११८८
तत्त्वबोधं क्षयं	६	२७१	६५५	तमेवैकं विजा	४	४८	३७३
तत्त्वबोधः प्रधा	६	२८१	६६७	तमेवैकं विजा	७	१२८	८१७
तत्त्वभावनया	७	११२	८०६	तर्हि कारणावि	१३	५७	१४०९
तत्त्वमस्यादिवा	७	७४	७५८	तर्हि साधनज	११	४१	१२१५
तत्त्वविद्यदि न	९	९८	१०८९	तर्ह्यज्ञोऽहं ब्रह्म	७	४२	७२५
तत्त्वविस्मृतिमा	७	१२६	८१६	तर्ह्यस्तु सात्त्विकी	१२	२२	१३१०
तत्त्वस्मृतेरव	७	१२७	८१६	तस्मात्कुतर्क	८	६८	९८९
तत्त्वं बुद्धाऽपि का	४	५४	३७९	तस्मादात्मा महा	६	८६	४६०
तत्पादांबुरुह	१	२	९	तस्मादाभासपु	७	१८	६९८
तत्प्रेमात्मार्यम	१	९	२६	तस्माद्वेदांतसं	२	१०९	२५१
तत्र तत्रोचिते	१२	५०	१३३४	तस्मान्मुमुक्षुभि	६	२१९	५९७
तत्र तं बुद्धिसं	९	४९	१०४६	तस्य हेतुः समा	१	१४	३३
				तंतुः पटे स्थितो	६	१६५	५४१

अकारादिवर्णानुक्रमणिका १५०७

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
तंतूनां दिनसं	६	५५	४३६	द.			
तंतोर्वियुज्येत	७	२२८	८९५	दग्धबीजमरो	७	१६५	८४८
तंतोः संकोचवि	६	१६९	५४५	दर्शनादर्शने	४	६८	३९६
तं विद्यादुःखसं	११	१०७	१२५८	दशमः क इति	७	५९	७४२
तात्कालिकद्वैत	४	३९	३५९	दशमामृतिला	७	२४८	९०७
तादात्म्याध्यास ए	६	५२	४३४	दशमोऽपि शिर	७	२४७	९०६
तादृक्त्वादेव त	१३	७२	१४१८	दशमोऽस्तीत्य विभ्रान्तं	७	५७	७४०
तादृक्पुमानुदा	११	१२१	१२७५	दशमोऽस्मीति वा	७	६०	७४२
तादृशेनापि बो	७	१७	६९६	दिगंबरा मध्य	६	८२	४५६
ताभ्यां निर्विचिकि	१	५४	१२४	दिङ्मात्रेण विभा	६	२४३	६२३
तामसैर्नोभयं	२	१६	१६२	दिने दिने स्वप्न	२	१०७	२४८
तावता कृतकृ	९	७६	१०७०	दीपप्रभामणि	९	६	१००६
तावता मुक्तिरि	६	१७९	५५३	दीपोऽपवरक	९	३	१००४
तिष्ठंतु मूढाः प्र	९	६७	१०६४	दुःखनाशार्थमे	११	४०	१२१४
तिष्ठत्त्वज्ञानत	७	२८२	९२३	दुःखप्राप्तौ न चो	११	१३१	१२८४
तित्तिणीफलमि	१२	७९	१३६०	दुःखाभाववदे	१४	१८	१४४९
तुच्छाऽनिर्वचनी	६	१३०	५१०	दुःखाभावश्च का	१४	३	१४३८
तृणार्चकादियोगा	६	२१६	५९४	दुःखाभावश्च का	१४	३८	१४५९
तृप्तिदीपमिमं	७	२९८	९३६	दुःखिनोऽज्ञाःसंस	१४	४२	१४६०
तृष्णा स्नेहो राग	१५	४	१४७८	दुःखिनोऽज्ञाःसंस	७	२५५	९१०
ते आत्मत्वेऽप्यनु	६	४८	४३२	दुर्घटं घटया	६	२३४	६१३
ते परागदर्शिनः	१	२९	७२	दूरदेशं गते	४	३४	३५४
तेन द्वैतमप	७	१८२	८६१	दूरे प्रभाद्वये	९	४	१००७
तैजसा विश्वतां	१	२९	७२	दृश्यं नास्तीति बो	४	६४	३९२
तैरंडस्तत्र भु	१	२८	६५	दृश्यमानस्य स	५	८	४०५
तैरंतःकरणं	१	२०	४२	दृष्टांतः परसु	११	३०	१२०९
तैस्तैः काम्येषु स	१४	३४	१४५६	दृष्टांताः शकुनिः	११	४६	१२१८
तैः सर्वैः सहितैः	१	२२	४६	देवं मत्वा हर्ष	११	९	११९१
त्यक्तुं योग्यस्य दे	१२	२९	१३१५	देवत्वकामा ह्य	७	२४२	९०४
त्यज्यतामेष का	४	५९	३८६	देवदत्तस्तु सिं	१२	४०	१३२२
त्रयाभावे तु वि	११	१६	११९९	देवदत्तः स्वयं	६	३९	४२७
त्रयोऽप्यत्यंतप	६	२८२	६६८	देवात्मशक्तिं स्व	१३	१३	१३८२
त्रितयीमपि तां	१	४६	१०९	देवार्चनस्नान	७	२६९	९१८
त्रिषु धामसु य	७	२१५	८८६	देवार्चनस्नान	१४	५६	१४६९
त्वमेव दशमो	७	२७	७०८	देशः कोऽपि न भा	१०	२१	११६९

१५०८ पञ्चदशी

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
देशकालान्यव	३	३६	३०७	धन्योऽहं-दुःखं	१४	६०	१४७०
देहतादात्म्यमा	११	९२	१२४८	धन्योऽहं-नित्यं	१४	५९	१४७०
देहदोषांश्चित्त	१४	२५	१४५३	धर्ममेघमिमं	१	६०	१३१
देहद्वयचिदा	७	३७	७१८	धर्मधर्मवशा	१२	२	१२९०
देहवदघटथा	६	१४८	५२९	धात्र्येति कथिता	१३	२६	१३९१
देहवाग्बुद्ध्य	७	२७५	९२१	धीयुक्तस्य प्रवे	८	३६	९६२
देहात्मज्ञानव	७	२०	७०१	धीरत्वमक्षप्रा	११	१२४	१२७७
देहादभ्यन्तरः	३	२	२५५	धीवृत्त्याभासकुं	८	१४	९४९
देहादिपञ्जरं	६	१७३	५४८	ध्यातृध्याने परि	१	५५	१२६
देहादेः प्रतिकू	१२	८६	१३६४	ध्यानं त्वैच्छिकमे	९	९७	१०८८
देहाद्यात्मत्ववि	९	२१	१०१७	ध्यानदीपमिमं	९	१५८	११४९
देहाभिमानं वि	९	१५७	११४९	ध्यानान्मानाद्युक्ति	२	७४	२२१
देहे मृतेऽपि बु	८	३५	९६२	ध्यानोपादानकं	९	११७	११११
देहेंद्रियादयो	६	१४४	५२६	ध्यायतो विषया	४	६०	३८७
देहेंद्रियादिषु-	८	४८	९७१	न.			
देहोपलमपा	९	१५४	११४७	न काऽपि चिन्ता मे	११	९५	१२५०
दोषदृष्टिर्जिहा	६	२७८	६६२	न किञ्चिद्वेत्ति बा	९	१०७	११००
द्रवत्वमुदके	६	१३५	५१८	न कुड्यसदृशी	८	२९	९५९
द्रष्टुर्दृष्टेरलोप	६	९७	४६९	न कृत्स्नब्रह्मवृ	२	५४	२०३
द्वयं यस्यास्ति त	९	११०	११०३	न घोरासु न मू	१५	१३	१४८२
द्विगुणीकृतचै	८	२४	९५६	न चात्रैतद्वार	७	१५४	८४०
द्वित्र्यांतरत्वक	६	१६७	५४२	न चेश्वरत्वमी	७	१५७	८४२
द्विधा विधाय चै	१	२७	६४	न जातु कामः का	७	१४७	८३४
द्वैतस्य प्रतिभा	१२	८७	१३६५	न जानामि किम	६	१४६	५२८
द्वैतावज्ञा सुस्थि	२	१०२	२४०	न जानामीत्युदा	७	३५	७१६
द्वैतेन हीनम	६	२४४	६२४	न तत्त्वमोरुभाव	६	२२२	६०२
द्वौ न जातौ तथै	१३	२३	१३९०	न तत्र मानापे	१०	२५	११७५
ध.				न दुःखाभावमा	११	३५	१२९२
धन्योऽहं धन्योऽहं	७	२९२	९२९	नद्यां कीटा इवा	१	३०	७५
धन्योऽहं धन्योऽहं	७	२९३	९२९	नद्यां ममार द	७	२५	७०७
धन्योऽहं धन्योऽहं	७	२९४	९३१	न द्वेष्टि संप्रवृ	६	२६९	६५२
धन्योऽहं धन्योऽहं	७	२९५	९३१	न द्वैतं भासते	११	१००	१२५२
धन्योऽहं कर्तव्यं	१४	६१	१४७१	न ध्यानं ज्ञानयो	१५	३०	१४९१
धन्योऽहं-तृप्तेर्मे	१४	६२	१४७२	न निरूपयितुं	६	१४१	५२३

अकारादिवर्णानुक्रमणिका १५०९

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	नाभ्युपैम्यहम	११	२५	१२०६
न निरोधो न चो	६	२३५	६१४	नामरूपोद्भव	२	२३	१७१
न निरोधो न चो	८	७१	९९३	नायं क्लेशोऽत्र सं	७	१४५	८३३
ननु ज्ञानानि भि	४	२४	३४३	नायं दोषश्चिदा	७	१५	६९४
ननु तूष्णीं स्थितौ	११	७७	१२४०	नार्थः पुरुषका	६	१७७	५५२
ननु देहमुप	३	११	२७७	नाविद्या नापि त	७	२७८	९२२
ननु द्वैते सुखं	११	२२	१२०४	नासदासीद्विभा	६	१२९	५०८
ननु प्रियतम	१२	८०	१३६१	नासदासीन्नो स	२	५०	२००
ननु भूम्यादिकं	२	४१	१९१	नासंगेऽहंकृति	७	९	६८७
ननु सद्ब्रह्म	२	८३	२२७	नाहं ब्रह्मेति बु	८	४२	९६६
नन्वेवं वासना	१२	१	१२८९	निजस्थानस्थितः	१०	१९	११६६
न पत्युरर्थे सा	१२	८	१२९८	निजानन्दे स्थिरे	१३	७४	१४१९
न पृथ्वादिर्न श	१३	३१	१३९३	नित्यज्ञानप्रय	६	१०९	४८५
न प्रीतिर्विषये	१२	८५	१३६४	नित्यज्ञानादिम	६	१११	४८९
न बाल्यं यौवने	१३	९७	१४३०	नित्यनिर्गुणरू	९	१३९	११३३
न बाह्यो नांतरः	१०	२०	११६६	नित्यानुभवरू	७	२६६	९१६
न भाति नास्ति कू	७	३०	७११	नित्यानुभवरू	१४	५३	१४६७
न भाति नास्ति द	७	२४	७०६	निद्राभिक्षे स्नान	७	२५८	९१२
न भाति भेदो ना	१२	४२	१३२५	निद्राभिक्षे स्नान	१४	४५	१४६२
नमः श्रीशंकरा	१	१	३	निद्रायां तु सुखं	१२	४२	१२१५
न मृतो दशमो	७	२६	७०७	निद्राशक्तिर्यथा	१३	८६	१४२५
न युक्तस्तमसा	२	३३	१८३	नियमेन जपं	७	११६	८०९
न लभ्यते मणि	९	५	१००७	निरधीष्ठानवि	६	७६	४५३
नवसंख्याहत	७	२३	७०४	निरंतरं भास	१०	१३	११६२
न वेत्ति लोको या	६	१३६	५१८	निरंशस्योभया	६	९८	४६९
न व्यक्तेः पूर्वम	१३	६८	१४१६	निरंशेऽप्यंशमा	२	५८	२०५
न व्यापित्वाद्देश	३	३५	३०६	निरिच्छमपि र	१२	११	१२९९
न सद्ब्रह्म सतः	२	४८	१९८	निरुक्तावभिभा	६	१४९	५३०
न हि धीभावभा	८	३४	९६१	निरुपाधिब्रह्म	१५	३३	१४९३
न ह्याहारादि सं	६	२७३	६५६	निरूपयितुमा	६	१४३	५२६
नाद्वैतमपरोक्षं	६	२४२	६२२	निरोधलाभे पुं	९	१२७	१११९
नानिच्छंतो न चे	७	१६२	८४५	निर्गुणब्रह्मत	९	५५	१०५४
नानुतिष्ठति को	९	६५	१०६१	निर्गुणब्रह्मत	९	७०	१०६५
नानुभूतिर्न दृ	११	२८	१२०८	निर्गुणोपासनं	९	१२६	१११७
नाप्रतीतिस्तयो	६	१३	४१३	निर्गुणोपास्तिसा	९	१४६	११४०

१५१० पञ्चदशी

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
निर्जगद्वयोम	२	४३	१९२	पटरूपेण सं	६	१६८	५४४
निर्णीतोऽर्थः कल्प	९	२७	१०२३	पटादप्यान्तर	६	१६६	५४१
निर्बन्धस्तत्त्ववि	७	१७५	८५७	पतिजायादिकं	७	१९३	८७०
निर्विकल्पसमा	७	१८५	८६४	पतिर्जाया पुत्र	१२	६	१२९५
निर्विकारासंग	९	१२८	११२१	पत्याविच्छा यदा	१२	७	१२९७
निवृत्त एव य	१३	४६	१४०२	परप्रेमास्पद	१२	७२	१३५४
निवृत्ते सर्वसं	७	४७	७३२	परमात्माऽद्वया	१०	१	११५२
निश्चित्य सकृदा	९	९५	१०८६	परमात्मावशे	६	१४	४१३
निश्चेष्टत्वात्परः	११	३१	१२१०	परव्यसनिनी	९	८४	१०७८
निश्छिन्दे दर्पणे	१३	१०१	१४३३	परव्यसनिनी	११	१२२	१०७१
निष्कामत्वे समे	१४	२६	१४५४	परसंगं स्वाद	९	८५	१०७९
निष्कामोपासना	९	१४३	११३७	परागर्थप्रमे	८	११	९४७
निस्तत्त्वत्वाद्भिना	१३	४३	१४००	परात्मा सच्चिदा	१४	७	१४४२
निस्तत्त्वरूपतै	२	८४	२२८	परापरब्रह्म	९	१४८	११४९
निस्तत्त्वं भासमा	१३	४१	१३९८	परापरात्मनो	१	४३	१०२
निस्तत्त्वाकार्यग	२	४७	१९७	परामर्शोऽनुभू	११	६०	१२२७
निस्तत्त्वे नामरू	१३	७९	१४२१	परिज्ञायोपभु	७	१४८	८३५
निन्दितस्तूयमा	७	२८९	९२७	परिणामे पूर्व	१३	४९	१४०४
नीरपूरितभा	११	९७	१२५०	परोक्षं ब्रह्मवि	१	६३	१३४
नीरोग उपवि	२	१०६	२४५	परिपूर्णः परा	५	३	४०३
नीलपृष्ठत्रिको	६	३५	४२५	परिमाणाविशे	८	३१	९५९
नृत्यशालास्थितो	१०	११	११६१	परोक्षज्ञानका	७	५०	७३४
नेत्रे जागरणं	११	९१	१२४८	परोक्षज्ञानतो	७	४५	७२८
नेन्द्रियाणि न दृ	११	३२	१२१०	परोक्षज्ञानम	९	३१	१०२६
नैतावताऽपरा	७	२४६	९०६	परोक्षत्वापरा	९	१७	१०१४
नैवं जानन्ति मू	६	२६६	६५०	परोक्षमपरो	७	२२	७०३
नैवं ब्रह्मत्वबो	७	८४	७६५	परोक्षा चापरो	६	१५	४१४
नैष दोषो यतो	७	१५२	८३९	पादोऽस्य सर्वा भू	२	५५	२०४
नैष्कर्म्यसिद्धाव	८	४४	९६८	पामराणां व्यव	९	१२१	१११४
नैष्कर्म्येण स त	९	१०३	१०९५	पारोक्ष्येण विबु	७	६७	७४९
नोभयं श्रोत्रिय	१४	२७	१४५४	पितापि सुप्ताव	११	५६	१२२५
न्यूनाधिकशरी	६	८४	४५८	पितृत्वाद्यभिमा	११	५७	१२२६
प.				पितृभुक्तान्जना	३	३	२५८
पञ्चकोशपरि	३	२२	२९१	पुंविशेषत्वम	६	११०	४७६
पञ्चोक्त्यादानग	२	१०	१४९	पुण्यपापद्वये	१४	१२	१४४६

अकारादिवर्णानुक्रमणिका १५११

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
पुत्रदारेषु त	७	२३३	८९८	प्रधानक्षेत्रज्ञ	६	१०३	४७५
पुत्रादेरविव	३	४२	३१७	प्रमाणोत्पादिता	२	१०८	२४९
पुत्रार्थं तमुपा	६	११६	४९४	प्रलये तन्निवृ	४	४१	३६३
पुनर्द्वैतस्य व	६	२४७	६२७	प्रवहत्यपि नी	१३	१००	१४३२
पुनस्तिरोभाव	६	१८४	५५९	प्रवृत्तावाग्रहो	७	२८४	९२४
पुनः पुनर्विचा	९	३८	१०३४	प्रवृत्तिर्नोपयु	७	२७६	९२१
पुमानधोमुखो	१३	४७	१४०२	प्रवृत्तौ वा निवृ	६	२६७	६५१
पुरत्रयं साद	६	११९	४९८	प्रशान्तमनसं	११	१०३	१२५५
पुरुषस्येच्छया क	९	८०	१०७३	प्रश्नोत्तराभ्यामे	७	१५८	८४२
पूर्णे बोधे तद	६	२८४	६६९	प्रसरति हि चो	६	१३७	५१९
पूर्णे देहे बलं	३	५	२६३	प्रस्थेन दारुजे	८	३०	९५९
पूर्वकल्पे कृता	१४	२९	१४५५	प्रागभावयुतं	६	२५५	६३६
पूर्वजन्मन्यस	३	४	२६२	प्रागभावो नानु	६	२५४	६३५
पूर्वपक्षतया	६	२२०	५९९	प्रागूर्ध्वमपि नि	११	७६	१२४०
पूर्वापरपरा	६	५९	४४०	प्राज्ञस्तत्राभिमा	१	२४	५२
पूर्वाभ्यासेन ते	९	५०	१०४७	प्राणो जागर्ति सु	६	६६	४४६
पृथक्कृतायां सत्ता	२	९५	२३५	प्राप्य पुण्यकृतां	९	४७	१०४४
पृथक्पृथक्चिदा	६	७	४१०	प्राभाकरास्तार्कि	६	८८	४६१
पृथगाभासकू	७	११	६८८	प्रारब्धकर्मणि	७	२६३	९१४
पृथुत्वादिविकारं तं	१३	३३	१३९४	प्रारब्धकर्मप्रा	७	१४३	८३१
पृथुबुध्नोदरा	१३	३०	१३९३	प्रियं त्वां रोत्स्यति	१२	६४	१३४६
प्रज्ञानानि पुरा	११	७०	१२३५	प्रियोऽप्रिय उपे	४	२२	३४२
प्रणवोपास्तयः	९	१४७	११४१	प्रीयाद्धरिर्हरो	१५	३५	१४९५
प्रतिध्वनिर्विय	२	३	१४३	फ			
प्रतिबंधो वर्त	९	४३	१०३७	फलपत्रलता	१३	१८	१३८७
प्रतिबंधोऽस्ति भा	१	१३	३२	ब.			
प्रतिष्ठां विन्दते	११	३	११८१	बंधमोक्षव्यव	६	२३३	६१३
प्रत्यक्परोक्षतै	७	७३	७५७	बंधश्चेन्मानस	४	३८	३५८
प्रत्यक्षत्वेनाभि	६	६३	४४४	बद्धमुक्तो मही	७	१५०	८३७
प्रत्यक्षस्यानुमा	९	१०	१००८	बहिरंतर्विभा	१०	१६	११६४
प्रत्यग्बोधो य आ	७	७६	७६०	बहुजन्मदृढा	७	१०३	७९४
प्रत्यग्व्यक्तिमनु	९	१५	१०१२	बहुवारमधी	९	३६	१०३१
प्रत्यूषे वा प्रदो	६	२०१	५७७	बहुव्याकुलचि	९	१३२	११२५
प्रथमं सच्चिदा	१३	१०३	१४३४	बहु स्यामहमे	४	५	३२४

१५१२ पञ्चदशी

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
बाढं निद्रादयः	३	१२	२७८	ब्रह्मलोकाभिवां	९	५१	१०४७
बाढं ब्रह्मेति वि	११	७८	१२४१	ब्रह्म विज्ञानमा	११	६१	१२२८
बाढं माने तु मे	४	२७	३४७	ब्रह्म विद्धि तदे	९	५९	१०५७
बाढं सन्ति ह्यदा	७	९९	७८५	ब्रह्मवित्परमा	११	२	११८०
बाढमेतावता	१२	३९	१३२२	ब्रह्मविद्ब्रह्मरू	१२	७०	१३५१
बाधितं दृश्यता	७	२७९	९२२	ब्रह्मसाक्षात्कृति	९	३०	१०२७
बालस्य हि विनो	१३	२२	१३९०	ब्रह्माद्याः स्तंबप	६	५	४०९
बाष्पं धूमतया	९	७	१००६	ब्रह्मानंदं प्रव	११	१	११७७
बाह्यं रथ्यादिजं	११	५५	१२२५	ब्रह्मानंदाभिधे	१२	९०	१३६९
बाह्यभोगान्मनो	११	९४	१२४९	ब्रह्मानंदाभिधे	११	१३४	१२८७
बुद्धतत्त्वेन धी	४	६२	३८९	ब्रह्मानंदाभिधे	१३	१०५	१४३५
बुद्धचेन बुभु	७	२७७	९२१	ब्रह्मानंदाभिधे	१४	६५	१४७४
बुद्धाद्वैतस्वत	४	५५	३८२	ब्रह्मानंदाभिधे	१५	३४	१४९४
बुद्धिकर्मेन्द्रिय	१	२३	४८	ब्रह्मानंदो वास	११	८७	१२४५
बुद्धितत्त्वचिदा	७	९१	७७४	ब्रह्मापरोक्ष्यसि	७	७०	७५५
बुद्धोऽपि भेदो नो	२	७२	२१७	ब्रह्मांडमध्ये ति	२	९६	२३५
बुद्धौ तिष्ठान्नान्त	६	१६४	५४०	ब्रह्मांडलोकदे	२	९७	२३५
बुद्धयवच्छिन्नकू	८	२७	९५८	ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पू	१२	१३	१३००
बुद्ध्यादीनां स्वरू	८	५४	९७७	भ			
बुद्ध्यारोहाय त	६	३०	४२२	भगवत्पूज्यपा	२	३०	१८१
बृहद्रथस्य राज	११	११०	१२९१	भरतादेरप्र	६	२७२	६५५
बोधयामास मै	१२	५	१२९५	भर्जितानि तु बी	७	१६४	८४७
बोधात्पुरा मनो	४	५६	३८३	भविष्यन्नगरे	१३	२५	१३९०
बोधादूर्ध्वं च त	४	५१	३७५	भातीति चेद्भातु	२	७०	२१५
बोधेऽप्यनुभवो	३	१९	२८५	भारवाही शिरो	११	१२५	१२७८
बोधोपास्त्योर्विशे	९	७४	१०६८	भार्या स्नुषा ननां	४	२३	३४३
ब्रह्मचारी भिक्ष	९	७९	१०७३	भिक्षावस्त्रादि र	९	११२	११०५
ब्रह्मण्यज्ञानना	७	९२	७७५	भिद्यते हृदय	११	७	११८६
ब्रह्मण्यारोपित	७	४०	७२२	भिन्ने वियत्सती	२	६७	२१२
ब्रह्मण्येते नाम	१३	९३	१४२८	भीषाऽस्मादित्येव	६	१०७	४८४
ब्रह्म नास्तीति मा	७	५२	७३७	भुञ्जाना वा अपि	७	१४४	८३२
ब्रह्ममात्रं सुवि	९	२२	१०१९	भुञ्जानोऽपि निजा	१	८३	१०७७
ब्रह्म यद्यपि शा	९	२०	१०२७	भुञ्जानो विषया	११	१३०	१२८२
ब्रह्मलोक्तृणी	६	२८५	६७०	भूतभौतिकमा	२	९८	२३७

अकारादिवर्णानुक्रमणिका १५१३

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
भूतोत्पत्तेः पुरा	११	१४	११९६	महाविप्रो ब्रह्म	११	५२	१२२६
भूमौ कडकडा	२	५	१४४	मंदस्य व्यवहा	१५	२८	१४९०
भूम्यादिपञ्चभू	१२	१८	१३०४	माण्डूक्यतापनी	११	६७	१२३३
भृगुः पुत्रः पितु	११	१२	११९४	मातापित्रोर्वध	१४	१७	१४४८
भेदोऽस्ति पञ्चको	१२	४१	१३२४	मातुर्नामाभिनि	४	३०	३४९
भोक्ता स्वस्यैव भो	७	२०१	८७५	माधुर्यादिस्वभा	३	१४	२८०
भोगेन चरिता	७	१६६	८४९	मा न भूवमहं	१२	३१	१३१७
भोग्यमिच्छन्भोक्तु	१४	८	१४४३	मायाख्यायाः काम	६	२३६	६१५
भोग्यानां भोक्तृशे	७	२०२	८७६	माया चेयं तमो	६	१२५	५०३
भ्रमाधिष्ठानभू	७	५	६८२	मायात्वमेव नि	६	१४०	५२२
भ्रमांशस्य तिर	७	८	६८६	मायाधीनश्चिदा	६	१५७	५३६
भ्राम्यन्ते पंडितं	६	५८	४३९	मायाभासेन जी	६	१५५	५३५
भ्रांतिस्वप्नमनो	४	२६	३४४	मायाभासेन जी	७	३	६७८
म.				मायाभासेन जी	८	६०	९८२
मग्नस्याब्धौ यथा	२	२७	१७४	मायामयः प्रपं	९	८८	१०८१
मणिप्रदीपप्र	९	२	१००३	मायामयत्वं भो	७	१७०	८५१
मन आत्मेति म	६	६७	४४७	मायामेघो जग	८	७५	९९७
मन एव मनु	६	६८	४४८	मायाविद्ये विहा	१	४८	११२
मन एव मनु	११	११७	१२७०	मायावृत्त्यात्मको	४	१९	३३९
मनसो निगृही	७	१४९	८३६	मायां तु प्रकृतिं	४	२	३२२
मनुष्यलोको ज	१२	३६	१३२०	मायां तु प्रकृतिं	६	१२३	५०२
मनो जृंभणरा	२	४६	१९५	मायिकोऽयं चिदा	७	२१७	८८८
मनो दशेंद्रिया	२	१२	१५१	मायी सृजति वि	६	१९७	५७१
मनोराज्याद्विशे	१३	९८	१४३१	मायोपाधिर्जग	७	७२	७५६
मनोवाक्कायत	९	९०	१०८२	मार्गे गंत्रोर्द्वयोः	७	१३४	८२४
मनो हि द्विविधं	११	११६	१२६७	मा विनश्यत्वयं	७	१६७	८४९
मर्त्यभोगे द्वयो	१४	२३	१४५२	मासाब्दयुगक	१	७	२०
मर्त्यान्नमेकं दे	४	१५	३३४	माऽऽस्तैस्ते सुखं	११	२३	१२०५
मशकध्वनिमु	७	१८८	८६५	माहेश्वरी तु मा	४	१२	३२९
महतः परम	६	१०१	४७३	मांसपांचालिका	७	१४०	८२८
महत्तमं विर	१५	१८	१४८५	मिथ्याभियोगदो	७	२३६	८९९
महत्तरप्रयासे	११	३९	१२१४	मिथ्यात्वबुद्ध्या त	९	११५	११०९
महाकाशस्य म	६	२०	४१६	मिथ्यात्ववासना	७	१३१	८१९
महाराजः सार्व	११	५१	१२२२	मुक्तिस्तु ब्रह्मत	६	२१०	५८२

१५१४ पञ्चदशी

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	यथाऽत्र कर्मव	६	१२	४६५
मुखदैत्यविका	११	३६	१२१२	यथा दीपो निवा	१	५८	१२९
मुग्धबुद्धाऽतिबु	११	५३	१२२३	यथा धौतो घट्टि	६	२	४०७
मुमूर्षोर्गृहर	१२	४४	१३२८	यथा निरिंधनो	११	१११	१२६१
मूर्तिप्रत्ययसां	७	११९	८११	यथा पुष्करप	१४	१३	१४४६
मूर्तिध्यानस्य मं	९	१२५	१११७	यथा मुंजादिषी	१	४२	१०१
मूषासिक्तं यथा	४	२८	३४८	यथा यथोपास	६	२०९	५८१
मृच्छक्तिवदब्रह्म	१३	८५	१४२४	यथा विधिरुपा	७	८६	७६७
मृतेऽपि तस्मिन्वा	४	३५	३५४	यथा संवादिवि	९	१२३	१११५
मृत्युवर्णमय	१३	५३	१४०७	यथा स्रगादिनी	६	२३०	६१०
मृद्वते सच्चिदा	१३	७०	१४९७	यथैधांसि समि	१४	१५	१४४७
मेघवद्वर्तते	६	१५६	५३५	यदज्ञानं तत्र	११	६२	१२२९
मेघाकाशमहा	६	१९४	५६७	यदद्वैतं श्रुतं	६	२३८	६१७
मेघांशरूपमु	६	२१	४१६	यदभावि न तद्वा	७	१६८	८४९
मैवं मांसमयी	४	२५	३४४	यदा मलिनस	१	४५	१०७
मैवमुष्णाप्रका	१२	७४	१३५७	यदा सर्वे प्रभि	६	२६०	६४३
मोक्षयेऽहमित्यत्र	१२	४८	१३३१	यदा सर्वे प्रमु	६	२५९	६४१
मोहादनीशतां	४	१३	३३१	यदा स्वस्यापि भो	७	२२१	८९१
य.				यदि विद्याऽपह्नु	७	१७९	८५९
यं कर्मी न विजा	७	२७४	१२०	यदि सर्वग्रह	१०	२६	११७६
यं यं वाऽपि स्मर	९	१३७	११३०	यद्यत्सुखं भवे	१५	१९	१४८५
यं लब्ध्वा चापरं	११	१०६	१२५७	यद्यथा वर्तते	२	६५	२११
य आनन्दमयः	११	९०	१२४७	यद्यथा वर्तते	७	११०	८०४
य उपास्ते त्रिमा	९	१४४	११३८	यद्यद्रूपादि क	१०	२३	११७१
य एवमतिशू	७	२८३	१२४	यद्यपि त्वमसी	७	६४	७४६
य एवं ब्रह्म वे	३	४३	३१७	यद्यप्यसौ चिरं	११	११९	१२७३
यतो यतो नि	११	१०२	१२५३	यद्योगेन तदे	१२	८१	१३६२
यत्र त्वस्य जग	७	१८१	८५९	यद्वापि निर्मले	१५	१०	१४८१
यत्र यदृश्यते	७	२११	८८३	यद्वा प्रतिध्वनि	२	६२	२०८
यत्रोपरमते	११	१०४	१२५६	यद्वा सर्वात्मतां	१४	३७	१४५८
यत्सांख्यैः प्राप्यते	९	१३४	११२६	यद्वाऽन्तकालः प्रा	२	१०५	२४४
यत्सांख्यैः प्राप्यते	१२	८२	१३६२	यमाऽग्निमुख्या दे	१४	३२	१४५५
यथाऽगाधनिधे	९	१५३	११४६	यमादिधीनिरो	६	२८०	६६५
यथा चित्रपटे	६	१	४०७	यया यया भवे	८	७३	९९५
यथा चेतन आ	६	४६	४३०	ययोल्लसति श	१३	१५	१३८३

अकारादिवर्णानुक्रमणिका १५१५

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
यस्तु साक्षिणमा	१२	७१	१३५२	ल.			
यस्मिन्यस्मिन्नस्ति	३	२१	२८८	लिंगाभाने सुषु	१	३९	१७
यस्य नाऽहंकृतो	१४	१६	१४४७	लीना सुप्तौ वपु	३	७	२६८
या प्रीतिरविवे	७	२०३	८७६	लौकिकव्यवहा	७	१२	६९०
या बुद्धिवासना	६	१५३	५३३	व.			
यावच्चित्त्यस्वरू	९	७८	१०७२	वपुर्वाग्धीषु नि	७	२७२	१२०
यावत्त्वदेहदा	७	२४३	९०४	वर्णाश्रमपरा	९	११३	११०६
यावद्यावदव	१३	८१	१४२२	वर्णाश्रमवयो	९	१००	१०९१
यावद्यावदहं	११	९८	१२५१	वर्णाश्रमादयो	९	१०१	१०९२
यावद्विज्ञानसा	९	१२२	१११५	वस्तुत्वं घोषयं	८	६६	९८७
या शक्तिः कल्पये	२	६३	२०८	वस्तुधर्मा निय	३	३९	३१३
युंजन्नेवं सदा	११	१०८	१२५९	वस्तुस्वभावमा	१५	१२	४८२
युवा रूपी च वि	१४	२१	१४५१	वस्त्राभासस्थिता	६	८	४१०
यूनश्च परदा	१२	६७	१३४८	वह्निरुष्णः प्रका	२	८९	२३३
येनायं नटने	७	२९०	९२७	वाक्पाणिपादपा	२	११	१५०
येनेक्षते शृणो	५	१	४०१	वाक्यमप्रतिब	१	६२	१३४
येनेदं जानते	३	१७	२८३	वागादीनामिन्द्रि	६	६४	४४५
ये वदंतीत्यमे	६	२३९	६१८	वागाद्यगोचरा	९	५७	१०५६
योगभ्रष्टस्य गी	९	४६	१०४३	वाङ्निष्पाद्यं ना	१३	३९	१३९७
योगानंदः पुरो	१३	१	१३७१	वातपित्तश्लेष्म	७	२२४	८९२
योगाभ्यासस्वेत	९	१२९	११२२	वायुरस्तीति स	२	८०	२२६
योगे कोऽतिशय	१२	८४	१३६३	वायुः सूर्यो वह्नि	११	४	११८३
योगेनाऽऽत्मविवे	१४	१	१४३७	वायोर्दशांशतो	२	८८	२३२
यो ब्रह्म वेद ब्र	७	२४१	९०३	वालाग्रशतभा	६	८१	४५६
यो भूमा स सुखं	११	१७	१२०१	वासनानां परो	६	१६३	५३९
योऽयं स्थाणुः पुमा	८	४३	९६७	वासनाऽनेकका	१३	८४	१४२४
यौवराज्ये स्थितो	७	२४०	९०३	वासनायां प्रवृ	२	७६	२२३
र.				विकल्पतदभा	१	५२	११७
रजोऽंशैः पञ्चभि	१	२१	४५	विकल्पो निर्विक	१	५०	११५
रज्जुज्ञानेऽपि कं	७	२४४	९०५	विकारिबुद्ध्यधी	७	१९६	८७१
रागो लिंगमबो	७	१९१	८६८	विक्षिप्यते कदा	४	६६	३९४
रात्रिघस्रौ सुप्ति	६	१८५	५५९	विक्षेपावृत्तिरू	६	२६	४१९
रूपं रूपं बभूवा	१५	६	१४७९	विक्षेपोत्पत्तिः	७	३९	७२२
रोगक्रोधाभिभू	१२	२८	१३१५	विक्षेपो नास्ति य	७	२६५	९१५

१५१६ पञ्चदशी

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
विक्षेपो नास्ति य	१४	५२	१४६६	विलयोऽप्यस्य सु	७	२१८	८८९
विक्षेपो यस्य ना	४	६७	३९५	विलीनघृतव	११	६३	१२३०
विचारयन्नाम	९	३३	१०२८	विवक्ष्यते तद	१२	८८	१३६७
विचाराज्जायते	९	७५	१०६९	विविच्यनाशं नि	७	२१९	८८९
विचारितमलं	४	६५	३९३	विविच्य भ्रातिमु	७	२३४	८९८
विचार्याप्यापरो	९	३२	१०२७	विविचता भोक्तृ	७	२१०	८८२
विचिंत्य सर्वरू	१३	६४	१४१३	विवेके जाग्रति	७	१५१	८३९
विजातीयमस	२	२५	९७३	विवेके द्वैतमि	६	२५२	६३३
विज्ञानमय उ	११	१५	११९८	विवेकेन परि	७	१४६	८३३
विज्ञानमयको	६	७३	४५१	विश्रांतिं परमां	११	१२६	१२७८
विज्ञानमयमु	६	१६३	५४०	विश्वरूपाध्याय	६	२०५	५७९
विज्ञानमयमु	११	६९	१२३४	विषयानंदव	१४	२	१४३८
विज्ञानमयरू	६	१७४	५५०	विषयेष्वपि ल	११	८६	१२४५
विज्ञानमात्मेति	६	६९	४४९	विष्टभ्याहमिदं	२	५६	२०४
विज्ञानवादो बा	४	३६	३५६	विष्णुं ध्यायतु धी	७	२७०	९१९
विज्ञानं क्षणिकं	६	७४	४५१	विष्णुं ध्यायतु धी	१४	५७	१४६९
विड्वराहादि तु	४	५७	३८४	विष्णोर्नाभेः समु	६	११७	४९४
वित्तात्पुत्रः प्रियः	१२	६०	१३४३	विष्णवाद्युत्तमदे	१०	२	११५३
विदितादन्यदे	९	६०	१०५७	विस्फुलिंगा यथा	४	७	३२५
विद्यायां सच्चिदा	१५	३१	१४९२	विस्मयैकशरी	६	१३९	५२१
विद्यारब्धे विरु	७	१७६	८५७	वीर्यस्यैष स्वभा	६	१४५	५२७
विद्वांश्चेत्तादृशां	७	२८५	९२४	वृक्षस्य स्वगतो	२	२०	१६९
विध्यभावान्न बा	९	१०६	११००	वृत्तयस्तु तदा	१	५६	१२७
विना क्षोदक्षमं	६	५६	४३७	वृत्तिष्वेतासु स	१५	५	१४३८
विपरीता भाव	७	१०४	७९५	वृत्तीनामनुवृ	१	५७	१२४५
विपर्यस्तो निदि	७	२६१	९१३	वृत्तेःसाक्षितया	८	५६	९७९
विपर्यस्तो निदि	१४	४८	१४६३	वृद्धिमिष्टवतो	७	८२	७६४
विप्रक्षत्रादयो	१२	४९	१३३२	वेदवाक्यानि ने	९	२९	१०२४
विप्रक्षत्रियवि	६	२०७	५८०	वेदांतविज्ञान	९	५२	१०४२
वियदादेर्नाम	२	३४	१८४	वेदांतानामशे	७	१०१	७९०
विरलत्वं व्यव	७	२६४	९१५	वेदांतेभ्यो ब्रह्म	९	१४	१०११
विरलत्वं व्यव	१४	५१	१४६६	वेदाध्यायी ह्यप्र	९	८१	१०७४
विराण्मनुर्नरा	४	९	३२६	वेदाभ्यासात्पुरा	११	१९	१२०२
विरोधिप्रत्ययं	९	८२	१०७५	वैयर्थ्यमस्तु वा	४	३७	३५७

अकारादिवर्णानुक्रमणिका १५१७

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
वैराग्यं क्षातिरौ	२	१४	१५६	शापानुग्रहसा	९	१०८	११०२
वैराग्यबोधोप	६	२७६	६५९	शास्त्राण्यधीत्य मे	४	४५	३६८
वैराग्योपरती	६	२८३	६६९	शास्त्रोक्तेनैव मा	९	१९	१०१६
व्यक्तं घटो विका	१३	४५	१४०१	शांता घोरास्तथा	१५	३	१४७८
व्यक्तकाले ततः	१३	४४	१४०१	शांता घोराः शिला	१५	३२	१४९३
व्यक्ताव्यक्ते तदा	१३	४०	१३९८	शांतासु सच्चिदा	१५	२७	१४८९
व्यक्तीनां नियमो	१२	५४	१३३७	शिलादौ नामरू	१५	२६	१४८९
व्यक्ते नष्टेऽपि ना	१३	४२	१३९९	शिवस्य पादाव	६	११८	४९५
व्यक्तयनुल्लेखमा	७	५३	७३८	शून्यत्वमिति चे	२	४९	१९८
व्यंजको वा यथा	४	२९	३४८	शून्यमासीदिति	२	३२	१८३
व्यज्यंते ह्यांतरा	२	९	१४७	शून्यशक्तिस्तथा	१३	१७	१३८५
व्यवहारो लौकिक	७	२६७	९१६	शृण्वसंगः परि	८	२८	९५८
व्यवहारो लौकिक	१४	५४	१४६७	शृण्वंत्वज्ञातत	७	२६०	९१३
व्याचक्षतां ते शा	७	२५७	९११	शृण्वंत्वज्ञातत	१४	४७	१४६३
व्याचक्षतां ते शा	१४	४३	१४६१	शेषाः प्राणादिवि	१२	५९	१३४२
व्याधयो धातुवै	१४	९	१४४४	शोधितस्त्वंपदा	८	४७	९७०
व्यासदेरपि सा	९	१०९	११०३	शोषस्पर्शौ गति	२	७९	२२५
व्रताभावद्यदा	७	२४९	९०७	शमश्रुकंटकवे	१२	१०	१२९८
व्रात्यश्रोत्रिययो	६	२६८	६५१	श्येनो वेगेन नी	११	४९	१२२०
व्रीह्यादिकं दर्श	४	१६	३३४	श्रद्धालुर्व्यसनी	११	१२०	१२७४
श.				श्रवणादित्रयं	६	२७९	६६३
शकुनिः सूत्रब	११	४७	१२१९	श्रुतितात्पर्यम	८	७४	९९६
शक्तिः शक्तात्पृथ	१३	११	१३८०	श्रुतियुक्तयनुभू	११	७९	१२४७
शक्तिरस्त्यैश्वरी	३	३८	३१०	श्रुत्यर्थं विशदी	८	६७	९८८
शक्तेः कार्यानुमे	१३	१२	१३८१	श्रोतुर्देहेन्द्रिया	५	६	४०४
शक्त्याधिक्ये जीवि	२	५२	२०१	श्रोत्रियत्वाद्देद	१४	२४	१४५३
शक्यं जेतुं मनो	४	६१	३८८	श्रौतीकर्तुं स्वप	६	६१	४४३
शनैः शनैरुप	११	१०१	१२५३	श्रौत्या विचारदृ	१२	५७	१३३८
शब्दस्पर्शादयो	१	३	१३	स.			
शब्दस्पर्शरूप	२	२	१४२	संख्यामेवैष जा	११	८१	१२४२
शब्दानेव पठ	११	८३	१२४३	संगी हि बाध्यते	६	२७४	६५७
शमयत्यौषधे	७	२५०	९०७	संत्यापोऽमूः शून्य	२	९२	२३४
शमाद्यैः श्रवणा	९	४४	१०४०	संधयोऽखिलवृ	८	२१	९५३
शयाने पुरुषे	१३	९०	१४३६	संवादिभ्रमतः	९	१	१००१
शाखाभेदात्काम	७	१००	७८९				

१५१८ पञ्चदशी

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
संसर्गो वा विशि	७	७५	७५९	सत्येवं व्यवहा	१२	४३	१३२७
संसारः परमा	६	१०	४११	सदंतरं सजा	२	२४	१७३
संसाराशक्तिचि	७	२९	७०९	सदद्वैतं श्रुतं	२	१	१४०
संसार्यहं विबु	७	४१	७२३	सदद्वैतात्मृथ	२	९९	२३७
स आत्मा सर्वगो	१३	२०	१३८८	सदद्वैतेऽनृत	२	१०४	२४३
सकृत्प्रत्ययमा	९	९२	१०८३	सदसत्त्वविवे	२	८५	२२९
सकृदाप्तोपदे	९	२५	१०२२	सदा पश्यत्रिजा	१२	८९	१३६८
सगुणत्वमुपा	९	५८	१०५७	सदा विचारये	६	१२	४१२
स घटो न मृदो	१३	३५	१३९५	सदासीदिति श	२	३६	१८६
सच्चित्सुखात्मकं	१३	६२	१४१२	सदृशं चेष्टते	७	१५५	८४०
सच्चिदानंदम	१	१५	३४	सदेवेत्यादिवा	७	६१	७४३
सच्चिदानंदरू	९	१८	१०२७	सदबुद्धिरपि चे	२	४५	१९४
सच्चिदानंदरू	१३	८०	१४२१	सद्रूपमारुणिः	१३	६३	१४१३
सतो नावयवाः	२	२२	१७१	सद्रूस्तुन्येकदे	२	७८	२२४
सतोऽनुवृत्तिः स	२	८१	२२६	सद्रूस्तु ब्रह्म शि	२	८६	२३१
सतोऽपि नामरू	२	३५	१८५	सद्रूस्तु शुद्धं त्व	२	४४	१९३
सतो विवेचिता	२	९३	२३४	सद्रूस्त्वधिकवृ	२	६८	२१३
सतो विवेचिते	२	९१	२३४	सन्मायाव्योमवा	२	९०	२३३
सतो व्योमत्वमा	२	६४	२०९	सपुराणान् पंच	११	१८	१२०२
सत्कर्मपरिपा	१	३१	७६	सप्तात्रब्राह्मणे	४	१४	३३२
सत्तत्त्वमाश्रिता	२	५९	२०६	सप्तावस्था इमाः	७	३४	७१५
सत्ता चितिर्द्वयं	१५	२१	१४८६	स बोधो विषया	१	६	१९
सत्ता चितिः सुखं	१५	२०	१४८६	स भूमिं विश्वतो	२	५७	२०५
सत्त्ववृत्तौ चित्सु	१२	७८	१३५९	समन्वयाध्याय	७	१०२	७९१
सत्त्वशुद्ध्यविशु	१	१६	३५	समष्टिरीशः स	१	२५	५८
सत्त्वांशैः पञ्चभि	१	१९	४१	समाधिनिर्धूत	११	११८	१२७१
सत्यं कार्येषु व	१३	५८	१४०९	समाधिमथ क	९	१०२	१०९४
सत्यं ज्ञानमनं	३	३७	३०८	समासक्तं यथा	११	११५	१२६६
सत्यं ज्ञानमनं	६	१९१	५६६	समुत्थायैष भू	८	३९	९६४
सत्यं ज्ञानमनं	६	१९६	५७०	समृत्कस्य विका	१३	५५	१४०८
सत्यं ज्ञानमनं	७	६६	७४९	समेऽपि भोगे व्य	७	१६९	८५०
सत्यत्वं बाधरा	३	२९	२९९	सम्यग्विचारो	६	२५८	६४०
सत्यप्यात्मनि लो	१२	३५	१३२०	स यत्तत्रेक्षते	७	२१२	८८३
सत्येवं विषयौ	४	३१	३५०	सर्वकामाप्तिरे	१४	३५	१४५७

अकारादिवर्णानुक्रमणिका १५११

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
सर्वज्ञत्वादिकं चे	८	६४	१८६	सुखमस्वाप्सम	११	५९	१२२७
सर्वज्ञत्वादिके	६	१५९	५३७	सुखमात्यंतिकं	११	१०५	१२५०
सर्वतः पाणिपा	६	११५	४९३	सुखसाधनतो	१२	२३	१३१२
सर्वतो लांछितो	६	२०२	५७७	सुखं वैषयिकं	११	२१	१२०३
सर्वथा शक्तिमा	२	५३	२०२	सुखिदुःख्यभिमा	७	१९५	८७१
सर्वबाधे न किं	३	३१	३०२	सुखे वैषयिके	१२	२५	१३१३
सर्वभूतानि वि	६	१७२	५४७	सुप्तिपूर्वक्षणे	११	६४	१२३०
सर्वव्यवहृति	१२	२०	१३०६	सुप्तिवद्विस्मृतिः	६	२८६	६७०
सर्वं ब्रह्मेति जग	८	४५	९६८	सुप्तोत्थितस्य सौ	१	५	१७
सर्वात्मना विस्मृ	११	९९	१२५१	सुरभीतरगं	२	६	१४४
सर्वाङ्कामान्सहा	१४	२०	१४५०	सुषुप्तिकाले स	११	५८	१२२७
सर्वैर्मानुष्यकै	१४	२२	१४५१	सुषुप्तिविषया	७	१८३	८६१
सविकल्पस्य ल	१	४९	११४	सुषुप्त्यभावे भा	१	४१	९९
स वेत्ति वेद्यं त	३	१८	२८४	सूक्ष्मनाडीप्रचा	६	८३	४५७
ससंसगत्वविका	८	३३	९६०	सूत्रात्मा सूक्ष्मदे	६	२००	५७४
सस्यं वा शाकजा	६	२०३	५७८	सोऽकामो निष्काम	९	१४१	११३६
सहस्रशीर्षेत्ये	६	११४	४९२	सोऽयमित्यादिवा	१	४७	१११
सहस्रशो मनो	१३	९५	१४२९	सोऽस्यायमात्मा पु	१२	३४	१३१९
साक्षात्कर्तुमश	९	१५२	११४५	सोऽहं विद्वन्प्रशो	११	२०	१२०३
साक्षात्कृतात्मधीः	७	१३५	८२४	सौषुप्तमानंद	६	१५८	५३७
साक्षिसत्यत्वम	७	२३१	८९७	स्तामद्वैतस्वप्न	११	३३	१२१९
साक्ष्येव दृश्याद	१२	६२	१३४४	स्थितिर्लयश्च कुं	१३	५	१३७४
सात्त्विकैर्धीन्द्रियैः	१	३५	८८	स्थितोऽप्यसौ चिदा	७	९४	७७६
साधिष्ठानो विमो	७	६	६८४	स्थूलदेहं विना	६	११३	४९०
साभासमेव त	६	१५४	५३४	स्थूलं सूक्ष्मकार	७	२२३	८९२
सामर्थ्यहीनो निं	९	१११	११०४	स्पन्दशक्तिश्च वा	१३	१६	१३८५
सामानाधिकार	८	४६	९७०	स्पष्टं भाति जग	६	१४२	५२४
सार्वभौमादिसू	१४	३३	१४५६	स्पष्टशब्दादियु	३	१७	१६४
सांकुशा विषयै	७	२५२	१०८	स्यात्पंचीकृतभू	१	३४	८८
सांख्यकाणदबौ	२	१००	२३९	स्याद्व्याघ्रः संमुखो	१२	५३	१३३६
सांशस्य घटव	६	८५	४५८	स्रक्चंदनवधू	७	२०५	८७८
सिद्धं ब्रह्मणि स	३	३४	३०५	स्वकीयाच्छून्यन	२३	२४	१३९०
सिध्येन्न वेत्यस्ति	१५	१५	१४८३	स्वकीये सुखदुः	११	३७	१२१३
सुखदुःखाभिमा	७	१९५	८७१	स्वतः पूर्णः परा	५	४	४०३

१५२० पञ्चदशी

अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.	अ.	प्र.	श्लो.	पृ. सं.
स्वतः शुभ्रोऽत्र धौ	६	३	४०८	स्वर्गलोकब्रह्म	१२	१५	१३०२
स्वतश्चिदन्तर्या	६	४	४०९	स्वस्थानसंस्थितो	१०	१५	११६४
स्वतोऽपरोक्षजी	७	८१	७६३	खस्मिन्मृतेऽपि पु	१२	३८	१३२१
स्वनेन्द्रजालस	७	१७१	८५१	स्वस्वकर्मानुसा	६	२८८	६७२
स्वने वियद्गतिं	१३	८७	१४२५	स्वस्वप्रमापरोक्ष्य	७	१७२	८५२
स्वप्रकाशतया	९	९३	१०८४	स्वं परं च न वे	७	२२६	८९४
स्वप्रकाशापरोक्षत	५	७	४०५	स्वानुभूताववि	६	२९	४२१
स्वप्रकाशे कुतो	३	२८	४२०	स्वानुभूतिरवि	६	३१	४२३
स्वप्रकाशोऽपि सा	७	९०	७७३	स्वामिभृत्यादिकं	१२	१९	१३०५
स्वप्रभत्वे भव	११	२४	१२०६	स्वासत्त्वं तु न क	३	२४	२९५
स्वभावजेन कौंते	७	१६१	८४४	ह.			
स्वमात्रं भासये	८	१९	९५२	हानादानविही	१२	२७	१३२४
स्वयंज्योतिर्भव	३	१६	२८२	हिरण्यश्मश्रुसू	९	७१	१०६६
स्वयं भ्रमोऽपि सं	९	१३	१०१०	हेतुस्वरूपका	६	२७७	६६१
स्वयमात्मेति प	६	४३	४२९	हैरण्यगर्भाः प्रा	६	६५	४४६
स्वयमेवानुभू	३	१३	२७९	हृष्यत्येको मणिं	४	२१	३४१
स्वयोनावुपशा	११	११२	१२६२	इति पञ्चदशीस्थश्लोकानुक्रमणिका ॥			

----- ० -----

क्र.सं.	विवरण	प्रमाण	मूल्य	कुल
1	...	...	...	...
2	...	...	...	...
3	...	...	...	...
4	...	...	...	...
5	...	...	...	...
6	...	...	...	...
7	...	...	...	...
8	...	...	...	...
9	...	...	...	...
10	...	...	...	...
11	...	...	...	...
12	...	...	...	...
13	...	...	...	...
14	...	...	...	...
15	...	...	...	...
16	...	...	...	...
17	...	...	...	...
18	...	...	...	...
19	...	...	...	...
20	...	...	...	...
21	...	...	...	...
22	...	...	...	...
23	...	...	...	...
24	...	...	...	...
25	...	...	...	...
26	...	...	...	...
27	...	...	...	...
28	...	...	...	...
29	...	...	...	...
30	...	...	...	...
31	...	...	...	...
32	...	...	...	...
33	...	...	...	...
34	...	...	...	...
35	...	...	...	...
36	...	...	...	...
37	...	...	...	...
38	...	...	...	...
39	...	...	...	...
40	...	...	...	...
41	...	...	...	...
42	...	...	...	...
43	...	...	...	...
44	...	...	...	...
45	...	...	...	...
46	...	...	...	...
47	...	...	...	...
48	...	...	...	...
49	...	...	...	...
50	...	...	...	...
51	...	...	...	...
52	...	...	...	...
53	...	...	...	...
54	...	...	...	...
55	...	...	...	...
56	...	...	...	...
57	...	...	...	...
58	...	...	...	...
59	...	...	...	...
60	...	...	...	...
61	...	...	...	...
62	...	...	...	...
63	...	...	...	...
64	...	...	...	...
65	...	...	...	...
66	...	...	...	...
67	...	...	...	...
68	...	...	...	...
69	...	...	...	...
70	...	...	...	...
71	...	...	...	...
72	...	...	...	...
73	...	...	...	...
74	...	...	...	...
75	...	...	...	...
76	...	...	...	...
77	...	...	...	...
78	...	...	...	...
79	...	...	...	...
80	...	...	...	...
81	...	...	...	...
82	...	...	...	...
83	...	...	...	...
84	...	...	...	...
85	...	...	...	...
86	...	...	...	...
87	...	...	...	...
88	...	...	...	...
89	...	...	...	...
90	...	...	...	...
91	...	...	...	...
92	...	...	...	...
93	...	...	...	...
94	...	...	...	...
95	...	...	...	...
96	...	...	...	...
97	...	...	...	...
98	...	...	...	...
99	...	...	...	...
100	...	...	...	...

